सूत्रकृतांग : द्वितीय श्रुतस्कंध

सूयगडो २

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट)

वाचना-प्रमुख
आचार्य तुलसी

सम्पादक-विवेचक
युवाचार्य महाप्रज्ञ

सहयोगी
मुनि दुलहराज

प्रकाशक
अनेकान्त शोधपीठ
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

SŪYAGAḌO 2

[Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with notes]

Vācanā Pramukha
ĀCĀRYA TULSI

Editor and Commentator
YUVĀCĀRYA MAHĀPRAJÑA

Associate
MUNI DULHARAJ

Publisher
ANEKANT SHODHPEETH
JAIN VISHWA BHARATI
LADNUN (Raj.)

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्ठो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग मे प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिरचिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल सघ मे मेरे मन मे ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन मे,
कालुगणी को विमल भाव से ॥
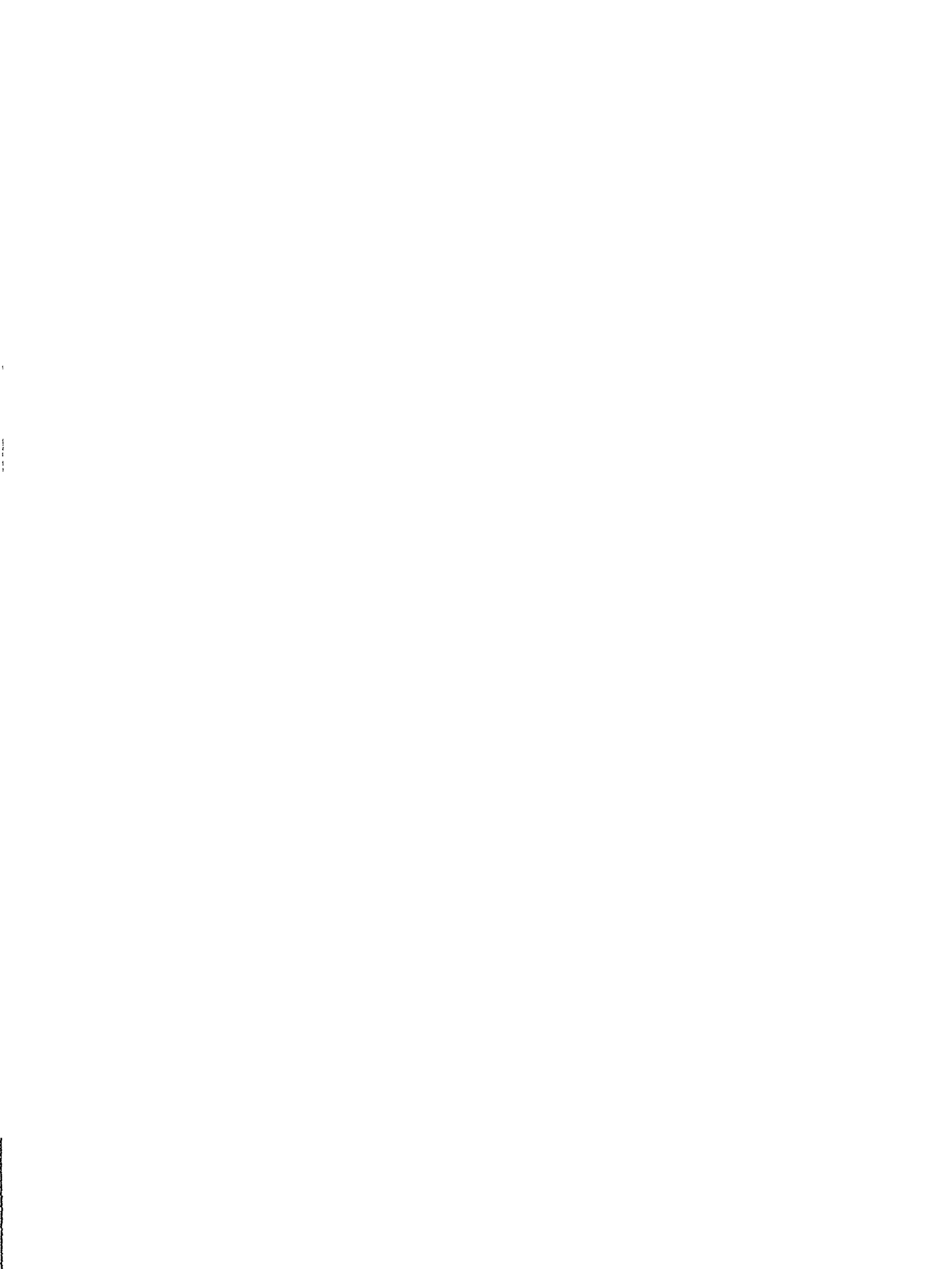
अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथो से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमो का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य मे सलग्न हो गया। अत मेरे इस अन्तस्तोष मे मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हू, जो इस प्रवृत्ति मे सविभागी रहे हैं।

सविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्तभाव से अपना सविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हू कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम प्रकाशन के क्षेत्र मे जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह मूर्धन्य विद्वानो द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हमने ग्यारह अगो का पाठान्तर तथा 'जाव' की पूर्ति से सयुक्त सु-सपादित मूल पाठ 'अगसुत्ताणि' भाग १, २, ३ मे प्रकाशित किया है। इनका शब्द-इन्डेक्स 'आगम शब्दकोश' भाग-१ के रूप मे प्रकाशित हो चुका है।

उक्त ग्रथमाला के साथ-साथ आगम-ग्रन्थो का मूलपाठ, सस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एव प्राचीनतम व्याख्या सामग्री के आधार पर सूक्ष्म ऊहापोह के साथ लिखित विस्तृत मौलिक टिप्पणो से मडित सस्करण प्रकाशित करने की योजना भी चलती रही है। इस श्रृखला मे पाच आगम-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं —

(१) ठाण
(२) समवाओ
(३) दसवेआलिय
(४) उत्तरज्झयणाणि
(५) सूयगडो १

प्रस्तुत आगम 'सूयगडो २' उसी श्रृखला का छठा ग्रन्थ है। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी एव अप्रतिम विद्वान् सपादक-विवेचक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जो श्रम किया है, वह ग्रन्थ के अवलोकन से स्वय स्पष्ट होगा।

सपादन-विवेचन सहयोगी मुनि दुलहराजजी ने इसे सुसज्जित करने मे अनवरत श्रम किया है।

ऐसे सु-सपादित आगम-ग्रन्थ को प्रकाकित करने का सौभाग्य 'जैन विश्व भारती' को प्राप्त हुआ है, इसके लिए वह कृतज्ञ है।

हमे आशा है कि इस प्रकाशन कार्य की निरन्तरता बनी रहेगी और हम निकट भविष्य मे और अनेक आगम-ग्रन्थ प्रस्तुत करने मे सक्षम होगे।

आशा है पूर्व प्रकाशनो की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानो की दृष्टि मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

कलकत्ता
१-११-८६

श्रीचन्द रामपुरिया
कुलपति
जैन विश्व भारती
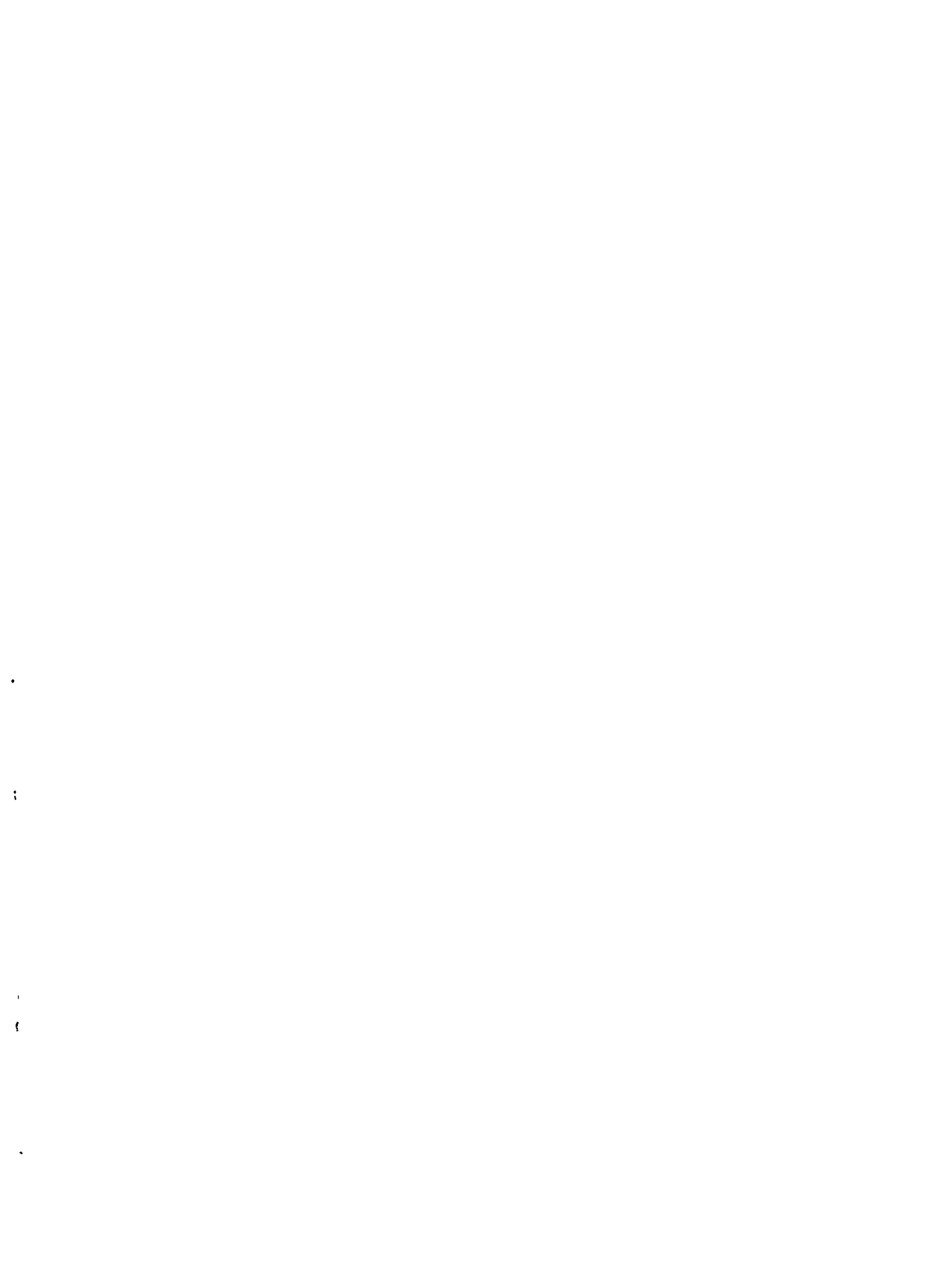
सम्पादकीय

आगम-सम्पादन की प्रेरणा

वि० स० २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्यश्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायणगाव की ओर जाते-जाते मध्यावधि मे एक दिन का प्रवास मचर मे हुआ। आचार्यश्री एक जैन परिवार के भवन मे ठहरे थे। वहा मासिक पत्रो की फाइलें पडी थी। गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हे पढ रहे थे। साझ की वेला, लगभग छह वजे होगे। मैं एक पत्र के किसी अश का निवेदन करने के लिए आचार्यश्री के पास गया। आचार्यश्री पत्रो को देख रहे थे। जैसे ही मैं पहुचा, आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' के सद्यस्क अक की ओर सकेत करते हुए पूछा—"यह देखा कि नही ?" मैंने उत्तर मे निवेदन किया—"नही, अभी नही देखा।" आचार्यश्री बहुत गम्भीर हो गये। एक क्षण रुककर बोले—"इसमे बौद्ध पिटको के सम्पादन की बहुत बडी योजना है। बौद्धो ने इस दिशा मे पहले ही बहुत कार्य किया है और अव भी बहुत कर रहे है। जैन आगमो का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नही हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नही दिया जा रहा है।" आचार्यश्री की वाणी मे अन्तर्वेदना टपक रही थी, पर उसे पकडने मे समय की अपेक्षा थी।

आगम-सम्पादन का संकल्प

रात्रि कालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्यश्री ने साधुओ को आमन्त्रित किया। वे आए और वन्दना कर पक्तिवद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायकालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा—"जैन आगमो का कायाकल्प किया जाए, ऐसा सकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा। बोलो, कौन तैयार है ?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार है।"

आचार्यश्री ने कहा—"महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिए। कल ही पूर्व-तैयारी मे लग जाओ, अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमे गति करो।"

मचर से विहार कर आचार्यश्री सगमनेर पहुचे। पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही। दूसरे दिन साधु-साध्वियो की परिषद् बुलाई गई। आचार्यश्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के सकल्प की चर्चा की। सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठी। आचार्यश्री ने पूछा—"क्या इस सकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिए ?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" आचार्यश्री औरगाबाद पधारे। सुराना भवन, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (वि० स० २०११), महावीर जयन्ती का पुण्य-पर्व। आचार्यश्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध सघ की परिषद् मे आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की।

आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ

वि० स० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया। न तो सम्पादन का कोई अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी। अकस्मात् 'धर्मदूत' का निमित्त पा आचार्यश्री के मन मे संकल्प उठा और उसे सबने शिरोधार्य कर लिया। चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से कम नही है। हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नही थे। अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है, किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नही करता।

प्रथम दो-तीन वर्षो मे हम अज्ञात दिशा मे यात्रा करते रहे। फिर हमारी सारी दिशाए और कार्य-पद्धतिया निश्चित और सुस्थिर हो गई। आगम-सम्पादन की दिशा मे हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गुरुतर कठिनाइयो से परिपूर्ण है, यह कहकर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नही कर रहा हू। आचार्यश्री के अदम्य उत्साह और समर्थ प्रयत्न से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है। इस कार्य मे हमे अन्य अनेक विद्वानो की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है। मुझे विश्वास है कि आचार्यश्री की यह वाचना पूर्ववर्ती वाचनाओ से कम अर्थवान् नही होगी।

सम्पादन का कार्य सरल नही है—यह उन्हे सुविदित है, जिन्होने उस दिशा मे कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थो के सम्पादन का कार्य भी जटिल है, क्योकि उनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार मे आरब्ध होता है, वह उसी आकार मे स्थिर नही रहता। या तो वह बडा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। कोई भी आकार ऐसा नही है, जो कृत है और परिवर्तनशील नही है। परिवर्तनशील घटनाओ, तथ्यो, विचारो और आचारो के प्रति अपरिवर्तन-शीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-बिन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अकृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहा परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विश्व मे जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नही है।

शब्द की परिधि मे बधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनो कालो मे समान रूप से प्रकाशित रह सके ? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है। भाषाशास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नही रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थो और अशोक के शिला-लेखो मे है, वह आज के श्रमण साहित्य मे नही है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम साहित्य के सैकडो शब्दो की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नही दे रहे हैं। इस स्थिति मे हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति मे विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अत वह किसी भी कार्य को इसलिए नही छोड देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नही हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण मे विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवागी टीकाकार (अभयदेव सूरि) के सामने अनेक कठिनाइया थी। उन्होने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है[1]—

१ सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नही है।
२ सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नही है।
३ अनेक वाचनाए (आगमिक अध्यापन की पद्धतिया) हैं।
४ पुस्तकें अशुद्ध है।
५ कृतिया सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं।
६. अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।

इन सारी कठिनाइयो के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नही छोडा और वे कुछ कर गये।

कठिनाइया आज भी कम नही हैं, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथो मे ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथो का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वय प्राणवान् है, उसमे प्राण-सचार करना क्या बडी बात है ? बडी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमे प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियो की असमर्थ अगुलियो द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन-कार्य मे हमे आचार्यश्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नही है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिए अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओ का पार पाने मे समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ सूयगडो (द्वितीय श्रुतस्कंध) का सानुवाद संस्करण है। आगम साहित्य के अध्येता दोनो प्रकार के लोग हैं, विद्वद्जन और साधारण जन। मूल पाठ के आधार पर अनुसधान करने वाले विद्वानो के लिए मूल पाठ का संपादन 'अगसुत्ताणि' भाग १ मे किया गया है। प्रस्तुत संस्करण मे मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण हैं और टिप्पणो के सन्दर्भस्थल भी उपलब्ध हैं।

---

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति श्लोक, १,२ :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धित·।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥

सूयगडो १ मे आचार्यश्री की लघुकाय भूमिका है। उसमे प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कध के विषय मे सक्षिप्त ऊहापोह है।

सस्कृत छाया

सस्कृत छाया को हमने वस्तुत छाया रखने का ही प्रयत्न किया है। टीकाकार प्राकृत शब्द की व्याख्या करते हैं अथवा उसका सस्कृत पर्यायान्तर देते हैं। छाया मे वैसा नही हो सकता।

हिन्दी अनुवाद और टिप्पण

प्रस्तुत आगम का हिन्दी अनुवाद मूलस्पर्शी है। इसमे केवल शब्दानुवाद की-सी विरसता और जटिलता नही है तथा भावानुवाद जैसा विस्तार भी नही है। श्लोको का आशय जितने शब्दो मे प्रतिबिम्बित हो सके उतने ही शब्दो की योजना करने का प्रयत्न किया गया है। मूल शब्दो की सुरक्षा के लिए कही-कही उनका प्रचलित अर्थ कोष्ठको मे दिया गया है। श्लोक तथा श्लोकगत शब्दो की स्पष्टता टिप्पणो मे की गई है।

इसका अनुवाद वि० स० २०२६ बेगलोर चातुर्मास मे प्रारभ किया था। यात्राओ तथा अन्यान्य कार्यो की व्यस्तता के कारण इसकी सपूर्ति मे अधिक समय लग गया। अवरोधो की लम्बी यात्रा के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार होकर अब जनता तक पहुच रहा है।

अनुवाद और टिप्पण-लेखन मे मुनि दुलहराजजी ने तत्परता से योग दिया है। इसका पहला परिशिष्ट मुनि धनजयजी ने, दूसरा मुनि प्रशान्तकुमारजी ने तथा शेष दो परिशिष्ट मुनि हीरालालजी ने तैयार किए हैं। साध्वी जिनप्रभाजी ने पाडुलिपि के निरीक्षण मे समय लगाया है।

'अगसुत्ताणि' भाग १ मे प्रस्तुत सूत्र का सपादित पाठ प्रकाशित है, इसलिए इस सस्करण मे पाठान्तर नही दिए गए हैं। पाठान्तरो तथा तत्सम्बन्धी अन्य सूचनाओ के लिए 'अगसुत्ताणि' भाग १ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ मे अनेक साधुओ की पवित्र अगुलियो का योग है। आचार्यश्री के वरदहस्त की छाया मे बैठकर कार्य करने वाले हम सब सभागी हैं, फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियो के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हू जिनका इस काय मे योग है और आशा करता हू कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण मे और अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे।

आचार्यश्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत हैं। हमे इस कार्य मे उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग दोनो प्राप्त हैं, इसलिए हमारा कार्य-पथ बहुत ऋजु हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं कार्य की गुरुता को बढा नही पाऊगा। उनका आशीर्वाद दीप बनकर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशसा है।

१६ नवंबर, १९८६ — **युवाचार्य महाप्रज्ञ**
लाडनू

विषय सूची

पहला अध्ययन

दूसरा अध्ययन

तीसरा अध्ययन

चौथा अध्ययन

पांचवां अध्ययन

छठा अध्ययन

सातवां अध्ययन

परिशिष्ट

पढमं अज्झयणं
पोंडरीए

पहला अध्ययन
पुण्डरीक

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य पुण्डरीक (श्वेत कमल) की उपमा के द्वारा समझाया गया है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'पुण्डरीक' या 'पौण्डरीक' है। यह चूर्णिकार का अभिमत है।[1] उन्होने दूसरे कोण से यह लिखा है कि आदानपद के आधार पर इस अध्ययन का नाम 'पौण्डरीक' है।[2] वृत्तिकार ने भी उपमा के आधार पर इस अध्ययन का नाम 'पौण्डरीक' माना है।[3]

निर्युक्ति तथा चूर्णि मे पौण्डरीक के निक्षेप की वक्तव्यता मे अनेक तथ्य उपलब्ध हैं[4]—

द्रव्य पौंडरीक

सचित्त—नरकगतिक जीवो को छोडकर सभी गतियो मे प्रशस्य जीव होते है। जलचर—मत्स्य आदि विशिष्ट वर्ण वाले होते हैं। स्थलचर—वर्ण और रूप से प्रशस्त सिंह आदि, खेचर—हस, मयूर, कोकिल आदि रूप, स्वर और वर्ण से श्रेष्ठ होते हैं। मनुष्य—अर्हत् चक्रवर्ती आदि, चारणश्रमण, विद्याधर, हरिवश कुल मे उत्पन्न दशार, ईक्ष्वाकु आदि श्रेष्ठ कुलो मे उत्पन्न मनुष्य। आढ्य, कोटीश्वर, विद्या और कलाओ मे निपुण।

देवो मे इन्द्र, सामानिक आदि।

अचित्त—कास्य [धातु] मे जयघटा, वस्त्रो मे चीनाशुक, मणियो मे वैडूर्य, इन्द्रनील, पद्मराग आदि, मोतियो मे वृहादाकार मोती आदि-आदि।

मिश्र—आभूषणो से अलकृत तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि।

क्षेत्र पौंडरीक

देवकुरु आदि शुभ अनुभाव वाले क्षेत्र।

काल पौंडरीक

भवस्थिति से—अनुत्तरोपपातिक देव उपपात से च्यवन तक समान रूप से रहते हैं।

कायस्थिति से—शुभकर्म करने वाले मनुष्य। वे सात-आठ भव मे मुक्त हो जाते हैं।

गणना पौंडरीक

गणित के परिकर्म आदि दस प्रकार हैं। उनमे रज्जुगणित श्रेष्ठ है।

संस्थान पौंडरीक

छह सस्थानो मे समचतुरस्र संस्थान श्रेष्ठ है।

भाव पौंडरीक

भाव का अर्थ है—अवस्था विशेष। भाव पाच (या छह) हैं—औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव और पारिणामिकभाव। छठा भाव है—सान्निपातिक।

- औदयिकभाव पौडरीक—तीर्थंकर तथा अनुत्तरोपपातिक देव, श्वेत कमल आदि।
- औपशमिकभाव पौडरीक—पूर्ण उपशान्त मोह की स्थिति वाले।
- क्षायिकभाव पौंडरीक—केवलज्ञानी।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३११ : पोंडरीएणं उवमा अतः पुण्डरीकाध्ययनं।

२. वही, पृष्ठ ३११ : ....आदाणपदेण वा पोंडरीअं।

३. वृत्ति, पत्र ७ : पौण्डरीकेण—सितशतपत्रेणात्रोपमा भविष्यतीतिकृत्वा, अतोऽस्याध्ययनस्य पौण्डरीकमिति नाम कृतम्।

४. (क) निर्युक्ति गाथा : १४४-१५६।

(ख) चूर्णि, पृष्ठ ३०९-३११।

० क्षायोपशमिकभाव पौंडरीक—विपुलमति, चतुर्दश पूर्वविद्, परमावधिज्ञानी।

० पारिणामिकभाव पौंडरीक—भव्य व्यक्ति

इसी प्रकार ज्ञान मे केवलज्ञानी, दर्शन मे क्षायिक सम्यक्त्वी, चारित्र मे यथाख्यात चारित्री, विनय मे अभ्युत्थानादि विनय-युक्त, अध्यात्म मे अनाशसी, ध्यान मे परमशुक्लध्यानी—ये पौंडरीक होते हैं।

इस गद्यमय अध्ययन मे ७२ सूत्र हैं। प्रथम बारह सूत्रो मे भगवान् महावीर ने पुष्करिणी मे स्थित पौडरीक के माध्यम से धर्म, धर्मतीर्थ और निर्वाण के महत्त्व को समझाया है।

एक रमणीय पुष्करिणी है। उसमे अथाह जल है। स्थान-स्थान पर कीचड भी है। उसमे अनेक श्वेत कमल जल से ऊपर उठे हुए शोभित हो रहे हैं। पुष्करिणी के बीच मे एक विशाल रमणीय और विशिष्ट गध, वर्ण और रस वाला श्वेत कमल खिला हुआ है। चार पुरुष चार दिशाओ से आते हैं। उस विशाल श्वेत कमल को पाने के लिए चारो ललचाते हैं। एक-एक कर चारो उस पुष्करिणी मे उतरते हैं। चारो अपने आप को कुशल और पारगामी मानते हैं। चारो उस पुष्करिणी के कीचड मे फस जाते हैं। अब न तट पर ही आ पाते हैं और न आगे ही बढ पाते हैं। वे वहा कीचड मे खडे-खडे खिन्नता का अनुभव करते है और त्राण के लिए इधर-उधर देखते हैं। इतने मे एक भिक्षु आता है। वह पानी मे नहीं उतरता, तीर पर खडे रहकर आह्वान करता है—'हे पद्मवर पुडरीक! ऊपर आओ, ऊपर आओ।' वह पद्मवर पुडरीक ऊपर आ जाता है।

इसका निगमन करते हुए भगवान् कहते हैं[1]—

० लोक पुष्करिणी है।

० कर्म जल है।

० कामभोग कीचड है।

० लोग कमल हैं।

० राजा पद्मवर पुडरीक है।

० अन्यतीर्थिक चार दिशाओ से आने वाले पुरुष हैं।

० धर्म भिक्षु है।

० धर्म-तीर्थ तट है।

० धर्म-कथा आह्वान है।

० ऊपर उठना निर्वाण है।

निर्युक्तिकार ने सात गाथाओ [१५८ से १६४] मे समस्त अध्ययन का उपसंहार कर, उसके फलित का निदर्शन किया है। वे कहते हैं कि बहुलकर्मी मनुष्य जो नरकगमन योग्य कर्मो का उपचय कर चुका है वह भी जिनोपदेश से उसी जन्म मे सिद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है। तो क्या उस महान् पुडरीक के उद्धरण का भी कोई उपाय है?

वह पुष्करिणी जल से परिपूर्ण है। वह पक से भरी हुई है। अनेक प्रकार की वल्लियो से वह गहन है। उस गहरी और पकबहुल पुष्करिणी को जघा या भुजाओ से तरना दुष्कर है। नौका से भी वह नही तरी जा सकती। ऐसी दुष्कर पुष्करिणी मे उतरकर उस पौंडरीक को प्राप्त करना जीवन मे हाथ धोना है। क्या कोई दूसरा उपाय नही है, जिससे कि प्राणो की बाजी लगाए बिना भी उस पौंडरीक को प्राप्त किया जा सके? उसके तीन उपाय हैं—

१. प्रज्ञप्ति आदि किसी विद्या की सिद्धि।

२ देवता का सहयोग।

३. आकाशगामिनी लब्धि या विद्या।

उनके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण उपाय है—तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट शुद्ध विद्या का प्रयोग और वह है अध्यात्म विद्या। इससे ही व्यक्ति समस्त आपदाओ को पार कर सिद्धि गति को प्राप्त कर लेता है।[2]

प्रस्तुत अध्ययन मे चार वादो का विस्तार से वर्णन प्राप्त है—

---

१. सूयगडो २, १।१२।

२. वृत्ति पत्र ४२,............विद्या वा काचित्प्रज्ञप्त्यादिका देवताकर्म वाऽथवाऽऽकाशगमनलब्धिर्वा कस्यचिद्भवेत् तेनासावविपन्नो गृहीतपौण्डरीकः सन्नुलङ्घयेत्तां पुष्करिणीम्, एष च जिनैरुपाय समाख्यात इति।........शुद्धप्रयोगविद्या सिद्धा जिनस्यैव विज्ञानरूपा विद्या नान्यस्य कस्यचिद्यया विद्यया तीर्थंकरदर्शितया भव्यजनपौण्डरीका. सिद्धिमुपगच्छन्तीति।

१ तज्जीवतच्छरीरवाद [सूत्र १३-२२]
२. पचभूतवाद [सूत्र २३-३१]
३ ईश्वरकारणिकवाद [सूत्र ३२-३८]
४. नियतिवाद [सूत्र ३९-४८]

तज्जीवतच्छरीरवाद के प्रवर्तक अजितकेशकवल है। पचभूतवाद पकुधकात्यायन का दार्शनिक पक्ष है। विस्तार के लिए इसी आगम के प्रथम श्रुतस्कध के १।११,१२ तथा १।७,८,१५,१६ के विस्तृत टिप्पण द्रष्टव्य है। नियतिवाद के लिए १।२८-४० तथा ईश्वर-कारणिक के लिए १।६५ का टिप्पण द्रष्टव्य है। हमने वहा विस्तार से इनका उल्लेख किया है।

सूत्रकार ने ४९ से ५५—इन सात सूत्रो मे कर्मक्षय की सुन्दर प्रक्रिया बतलाई है। इस प्रक्रिया के तीन अग है—

१. अनारभ और अपरिग्रह से परिज्ञात कर्मा की अवस्था प्राप्त होती है।
२ परिज्ञातकर्मा ही व्यपेतकर्मा (नए कर्मो का अवधक) होता है।
३. व्यपेतकर्मा ही व्यन्तकर (पूर्व सचित कर्मो का अन्तकर) होता है।

ये सात सूत्र भिक्षाचर्या के हैं। भिक्षाचार्य का अर्थ है—मुनिचर्या। इस मुनिचर्या के कुछ महत्वपूर्ण विन्दु हैं—

१ उपलब्ध या अनुपलब्ध ज्ञातिजनो तथा पदार्थो का परित्याग।
२. कामभोगो मे त्राण और शरण का सामर्थ्य नही है, इसकी स्पष्ट अनुभूति।
३ माता-पिता आदि ज्ञातिजन त्राण और शरण देने वाले नही है। किसी दूसरे का दु ख कोई दूसरा नही बटा सकता। अपना-अपना दु ख और अपना-अपना सवेदन होता है। इस अनुभूति का वोध और आचरण।
४. 'शरीर मेरा नही है'—की स्पष्ट अनुभूति।
५ आरभ और परिग्रहमुक्त जीवन जीने की आकाक्षा।
६ एकत्व अनुप्रेक्षा और अन्यत्व अनुप्रेक्षा की साक्षात् परिणति।

जो साधक इन विन्दुओ को जीता है वह परिज्ञातकर्मा, व्यपेतकर्मा और व्यतकर हो जाता है। यह साधना की प्रक्रिया है।

इसी प्रकार मुनिचर्या के कुछ नियम-उपनियम भी [सूत्र ५९-६६] प्रदर्शित हैं—

१. भिक्षु पाच महाव्रतो का पालन करे।
२ अतिचारो का सेवन न करे।
३ भविष्य की आशसा न करे, निदान न करे।
४ कर्म-वध की प्रवृत्ति न करे, सयम मे उपस्थित और असयम से प्रतिविरत रहे।
५. परिग्रह से मुक्त रहे।
६ पारलौकिक कर्म न करे।
७ अशुद्ध और अनैषणीय आहार का उपभोग न करे।
८ एपणाशुद्ध, शस्त्रातीत और माधकरी से प्राप्त आहार करे।
९ हित, मित आहार करे। अनासक्त रहकर शरीर-निर्वाह-मात्र के लिए भोजन ले।

इस प्रकार यह अध्ययन अध्यात्म साधना की दृष्टि से वहुत ही महत्वपूर्ण है। साधक को जब तक पदार्थो की अत्राणता का अनुभव नही होता, तव तक वह अध्यात्म के पथ पर आगे नही वढ सकता। मूर्च्छा पग-पग पर उसे सताती रहती है। जब उसे 'मैं अकेला हू' की अनुभूति तीव्रता से होती है तब उसमे अमूर्च्छा घटित होती है और फिर वह एक-एक कर सभी वधनो को तोडकर आगे वढ जाता है। प्रत्येक साधक को निम्नसूत्र हृदयगम करने चाहिए—

० अण्णस्स दुक्ख अण्णो णो परियाइयइ—दूसरे का दु ख दूसरा नही बटाता।
० अण्णेण कत अण्णो णो पडिसवेदेइ—दूसरे के द्वारा किया हुआ दूसरा नही भोगता।
० पत्तेय जायइ—अकेला ही जन्मता है।
० पत्तेय मरइ—अकेला ही मरता है।
० पत्तेय मण्णा—मनन अपना-अपना होता है।
० पत्तेय वेदना—सवेदन—दु ख अपना-अपना होता है।

५. सव्वावंति च णं तीसे पोक्खरणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए–अणुपुव्वट्ठिए ऊसिए रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादिए दरिसणीए अभिरूवे पडिरूवे ॥

सर्वस्याश्च तस्याः पुष्करिण्याः बहुमध्यदेशभागे एकं महत् पद्मवरपुण्डरीक उक्तम्—अनुपूर्वस्थित उच्छ्रित रुचिर वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिकं दर्शनीयं अभिरूप प्रतिरूपम्।

५. उस सारी पुष्करिणी के ठीक मध्य-देशभाग में एक बड़ा पद्मवर-पुंडरीक है—क्रम से अवस्थित, पंक और जल से ऊपर उठा हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गंध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय।

६ अह पुरिसे पुरत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं ऊसियं रुइलं वण्णमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादियं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं।

अथ पुरुष. पौरस्त्यायाः दिश॰ आगत्य तां पुष्करिणी, तस्या. पुष्करिण्या. तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेक पद्मवरपुण्डरीक अनुपूर्वस्थित उच्छ्रितं रुचिरं वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिकं दर्शनीयं अभिरूपं प्रतिरूपम्।

६. एक पुरुष पूर्व दिशा से उस पुष्करिणी के पास आया, उसके तीर पर बैठकर उसने उस एक बड़े पद्मवर-पुंडरीक को देखा जो क्रम से अवस्थित, पंक और जल से ऊपर उठा हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गंध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय था।

तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहमंसि पुरिसे देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिते विअत्ते मेधावी अवाले मग्गण्णे मग्गविदू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू। अहमेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं। जावं-जावं च णं अभिक्कमेइ ताव-तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे—पढमे पुरिसजाते ॥

तत. स पुरुष. एवमवादीत्—अहमस्मि पुरुष॰ देशकालज्ञः क्षेत्रज्ञ. कुशलः पंडितः व्यक्तः मेधावी अबालः मार्गज्ञ. मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञ. पराक्रमज्ञः। अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीक उन्निक्षेप्स्यामीति उक्त्वा स पुरुष. अभिक्रामेत् ता पुष्करिणीम्। यावद्-यावद् च अभिक्रामति तावत्-तावत् च महदुदक महत् 'सेए' प्रहीणस्तीरं, अप्राप्त पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या. 'सेयसि' विपण्णः—प्रथम॰ पुरुषजात॰।

तब वह मनुष्य इस प्रकार बोला—'मैं देश, काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पंडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला तथा पार पहुंचाने वाली गति को जानने वाला'' पुरुष हूं। मैं इस पद्मवर-पुंडरीक को उखाडूंगा'—यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता है वैसे-वैसे गहरा'' जल और गहरा पंक मिलता है, तट छूट गया, पद्मवर-पुंडरीक मिला नहीं, न इधर का न उधर का'', पुष्करिणी के बीच पंक में फंस गया—यह प्रथम प्रकार का पुरुष है।

७. अहावरे दोच्चे पुरिसजाते—अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्व-

अथापर. द्वितीय. पुरुषजात.—अथ पुरुष. दक्षिणस्याः दिश. आगत्य ता पुष्करिणी, तस्याः पुष्करिण्या॰ तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेक पद्मवरपुण्डरीकं अनु-

७ अब दूसरे प्रकार का पुरुष—एक पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आया, उसके तीर पर बैठकर उसने उस एक बड़े पद्मवर-पुंडरीक को देखा, जो क्रम से अवस्थित, पंक और जल से ऊपर उठा

ट्ठियं ऊसियं रुइलं वण्णमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादियं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं।

पूर्वस्थित उच्छ्रितं रुचिर वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिक दर्शनीय अभिरूप प्रतिरूपम्।

हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गंध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय, और रमणीय था।

तं च एत्थ एगं पुरिसजायं पासइ पहीणतीरं, अपत्त-पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णं।

तं च अत्रैक पुरुषजातं पश्यति प्रहीणस्तीर, अप्राप्त-पद्मवर-पुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या 'सेयंसि' विषण्णम्।

वह वहा एक पुरुष को देखता है, जिसका तट छूट गया, जिसे पद्मवर-पुडरीक नही मिला, न इधर का न उधर का, पुष्करिणी के बीच पक मे फसा हुआ है।

तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—अहो ! णं इमे पुरिसे अदेसकालण्णे अखेत्तण्णे अकुसले अपंडिए अविअत्ते अमेधावी बाले णो मग्गण्णे णो मग्गविदू णो मग्गस्स गति-आगतिण्णे णो परक्कमण्णू, जण्णं एस पुरिसे अहं देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिते विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे मग्गविदू मग्गस्स गति आगतिण्णे परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि णो य खलु एतं पउमवरपोडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मण्णे।

तत: स पुरुष त पुरुषं एवमवादीत्—अहो ! अय पुरुष. अदेशकालज्ञ: अक्षेत्रज्ञ अकुशल अपंडित अव्यक्त अमेधावी वाल नो मार्गज्ञ: नो मार्गवित् नो मार्गस्य गति-आगतिज्ञ नो पराक्रमज्ञ, यत् एष पुरुष: अहं देशकालज्ञ क्षेत्रज्ञ. कुशल पडित व्यक्त मेधावी अवाल मार्गज्ञ मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञ पराक्रमज्ञ, अहमेतत् पद्मवर-पुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्यामि, नो च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीक एवं उन्निक्षेप्तव्य यथैप पुरुष: मन्यते।

तव आने वाले पुरुष ने उस पुरुष से (मन ही मन) इस प्रकार कहा—'आश्चर्य कि यह पुरुप देश, काल और क्षेत्र को नही जानने वाला, अकुशल, अपडित, अव्यक्त, अमेधावी, वाल, मार्ग का अज्ञाता, मार्ग का अपारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को नही जानने वाला और पार पहुचाने वाली गति को नही जानने वाला है। इस पुरुप ने (यह सोचा था)—'मैं देश, काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला और पार पहुचाने वाली गति को जानने वाला हू। मै उस पद्मवर-पुडरीक को उखाडूगा।' किन्तु यह पद्मवर-पुडरीक ऐसे नही उखाडा जा सकता, जैसा कि इस पुरुष ने सोचा था।

अहमंसि पुरिसे देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिते विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे मग्गविदू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू, अहमेतं पउमवरपोडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पोक्खरणिं। जाव-जावं च णं अभिक्कमेइ ताव-तावं च णं महते उदए महंते सेए पहीणे तीरं, अपत्ते पउम-वरपोडरीयं, णो हव्वाए णो

अहमस्मि पुरुष देशकालज्ञ. क्षेत्रज्ञ: कुशल पडित. व्यक्त. मेधावी अवाल मार्गज्ञ. मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञ पराक्रमज्ञ', अहमेतत् पद्मवरपुण्ड-रीकं उन्निक्षेप्स्यामीति उक्त्वा स पुरुष: अभिक्रामेत् ता पुष्करिणीम्। यावद्-यावद् च अभिक्रामति तावत्-तावत् च महदुदक महत् 'सेए' प्रहीणस्तीर, अप्राप्त. पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो

मैं देश, काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला और पार पहुचाने वाली गति को जानने वाला पुरुष हू। मैं इस पद्मवर-पुडरीक को उखाडूगा'—यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी मे प्रवेश करता है। जैसे-जैसे वह आगे वढता है वैसे-वैसे गहरा जल और गहरा पक मिलता है, तट छूट गया, पद्मवर-पुडरीक

पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे—दोच्चे पुरिसजाते।

पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या: 'सेयसि' विषण्ण.—द्वितीय: पुरुषजात:।

मिला नही, न इधर का न उधर का, पुष्करिणी के बीच पंक मे फस गया—यह दूसरे प्रकार का पुरुष है।

८. अहावरे तच्चे पुरिसजाते—अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पोक्खरणिं, तीसे पोक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं ऊसियं रुइलं वण्णमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादियं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं।

अथापर. तृतीय: पुरुषजात:—अथ पुरुष: पश्चिमाया: दिश: आगत्य तां पुष्करिणी, तस्या: पुष्करिण्या: तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकं अनुपूर्वस्थितं उच्छ्रितं रुचिरं वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिक दर्शनीय अभिरूप प्रतिरूपम्।

८. अब तीसरे प्रकार का पुरुष—एक पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आया, उसके तीर पर बैठकर उसने उस एक बडे पद्मवर-पुंडरीक को देखा, जो क्रम से अवस्थित, पक और जल से ऊपर उठा हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गंध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय था।

ते तत्थ दोण्णि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे।

तौ तत्र द्वौ पुरुषजातौ पश्यति प्रहीणौ तीर अप्राप्तौ पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या: 'सेयसि' विषण्णौ।

वह वहा दो पुरुषो को देखता है जिनका तट छूट गया, जिन्हे पद्मवर-पुडरीक नही मिला, न इधर के न उधर के, पुष्करिणी के बीच पक मे फंसे हुए हैं।

तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहो! णं इमे पुरिसा अदेसकालण्णा अखेत्तण्णा अकुसला अपंडिया अविअत्ता अमेधावी बाला णो मग्गण्णा णो मग्गविद्ू णो मग्गस्स गति-आगतिण्णा णो परक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे—अम्हे तं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो, णो य खलु एतं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मण्णे।

तत. स पुरुष. एवमवादीत्—अहो! इमौ पुरुषौ अदेशकालज्ञौ अक्षेत्रज्ञौ अकुशलौ अपंडितौ अव्यक्तौ अमेधाविनौ बालौ नो मार्गज्ञौ नो मार्गविदौ नो मार्गस्य गति आगतिज्ञौ नो पराक्रमज्ञौ, यत् एतौ पुरुषौ एवं मन्येते—'आवा तत् पद्मवर-पुण्डरीक उन्निक्षेप्स्याव.' नो च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकं एवं उन्निक्षेप्तव्यं यथा एतौ पुरुषौ मन्येते।

तब उसने (उन पुरुषो को मन ही मन) इस प्रकार कहा—आश्चर्य कि ये (दोनो) पुरुष देश, काल और क्षेत्र को नही जानने वाले, अकुशल, अपडित, अव्यक्त, अमेधावी, वाल, मार्ग के अज्ञाता, मार्ग के अपारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को नही जानने वाले और पार पहुचाने वाली गति को नही जानने वाले हैं। इन पुरुषो ने यह सोचा था—'हम उस पद्मवर-पुडरीक को उखाडेंगे।' किन्तु यह पद्मवर-पुडरीक ऐसे नही उखाडा जा सकता जैसे कि इन पुरुषो ने सोचा था।

अहमंसि पुरिसे देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिए विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे मग्गविद्ू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं

अहमस्मि पुरुष. देशकालज्ञ. क्षेत्रज्ञ: कुशल पंडित: व्यक्त: मेधावी अबाल मार्गज्ञ मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञ पराक्रमज्ञ, अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्यामीति उक्त्वा स पुरुष: अभिक्रामेत् ता पुष्करि-

मैं देश, काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला और पार पहुंचाने वाली गति को जानने वाला पुरुष हूं। 'मैं इस पद्मवर-पुडरीक को उखाडूंगा'—यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी मे प्रवेश करता है।

पोक्खरणिं। जाव-जावं च णं अभिक्कमेइ ताव-तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे—तच्चे पुरिसजाते ॥

णीम्। यावत्-यावत् च आभि-क्रामति तावत्-तावत् च महदुदकं महत् 'सेए' प्रहीणस्तीरं अप्राप्त. पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या· 'सेयसि' विषण्ण —तृतीयः पुरुषजात ।

जैसे-जैसे वह आगे बढता है, वैसे-वैसे गहरा जल और गहरा पंक मिलता है, तट छूट गया, पद्मवर-पुडरीक मिला नही, न इधर का न उधर का, पुष्करिणी के बीच पक मे फस गया—यह तीसरे प्रकार का पुरुष है।

९. अहावरे चउत्थे पुरिसजाते—अह पुरिसे उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पोक्खरणिं, तीसे पोक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोडरीयं अणुपुव्वट्ठियं ऊसियं रुइलं वण्णमंतं गंधमंतं रसमंतं फासमंतं पासादियं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं।

अथापर चतुर्थ. पुरुषजात—अथ पुरुष उत्तरस्या दिश आगत्य ता पुष्करिणी, तस्या पुष्करिण्या. तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेक पद्मवरपुण्डरीकं अनुपूर्वस्थितं उच्छ्रित रुचिरं वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिक दर्शनीय अभिरूपं प्रतिरूपम् ।

९ अब चौथे प्रकार का पुरुष—एक पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आया, उसके तीर पर बैठकर उसने उस एक बडे पद्मवर-पुडरीक को देखा, जो क्रम से अवस्थित, पक और जल से ऊपर उठा हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय था।

ते तत्थ तिण्णि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे।

तान् तत्र त्रीन् पुरुषजातान् पश्यति प्रहीणान् तीरं, अप्राप्तान् पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्या. 'सेयंसि' विषण्णान् ।

वह वहा तीन पुरुषो को देखता है जिनका तट छूट गया, जिन्हे पद्मवर-पुडरीक नही मिला, न इधर के न उधर के, पुष्करिणी के बीच पक मे फसे हुए है।

तए णं से पुरिसे एवं वयासी—अहो! णं इमे पुरिसा अदेसकालण्णा अखेत्तण्णा अकुसला अपंडिया अविअत्ता अमेधावी बाला णो मग्गण्णा णो मग्गविदू णो मग्गस्स गति-आगतिण्णा णो परक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे—अम्हे एतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो णो य खलु एतं पउमवरपोडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मण्णे।

तत· स पुरुष एवमवादीत—अहो! इमे पुरुषा. अदेशकालज्ञा अक्षेत्रज्ञा. अकुशला अपडिता अव्यक्ता अमेधाविन बाला. नो मार्गज्ञा. नो मार्गविद नो मार्गस्य गति-आगतिज्ञा नो पराक्रमज्ञा यत् एते पुरुषा एवं मन्यन्ते—वयमेतत् पद्मवरपुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्याम नो च खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीक एव उन्निक्षेप्तव्य यथा एते पुरुषा. मन्यन्ते।

तब उसने (उन पुरुषो को मन ही मन) इस प्रकार कहा—आश्चर्य कि ये (तीनो) पुरुष देश, काल और क्षेत्र को नही जानने वाले, अकुशल, अपडित, अव्यक्त, अमेधावी, बाल, मार्ग के अज्ञाता, मार्ग के अपारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को नही जानने वाले और पार पहुचाने वाली गति को नही जानने वाले है। इन पुरुषो ने यह सोचा था—'हम इस पद्मवर-पुडरीक को उखाडेगे।' किंतु यह पद्मवर-पुडरीक ऐसे नही उखाडा जा सकता जैसे कि इन पुरुषो ने सोचा था।

अहमंसि पुरिसे देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिए विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे

अहमस्मि पुरुष देशकालज्ञ क्षेत्रज्ञ. कुशल. पडित व्यक्त मेधावी अबाल मार्गज्ञः मार्गवित्

मै देश, काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला

मग्गविदू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पोक्खरणिं। जाव-जावं च णं अभिक्कमेइ ताव-तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे—चउत्थे पुरिसजाते॥

मार्गस्य गति-आगतिज्ञः पराक्रमज्ञ. अहमेतत् पद्मवरपुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्यामीति उक्त्वा स पुरुष· अभिक्रामेत् ता पुष्करिणीम्। यावत्-यावत् च अभिक्रामति तावत्-तावत् च महदुदक महत् 'सेए' प्रहीणस्तीरं, अप्राप्त. पद्मवरपुण्डरीकं, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्याः 'सेयसि' विपण्ण.—चतुर्थः पुरुषजात.।

और पार पहुंचाने वाली गति को जानने वाला पुरुष हूं। मैं इस पद्मवर-पुडरीक को उखाड़ूगा—यह कह कर वह पुरुष उस पुष्करिणी मे प्रवेश करता है। जैसे-जैसे वह आगे बढता है, वैसे-वैसे गहरा जल और गहरा पंक मिलता है, तट छूट गया, पद्मवर-पुडरीक मिला नही, न इधर का न उधर का, पुष्करिणी के बीच पक मे फस गया—यह चौथे प्रकार का पुरुष है।

१०. अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिते विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे मग्गविदू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू अण्णतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पोक्खरणिं, तीसे पोक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं ऊसियं रुइलं वण्णमंत गंधमंत फासमंतं पासादियं दरिसणीयं अभिरूवं पडिरूवं।

अथ भिक्षु रूक्ष. तीरार्थी देशकालज्ञः क्षेत्रज्ञ. कुशल· पंडितः व्यक्त. मेधावी अबाल मार्गज्ञ· मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञ. पराक्रमज्ञ· अन्यतरस्या दिशो वा अनुदिशो वा आगत्य तां पुष्करिणी, तस्या. पुष्करिण्या. तीरे स्थित्वा पश्यति तन्महदेक पद्मवर-पुण्डरीक अनुपूर्वस्थितं उच्छ्रितं रुचिरं वर्णवत् गन्धवत् रसवत् स्पर्शवत् प्रासादिकं दर्शनीयं अभिरूपं प्रतिरूपम्।

१० अब राग-द्वेष रहित[१८], तीर का अर्थी, देश-काल और क्षेत्र को जानने वाला[१९], कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला और पार पहुंचाने वाली गति को जानने वाला एक भिक्षु किसी एक दिशा या विदिशा से[२०] उस पुष्करिणी के पास आया, उसके तीर पर बैठकर उसने एक बडे पद्मवर-पुडरीक को देखा जो क्रम से अवस्थित, पक और जल से ऊपर उठा हुआ, चक्षुहारी, विशिष्ट वर्ण-गध-रस और स्पर्श वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, कमनीय और रमणीय था।

ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं, अपत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे।

तान् तत्र चतुर. पुरुष-जातान् पश्यति प्रहीणान् तीर, अप्राप्तान् पद्मवरपुण्डरीक, नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा पुष्करिण्याः 'सेयसि' विषण्णान्।

वह वहा चार पुरुषो को देखता है जिनका तट छूट गया, जिन्हे पद्मवर-पुडरीक नही मिला, न इधर के न उधर के, पुष्करिणी के बीच पक मे फसे हुए हैं।

तए णं से भिक्खू एवं वयासी—अहो! णं इमे पुरिसा अदेसकालण्णा अखेत्तण्णा अकुसला अपंडिया अविअत्ता अमेधावी बाला णो मग्गण्णा णो मग्ग-

ततः स भीक्षु. एवमवादीत्—अहो! इमे पुरुषा अदेशकालज्ञा. अक्षेत्रज्ञा अकुशला. अपडिता. अव्यक्ताः अमेधाविन. बाला नो मार्गज्ञाः नो मार्गविद. नो

तब उस भिक्षु ने (उन पुरुषो को मन ही मन) इस प्रकार कहा—आश्चर्य कि ये (चारो) पुरुष देश, काल और क्षेत्र को नही जानने वाले, अकुशल, अपडित, अव्यक्त, अमेधावी, बाल, मार्ग के अज्ञाता,

विदू णो मग्गस्स गति-आगतिण्णा णो परक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे—अम्हे एतं पउमवर-पोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो णो य खलु एतं पउमवर-पोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मण्णे।

मार्गस्य गति-आगतिज्ञाः नो पराक्रमज्ञा, यत् एते पुरुषाः एवं मन्यन्ते—वयमेतत् पद्मवर-पुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्याम नो खलु एतत् पद्मवरपुण्डरीकं एव उन्निक्षेप्तव्यं यथा एते पुरुषा मन्यन्ते।

मार्ग के अपारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को नही जानने वाले और पार पहुचाने वाली गति को नही जानने वाले है। इन पुरुषो ने यह सोचा था—'हम इस पद्मवर-पुडरीक को उखाडेंगे।' किन्तु यह पद्मवर-पुडरीक ऐसे नही उखाडा जा सकता जैसे कि इन पुरुषो ने सोचा था।

अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी देसकालण्णे खेत्तण्णे कुसले पंडिते विअत्ते मेधावी अबाले मग्गण्णे मग्गविदू मग्गस्स गति-आगतिण्णे परक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि त्ति वच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पोक्खरणिं, तीसे पोक्खर-णीए तीरं ठिच्चा सद्दं कुज्जा—उप्पयाहि खलु भो! पउमवरपोंडरीया! उप्पयाहि। अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए॥

अहमस्मि भिक्षुः रूक्ष तीरार्थी देशकालज्ञः क्षेत्रज्ञः कुशलः पंडितः व्यक्तः मेधावी अबाल मार्गज्ञः मार्गवित् मार्गस्य गति-आगतिज्ञः पराक्रमज्ञः, अहमेतत् पद्मवर-पुण्डरीकं उन्निक्षेप्स्यामीति उक्त्वा स भिक्षु नो अभिक्रामेत् ता पुष्करिणी, तस्याः पुष्करिण्याः तीरे स्थित्वा शब्दं कुर्यात्—उत्पत खलु भो! पद्मवरपुण्ड-रीक! उत्पत। अथ तत् उत्पतित पद्मवरपुण्डरीकम्।

मैं राग-द्वेष रहित तीर का अर्थी, देश-काल और क्षेत्र को जानने वाला, कुशल, पडित, व्यक्त, मेधावी, युवा, मार्ग का ज्ञाता, मार्ग का पारगामी, मार्ग के गमन-आगमन को जानने वाला और पार पहुचाने वाली गति को जानने वाला भिक्षु हू। मैं इस पद्मवर-पुडरीक को उखाडूगा'—यह कहकर वह भिक्षु उस पुष्करिणी मे नही उतरा किन्तु उस पुष्करिणी के तीर पर खडे होकर उसने आह्वान किया—हे पद्मवर-पुडरीक! ऊपर आओ, ऊपर आओ। तब वह पद्मवर-पुडरीक ऊपर आ गया।

११. किट्टिए णाए समणाउसो! अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति।

कीर्त्तितः ज्ञातः श्रमणायुष्मन्! अर्थः पुनस्तस्य ज्ञातव्यो भवति।

११ (भगवान् ने कहा)—'आयुष्मान् श्रमणो! मैंने उदाहरण[1] बतला दिया। अब इसका अर्थ जानना है।'

भंतेति! णिग्गंथा य णिग्गं-थीओ य समणं भगवं महा-वीरं वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—किट्टिए णाए भगवया अट्ठं पुण से ण जाणामो।

भदन्त! इति निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च श्रमणं भगवन्त महा-वीरं वन्दन्ते नमस्यन्ति वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादिषुः—कीर्त्तितो ज्ञातो भगवता अर्थं पुनस्तस्य न जानीमः।

तब निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो ने भते! कहकर वदना-नमस्कार किया और वदना-नमस्कार कर वे इस प्रकार बोले—'भगवान् ने उदाहरण बतलाया, उसका अर्थ हम नही जानते।'

समणाउसोति! समणे भगवं महावीरे ते बहवे णिग्गंथे य णिग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—हंता समणाउसो! आइक्खामि विभयामि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सणिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि॥

श्रमणायुष्मन्! इति श्रमणो भगवान् महावीर तान् बहून् निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थीश्च आमन्त्र्य एवमवादीत्—हन्त श्रमणा-युष्मन्! आचक्षे विभजामि कीर्त्तयामि प्रवेदयामि सार्थं सहेतु सनिमित्त भूयो भूयः उपदर्श-यामि।

तब श्रमण भगवान् महावीर ने आयुष्मान् श्रमणो! कह, बहुत से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को आमन्त्रित कर, इस प्रकार कहा—हा, आयुष्मान् श्रमणो! मैं (उस उदाहरण के अर्थ का) आख्यान करता हू, अनेक दृष्टियो से निरूपण करता हू[1], उसे समझाता हूं, उसका प्रवेदन करता हूं, प्रयोजन, हेतु[1] और निमित्त सहित[1] उसे पुन पुन दिखलाता हू।

१२. से बेमि—लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! सा पोक्खरणी वुइया।
अथ ब्रवीमि—लोकञ्च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! सा पुष्करिणी उक्ता।
१२. अब मैं कहता हूं—
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से[15] मैंने लोक को[16] पुष्करिणी कहा है।

कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए वुइए।
कर्म च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तद् उदकमुक्तम्।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने कर्म को जल कहा है।

कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए वुइए।
कामभोगांश्च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तत् 'सेए' उक्तम्।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने कामभोग को[17] पंक कहा है।'

जणजाणवए च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपोंडरीया वुइया।
जनजानपदाश्च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तानि बहूनि पद्मवरपुंडरीकानि उक्तानि।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने जन और जानपदों को[18] बहुत से पद्मवर-पुंडरीक कहा है।'

रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए वुइए।
राजानं च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तत् एकं महत् पद्मवरपुण्डरीकं उक्तम्।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने राजा को एक महान् पद्मवर-पुंडरीक कहा है।'

अण्णउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया वुइया।
अन्ययूथिकांश्च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! ते चत्वारः पुरुषजाताः उक्ताः।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने अन्य-तीर्थिकों को चार पुरुष कहा है।'

धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू वुइए।
धर्मं च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! स भिक्षुरुक्तः।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने धर्म को भिक्षु कहा है।

धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे वुइए।
धर्मतीर्थं च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तत् तीरमुक्तम्।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने धर्म-तीर्थ को तट कहा है।'

धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे वुइए।
धर्मकथा च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! स शब्दः उक्तः।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने धर्म-कथा को आह्वान कहा है।'

णिव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाए वुइए।
निर्वाणं च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! स उत्पातः उक्तः।
'आयुष्मान् श्रमणो ! एक अपेक्षा से मैंने निर्वाण को 'ऊपर आना' कहा है।'

एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं वुइयं।
एवमेतत् च खलु मया संदिश्य श्रमणायुष्मन् ! तत् एवमेतत् उक्तम्।
'आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार यह मैंने एक अपेक्षा से कहा है।'

१३. इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया
इह खलु प्राचीनं वा प्रतीचीनं वा उदीचीनं वा दक्षिणं वा सन्ति एकका: मनुष्याः भवन्ति अनुपूर्वेण लोकं उपपन्नाः, तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके, उच्चगोत्रा अप्येके नीचगोत्रा
१३. इस जगत् में पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण में कुछ मनुष्य होते हैं। वे लोक में आनुपूर्वी (क्रम) से उपपन्न होते हैं—माने जाते हैं, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य[19], कुछ उच्च गोत्र वाले होते हैं कुछ

वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवति—महाहिमवंत-मलय-मंदर-महिंदसारे जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति ॥

अप्येके, कायवन्त: अप्येके ह्रस्ववन्त: अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा अप्येके। तेषा च मनुजानां एको राजा भवति—महाहिमवत्-मलय-मन्दर- महेन्द्रसार: यावत् प्रशान्त-डिम्बडमरं राज्यं प्रसाधयन् विहरति।

नीच गोत्र वाले[१०], कुछ लवे होते हैं[११] कुछ नाटे,[१२] कुछ गोरे होते है[१३] कुछ काले[१४], कुछ सुडोल[१५] होते हैं कुछ कुडोल[१६]। उन मनुष्यों मे एक राजा होता है। वह महान् हिमालय, मलय, मन्दर और महेन्द्र[१७] पर्वतो की तरह सामर्थ्यवान् (या वैभवशाली)[१८] यावत् युद्ध और कलह को[१९] शान्त कर राज्य को प्रशासित करता हुआ रहता है।

१४. तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नागा नागपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता, सेणावई सेणावइपुत्ता ॥

तस्य राज्ञ: परिषद् भवति—उग्रा उग्रपुत्रा:, भोजा भोजपुत्रा:, ईक्ष्वाका ईक्ष्वाकपुत्रा:, नागा नागपुत्रा:, कौरव्या: कौरव्यपुत्रा:, भट्टा: भट्टपुत्रा:, व्राह्मणा: व्राह्मणपुत्रा, लिच्छव्य: लिच्छविपुत्रा:, प्रशास्तार: प्रशास्तृपुत्रा:, सेनापतय: सेनापतिपुत्रा:।

१४ उस राजा के परिषद् होती है—उग्र उग्रपुत्र, भोज[२०] भोजपुत्र, ईक्ष्वाक ईक्ष्वाकपुत्र, नाग नागपुत्र, कौरव कौरवपुत्र[२१], भट्ट भट्टपुत्र[२२], व्राह्मण व्राह्मणपुत्र, लिच्छवी[२३] लिच्छवीपुत्र, प्रशासक[२४] प्रशासकपुत्र, सेनापति सेनापतिपुत्र।

१५. तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवति। कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए। तत्थ अण्णतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो, वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो। से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवइ, तं जहा—उड्ढं पायतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे। एस आया पज्जवे कसिणे। एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति। सरीरे धरमाणे धरति, विणट्ठम्मि य णो धरति। एययंतं जीवियं भवति। आदहणाए परेहिं णिज्जइ। अगणिझामिए सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति। आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति। एवं असंते असंविज्जमाणे।

तेषा च एकक: श्रद्धी भवति। कामं तं श्रमणा वा व्राह्मणा वा सम्प्राधारयिषु: गमनाय। तत्र अन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितार:, वय अनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्याम। तत् एव आजानीत भदन्त! यथा मम एष धर्म: स्वाख्यात: सु-प्रज्ञप्तो भवति, तद् यथा—ऊर्ध्वं पादतलात्, अध: केसाग्रमस्तकात्, तिर्यक् त्वक्-पर्यन्तो जीव:। एष आत्म-पर्यव: कृत्स्न:। एष जीवेद् जीवति, एष मृतो नो जीवति। शरीरे ध्रियमाणे धरति, विनष्टे च नो धरति, एतदन्तं जीवितं भवति। आदहनाय परैर्नीयते। अग्निदग्धे शरीरे कपोतवर्णानि अस्थीनि भवन्ति। आसन्दी-पञ्चमा: पुरुषा ग्राम प्रत्यागच्छन्ति। एव असन् असवेद्यमान।

१५ उनमे से कोई-कोई श्रद्धावान्[२५] होता है। उसे श्रद्धावान् जानकर[२६] श्रमण या व्राह्मण उसके पास जाने के लिए सोचते हैं। वहा वे (कहते हैं) हम अमुक धर्म के प्रज्ञापक हैं। आपके सामने हम इस धर्म का प्रज्ञापन करेंगे। हे भदन्त! आप उसे ऐसे जाने जैसे मेरा यह धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है—पैर के तलवे से ऊपर, शिर के केशाग्र से नीचे और तिरछे चमडी तक जीव है—शरीर ही जीव है। यही पूर्ण आत्म-पर्याय है। यह जीता है (तव तक प्राणी) जीता है, यह मरता है (तव प्राणी) मर जाता है। शरीर रहता है (तव तक) जीव रहता है। उसके विनष्ट होने पर जीव नही रहता। शरीर पर्यन्त ही जीवन होता है। जव तक शरीर होता है तव तक जीवन होता है। (शरीर के विकृत हो जाने पर) दूसरे उसे जलाने के लिए[२७] ले जाते है। आग मे जला देने पर उसकी हड्डिया कवूतर के रग की हो जाती है। आसदी (अरथी, चारपाई) को पाचवी वना, उसे उठाने वाले चारो पुरुष गाव मे लौट आते है।[२८] इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नही है, शरीर से भिन्न उसका सवेदन नही होता।[२९]

१६. जेसिं तं सुयक्खायं भवति—अण्णो भवइ जीवो अण्णं सरीरं, तम्हा, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति अयमाउसो ! आया दीहे ति वा हस्से ति वा। परिमंडले ति वा य वट्टे ति तंसे ति वा चउरंसे ति वा आयते ति वा छलंसे ति वा। किण्हे ति वा णीले ति वा लोहिए ति वा हालिद्दे ति वा सुक्किल्ले ति वा। सुब्भिगंधे ति वा दुब्भिगंधे ति वा। तित्ते ति वा कडुए ति वा कसाए ति वा अंबिले ति वा महुरे ति वा। कक्खडे ति वा मउए ति वा गरुए ति वा लहुए ति वा सीए ति वा उसिणे ति वा णिद्धे ति वा लुक्खे ति वा। एवं असंते असंविज्जमाणे ॥

येषा तत् स्वाख्यातं भवति—अन्यो भवति जीवः अन्यच्छरीर, तस्मात्, ते नो एव विप्रतिवेदयन्ति अयं आयुष्मन् ! आत्मा दीर्घ इति वा ह्रस्व इति वा। परिमण्डल इति वा वृत्त इति वा त्र्यस्र इति वा चतुरस्र इति वा आयत इति वा षडस्र इति वा। कृष्ण इति वा नील इति वा लोहित इति वा हारिद्र इति वा शुक्ल इति वा। सुरभिगन्ध इति वा दुर्गन्ध इति वा। तिक्त इति वा कटुक इति वा कषाय इति वा अम्ल इति वा मधुर इति वा कक्खट इति वा मृदुक इति वा गुरुक इति वा लघुक इति वा शीत इति वा उष्ण इति वा स्निग्ध इति वा रूक्ष इति वा। एवं असन् असंवेद्यमानः।

१६ जिनके मत मे यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है।[50] वह इसलिए सु-आख्यात नही है कि वे इस प्रकार नही जानते कि आयुष्मन् ! यह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व। वलयाकार है या गोल, त्रिकोण है या चतुष्कोण, लंबा है या षट्कोण। कृष्ण है या नील, लाल है या पीला या शुक्ल। सुगंधित है या दुर्गन्धित। तीखा है या कड़ुआ, कषैला है या खट्टा या मधुर। कर्कश है या कोमल, भारी है या हल्का, शीत है या उष्ण, चिकना है या रुखा।[51] (आत्मा का किसी भी रूप मे ग्रहण नही होता।) इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नही है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नही होता।

१७. जेसिं तं सुयक्खायं भवइ—अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, तम्हा ते णो एवं उवलभंति—

से जहाणामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! असी, अयं कोसी। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे।

से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मुंजे (इमा ?) इसिया। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे।

येषां तत् स्वाख्यातं भवति—अन्यो जीवः अन्यत् शरीरं, तस्मात्, ते नो एवं उपलभन्ते—

तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः कोशत असिं अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—अयं आयुष्मन् ! असि., अयं कोश.। एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष. अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अयं आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम्।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. मुञ्जाद् ईषीका अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—अय आयुष्मन् ! मुञ्ज., इय ईषीका। एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष. अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अयं आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम् !

१७. जिनके मत मे यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है। वह इसलिए सु-आख्यात नही है कि उन्हे वह इस प्रकार उपलब्ध नही होता—

जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार को निकालकर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तलवार है, यह म्यान। पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर।

जैसे कोई पुरुष मूज से शलाका को[52] निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मूज है, यह शलाका। पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर।

से जहाणामए केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठि अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! मंसे, अयं अट्ठी। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो !आया, अयं सरीरे ।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष मांसाद् अस्थि अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—अय आयुष्मन् ! मास., इद अस्थि । एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अयं आयुष्मन् । आत्मा, इद शरीरम् ।

जैसे कोई पुरुष मास से हड्डी को निकालकर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मास है, यह हड्डी। पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर ।

से जहाणामए केइ पुरिसे करतलाओ आमलकं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा —अयमाउसो ! करतले, अयं आमलए। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष: करतलाद् आमलकं अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—इद आयुष्मन् ! करतलं, इद आमलकम्। एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अय आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम् ।

जैसे कोई पुरुष हथेली मे लेकर आंवले को दिखलाए—आयुष्मान् ! यह हथेली है, यह आवला। पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर ।

से जहाणामए केइ पुरिसे दहीओ णवणीयं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! णवणीयं, अयं दही। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. दध्न नवनीत अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—इदं आयुष्मन् ! नवनीतं, इद दधि । एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष: अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अयं आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम् ।

जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत निकालकर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह नवनीत है, यह दही । पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर ।

से जहाणामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तेल्ल अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदसेज्जा—अयमाउसो ! तेल्लं, अयं पिण्णाए । एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसा ! आया, अयं सरीरे।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष तिलेभ्य. तैल अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—इदं आयुष्मन् ! तैल, अय पिण्याक. । एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अय आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम् ।

जैसे कोई पुरुष तिलो से तैल निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तैल है, यह खली । पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर ।

से जहाणामए केइ पुरिसे इक्खूओ खोयरसं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! खोयरसे, अयं छोए। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. इक्षुत क्षोदरस अभिनिर्वर्त्य उपदर्षयेत्—अयं आयुष्मन् क्षोदरस., इय त्वक् । एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुष अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अय आयुष्मन् ! आत्मा, इद शरीरम् ।

जैसे कोई पुरुष ईख से रस निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह ईख का रस है, यह छाल । पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर

से जहाणामए केइ पुरिसे अरणीओ अग्गिं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा—अयमाउसो ! अरणी, अयं अग्गी। एवमेव णत्थि केइ पुरिसे अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेत्तारो—अयमाउसो ! आया, अयं सरीरे। एवं असंते असंविज्जमाणे ॥

तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः अरणितः अग्नि अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयेत्—इय आयुष्मन् ! अरणिः, अयं अग्निः । एवमेव नास्ति कोऽपि पुरुषः अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयिता—अयं आयुष्मन् ! आत्मा, इदं शरीरम् । एवं असन् असंवेद्यमान ।

जैसे कोई पुरुष अरणी से आग निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह अरणी है, यह आग। पर ऐसा कोई पुरुष नही है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर। इस प्रकार से भिन्न जीव का अस्तित्व नही है, शरीर से भिन्न उसका सवेदन नही होता।

१८. जेसिं तं सुयक्खायं भवइ, तं जहा—अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, तम्हा, तं मिच्छा ॥

येषां तत् स्वाख्यातं भवति, तद् यथा—अन्यो जीवः, अन्यच्छरीरं, तस्मात्, तद् मिथ्या ।

१८ जिनके मत मे यह सु-आख्यात है, जैसे—जीव अन्य है और शरीर अन्य है। (किन्तु वह शरीर से भिन्न उपलब्ध नही होता) इसलिए वह मिथ्या है।

१९. से हंता हणह खणह छणह डहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विपरामुसह। एतावताव जीवे, णत्थि परलोए ॥

स हन्ता हत खनत क्षणुत दहत पचत आलुम्पत विलुम्पत सहसाकुरुत विपरामृशत। एतावत् तावत जीवः, नास्ति परलोकः ।

१९. वह (तज्जीवतच्छरीरवादी) स्वयं जीवो की घात करता है, (दूसरो से कहता है) घात करो, खोदो, मारो, जलाओ, पकाओ, लूटो, बहुत लूटो, बल-प्रयोग करो और शस्त्र चलाओ। इस जीवन तक ही जीव है, परलोक नही है।

२०. ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ॥

ते नो एवं विप्रतिवेदयन्ति, तद् यथा—क्रिया इति वा अक्रिया इति वा सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा पापकमिति वा साधुरिति वा असाधुरिति वा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा निरय इति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपैः कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोजनाय।

२० वे ऐसा नही जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के[५३] कर्म-समारंभो के[५४] द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगो का समारभ करते हैं।[५५,५६]

२१. एवं एगे पागब्भिया णिक्खम्म मामगं धम्मं पण्णवेंति। तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणेति ! वा माहणेति ! वा।

एवमेके प्रागल्भिकाः निष्क्रम्य मामकं धर्मं प्रज्ञापयन्ति। तं श्रद्दधानाः तं प्रतीयन्तः तं रोचमानाः साधु स्वाख्यातं श्रमण इति ! वा ब्राह्मण इति ! वा।

२१. इस प्रकार कुछ ढीठ घर से निकल कर[५७] अपने धर्म का प्रज्ञापन करते है। कुछ लोग उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करते हुए (कहते है—) हे श्रमण ! हे ब्राह्मण ! आपने हमे बहुत अच्छा धर्म बतलाया।[५८]

कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा

कामं खलु आयुष्मन् ! त्वा पूजयामः, तद् यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन

आयुष्मान् ! अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल या पाद-पुछन के द्वारा हम भावनापूर्वक आपकी पूजा करते है।

पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा।

वा पादप्रोञ्छनेन वा।

तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए णिकाइंसु॥

तत्रैके पूजनाय समावर्तिषतः, तत्रैके पूजनाय न्यचीकचन्।

कुछ पूजा मे प्रवृत्त हो जाते हैं और कुछ पूजा के लिए निमत्रण दे देते है।[९]

२२. पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो, पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।

पूर्वमेव तेषां ज्ञात भवति—श्रमणा भविष्याम॰ अणगारा॰ अकिञ्चना॰ अपुत्रा. अपशव परदत्तभोजिन. भिक्षवः पापं कर्म नो करिष्यामः समुत्थाय।

२२. (तज्जीवतच्छरीरवादी होने से पूर्व किसी दूसरे मत मे दीक्षित होने के कारण) पहले ही उन्हे यह ज्ञात होता है[१०]—हम श्रमण होगे—घर, परिग्रह, पुत्र और पशु से रहित, परदत्तभोजी, भिक्षा करने वाले। हम दीक्षित होकर पाप-कर्म नही करेंगे।

ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति। सयमाइयंति, अण्णे वि आइयावेंति, अण्णं पि आइयंतं समणुजाणंति। एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा लुद्धा राग-दोसवसट्टा।

ते आत्मना अप्रतिविरता. भवन्ति। स्वय आददते, अन्यानपि आदापयन्ति, अन्यमपि आददत समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगेषु मूर्च्छिता॰ गृद्धा. ग्रथिताः अध्युपपन्ना. लुब्धाः रागदोषवशार्त्ताः।

वे (प्रतिज्ञा करके भी) स्वय घर आदि से विरत नही होते। स्वय परिग्रह करते हैं[११], दूसरो से परिग्रह करवाते है और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते हैं। इसी प्रकार वे स्त्री-सवधी कामभोगो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त और लुब्ध होकर[१२] राग-द्वेष के वशवर्ती हो जाते हैं।

ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति। पहीणा पुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता—इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अन्तरा कामभोगेहिं विसण्णा।

ते नो आत्मानं समुच्छिन्दन्ति, नो पर समुच्छेदयन्ति, नो अन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति। प्रहीणा. पूर्वसयोगात् आर्य मार्गं असप्राप्ताः—इति ते नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विषण्णा।

वे स्वय को कामभोगो से मुक्त नही कर पाते,[१३] न दूसरो को उनसे मुक्त कर पाते है और न ही अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो को उनसे मुक्त कर पाते है। वे पूर्व-सयोगो को छोड देते है और आर्यमार्ग को प्राप्त नही होते। इस प्रकार वे न इधर के न उधर के[१४], बीच मे ही कामभोगो मे निमग्न हो जाते हैं।

इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतस्सरीरिए आहिए॥

इति प्रथमः पुरुषजात. तज्जीवतच्छरीरिक आहृतः।

यह प्रथम पुरुपजात तज्जीवतच्छरीरवादी[१५] कहा गया है।

२३. अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइए त्ति आहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं

अथापर द्वितीय. पुरुषजात. पञ्चमहाभौतिक इत्याख्यायते। इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीन वा उदीचीन वा दक्षिणं वा सन्ति एकका: मनुष्या भवन्ति अनुपूर्वेण लोक उपपन्ना, तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके, उच्चगोत्रा अप्येके नीचगोत्रा अप्येके, कायवन्त. अप्येके ह्रस्ववन्तः अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा अप्येके। तेषां च मनजानां

२३ अव दूसरा पुरुपजात पचमहाभौतिक[१६] कहा जाता है—इस जगत् मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते हैं। वे लोक मे आनुपूर्वी (क्रम) से उत्पन्न होते हैं—माने जाते हैं, जैसे—कुछ आर्य होते है कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते हैं कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लवे होते हैं कुछ नाटे, कुछ गोरे होते हैं कुछ काले, कुछ सुडोल होते हैं कुछ कुडोल। उन मनुष्यो मे एक राजा होता है। वह

मणुयाणं एगे राया भवति—महाहिमवंत-मलय-मंदर-महिंदसारे जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति ॥

एको राजा भवति—महाहिमवत्-मलय-मन्दर-महेन्द्रसार यावत् प्रशान्तडिम्बडमर राज्य प्रसाधयन् विहरति ।

महान् हिमालय, मलय, मन्दर और महेन्द्र पर्वतो की तरह सामर्थ्यवान् (या वैभवशाली) यावत् युद्ध और कलह को शान्त कर राज्य को प्रशासित करता हुआ रहता है।

२४. तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नागा नागपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता, सेणावई सेणावइपुत्ता ॥

तस्य राज्ञः परिषद् भवति—उग्रा उग्रपुत्राः, भोजा भोजपुत्राः, ईक्ष्वाका. ईक्ष्वाकपुत्राः, नागा नागपुत्राः, कौरव्याः कौरव्यपुत्राः भट्टाः भट्टपुत्रा., ब्राह्मणाः ब्राह्मणपुत्राः, लिच्छव्य. लिच्छविपुत्राः, प्रशास्तार॰ प्रशास्तृपुत्राः सेनापतयः सेनापतिपुत्राः ।

२४. उस राजा के परिषद् होती है—उग्र उग्रपुत्र, भोज भोजपुत्र, ईक्ष्वाक ईक्ष्वाकपुत्र, नाग नागपुत्र, कौरव कौरवपुत्र, भट्ट भट्टपुत्र, ब्राह्मण ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी लिच्छवीपुत्र, प्रशामक प्रशामकपुत्र, सेनापति सेनापतिपुत्र ।

२५. तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवति। कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए। तत्थ अण्णतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो, वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो। से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति—इह खलु पंचमहब्भूया जेहिं णो कज्जइ किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा, अवि अंतसो तणमायमवि ॥

तेषा च एकक: श्रद्धी भवति। कामं तं श्रमणा वा ब्राह्मणा वा सम्प्राधार्षु. गमनाय। तत्र अन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितार., वयं अनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्याम.। तत् एव आजानीत भदन्त! यथा मम एष धर्म. स्वाख्यात॰ सुप्रज्ञप्तो भवति—इह खलु पञ्च महाभूतानि तै॰ नः क्रियते क्रिया इति वा अक्रिया इति वा सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वा, कल्याणमिति वा पापकमिति वा, साधुरिति वा असाधुरिति वा, सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा, निरय इति वा अनिरय इति वा, अपि अन्तश. तृणमात्रमपि।

२५. उनमे से कोई-कोई श्रद्धावान् होता है। उसे श्रद्धावान् जानकर श्रमण या ब्राह्मण उसके पास जाने के लिए सोचते हैं। वहा वे (कहते है) हम अमुक धर्म के प्रज्ञापक हैं। आपके सामने हम इस धर्म का प्रज्ञापन करेंगे। हे भदन्त! आप उसे ऐसे जानें जैसे मेरा यह धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है—इस जगत् मे पाच महाभूत हैं। हमारे मतानुसार जिनसे क्रिया,[१७] अक्रिया[१८], सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि,[१९] असिद्धि, नरक, स्वर्ग तथा अन्ततः तृण मात्र कार्य भी निष्पन्न होता है।[२०]

२६. तं च पदोद्देसेणं पुढोभूतसमवायं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूते, आऊ दुच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते। इच्चेते पंच मह-

तच्च पदोद्देसेन पृथग् भूतसमवाय जानीयात्, तद् यथा—पृथ्वी एक महाभूत, आपो द्वितीय महाभूत, तेज. तृतीय महाभूत, वायु॰ चतुर्थ महाभूत, आकाश पञ्चम महाभूतम्। इत्येतानि पञ्च महाभूतानि

२६. उस भूत-समवाय को पृथक्-पृथक् नामो से[२१] जानना चाहिए, जैसे—पृथ्वी पहला महाभूत है, पानी दूसरा महाभूत है, अग्नि तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है, आकाश पाचवा महाभूत है। ये पाच

ब्भूया अणिम्मिया अणिम्मा-विया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणि-धणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासया ॥

अनिर्मितानि अनिर्मापितानि अकृतानि नो कृत्रिमाणि नो कृत-कानि अनादिकानि अनिधनानि अवन्ध्यानि अपुरोहितानि स्व-तन्त्राणि शाश्वतानि ।

महाभूत अनिर्मित, अनिमार्पित,[७२], अकृत, अकृत्रिम, अकृतक[७३], अनादि, अनिधन (अनन्त), अवन्ध्य (सफल)[७४], अपुरोहित (दूसरे द्वारा अप्रवर्तित)[७५], स्वतन्त्र[७६] और शाश्वत हैं।

२७. आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु— सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो। एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अत्थि-काए, एताव ताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवि अंतसो तणमाय-मवि ॥

आत्मषष्ठाः पुन. एके एवमाहु.— सतो नास्ति विनाश, असतो नास्ति सभव: । एतावान् तावद् जीवकाय·, एतावान् तावद् अस्तिकाय, एतावान् तावत् सर्वलोक., एतन् मुखं लोकस्य करणतया, अपि अन्तश तृण-मात्रमपि ।

२७. (पाच भूत सहित) आत्मा को छठा मानने वाले[७७] कुछ लोग ऐसे कहते हैं—सत् का नाश नही होता, असत् का उत्पाद नही होता। इतना (पाच महाभूत या प्रकृति) ही जीवकाय है। इतना ही अस्तिकाय है। इतना ही समूचा लोक है। यही लोक का कारण है और यह सभी कार्यो मे कारणरूप से व्याप्त होता है। अन्तत तृण मात्र कार्य भी उन्ही से होता है।

२८. से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, पयं पयावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि विक्किणित्ता घायइत्ता, एत्थं पि जाणाहि णत्थित्थ दोसो ॥

स क्रीणन् क्रापयन्, घ्नन् घात-यन्, पचन् पाचयन्, अपि अन्तश पुरुषमपि विक्रीय घातयित्वा अत्रापि जानीहि नास्त्यत्र दोष ।

२८ (उक्त सिद्धान्त को मानने वाला) स्वय क्रय करता है, दूसरो से करवाता है, स्वय हिंसा करता है, दूसरो से करवाता है, स्वय पकाता है, दूसरो से पक-वाता है और अनन्त मनुष्य को भी वेच कर या मार कर कहता है 'इसमे भी दोष नही है'—ऐसा जानो।

२९. ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहि विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ॥

ते नो एव विप्रतिवेदयन्ति, तद् यथा—क्रिया इति वा अक्रिया इति वा सुकृतमिति वा दुष्कृत-मिति वा कल्याणमिति वा पाप-कमिति वा साधुरिति वा असाधु-रिति वा सिद्धिरिति वा असिद्धि-रिति वा निरय इति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपै कर्म-समारम्भै विरूपरूपान् काम-भोगान् सामरभन्ते भोजनाय।

२९. वे ऐसा नही जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग है। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कर्म-समारभो के द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगो का समारभ करते है।

३०. एवं ते अणारिया विप्पडि-वण्णा [मामगं धम्मं पण्ण-वेंति ?]। तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणे ति! वा माहणे ति! वा। कामं खलु आउसो! तुमं पूययामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा

एव ते अनार्या विप्रतिपन्ना· (मामक धर्म प्रज्ञापयन्ति।) त श्रद्दधाना त प्रतीयन्त त रोच-माना. साधु स्वाख्यातं श्रमण इति! वा ब्राह्मण इति! वा। काम खलु आयुष्मन्! त्वा पूज-यामः, तद् यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा

३० इस प्रकार वे अनार्य युक्ति-विरुद्ध सिद्धान्त को मानने वाले (अपने धर्म का प्रज्ञापन करते हैं)। कुछ लोग उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करते हुए (कहते हैं)—हे श्रमण! हे ब्राह्मण! आपने हमे बहुत अच्छा धर्म वतलाया। आयुष्मान्! अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कवल या पाद-पुछन के

वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा। तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए णिकाइंसु ॥

वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा। तत्रैके पूजनाय समावर्तिषत, तत्रैके पूजनाय न्यचीकचन्।

द्वारा हम आपकी पूजा करते हैं।
कुछ पूजा में प्रवृत्त हो जाते है और कुछ पूजा के लिए निमन्त्रण दे देते है।

३१. पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो, पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।

पूर्वमेव तेषां ज्ञातं भवति—श्रमणा भविष्यामो अणगारा. अकिञ्चना. अपुत्राः अपशव. परदत्तभोजिन भिक्षव. पापं कर्म नो करिष्याम. समुत्थाय।

३१ (दीक्षित होने से) पहले ही उन्हे यह ज्ञात होता है—हम श्रमण होंगे—घर, परिग्रह, पुत्र, और पशु से रहित, परदत्तभोजी, भिक्षा करने वाले। हम दीक्षित होकर पाप-कर्म नही करेंगे।

ते अप्पणा अप्पडिविरिया भवंति। सयमाइयंति, अण्णे वि आइयावेंति, अण्णं पि आइयंतं समणुजाणंति। एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा लुद्धा रागदोसवसट्टा।

ते आत्मना अप्रतिविरताः भवन्ति। स्वय आददते, अन्यानपि आदापयन्ति, अन्यमपि आददत समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगेषु मूर्च्छिता. गृद्धा ग्रथिता. अध्युपपन्नाः लुब्धा. रागदोषवशार्त्ताः।

वे (प्रतिज्ञा करके भी) स्वयं घर आदि से विरत नहीं होते। स्वय परिग्रह करते है, दूसरो से परिग्रह करवाते हैं और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते हैं। उसी प्रकार वे स्त्री-सबधी कामभोगो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त और लुब्ध होकर राग-द्वेष के वशवर्ती हो जाते है।

ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति। पहीणा पुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता—इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

ते नो आत्मान समुच्छिन्दन्ति, नो पर समुच्छेदयन्ति, नो अन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समुच्छेद्रयन्ति। प्रहीणा. पूर्वसंयोगात् आर्य मार्ग असप्राप्ता.—इति ते नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विषण्णा.।

वे स्वय को कामभोगो से मुक्त नही कर पाते, न दूसरो को उनसे मुक्त कर पाते हैं और न ही अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्वो को उनसे मुक्त कर पाते है। वे पूर्व-सयोगो को छोड़ देते है और आर्य-मार्ग को प्राप्त नही होते। इस प्रकार वे न इधर के न उधर के, बीच मे ही कामभोगो मे निमग्न हो जाते हैं।

दोच्चे पुरिसजाते पंचमहब्भूइए त्ति आहिए ॥

द्वितीय पुरुषजात पञ्चमहाभौतिक इति आहृत.।

यह दूसरा पुरुषजात पचमहाभौतिक कहा गया है।

३२. अहावरे तच्चे पुरिसजाते ईसरकारणिए त्ति आहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववण्णा, त जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा

अथापर तृतीय पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति आख्यायते—इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिण वा सन्ति एकका मनुष्या. भवन्ति अनुपूर्वेण लोक उपपन्ना., तद् यथा–आर्या अप्येके अनार्या अप्येके उच्च गोत्रा अप्येके नीचगोत्रा अप्येके, कायवन्त. अप्येके ह्रस्ववन्तः अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा

३२ अब तीसरा पुरुषजात 'ईश्वरकारणिक'[८] कहा जाता है—इस जगत् मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते है। वे लोक मे आनुपूर्वी (क्रम) से उत्पन्न होते है, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते है कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लबे होते है कुछ नाटे, कुछ गोरे होते है कुछ काले, कुछ सुडोल होते हैं कुछ कुडोल। उन मनुष्यो

वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवति—महाहिमवंत-मलय-मंदर-महिंदसारे जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति ॥

अप्येके। तेषा च मनुजाना एको राजा भवति—महाहिमवत्-मलय-मन्दर-महेन्द्रसार यावत् प्रशान्तडिम्बडमर राज्य प्रसाधयन् विहरति ।

मे एक राजा होता है। वह महान् हिमालय, मलय, मन्दर और महेन्द्र पर्वतो की तरह सामर्थ्यवान् (या वैभवशाली) यावत् युद्ध और कलह को शान्त कर राज्य को प्रशासित करता हुआ रहता है।

३३. तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नागा नागपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता, सेणावई सेणावइपुत्ता ॥

तस्य राज्ञ परिषद् भवति—उग्रा उग्रपुत्रा., भोजा भोजपुत्राः, ईक्ष्वाका. ईक्ष्वाकपुत्रा, नागा नागपुत्रा, कौरव्या कौरव्यपुत्रा। भट्टा भट्टपुत्रा., ब्राह्मणा· ब्राह्मणपुत्रा, लिच्छव्य. लिच्छविपुत्रा., प्रशास्तार प्रशास्तृपुत्रा, सेनापतय सेनापतिपुत्रा· ।

३३ उस राजा के परिषद् होती है—उग्र उग्रपुत्र, भोज भोजपुत्र, ईक्ष्वाक ईक्ष्वाकपुत्र, नाग नागपुत्र, कौरव कौरवपुत्र, भट्ट भट्टपुत्र, ब्राह्मण ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी लिच्छवीपुत्र, प्रशासक प्रशासकपुत्र, सेनापति सेनापतिपुत्र।

३४. तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवति। कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए। तत्थ अण्णतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो, वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो। से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति—इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति—

तेषा च एकक श्रद्धी भवति। कामं तं श्रमणा वा ब्राह्मणा वा सम्प्राधार्षु गमनाय। तत्र अन्यतरेण धर्मेण प्रज्ञापयितार, वय अनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्याम। तत् एवं आजानीत भदन्त! यथा मम एष धर्म. स्वाख्यात सुप्रज्ञप्तो भवति—इह खलु धर्मा पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूता पुरुषप्रद्योतिता: पुरुष-अभिसमन्वागता. पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति—

३४ उनमे से कोई-कोई श्रद्धावान् होता है। उसे श्रद्धावान् जानकर श्रमण या ब्राह्मण उसके पास जाने के लिए सोचते हैं। वहा वे (कहते है) हम अमुक धर्म के प्रज्ञापक है। आपके सामने हम इस धर्म का प्रज्ञापन करेंगे। हे भदन्त! आप उसे ऐसे जानें जैसे मेरा यह धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है—इस ससार मे धर्मो (चेतन-अचेतनरूप स्वभावो) का ईश्वर कारण है,[७९] ईश्वर उनका कार्य है,[८०] ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत है[८१] और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम गण्ड. स्यात् शरीरे सवृद्ध शरीरे अभिसमन्वागत शरीरमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूता पुरुषप्रद्योतिता पुरुष-अभिसमन्वागता. पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—व्रण शरीर मे उत्पन्न होता है, शरीर मे बढता है, शरीर मे अभिसमन्वागत है और शरीर मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मो का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उसका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत है और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम अरतिः स्यात् शरीरे जाता शरीरे सवृद्धा शरीरे अभिसमन्वागता शरीरमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका पुरुषप्रणीता. पुरुषसम्भूता पुरुषप्रद्योतिताः पुरुष-अभिसमन्वागता पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—मेद शरीर मे उत्पन्न होता है, शरीर मे बढता है, शरीर मे अभिसमन्वागत है और शरीर मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत है और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम वल्मीक स्यात् पृथ्विजात पृथ्विसंवृद्ध, पृथ्वि-अभिसमन्वागत पृथ्वीमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका पुरुषप्रणीता. पुरुषसम्भूता. पुरुषप्रद्योतिता पुरुष-अभिसमन्वागता पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—वल्मीक (दीमक का टूह) पृथ्वी मे उत्पन्न होता है, पृथ्वी मे बढता है, पृथ्वी मे अभिसमन्वागत है और पृथ्वी मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत है और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम रूक्ष स्यात् पृथ्विजातः पृथ्विसवृद्ध पृथ्विअभिसमन्वागत पृथ्वीमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका. पुरुषोत्तरिका. पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूता. पुरुषप्रद्योतिता पुरुष-अभिसमन्वागता. पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—वृक्ष पृथ्वी मे उत्पन्न होता है, पृथ्वी मे बढता है, पृथ्वी मे अभिसमन्वागत है और पृथ्वी मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर मे अभिसमन्वागत हैं और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया पुढविसंवुड्ढा पुढविअभिसमण्णागया पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिस-अभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम पुष्करिणी स्यात् पृथ्विजाता पृथ्विसवृद्धा पृथ्वि-अभिसन्वागता पृथ्वीमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका. पुरुषोत्तरिका. पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूताः पुरुषप्रद्योतिताः पुरुष-अभिसमन्वागता. पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—पुष्करिणी पृथ्वी मे उत्पन्न होती है, पृथ्वी मे बढती है, पृथ्वी मे अभिसमन्वागत है और पृथ्वी मे ही व्याप्त होकर रहती है। इसी प्रकार धर्मो का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत है और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते हैं।

से जहाणामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए उदगसंवुड्ढे उदगअभिसमण्णागए उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

तद् यथानाम उदकपुष्करं स्यात् उदकजात उदकसवृद्ध उदकअभिसमन्वागत उदकमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका. पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूता पुरुषप्रद्योतिता. पुरुष-अभिसमन्वागता पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—जल-कमल जल मे उत्पन्न होता है, जल मे वढता है, जल मे अभिसमन्वागत है और जल मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मो का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित है, ईश्वर मे अभिसमन्वागत हैं और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।

से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए उदगसंवुड्ढे उदगअभिसमण्णागए उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोतिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति॥

तद् यथानाम उदकबुद्बुद स्यात् उदकजात उदकसवृद्ध उदकअभिसमन्वागत उदकमेव अभिभूय तिष्ठति। एवमेव धर्मा अपि पुरुषादिका पुरुषोत्तरिका पुरुषप्रणीता पुरुषसम्भूता. पुरुषप्रद्योतिता पुरुष-अभिसमन्वागता. पुरुषमेव अभिभूय तिष्ठन्ति।

जैसे—जल का बुलबुला जल मे उत्पन्न होता है, जल मे वढता है, जल मे अभिसमन्वागत है और जल मे ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मो का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत है, ईश्वर से उत्पन्न है, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत है और ईश्वर मे ही व्याप्त होकर रहते है।[८२]

३५. जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणीयं विअंजियं दुवालसगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो सूयगडो, ठाणं, समवाओ, वियाहपण्णत्ती, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं, दिट्ठिवाओ—सव्वमेयं मिच्छा, ण एतं तहियं, ण एतं आहातहियं।

यदपि चेदं श्रमणानां निर्ग्रन्थाना उद्दिष्टं प्रणीत व्यञ्जित द्वादशाङ्ग गणिपिटक, तद् यथा—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणानि, विपाकश्रुत, दृष्टिवाद—सर्वमेतन्मिथ्या, नैतत् तथ्य, नैतद् याथातथ्यम्।

३५. जो श्रमण निर्ग्रन्थो का यह उद्दिष्ट, प्रणीत और व्यजित[८३] द्वादशाग गणिपिटक है, जैसे—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद—यह सव मिथ्या है, यह तथ्य नही है, यह याथातथ्य नही है।

इमं सच्चं इमं तहियं इमं आहातहियं—ते एवं सण्णं कुव्वंति, ते एवं सण्णं संठवेंति, ते एवं सण्णं सोवट्ठवयंति। तमेवं ते तज्जातियं दुक्खं णातिवट्टंति, सउणी पंजरं जहा॥

इदं सत्य इद तथ्यं इद याथातथ्यम्—ते एव सज्ञा कुर्वन्ति, ते एव सज्ञां सस्थापयन्ति, ते एव संज्ञां उपस्थापयन्ति। तदेव ते तज्जातीय दुःख नातिवर्तन्ते, शकुनी पञ्जर यथा।

यह (ईश्वरकारणिक दर्शन) सत्य है, यह तथ्य है और यह याथातथ्य है—वे इस प्रकार सज्ञा करते है, वे इस प्रकार सज्ञा स्थापित करते है और वे इस प्रकार सज्ञा उपस्थापित करते है। इस प्रकार वे तज्जातीय (अपने दर्शन के आग्रह से होने वाले) दुःख का[८४] अतिक्रमण नही कर सकते, जैसे—पक्षी पिंजरे का।

३६. ते णो विप्पडिवेदेंति तं जहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ॥

ते नो एव विप्रतिवेदयन्ति, तद् यथा—क्रिया इति वा अक्रिया इति वा सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा पापकमिति वा साधुरिति वा असाधुरिति वा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा निरय इति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपै. कर्मसमारम्भैः विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोजनाय।

३६ वे ऐसा नही जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग है। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कर्म-समारभो के द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगों का समारंभ करते हैं।

३७. एवं ते अणारिया विप्पडिवण्णा [मामगं धम्मं पण्णवेंति ?]। तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणेति ! वा माहणेति ! वा। कामं खलु आउसो ! तुमं पूयामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा।

एव ते अनार्या विप्रतिपन्ना (मामक धर्मं प्रज्ञापयन्ति।) त श्रद्दधानाः तं प्रतीयन्तः तं रोचमानाः साधु स्वाख्यातं श्रमण इति ! वा ब्राह्मण इति ! वा। काम खलु आयुष्मन् ! त्वा पूजयाम., तद् यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा।

३७ इस प्रकार युक्ति-विरुद्ध सिद्धान्त को मानने वाले वे अनार्य (अपने धर्म का प्रज्ञापन करते हैं।) कुछ लोग उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करते हुए (कहते हैं—) हे श्रमण ! हे ब्राह्मण ! आपने हमें बहुत अच्छा धर्म बतलाया। आयुष्मान् ! अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कबल या पाद-पुछन के द्वारा हम भावनापूर्वक आपकी पूजा करते हैं।

तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए णिकाइंसु ॥

तत्रैके पूजनाय समावर्तिषत, तत्रैके पूजनाय न्यचीकचन्।

कुछ पूजा मे प्रवृत्त हो जाते हैं और कुछ पूजा के लिए निमत्रण दे देते है।

३८. पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो, पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।

पूर्वमेव तेषा ज्ञात भवति—श्रमणा भविष्यामो अणगारा अकिञ्चना. अपुत्रा अपशव. परदत्तभोजिन भिक्षव· पापं कर्म नो करिष्याम. समुत्थाय।

३८ (दीक्षित होने से) पहले ही उन्हे यह ज्ञात होता है—हम श्रमण होंगे—घर, परिग्रह, पुत्र और पशु से रहित, परदत्तभोजी, भिक्षा करने वाले। हम दीक्षित होकर पाप-कर्म नही करेंगे।

ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति। सयमाइयंति, अण्णे वि आइयावेंति, अण्णं पि आइयंतं समणुजाणंति। एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा लुद्धा रागदोसवसट्टा।

ते आत्मना अप्रतिविरता भवन्ति। स्वय आददते, अन्यानपि आदापयन्ति, अन्यमपि आददतं समनुजानन्ति। एवमेव ते स्त्रीकामभोगेषु मूर्च्छिता. गृद्धा. ग्रथिता अभ्युपपन्ना· लुब्धा रागदोषवशार्त्ता।

वे (प्रतिज्ञा करके भी) स्वय घर आदि से विरत नही होते। स्वय परिग्रह करते है, दूसरो से परिगह करवाते हैं और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते है। इसी प्रकार वे स्त्री-सम्बन्धी कामभोगो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त और लुब्ध होकर राग-द्वेप के वशवर्ती हो जाते हैं।

ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइ समुच्छेदेंति। पहीणा पुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता—इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।
तच्चे पुरिसजाते ईसरकारणिए त्ति आहिए॥

ते नो आत्मान समुच्छिन्दन्ति, नो पर समुच्छेदयन्ति, नो अन्यान् प्राणान् भूतान जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति। प्रहीणा पूर्वसयोगात् आर्य मार्ग असप्राप्ता—इति ते नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विपण्णा।

तृतीय पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति आहृत॥

वे स्वय को कामभोगो से मुक्त नहीं कर पाते, न दूसरो को उनसे मुक्त कर पाते है और न ही अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो को उनसे मुक्त कर पाते है। वे पूर्व-सयोगो को छोड देते हैं और आर्य-मार्ग को प्राप्त नही होते। इस प्रकार वे न इधर के न उधर के, बीच मे ही कामभोगो मे निमग्न हो जाते है।

यह तीसरा पुरुषजात ईश्वरकारणिक कहा गया है।

३९. अहावरे चउत्थे पुरिसजाते णियतिवाइए त्ति आहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा सतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोगं उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं मणुयाणं एगे राया भवति—महाहिमवंत-मलय-मंदर-महिंदसारे जाव पसंत-डिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति॥

अथापर चतुर्थ. पुरुषजात नियतिवादिक इत्याख्यायते—इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीन वा उदीचीन वा दक्षिणं वा सन्ति एकका मनुष्या. भवन्ति अनुपूर्वेण लोक उपपन्ना., तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके, उच्चगोत्रा अप्येके नीचगोत्रा अप्येके, कायवन्त अप्येके ह्रस्ववन्त अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा अप्येके। तेषां च मनुजाना एको राजा भवति—महाहिमवत्-मलय-मन्दर-महेन्द्रसार. यावत् प्रशान्तडिम्बडमरं राज्य प्रसाधयन् विहरति।

३९ अव चौथा पुरुषजात 'नियतिवादी' कहा जाता है—इस जगत् मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते हैं। वे लोक मे आनुपूर्वी (क्रम) से उपपन्न होते है, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते है कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लबे होते है कुछ नाटे, कुछ गोरे होते हैं कुछ काले, कुछ सुडोल होते है कुछ कुडोल। उन मनुष्यो मे एक राजा होता है। वह महान् हिमालय, मलय, मन्दर और महेन्द्र पर्वतो की तरह सामर्थ्यवान् (या वैभवशाली) यावत् युद्ध और कलह को शान्त कर राज्य को प्रशासित करता हुआ रहता है।

४०. तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नागा नागपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थपुत्ता, सेणावई सेणावइपुत्ता॥

तस्य राज्ञ परिषद् भवति—उग्रा उग्रपुत्रा, भोजा भोजपुत्रा, ईक्ष्वाका ईक्ष्वाकपुत्रा नागा नागपुत्रा, कौरव्या कौरव्यपुत्रा भट्टा भट्टपुत्रा., ब्राह्मणा, ब्राह्मणपुत्रा., लिच्छव्य लिच्छविपुत्रा, प्रशास्तार प्रशास्तृपुत्रा सेनापतय सेनापतिपुत्रा।

४० उस राजा के परिषद् होती है—उग्र उग्रपुत्र, भोज भोजपुत्र, ईक्ष्वाक ईक्ष्वाकपुत्र, नाग नागपुत्र, कौरव कौरवपुत्र, भट्ट भट्टपुत्र, ब्राह्मण ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी लिच्छवीपुत्र, प्रशासक प्रशासकपुत्र, सेनापति सेनापतिपुत्र।

४१. तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवति। कामं तं समणा वा माहणा वा सपहारिंसु गमणाए। तत्थ अण्णतरेणं

तेपा च एकक श्रद्धी भवति। काम त श्रमणा वा ब्राह्मणा वा सम्प्राधार्षु गमनाय। तत्र अन्य-

४१ उनमे से कोई-कोई श्रद्धावान् होता है। उसे श्रद्धावान् जानकर श्रमण या ब्राह्मण उसके पास जाने के लिए सोचते है। वहा वे (कहते है) हम अमुक धर्म

धम्मेणं पण्णत्तारो, वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो । से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति । इह खलु दुवे पुरिसा भवति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खइ, एगे पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ ।
जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा कारणमावण्णा ॥

तरेण धर्मेण प्रज्ञापयितारः, वयं अनेन धर्मेण प्रज्ञापयिष्यामः । तत् एवं आजानीत भदन्त ! यथा मम एष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवति । इह खलु द्वौ पुरुषौ भवतः, एकः पुरुषः क्रियामाख्याति, एकः पुरुषः नो-क्रिया आख्याति । यश्च पुरुषः क्रियामाख्याति, यश्च पुरुषः नोक्रियामाख्याति, द्वावपि तौ पुरुषौ तुल्यौ एकार्थौ, कारणमापन्नौ ।

प्रज्ञापक हैं। आपके सामने हम इस धर्म का प्रज्ञापन करेंगे। हे भदन्त ! आप इसे ऐसे जानें जैसे मेरा यह धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है—
इस जगत् में दो पुरुष होते हैं—एक पुरुष क्रिया का आख्यान करता है और एक पुरुष नो-क्रिया (अक्रिया) का आख्यान करता है। जो पुरुष क्रिया का आख्यान करता है और जो पुरुष नो-क्रिया का आख्यान करता है, वे दोनों पुरुष तुल्य हैं[1], एकार्थक हैं और कारण को मानने वाले हैं।[2]

४२. वाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावण्णे । अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, अहमेयमकासि । परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा, परो एयमकासि । एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावण्णे ॥

बाल: पुनरेव विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः । अहमस्मि दुःखयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा 'तेप्ये' वा पीड्ये वा, परितप्ये वा अहमेवकार्षम् । परो वा यद् दुःखयति वा शोचति वा खिद्यते वा तेप्यते वा पीड्यते वा परितप्यते वा, परः एवमकार्षीत् । एवं स बालः स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः ।

४२. अज्ञानी पुरुष कारण (पुरुषार्थ) को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूं, शोक कर रहा हूं, खिन्न हो रहा हूं, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूं, पीड़ित हो रहा हूं, परितप्त हो रहा हूं, यह सब मैंने किया है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है, यह सब उसने किया है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर स्वयं के दुःख को स्वकृत और पर के दुःख को परकृत मानता है।[3]

४३. मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावण्णे । अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एयमकासि । परो वा जं दुक्खइ वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा, णो परो एयमकासि । एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावण्णे ॥

मेधावी पुनरेव विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः । अहमस्मि दुःखयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा 'तेप्ये' वा पीड्ये वा परितप्ये वा, नो अहमेवमकार्षम् । परो वा यद् दुःखयति वा शोचति वा खिद्यते वा तेप्यते वा, पीड्यते वा परिप्यते वा, नो परः एवमकार्षीत् । एवं स मेधावी स्वकारणं वा परकारणं वा एवं विप्रतिवेदयति कारणमापन्नः ।

४३ मेधावी[4] पुरुष कारण (नियति) को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूं, शोक कर रहा हूं, खिन्न हो रहा हूं, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूं, पीड़ित हो रहा हूं, परितप्त हो रहा हूं। यह सब मेरे द्वारा कृत नहीं है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है, यह सब उसके द्वारा कृत नहीं है। इस प्रकार वह मेधावी पुरुष कारण (नियति) को मानकर स्वयं के और पर के दुःख को नियतिकृत मानता है।[5]

४४. से बेमि—पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विप्परियायमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एव संगइयंति उवेहाए।

अथ ब्रवीमि—प्राचीन वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिण वा ये त्रसस्थावरा प्राणाः ते एव संघातमागच्छन्ति, ते एव विपर्यायमापद्यन्ते, ते एव विवेकमागच्छन्ति ते एवं विधानमागच्छन्ति, ते एव सांगतिक इति उपेक्षया।

४४ मैं (नियतिवादी) कहता हूं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओ मे जो त्रस और स्थावर प्राणी है वे सब नियति के कारण ही शरीरात्मक सघात, विविध पर्यायो (बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओ), विवेक (शरीर से पृथक् भाव) और विधान (विधि-विपाक) को प्राप्त होते है। इस प्रकार वे सब सागतिक (नियतिजनित) है इस उत्प्रेक्षा से।[१]

४५. ते णो एयं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धि इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहि विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए॥

ते नो एव विप्रतिवेदयन्ति, तद् यथा—क्रिया इति वा अक्रिया इति वा सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा पापकमिति वा साधुरिति वा असाधुरिति वा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा निरय इति वा अनिरय इति वा। एवं ते विरूपरूपैं कर्मसमारम्भैं विरूपरूपान् कामभोगान् समारभन्ते भोजनाय।

४५ वे ऐसा नही जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कर्म-समारभो के द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगो का समारभ करते है।

४६. एवं ते अणारिया विप्पडिवण्णा [मामगं धम्मं पण्णवेंति ?]। तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणेति ! वा माहणेति ! वा। कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा।
तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए णिकाइंसु॥

एव ते अनार्या. विप्रतिपन्ना (मामक धर्म प्रज्ञापयन्ति।) त श्रद्दधाना त प्रतीयन्त. त रोचमाना साधु स्वाख्यात श्रमण इति ! वा ब्राह्मण इति ! वा। कामं खलु आयुष्मन् ! त्वा पूजयाम, तद् यथा—अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा।
तत्रैके पूजनाय समावर्तिषत, तत्रैके पूजनाय न्यचीकचन्।

४६. इस प्रकार वे अनार्य युक्ति-विरुद्ध सिद्धात को मानने वाले (अपने धर्म का प्रज्ञापन करते है।) कुछ लोग उस पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करते हुए (कहते है—) हे श्रमण ! हे ब्राह्मण ! आपने हमे बहुत अच्छा धर्म बतलाया। आयुष्मान् ! अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कबल या पाद-पुछन के द्वारा हम भावनापूर्वक आपकी पूजा करते है।
कुछ पूजा मे प्रवृत्त हो जाते हैं और कुछ पूजा के लिए निमत्रण दे देते है।

४७. पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो, पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए।

पूर्वमेव तेषा ज्ञात भवति—श्रमणा भविष्याम. अणगारा अकिञ्चना' अपुत्रा अपशव' परदत्तभोजिन भिक्षव पाप कर्म नो करिष्याम समुत्थाय।

४७ (दीक्षित होने से) पहले ही उन्हे यह ज्ञात होता है—हम श्रमण होगे—घर, परिग्रह, पुत्र और पशु से रहित, परदत्तभोजी, भिक्षा करने वाले, हम दीक्षित होकर पाप कर्म नही करेगे।

ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति । सय माइयंति, अण्णे वि आइयावेंति, अण्णं पि आइयंतं समणुजाणंति । एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्भोववण्णा लुद्धा राग-दोसवसट्टा ।	ते आत्मना अप्रतिविरता. भवन्ति । स्वयं आददते, अन्यानपि आदापयन्ति, अन्यमपि आददत समनुजानन्ति । एवमेव ते स्त्रीकामभोगेषु मूर्च्छिता गृद्धा. ग्रथिता. अध्युपपन्नाः लुब्धा· रागदोपवशार्त्ता· ।	वे (प्रतिज्ञा करके भी) स्वयं घर आदि से विरत नही होते । स्वयं परिग्रह करते हैं, दूसरो से परिग्रह करवाते हैं और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते हैं । इसी प्रकार वे स्त्री-सबधी कामभोगो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त और लुब्ध होकर राग-द्वेप के वशवर्ती हो जाते हैं ।
ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति णो परं समुच्छेदेंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति । पहीणा पुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता—इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा ।	ते नो आत्मानं समुच्छिन्दन्ति, नो परं समुच्छेदयन्ति, नो अन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति । प्रहीणा· पूर्व-सयोगात् आर्य मार्ग असप्राप्ताः — इति ते नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विपण्णा. ।	वे स्वय को कामभोगो से मुक्त नही कर पाते, न दूसरो को उनसे मुक्त कर पाते हैं और न ही अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो को उनसे मुक्त कर पाते है । वे पूर्व-संयोगो को छोड देते हैं और आर्य-मार्ग को प्राप्त नही होते । इस प्रकार वे न इधर के न उधर के, बीच मे ही कामभोगो मे निमग्न हो जाते हैं ।
चउत्थे पुरिसजाते णियति-वाइए त्ति आहिए ।	चतुर्थ. पुरुषजात नियतिवादिक. इति आहृत. ।	यह चौथा पुरुपजात नियतिवादी कहा गया है ।
४८. इच्चेते चत्तारि पुरिसजाया णाणापण्णा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणा-अज्भवसाणसंजुत्ता पहीणा पुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा काम-भोगेसु विसण्णा ॥	इत्येते चत्वार पुरुपजाता नाना-प्रज्ञा. नानाच्छन्दा· नानाशीला नानादृष्टय नानारुचय. नाना-रम्भाः नानाऽध्यवसानसंयुक्ता. प्रहीणा. पूर्वसयोगात् आर्य मार्ग असप्राप्ता इति ते नो अर्वाचे नो पाराय, अन्तरा कामभोगेषु विपण्णाः ।	४८. ये चार पुरुपजात नाना प्रज्ञा, नाना अभिप्राय, नाना शील, नाना दृष्टि, नाना रुचि, नाना आरंभ और नाना अध्यवसायो से सयुक्त हैं । वे पूर्व-सयोगो को छोड देते हैं और आर्य-मार्ग को प्राप्त नही होते । इस प्रकार वे न इधर के न उधर के, बीच मे ही कामभोगो मे निमग्न हो जाते हैं ।
४९. से बेमि—पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरिया वेगे अणा-रिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे । तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा । तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्ग-	अथ ब्रवीमि—प्राचीन वा प्रती-चीनं वा उदीचीनं वा दक्षिण वा सन्ति एकका. मनुष्या. भवन्ति, तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके. उच्चगोत्रा अप्येके नीच-गोत्रा अप्येके, कायवन्तः अप्येके ह्रस्वबन्त. अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके, दूरूपा अप्येके । तेपा च क्षेत्र-वास्तूनि परिगृहीतानि भवन्ति, तद् यथा—अल्पतराणि वा भूय-स्तराणि वा । तेपां च जनजान-पदा. परिगृहीताः भवन्ति, तद्	४९ मैं कहता हूं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते है, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते हैं कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लबे होते हैं कुछ नाटे, कुछ गोरे होते हैं कुछ काले, कुछ सुडोल होते हैं कुछ कुडोल । उनके भूमी और घर परिगृहीत होते है, जैसे—बहुत थोड़े या बहुत अधिक । उनके जन-जानपद परिगृहीत होते हैं, जैसे—बहुत थोडे या बहुत अधिक । कुछ पुरुप वैसे कुलो से अभिनिष्क्रमण कर, (धर्म-श्रद्धा से) व्याप्त

हियाइं भवंति, तं जहा— उप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिया। सतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया। असतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया॥

यथा—अल्पतरा. वा भूयस्तरा वा। तथाप्रकारेषु कुलेषु आगम्य अभिभूय एके भिक्षाचर्यया समुत्थिता। सतो वाऽपि एके ज्ञातीन् च उपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिता.। असतो वाऽपि एके ज्ञातीन् च उपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिता।

हो[13], मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते हैं। कुछ पुरुष विद्यमान् ज्ञातियो और उपकरणो को त्याग कर मुनि-चर्या के लिए उपस्थितहोते है। कुछ पुरुष अविद्यमान ज्ञातियो और उपकरणो को[14] त्याग कर मुनि-चर्या के लिए[15] उपस्थित होते हैं।

५०. **जे ते सतो वा असतो वा णायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया, पुव्वमेव तेहिं णातं भवति—इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं ममट्ठाए एव विप्पडिवेदेति, तं जहा— खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे धणं मे धण्णं मे कंसं मे दूसं मे विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संत-सार-सावतेयं मे सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे। एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं।**

ये एते सतो वा असतो वा ज्ञातीश्च उपकरण च विप्रहाय भिक्षाचर्यायां समुत्थिता, पूर्वमेव तैर्ज्ञातं भवति—इह खलु पुरुष अन्यद् अन्यद् ममार्थाय एव विप्रतिवेदयति, तद् यथा—क्षेत्र मे वास्तु मे हिरण्य मे सुवर्ण मे धन मे धान्य मे कांस्य मे दूष्य मे विपुलधन-कनक-रत्न-मणि-मौक्तिक-शख-शिला-प्रवाल-रक्तरत्न-सत्सार-स्वापतेय मे शब्दा. मे रूपाणि मे गन्धा मे रसा मे स्पर्शा मे। एते खलु मे कामभोगा:, अहमवि एतेषाम्।

५० जो पुरुष विद्यमान या अविद्यमान ज्ञातियो और उपकरणो को त्यागकर मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते है उन्हे पहले ही यह ज्ञात होता है कि इस ससार मे मनुष्य दूसरी-दूसरी वस्तुओ को[16] अपनी समझता है, जैसे—भूमी मेरी, घर मेरा, हिरण्य मेरा, सोना मेरा, धन मेरा, धान्य मेरा, कासा मेरा, दुष्य मेरा, तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शख, शिला, मूगा, लाल रत्न, सुगधित द्रव्य—यह सारी सपत्ति मेरी है। शब्द मेरा, रूप मेरा, गध मेरा, रस मेरा और स्पर्श मेरा है। ये मेरे कामभोग[17] हैं, मै भी इनका हू।

से मेहावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु मम अण्णतरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा— अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।

स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एव समभिजानीयात्—इह खलु ममान्यतर दु:ख रोगातङ्क समुत्पद्येत—अनिष्ट. अकान्त अप्रिय अशुभ. अमनोज्ञ. अमनआप दु:ख: नो सुख.।

वह मेधावी पहले ही स्वय यह जाने—इस ससार मे मुझे कोई दु:खदायी रोग या आतक[18] उत्पन्न हो, जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला,[19] दु:खद हो, सुखद न हो।

से हंता! भयंतारो! कामभोगा! मम अण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह— अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं। माऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा

तद् हन्त! भदन्ता! कामभोगा! ममान्यतरद् दु:ख रोगातङ्क पर्यादत्त—अनिष्ट अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप दु:ख नो सुखम्। माऽह दु:खयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा तेप्ये वा पीड्ये वा परि-

हन्त! भदन्त! कामभोगो! (तुम्हारे ही कारण) मुझे जो कोई दु:खदायी रोग या आतक उत्पन्न हुआ है, जो अनिष्ट, अकात, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दु:खद है, सुखद नही है, उसे तुम वापस लो। ताकि मैं दु:खी न होऊ,

तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा । इमाओ मे अण्णतराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह— अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेव णो लद्धपुव्वं भवति।

तप्ये वा। अस्माद् मे अन्यतराद् दुःखाद् रोगातङ्काद् परिमोचयत—अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दुःखाद् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

शोक न करूं, खिन्न न होऊं, शारीरिक बल से क्षीण न होऊं, पीड़ित और परितप्त न होऊं। मुझे इस दुःखदायी, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नहीं भाने वाले, रोग या आतंक से मुक्त करो जो दुःखद है, सुखद नहीं है। पर उनके चाहने मात्र से ऐसा नहीं होता।''

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अण्णे खलु कामभोगा, अण्णो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अण्णमण्णेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं कामभोगे विप्पजहिस्सामो ॥

इह खलु कामभोगाः नो त्राणाय वा नो शरणाय वा पुरुषो वा एकदा पूर्वं कामभोगान् विप्रजहाति, कामभोगा वा एकदा पूर्वं पुरुषं विप्रजहति। अन्ये खलु कामभोगाः, अन्योऽहमस्मि। तत् किमङ्ग पुनर्वयं अन्यान्येषु कामभोगेषु मूर्च्छामः ? इति संख्याय वयं कामभोगान् विप्रहास्यामः।

ये कामभोग त्राण और शरण देने वाले नहीं होते। कभी पुरुष कामभोगों को पहले ही छोड़ देता है और कभी कामभोग पुरुष को पहले ही छोड़ देते हैं।'' कामभोग मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। फिर हमसे भिन्न कामभोगों में हम क्यों मूर्च्छित बनें ? यह जानकर हम कामभोगों को छोड़ेंगे।

५१. से मेहावी जाणेज्जा—बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतरगं, तं जहा—माता मे पिता मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे णत्ता मे धूया मे पेसा मे सहा मे सुही मे सयणसंगंथसंथुया मे। एते खलु मम णायओ, अहमवि एएसिं। से मेहावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु ममं अण्णयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा — अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।

स मेधावी जानीयाद्—बाह्यकमेतत्, इदमेव उपनीततरकं, तद् यथा—माता मे पिता मे भ्राता मे भगिनी मे भार्या मे पुत्रा मे नप्ता मे दुहिता मे प्रेष्याः मे सखा मे सुहृद् मे स्वजनसग्रंथसंस्तुता मे। एते खलु मम ज्ञातयः, अहमपि एतेषाम्। स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एव समनुजानीयात्—इह खलु मम अन्यतरं दुःखं रोगातङ्कः समुत्पद्येत—अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः अमनआपः दुःखः नो सुखः।

५१. वह मेधावी जाने—यह परिग्रह दूर की वस्तु है और ये ज्ञातिजन उससे निकट के हैं, जैसे—माता मेरी, पिता मेरा, भाई मेरा, बहिन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा, पौत्र मेरा, पुत्री मेरी, नौकर मेरा, साथी मेरा, मित्र मेरा, स्वजन (पूर्व संबंधी) और सग्रंथ (उत्तर संबंधी श्वसुर आदि) मेरा है। ये ज्ञाति मेरे हैं, मैं भी इनका हूं। वह मेधावी पहले ही स्वयं जाने—इस संसार में मुझे कोई दुःखदायी रोग या आतंक उत्पन्न हो जो अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नहीं भाने वाला, दुःखद हो, सुखद न हो।

से हंता ! भयंतारो ! णायओ ! इमं मम अण्णयरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयह—अणिट्ठं अकंतं

तद् हन्त ! भदन्ताः ! ज्ञातयः ! इदं मम अन्यतरद् दुःखं रोगातङ्कं पर्यादत्त—अनिष्टं अकान्तं अप्रियं अशुभं अमनोज्ञं अमनआपं

हन्त ! भदन्त ! ज्ञातियो ! मुझे जो कोई दुःखदायी रोग या आतंक उत्पन्न हुआ है जो अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नहीं भाने

अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं। माऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा। इमाओ मे अण्णतराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ परिमोयह—अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेवं णो लद्धपुव्वं भवइ।

दुःखं नो सुखम्। माऽहं दुःखयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा तेप्ये वा पीड्ये वा परितप्ये वा। अस्माद् मे अन्यतराद् दुःखाद् रोगातङ्काद् परिमोचयत—अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दुःखाद् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

वाला, दुःखद है, सुखद नही है, उसे तुम बटाओ। ताकि मैं दुःखी न होऊं, शोक न करूं, खिन्न न होऊं, शारीरिक बल से क्षीण न होऊं, पीडित और परितप्त न होऊं। मुझे इस दुःखदायी, अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, रोग या आतंक से मुक्त करो जो दुःखद है, सुखद नही है। पर उसके चाहने मात्र से ऐसा नही होता।

तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अण्णयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा—अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।

तेषां वाऽपि भदन्तानां मम ज्ञातकानां अन्यतरं दुःखं रोगातङ्कः समुत्पद्येत—अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः अमनआपः दुःखः नो सुखः।

मेरे उन भदंत ज्ञातियो के कोई दुःखदायी रोग या आतंक उत्पन्न हो जो अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दुःखद हो, सुखद न हो।

से हंता! अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णतरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयामि—अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा सोयंतु वा जूरंतु वा तिप्पंतु वा पीडंतु वा परितप्पंतु वा। इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ परिमोएमि—अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेव णो लद्धपुव्वं भवति।

तद् हन्त! अहमेतेषां भदन्तानां ज्ञातकानां इदमन्यतरद् दुःखं रोगातङ्कं प्रत्याददे—अनिष्टं अकान्तं अप्रियं अशुभं अमनोज्ञं अमनआपं दुःखं नो सुखम्। मा मे दुःखयन्तु वा शोचन्तु वा खिद्यन्तां वा तेप्यन्तु वा पीड्यन्तां वा परितप्यन्तां वा। अस्मात् अन्यतरस्माद् दुःखाद् रोगातङ्कात् परिमोचयामि—अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दुःखाद् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

हंत! इन भदन्त ज्ञातियो के इस दुःखदायी रोग या आतंक को मैं बटाऊं जो अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दुःखद है, सुखद नही है। ताकि मेरे ज्ञाती दुःखी न हो, शोक न करे, खिन्न न हो, आंसू न बहाए, पीडित और परितप्त न हो, मैं उन्हे इस दुःखदायी रोग या आतंक से मुक्त करूं जो अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अशुभ, अमनोज, मन को नही भाने वाला, दुःखद है, सुखद नही है। पर उसके चाहने मात्र से ऐसा नही होता।

अण्णस्स दुक्खं अण्णो णो परियाइयइ, अण्णेण कतं अण्णो णो पडिसंवेदेइ, पत्तेयं जायइ, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सण्णा, पत्तेयं मण्णा, पत्तेयं विण्णू, पत्तेयं वेदणा।

अन्यस्य दुःखं अन्यो नो पर्यादत्ते, अन्येन कृतं अन्यो नो प्रतिसंवेदयति, प्रत्येकं जायते, प्रत्येकं म्रियते, प्रत्येकं च्यवते, प्रत्येकं उपपद्यते, प्रत्येकं झञ्झा, प्रत्येकं संज्ञा, प्रत्येकं मन्या, प्रत्येकं विज्ञता, प्रत्येकं वेदना।

किसी दूसरे का दुःख कोई दूसरा नही लेता।[१०२] किसी दूसरे के कृत का कोई प्रतिसंवेदन नही करता।[१०३] प्राणी अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला च्युत होता है, अकेला उपपन्न होता है,[१०४] कलह अपना-अपना होता है, संज्ञा अपनी-अपनी होती है, मनन अपना-अपना होता है, विज्ञान अपना-अपना होता है, वेदना अपनी-अपनी होती है।[१०५]

इति खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं णाइसंजोगे विप्पजहइ, णाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अण्णे खलु णातिसंजोगा, अण्णो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अण्णमण्णेहिं णाइसंजोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं णातिसंजोगे विप्पजहिस्सामो ॥

इति खलु ज्ञातिसंयोगाः नो त्राणाय वा नो शरणाय वा। पुरुषो वा एकदा पूर्वं ज्ञातिसंयोगान् विप्रजहाति, ज्ञातिसंयोगाः वा एकदा पूर्वं पुरुषं विप्रजहति। अन्ये खलु ज्ञातिसंयोगाः, अन्योहमस्मि। तत् किमङ्ग पुनर्वयं अन्यान्येषु ज्ञातिसंयोगेषु मूर्च्छामः ? इति संख्याय वयं ज्ञातिसंयोगान् विप्रहास्यामः।

ये ज्ञातिजनों के संयोग त्राण और शरण[१०५] देने वाले नहीं होते। कभी पुरुष ज्ञाति-संयोगों को पहले ही छोड़ देता है और कभी ज्ञाति-संयोग पुरुष को पहले ही छोड़ देते हैं।[१०६] ये ज्ञाति-संयोग मुझसे भिन्न हैं, मैं उनसे भिन्न हूं। फिर हम इन भिन्न ज्ञाति-संयोगों में हम क्यों मूर्च्छित बनें? यह जानकर हम ज्ञाति-संयोगों को छोड़ेंगे।[१०७]

५२. से मेहावी जाणेज्जा—बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतरगं, तं जहा—हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उदरं मे सीसं मे आउं मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खुं मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाति, वयाओ परिजूरइ, तं जहा—आऊओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ चक्खूओ घाणाओ जिब्भाओ फासाओ। सुसंधिता संधी विसंधीभवति, वलितरंगे गाए भवति, किण्हा केसा पलिया भवंति। जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवचियं एयं पि य मे अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति ॥

स मेधावी जानीयात्—बाह्यकमेतत्, इदमेव उपनीततरकं, तद् यथा—हस्तौ मे पादौ मे बाहू मे ऊरू मे उदरं मे शीर्षं मे आयुः मे बलं मे वर्णः मे त्वक् मे छाया मे श्रोत्रं मे चक्षुः मे घ्राणं मे जिह्वा मे स्पर्शाः मे ममायति, वयसः परिजीर्यते, तद् यथा—आयुषः बलात् वर्णात् त्वचः छायायाः श्रोत्राद् चक्षुषः घ्राणात् जिह्वायाः स्पर्शात्। सुसंहितः सन्धिः विसंधीभवति, वलितरगं गात्रं भवति, कृष्णाः केशाः पलिताः भवन्ति। यदपि च इदं शरीरकं उदारं आहारोपचितं एतदपि च मे आनुपूर्व्या विप्रहातव्यं भविष्यति।

५२. वह मेधावी जाने—यह ज्ञातिजन दूर की वस्तु है और यह शरीर उससे निकट का है, जैसे—हाथ[१०८] मेरे, पैर मेरे, भुजा मेरी, साथलें मेरी, उदर मेरा, सिर मेरा, आयु[१०९] मेरा, बल मेरा, वर्ण मेरा, त्वचा मेरी, छाया मेरी, श्रोत्र मेरा, चक्षु मेरा, घ्राण मेरा, जीभ मेरी और स्पर्शन मेरा—इस प्रकार वह ममत्व करता है। [वह ममत्व करने वाला] अवस्था आने पर जीर्ण हो जाता है, जैसे—आयु से, बल से, वर्ण से, त्वचा से, छाया से,[११०] श्रोत्र से, चक्षु से, घ्राण से, जीभ से और स्पर्शन से। सुदृढ संधियां शिथिल हो जाती हैं, शरीर में झुर्रियों की तरंगें उठ आती हैं,[१११] काले केश सफेद हो जाते हैं।[११२] मेरा यह शरीर उदार, सुन्दर और आहार से उपचित है।[११३] मुझे इसे भी क्रमशः छोड़ना होगा।

५३. एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव, अजीवा चेव। तसा चेव, थावरा चेव ॥

एतत् संख्याय स भिक्षुः भिक्षाचर्यायां समुत्थितः द्वितः लोकं जानीयात्, तद् यथा—जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव। त्रसाश्चैव, स्थावराश्चैव।

५३. यह जानकर वह भिक्षु भिक्षाचर्या में[११४] उपस्थित हो दो प्रकार के लोक को[११५] जाने, जैसे—जीव और अजीव। त्रस और स्थावर।

५४. इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया

इह खलु अगारस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहाः सन्त्येके श्रमणाः

५४. यहां गृहस्थ[११६] आरंभ [हिंसा] और परिग्रहयुक्त

समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा—जे इमे तसा थावरा पाणा—ते सयं समारंभंति, अण्णेण वि समारंभावेंति, अण्णं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

ब्राह्मणाः अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः। ये इमे त्रसाः स्थावरा प्राणाः तान् स्वयं समारभन्ते, अन्येनापि समारम्भयन्ति, अन्यमपि समारभमाण समनुजानन्ति।

होते है। कुछ श्रमण,[११७] ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त होते हैं। जो ये त्रस और स्थावर प्राणी है, उनकी वे स्वय हिंसा करते हैं, दूसरो से हिंसा करवाते है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करते हैं।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा—जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा—ते सयं परिगिण्हंति, अण्णेण वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

इह खलु अगारस्था सारम्भा सपरिग्रहा सन्त्येके श्रमणा ब्राह्मणा अपि सारम्भाः सपरिग्रहा। ये इमे कामभोगाः सचित्ताः वा अचित्ता वा तान् स्वय परिगृह्णन्ति, अन्येनापि परिग्राहयन्ति, अन्यमपि परिगृह्णन्तं समनुजानन्ति।

यहा गृहस्थ आरभ और परिग्रहयुक्त होते हैं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त होते है। जो ये चेतन या अचेतन कामभोग हैं, उनका वे स्वयं परिग्रह करते हैं, दूसरो से परिग्रह करवाते हैं और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते है।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव णिस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो।

इह खलु अगारस्थाः सारम्भा सपरिग्रहा., सन्त्येके श्रमणा. ब्राह्मणा अपि सारम्भा. सपरिग्रहाः, अहं खलु अनारम्भः अपरिग्रह। ये खलु अगारस्थाः सारम्भा सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणा. ब्राह्मणाः अपि सारम्भाः सपरिग्रहाः, एतेषां चैव निश्रया ब्रह्मचर्यवास वत्स्यामः।

यहा गृहस्थ आरभ और परिग्रहयुक्त हैं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त है। मैं अहिंसक और अपरिग्रही हू।[११८] जो गृहस्थ आरभ और परिग्रहयुक्त है, जो कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त है, उनकी ही निश्रा (आश्रय) मे[११९] हम ब्रह्मचर्यवास[१२०] मे रहेगे।

कस्स णं तं हेउं?

कस्य तद् हेतो.?

इसका क्या कारण है [कि अनारभ और अपरिग्रह होकर आरभ और परिग्रहयुक्त की निश्रा मे रहे?]

जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं।

यथा पूर्वं तथा अपर, यथा अपर तथा पूर्वम्।

[यदि हम गृहस्थ की निश्रा मे न रहे तो] जैसे पहले[१२१] [आरंभ और परिग्रहयुक्त] थे वैसे ही वाद मे [भिक्षु की चर्या स्वीकार करने पर भी] हो जायेंगे। जैसे भिक्षु की चर्या मे आरभ और परिग्रहयुक्त हैं वैसे पहले भी थे।

अजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव।

ऋजु एते अनुपरता. अनुपस्थिताः पुनरपि तादृशका एव।

यह प्रत्यक्ष है[१२२] कि ऐसे भिक्षु दोपो से विरत नही है, धर्म के लिए उपस्थित नही है। ये प्रव्रजित होने पर भी गृहस्थ जैसे ही है।

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा दुहओ पावाइं कुव्वंति, इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो। इति भिक्खू रीएज्जा॥

ये खलु अगारस्थाः सारम्भा सपरिग्रहा, सन्त्येके श्रमणा. ब्राह्मणा अपि सारम्भा सपरिग्रहाः द्वित. पापानि कुर्वन्ति, इति सख्याय द्वाभ्यामपि अन्ताभ्यां अदृश्यमानः। इति भिक्षुः रीयेत।

जो गृहस्थ आरभ और परिग्रहयुक्त है, कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त हैं, वे दोनो[१२३] पाप [आरभ और परिग्रह] करते है, यह जानकर जिसमे आरभ और परिग्रह—ये दोनो[१२४] दृश्य न हो[१२५]—भिक्षु ऐसा जीवन जीए।[१२६]

५५. से बेमि—पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा एवं से परिण्णातकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से वियंतकारए भवइ त्ति मक्खायं ॥

तद् ब्रवीमि—प्राचीन वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिणं वा एवं स परिज्ञातकर्मा, एवं स व्यपेतकर्मा, एव स व्यन्तकारको भवतीति आख्यातम् ।

५५. मैं कहता हूं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण, किसी भी दिशा मे आया हुआ भिक्षु अनारभ और अपरिग्रह होकर परिज्ञातकर्मा होता है। परिज्ञातकर्मा होने के कारण वह व्यपेतकर्मा [नए कर्म का अबधक] होता है। व्यपेतकर्मा होने के कारण वह व्यंतकार [पूर्व-सचित कर्म का अन्त करने वाला] होता है—यह भगवात् महावीर ने कहा है।[२७]

५६. तत्थ खलु भगवया छज्जीव-णिकाया हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाए आउकाए तेउकाए वाउकाए वणस्सइकाए तसकाए।

तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः हेतव. प्रज्ञप्ताः तद् यथा—पृथिवीकाय· अप्काय. तेजस्काय. वायुकाय· वनस्पतिकाय. त्रसकायः ।

५६. भगवान् महावीर ने छह जीव-निकायो—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय को कर्म-वध का हेतु वतलाया है।

से जहाणामए मम असायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि—इच्चेवं जाण।

तद् यथानाम् मम असात दंडेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमानस्य वा हन्यमानस्य वा तर्ज्यमानस्य वा ताड्यमानस्य वा परिताप्यमानस्य वा क्लाम्यमानस्य वा उद्द्राव्यमानस्य वा यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारक दुःख भय प्रतिसंवेदयामि—इत्येव जानीहि ।

जैसे मेरे लिए यह अप्रिय होता है, [यदि] डडे, हड्डी, मुट्ठी, ढेले या खप्पर से मुझे कोई पीटे, मारे,[२८] तर्जना और ताडना दे, परितप्त[२९] और क्लान्त[३०] करे, प्राण से वियोजित करे तव, यहा तक कि रोम उखाडने मात्र से भी मैं हिंसाकारक दुख और भय का प्रतिसवेदन करता हू, ऐसा तुम जानो।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परिताविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ॥

सर्वे प्राणा. सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः दडेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमाना. वा हन्यमाना. वा तर्ज्यमाना. वा ताड्यमानाः वा परिताप्यमाना. वा क्लाम्यमाना. वा उद्द्राव्यमाना. वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारक दुख भयं प्रतिसवेदयन्ति। एव ज्ञात्वा सर्वे प्राणा. सर्वाणि भतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वा न हन्तव्या. न आज्ञापयितव्या न परिगृहीतव्या न परितापयितव्या. न उद्द्रावयितव्या ।

सव प्राण भूत, जीव और सत्त्व को[३१] डडे से, अस्थि से, मुट्ठी से, ढेले से, या खप्पर से कोई पीटे, मारे, तर्जना और ताडना दे, परितप्त और क्लान्त करे, प्राण से वियोजित करे[३२] तव यहा तक कि रोम उखाडने मात्र से भी वे हिंसाकारक दुख और भय का प्रतिसवेदन करते है। [आत्म-तुला से] ऐसा जानकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को न मारे, न अधीन बनाए, न दास बनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे।

५७. से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ॥

अथ ब्रवीमि—ये अतीता. ये च प्रत्युत्पन्ना , ये च आगमिष्या अर्हन्तो भगवन्त. सर्वे ते एवमाचक्षते, एव भाषन्ते, एव प्रज्ञापयन्ति, एव प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणा· सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्या न आज्ञापयितव्या न परिगृहीतव्याः न परितापयितव्याः न उद्द्रावयितव्या. ।

५७. मैं कहता हूं—जो अर्हत् भगवान् अतीत मे हुए है' वर्त्तमान मे हैं और भविष्य मे होगे, वे सब ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन, और प्ररूपण करते है—किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को कोई न मारे, न अधीन बनाए, न दास बनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे ।[133]

५८. एस धम्मे धुवे णितिए सासए समेच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेइए ॥

एष धर्म. ध्रुव. नित्य शाश्वत. समेत्य लोक क्षेत्रज्ञैः प्रवेदित. ।

५८ यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है ।[134] जीव-लोक को जानकर[135] आत्मज्ञ तीर्थंकरो ने इसका प्रतिपादन किया है ।

५९. एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ विरए मुसावायाओ विरए अदत्तादाणाओ विरए मेहुणाओ विरए परिग्गहाओ। णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो विरेयणं, णो धूवणे, णो तं परियाविएज्जा ॥

एव स भिक्षु. विरतः प्राणातिपातात् विरतः मृषावादाद् विरत. अदत्तादानाद् विरत मैथुनाद् विरत. परिग्रहात् । नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जन, नो वमनं, नो विरेचन, नो धूपन, नो त पर्यापिवेत् ।

५९ इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरत रहे। दतौन से दातो का प्रक्षालन न करे। अजन, वमन, विरेचन और धूपन का प्रयोग न करे, धूम न पीए ।[136]

६०. से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिणिव्वुडे णो आससं पुरतो करेज्जा—इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विण्णाएण वा, इमेण वा सुचरिय-तव-णियम-बंभचेरवासेणं, इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे सिया कामभोगाण वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुहे। एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया ॥

स भिक्षु. अक्रिय अलूषक अक्रोधः अमान अमाय अलोभ उपशान्त. परिनिर्वृत. नो आशसा पुरत कुर्यात्—अनेन मे दृष्टेन वा श्रुतेन वा मतेन वा विज्ञातेन वा, अनेन वा सुचरित-तपः-नियम-ब्रह्मचर्यवासेन, अनेन वा यात्रामात्रावृत्तिकेन धर्मेण इत. च्युत प्रेत्य देव स्यात् कामभोगाना वशवर्त्ती सिद्धो वा अदु.खाऽसुख । अत्रापि स्यात् अत्रापि नो स्यात् ।

६० वह अक्रिय,[137] अहिंसक, अक्रोधी,[138] अमानी, अमायी, अलोभी, उपशात,[139] परिनिर्वृत[140] भिक्षु भविष्य के लिए आशसा न करे[141]—मैने देखा है, सुना है, मनन किया है, विज्ञान [विवेक] किया है[142] [कि धर्म से आशसा पूर्ण होती है। इस आधार पर वह] इस सुचरित तप-नियम और ब्रह्मचर्यवास के द्वारा अथवा इस जीवन-यापन भर आहार वाले धर्म के द्वारा[143] यहा से च्युत हो परलोक मे कामभोगो का वशवर्त्ती[144] देव होऊ अथवा दु ख और सुख से अतीत सिद्ध[145] होऊ। [इस प्रकार की अशसा न करे क्योकि] तप आदि से कभी कामभोग प्राप्त होते हैं और कभी नही होते ।[146]

६१. से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए रूवेहिं अमुच्छिए गंधेहि

स भिक्षु शब्देषु अमूर्च्छित. रूपेषु अमूर्च्छित. गन्धेषु अमूर्च्छित.

६१ वह भिक्षु शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श मे अमूर्च्छित[147]

अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए फासेहिं अमुच्छिए, विरए—कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

रसेषु अमूर्च्छितः स्पर्शेषु अमूर्च्छितः, विरतः—क्रोधाद् मानाद् मायाया: लोभात् प्रेयसः दोषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशून्यात् परपरिवादात् अरतिरतेः, मायामृषातः मिथ्यादर्शनशल्यात्—इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः ।

तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, पर-परिवाद, अरति-रति, माया मृषा और मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होता है। इस लिए वह महान् आदान [कर्म-संग्रह] से [148] उपशात संयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

६२. से भिक्खू—जे इमे तस-थावरा पाणा भवंति—ते णो सयं समारंभइ, णो अण्णेहिं समारंभावेइ, अण्णे समारंभंते वि ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षुः—ये इमे त्रसस्थावरा प्राणाः भवन्ति—तान् नो स्वयं समारभते, नो अन्यैः समारम्भयति, अन्यान् समारभमाणानपि न समनुजानाति—इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः ।

६२. वह भिक्षु—जो ये त्रस-स्थावर प्राणी हैं—उनका स्वय समारंभ नही करता, दूसरो से समारभ नही करवाता और समारभ करने वाले का अनुमोदन नही करता। इसलिए वह महान् आदान [कर्म-संग्रह] से उपशात, संयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

६३. से भिक्खू—जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा—ते णो सयं परिगिण्हइ, णो अण्णेणं परिगिण्हावेइ, अण्णं परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षुः—ये इमे कामभोगाः सचित्ता वा अचित्ता वा—तान् नो स्वयं परिगृह्णाति, नो अन्येन परिग्राहयति, अन्यं परिगृह्णन्तं न समनुजानाति—इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः ।

६३ वह भिक्षु—जो ये सचित्त या अचित्त कामभोग है—उनका स्वयं परिग्रह नहीं करता, दूसरो से परिग्रह नहीं करवाता और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन नही करता। इसलिए वह महान् आदान [कर्म-संग्रह] से उपशात, संयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

६४. से भिक्खू—जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ—णो त सयं करेइ, णो अण्णेणं कारवेइ, अण्णं पि करेंत ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षुः—यदपि चेद साम्परायिकं कर्म क्रियते—नो तत् स्वयं करोति, नो अन्येन कारयति, अन्यमपि कुर्वन्तं न समनुजानाति—इति स महतः आदानात् उपशान्तः उपस्थितः प्रतिविरतः ।

६४. वह भिक्षु—जो यह सांपरायिक [पारलौकिक] कर्म किया जाता है—उसे वह स्वय नही करता, दूसरो से नही करवाता, और करने वाले का अनुमोदन नही करता। इसलिए वह महान् आदान [कर्म-संग्रह] से उपशात, संयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

६५. से भिक्खू जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सिपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स

स भिक्षुः जानीयात्—अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा एतत्परिज्ञया एकं साधर्मिकं समुद्दिश्य प्राणान् भूतानि जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामित्य

६५ वह भिक्षु जाने—यह अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य देने की प्रतिज्ञा से [149] मेरे एक साधर्मिक के उद्देश्य से [150] प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का समारभ कर,

कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं, त चेतियं सिया, तं णो सयं भुंजइ, णो अण्णेणं भुंजावेइ, अण्णं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

आच्छेद्य अनिसृष्टं अभिहृत आहृत्यौद्देशिक, तत् दत्त स्यात्, तत् नो स्वय भुञ्जीत, नो अन्येन भोजयेत्, अन्यमपि भुञ्जान न समनुजानाति, इति स महत आदानात् उपशान्त उपस्थित. प्रतिविरत ।

उन्हे पीडित कर दिया गया है अथवा उसीके उद्देश्य से खरीदा गया,[151] उधार लिया गया, छीना गया, भागीदार द्वारा अननुमत, सामने लाया गया अथवा साधु के पास आकर उसके उद्देश्य से वनाया गया—ऐसा आहार यदि प्राप्त हो जाए[152] [तो पता चलने पर] वह उसे न खाए. न दूसरो को खिलाए और खाने वाले का अनुमोदन भी न करे। इसलिए वह महान् आदान [कर्म-सग्रह] से उपशात, सयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

६६. से भिक्खू अह पुण एवं जाणेज्जा—तं विज्जइ तेसिं परक्कमे। जस्सट्ठाए चेतियं सिया, तं जहा—अप्पणो पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं धातीणं णातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाणं पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए सण्णिहि-सण्णिचओ कज्जति, इह एएसिं माणवाणं भोयणाए।

स भिक्षु अथ पुन एवं जानीयात्—तद् विद्यते तेषा पराक्रम । यस्यार्थ कृतं स्यात्, तद् यथा—आत्मने पुत्रेभ्य. दुहितृभ्य स्नुषाभ्य धात्रीभ्य. ज्ञातिभ्य राजभ्य दासेभ्य दासीभ्य कर्मकरेभ्य. कर्मकरीभ्य आवेशेभ्य पृथक् 'पहेणाय' सायमाशाय प्रातराशाय सन्निधि-सन्निचय क्रियते, इह एकेषा मानवाना भोजनाय।

६६ और वह भिक्षु इस प्रकार जाने—आहार को निप्पन्न करना गृहस्थो का पराक्रम है।[153] जिसके लिए वह वनाया गया है, जैसे—अपने लिए, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू धाई, ज्ञाती, राजा, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी और अतिथि के लिए तथा भेंट विशेष के लिए, शायकालीन भोजन या कलेवे के लिए और इन मनुष्यो के भोजन के लिए सन्निधि और सचय किया जाता है।[154]

तत्थ भिक्खू परकड-परणिट्ठितं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थातीतं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं एसितं वेसितं सामुदाणियं पण्णमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजण-वणलेवणभूयं, संजमजायामायावुत्तियं बिलमिव पण्णगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा—अण्णं अण्णकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले ॥

तत्र भिक्षु परकृत-परनिष्ठित उद्गम-उत्पादनैषणाशुद्ध शस्त्रातीत शस्त्र-परिणामित अविहिंसितं एषितं वैषिक सामुदानिक प्राज्ञमशनं कारणार्थं प्रमाणयुक्त अक्षोपाञ्जन-व्रणलेपनभूत, सयमयात्रामात्रावृत्तिक बिलमिव पन्नगभूतेन आत्मना आहार आहरेत्—अन्न अन्नकाले, पान पानकाले, वस्त्र वस्त्रकाले, लयनं लयनकाले शयनं शयनकाले।

वहा भिक्षु दूसरे के लिए कृत, दूसरे के लिए निष्पादित, उद्गम, उत्पादन और एपणा से शुद्ध, शस्त्रातीत,[155] शस्त्र-परिणामित[156], निर्जीव[157], एपणा से प्राप्त, केवल साधु-वेप से लब्ध,[158] माधुकरी से प्राप्त[159], प्राज्ञ [गीतार्थ] द्वारा लाया गया आहार[160] करे। वह कारणपूर्वक[161] प्रमाण-युक्त[162] पहिए की धुरी के तेल आजने के समान, व्रण पर लेप भर जैसा, सयमयात्रामात्र की वृत्ति के लिए, विल मे घुसते साप के समान[163] भोजन करे—भोजन के समय भोजन, पान के समय पान, वस्त्रकाल मे वस्त्र, लयनकाल [आवास काल] मे लयन और शयनकाल म शयन [शय्या][164] ग्रहण करे।

६७. से भिक्खू मायण्णे अण्णयरिं दिसं वा अणुदिसं वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे विभए किट्टे, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए—संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं

स भिक्षु मात्रज्ञ अन्यतरा दिश वा अनुदिश वा प्रतिपन्न. धर्म आचक्षीत विभजेत् कीर्त्तयेत्, उपस्थितेपु वा अनुपस्थितेपु वा शुश्रूपमाणेषु वा प्रवेदयेत्—शांति विरति उपशम निर्वाणं शौच

६७ वह[165] मात्रा को जानने वाला भिक्षु किसी दिशा या अनुदिशा मे पहुच कर धर्म का आख्यान करे, विभज्यवाद से उसे कहे, उसका निरूपण करे, धर्म सुनने के इच्छुक मनुष्यों के बीच, फिर वे [धर्माचरण के लिए] उपस्थित हो या अनुपस्थित हो, मुनि शाति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच [अलोभ], आर्जव

अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं ॥

आर्जव मार्दव लाघव अनतिपातिकम्।

मार्दव, लाघव [उपकरण आदि की अल्पता] और अहिंसा का प्रतिपादन करे।

६८. सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं ।

सर्वेभ्य प्राणेभ्य सर्वेभ्य भूतेभ्य सर्वेभ्य जीवेभ्य सर्वेभ्य सत्त्वेभ्य. अनुवीचि कीर्त्तयेद् धर्मम्।

६८ भिक्षु सब प्राण, भूत, जीव और सत्वों के सामने विवेकपूर्वक धर्म का निरूपण करे।

६९. से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे—णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा। णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥

स भिक्षु. धर्मं कीर्त्तयन्—नो अन्नस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो पानस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो वस्त्रस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो लयनस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो शयनस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो अन्येषा विरूपरूपाणा कामभोगाना हेतु धर्ममाचक्षीत। अग्लान्या धर्ममाचक्षीत। नान्यत्र कर्मनिर्जरार्थं धर्ममाचक्षीत।

६९ वह भिक्षु धर्म का निरूपण करता हुआ अन्न के लिए धर्म का आख्यान न करे। पान के लिए धर्म का आख्यान न करे। वस्त्र के लिए धर्म का आख्यान न करे। लयन [स्थान] के लिए धर्म का आख्यान न करे। शयन के लिए धर्म का आख्यान न करे। दूसरे विविध प्रकार के कामभोगों के लिए धर्म का आख्यान न करे। निर्मन भाव से धर्म का आख्यान करे। कर्म-निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से धर्म का आख्यान न करे।

७०. इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया। जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया, ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसता, ते एवं सव्वत्ताए परिणिव्वुड त्ति वेमि ॥

इह खलु तस्य भिक्षोरन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य सम्यग् उत्थानेन उत्थाय वीरा अस्मिन् धर्मे समुत्थिता। ये तस्य भिक्षोरन्तिके धर्मं श्रुत्वा निशम्य सम्यग् उत्थानेन उत्थाय वीरा. अस्मिन् धर्मे समुत्थिता, ते एव सर्वोपगता., ते एव सर्वोपरता, ते एव सर्वोपशान्ता, ते एव सर्वात्मना परिनिर्वृता इति ब्रवीमि।

७०. उस भिक्षु के पास धर्म सुनकर, मननकर सम्यग् उत्थान से उत्थित हो वीर पुरुष उस धर्म मे उत्थित हुए है। जो वीर पुरुष उस भिक्षु के पास धर्म सुनकर, जानकर, सम्यग् उत्थान से उत्थित हो इस धर्म मे उत्थित हुए हैं, वे इस प्रकार सर्वात्मना उपगत [मोक्ष मार्ग को प्राप्त], सर्वात्मना उपरत, सर्वात्मना उपशात और सर्वात्मना परिनिर्वाण को प्राप्त हैं—ऐसा मैं कहता हू।

७१. एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवण्णे, से जहेयं वुइयं, अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं, अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं।

एवं स भिक्षु. धर्मार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्न, तद् यथेदमुक्तम्, अथवा प्राप्त पद्मवरपुण्डरीक अथवा अप्राप्त पद्मवरपुण्डरीकम्।

७१ इस प्रकार वह भिक्षु धर्मार्थी, धर्मविद् और सयम[111] को प्राप्त होता है, जैसा कि यहा कहा गया है। [प्रस्तुत अध्ययन मे] जो पद्मवर-पुडरीक को प्राप्त है अथवा जो पद्मवर-पुडरीक को प्राप्त नही है [दोनो निरूपित है।]

टिप्पण : अध्ययन १

सूत्र १ :

१. प्रस्तुत सूत्र में (इह)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—निर्ग्रन्थ प्रवचन मे अथवा प्रस्तुत श्रुतस्कध मे।[1] वास्तव में यह वाक्य-विन्यास की पद्धति के कारण प्रयुक्त शब्द है।

२. बहुत जलवाली (बहुउदगा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ तीर तक भरी हुई नदी किया है।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ प्रचुर और ऊडे जलवाली नदी किया है।[3]

३. बहुत पंकवाली (बहुसेया)

'सेय' देशी शब्द है और यह कीचड के अर्थ मे प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—बहुत कीचडवाली।[4]

वृत्तिकार ने इसका दूसरा संस्कृत रूप 'बहुश्वेता' देकर उसका अर्थ बहुत श्वेत कमलो से युक्त अथवा स्वच्छ पानीवाली किया है।[5]

४. बहुत कमलो वाली (बहुपुक्खला)

इसका अर्थ है—बहुत कमलो वाली। वृत्तिकार ने इसका अर्थ प्रचुर पानी से भरी हुई किया है।[6] यह अर्थ संगत नही लगता। क्योंकि इससे पूर्व 'बहुउदगा' शब्द आ चुका है।

५. यथार्थ नाम वाली (लद्धट्ठा)

यथार्थ नामवाली अर्थात् जैसा उसका नाम है वैसे ही गुणो से युक्त है।

चूर्णिकार के अनुसार वह स्वच्छ जलवाली और श्वेत कमलो से सुशोभित होने के कारण लब्धार्थ है।[7]

वृत्तिकार ने इसके संस्कृत रूप दो किए हैं[8]—

१ लब्धार्था—शब्द के अनुरूप अर्थवाली अर्थात् यथार्थ।

२ लब्धास्था—लब्ध प्रतिष्ठा, प्रसिद्ध।

६. मन को प्रसन्न करने वाली (पासादिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मन मे प्रसन्नता पैदा करनेवाली किया है।[9]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३११ इह खु अस्मिन् प्रवचनेसु वा, सूअगडस्स वावित्ते।
(ख) वृत्ति, पत्र ७ इह प्रवचने, सूत्रकृद् द्वितीयश्रुतस्कन्धे वा।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३११ बहुदगा आतीरभरिता।

३. वृत्ति, पत्र ७ 'बहु' प्रचुरमगाधमुदकं यस्यां सा बहूदका।

४. (क) चूर्णि. पृष्ठ ३११ सीदंति तस्मिन्निति स्वेव पङ्क इत्यर्थ।
(ख) वृत्ति, पत्र ७ बहु —प्रचुर सीदन्ते—अवबध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेय —कर्दम. स यस्या सा बहुसेया—प्रचुरकर्दमा।

५ वृत्ति, पत्र ७ ' बहुश्वेतपद्मसद्भावात् स्वच्छोदकसंभवाच्च बहुश्वेता वा।

६. वृत्ति पत्र ७ 'बहुपुष्कला' बहुसंपूर्णा—प्रचुरोदकभृतेत्यर्थ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३११, ३१२ पुष्करिण्यर्थ उपलब्धो यया सा लद्धत्था, कश्चार्थ ? प्रसन्नोदका, पुष्करादिजलजोवसोभिता।

८ वृत्ति, पत्र ७ लब्ध —प्राप्त पुष्करिणीशब्दान्वर्थतयाऽर्थो यया सा लब्धार्था, अथवाऽऽस्थानमास्थाप्रतिष्ठा सा लब्धा यया सा लब्धास्था।

९. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ . चक्षुष्मता मनस प्रसादं जनयतीति प्रासादिका।

वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—प्रसादिका—स्वच्छ जलवाली किया है।

उन्होने इसका वैकल्पिक अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है। जिस पुष्करिणी के चारो ओर मदिर आदि प्रासाद हो वह प्रासादिका कहलाती है। प्रासाद का अर्थ है—मदिर।[1]

वृत्तिकार का यह वैकल्पिक अर्थ घटित नही होता। प्रासादिक पद्मवर पुडरीक का भी विशेषण है। वहा मदिर की सभावना कैसे की जा सकती है?

७. दर्शनीय (दरिसणीया)

निर्माण और सौदर्य की दृष्टि से दर्शनीय।[2]

८. कमनीय और रमणीय (अभिरूवा पडिरूवा)

चूर्णि मे अभिरूप का अर्थ है—अभिमत रूपवाली।[3]

इस शब्द की व्याख्या मे वृत्तिकार कहते है कि जो राजहस, चक्रवाक. सारस आदि पक्षी, हाथी, भैस, मृग आदि पशुओ के समूह तथा जलविहारी हथिनियो और मत्स्यो से युक्त हो, वह पुष्करिणी अभिरूप होती है।[4]

चूर्णिकार ने प्रतिरूप का अर्थ प्रतीत रूपवाली किया है।[5]

वृत्तिकार ने प्रतिरूप का अर्थ प्रतिविम्व किया है। जल की निर्मलता के कारण जिसमे सारे प्रतिविम्व स्पप्ट दृष्टिगोचर होते है, वह प्रतिरूप कहलाती है।

अथवा उसके अतिशय सौदर्य के कारण दूसरे सारे लोग उसका अनुकरण करते है—वैसी ही पुष्करिणी वनाते है, इसलिए उसे प्रतिरूप कहा जाता है।[6]

वृत्तिकार का कथन है कि पासादिया आदि चारो शब्द एकार्थक है, पर्यायवाची हैं। किन्तु उस पुष्करिणी की अतिशय रमणीयता दिखाने के लिए चारो का प्रयोग किया गया है।[7]

सूत्र २:

९: प्रत्येक भाग (जल और पंक) में (तत्थ-तत्थ देसे-देसे तहिं-तहिं)

हमने इनका सक्षिप्त अर्थ—प्रत्येक जल और पक भाग मे—किया है। तीनो शब्द-समूहो का यह समुच्चयार्थ है।

चूर्णिकार के अनुसार[8]—

- ० तत्थ-तत्थ—जहा जहा जल और पक है।
- ० देसे-देसे—जल और पक के प्रत्येक भाग मे।
- ० तहि-तहिं—जहा एक है वहा दूसरे भी है।

वृत्तिकार के अनुसार[9]—

---

१. वृत्ति, पत्र ७ प्रसाद—प्रसन्नता निर्मलजलता सा विद्यते यस्या सा प्रसादिका, प्रासादा वा—देवकुलसन्निवेशास्ते विद्यन्ते यस्या समन्तत सा प्रासादिका।

२. वृत्ति, पत्र ७ दर्शनीया शोभना सत्सनिवेशतो वा द्रष्टव्या दर्शनयोग्या।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३१२।

४. वृत्ति, पत्र ७ तथाऽऽभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि—राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा।

५ चूर्णि, पृष्ठ ३१२ प्रतीतरूपा प्रतिरूपा।

६. वृत्ति, पत्र ७ प्रतिरूपाणि—प्रतिबिम्बानि विद्यन्ते यस्या सा प्रतिरूपा, एतदुक्तं भवति—स्वच्छत्वात्तस्या· सर्वत्र प्रतिबिम्बानि समुपलभ्यन्ते, तदतिशयरूपतया वा लोकेन तत्प्रतिबिम्बानि क्रियन्ते (इति) सा प्रतिरूपेति।

७. वृत्ति, पत्र ७ यदि वा 'पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूव' त्ति पर्याया इत्येते चत्वारोऽप्यतिशयरमणीयत्वख्यापनार्थमुपात्ता।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ तत्थ तत्थत्ति जाव जलं पको अ देशे देशे तद्देश तहिं तहिं जत्थ एग तत्थ अण्णाणिवि।

९. वृत्ति, पत्र ७ तत्र तत्रेत्यनेन वीप्सापदेन पौण्डरीकैर्व्याप्तत्वमाह—देशे देशे—इत्यनेन त्वेकैकप्रदेशे प्राचुर्यमाह, 'तस्मिंस्तस्मिन्निन्त्यनेन तु नास्त्येवासौ पुष्करिण्या प्रदेशो यत्र तानि न सन्तीति।

○ तत्र-तत्र—संपूर्ण पुष्करिणी मे श्वेतकमलों की व्यापकता के सूचक।
○ देशे-देशे—पुष्करिणी के प्रत्येक भाग मे श्वेत कमलों की प्रचुरता।
○ तस्मिन्-तस्मिन्—पुष्करिणी का ऐसा एक भी प्रदेश नही है, जहा ये न हों।

वृत्तिकार ने इन पदो का वैकल्पिक अर्थ यह किया है—ये तीनो शब्द-समूह एकार्थक है। अति-आदर दिखाने के लिए तीनो का एक साथ प्रयोग किया गया है।[1]

१०. क्रम से अवस्थित (अणुपुव्वट्ठिया)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पंक से निकलकर, जल का अतिक्रम कर अवस्थित।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—क्रम से अवस्थित, विशिष्ट रचना मे स्थित।[3]

११. पंक और जल से ऊपर उठे हुए (ऊसिया)

चूर्णिकार ने उच्छ्रित का अर्थ जल से ऊपर उठा हुआ किया है।[4]

वृत्तिकार के अनुसार पंक और जल से ऊपर उठे हुए को उच्छ्रित कहा गया है।[5]

१२. चक्षुहारी (रुइला)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ चक्षुहारी, आखों को प्रिय लगने वाला किया है।[6]

वृत्तिकार के अनुसार रुचि का अर्थ है—दीप्ति। जो दीप्तिमान् होता है, वह रुचिर होता है।[7]

१३. विशिष्ट वर्ण……वाले (वण्णमंता……)

वे कमल श्वेतवर्ण वाले, सुगंधित रस वाले तथा कोमल स्पर्शवाले हैं। वर्णमन्त आदि विशेषण इसके सूचक हैं कि वे पद्म सवयस्क हैं, पुराने नही।[8]

सूत्र ४ :

१४. सारी (सव्वावंति)

चूर्णिकार ने इस पद को 'सर्वाणि' मानकर इसका अर्थ दो संदर्भों मे नियोजित किया है[9]—

१. सभी पद्मवर पुंडरीक मृणाल, नाल, पत्र, केसर, कर्णिका और किंजल्क से युक्त है।

२ सभी पद्मवर पुंडरीक।

वृत्तिकार ने इसे षष्ठी विभक्ति का एक वचन मानकर इसे पुष्करणी का विशेषण बतलाया है।[10]

सूत्र ६ :

१५. देश, काल……जानने वाला (देसकालण्णे……परक्कमण्णू)

प्रस्तुत सूत्र मे पुरुष के बारह विशेषण बतलाए गए है। क्रमश उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

---

१. वृत्ति, पत्र ७ यदि वा—अत्यादरख्यापनायैकार्थान्येवैतानि त्रीण्यपि पदानि।
२. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ पंकादुत्तीर्य जलमतिक्रम्य स्थिता।
३. वृत्ति, पत्र ७ . 'आनुपूर्व्येण' विशिष्टरचनया स्थितानि।
४. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : उस्सिता जलतला दूरमतिक्रम्य उस्सिता।
५. वृत्ति, पत्र ७ : तयोच्छ्रितानि पङ्कजले अतिलङ्घ्योपरि व्यवस्थितानि।
६. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : रोयन् चक्षुषः।
७. वृत्ति, पत्र ७ : रुचि दीप्तिस्तां लान्ति—आददति रुचिलानि—सद्दीप्तिमन्ति।
८ चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : वर्ण एषा श्वेतोऽस्तीति वर्णवंत , गन्धाः सुरभिः, जत्थ गंधो तस्स रसोवि, फासं, स्वेदः कोमल., वण्णमंतादिग्रहणात् नातिक्रान्तवयाः, अजढरा इत्यर्थः।
९. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : सव्वावंतित्ति सर्वाण्येव मृणालनालपत्रकेसरकर्णिकाकिंजल्कैरुपेतानि' " ···अहवा सव्वावंति सव्वाणि चेव पउमवरपोण्डरीयाणि।
१०. वृत्ति, पत्र ७ : 'सव्वावति' सर्वस्या अपि तस्याः पुष्करिण्याः।

१ देशज्ञ—स्थान के औचित्य को जानने वाला।

२. कालज्ञ—समय और अवसर को जानने वाला।

३ क्षेत्रज्ञ—अपनी शक्ति को समझने वाला।

४ कुशल—चूर्णिकार ने इसका अर्थ दक्ष किया है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार जो व्यक्ति अपने हितकारी कार्य मे प्रवृत्त और अहितकारी कार्य मे निवृत्त होने मे निपुण होता है, वह कुशल कहलाता है।[2]

५ पडिए—चूर्णिकार के अनुसार यहा पडित का सदर्भ यह है कि वह पुरुष जल मे तैरने, उन्मज्जन करने, तथा कमल को उखाडने की विधि को जानता है।[3] इसका भावार्थ है कि वह तैरने, कमल को लाने और फिर जल से ऊपर आने के उपाय को जानता है।

वृत्तिकार ने पडित का अर्थ—धर्मज्ञ किया है।[4]

६ व्यक्त—व्यक्त का अर्थ है सोलह वर्ष के ऊपर का पुरुष।[5] जो बालभाव को पार कर चुका है, जिसकी बुद्धि परिपक्व हो चुकी है वह व्यक्त कहलाता है।[6]

७ मेधावी—बुद्धि के आठ गुण है। शीघ्र ग्रहण और धारण—इन दो बुद्धि-गुणो से सपन्न व्यक्ति मेधावी कहलाता है।[7]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—प्लवन और उत्प्लवन के उपायो को जाननेवाला।[8]

८. अबाल—चूर्णिकार ने अबाल का अर्थ—अवृद्ध अथवा व्यक्त बुद्धिवाला किया है।[9]

अबाल का अर्थ है—युवा, जो बाल्यावस्था को पार कर चुका है, मध्यमवयवाला व्यक्ति, सोलह वर्ष की अवस्था से ऊपर का व्यक्ति।[10]

९-१० मार्गज्ञ-मार्गविद्—पुष्करिणी मे उतरने के मार्ग को जानने वाला।[11]

११ मार्ग के गमन और आगमन को जाननेवाला—ऐसा व्यक्ति जो यह जानता है कि पुष्करिणी मे किस मार्ग से उतरा जाता है और किस मार्ग से पुन आया जाता है अथवा जो यह जानता है कि किस समय मे उतरा जाए और किस समय मे पुन आया जाए।[12]

१२ पराक्रमज्ञ—पार पहुचाने वाली गति (सामर्थ्य ?) को जानने वाला।

चूर्णिकार ने तैरना जानने वाले को पराक्रमज्ञ माना है।[13]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए है—[14]

१. अपने विवक्षित स्थान पर पहुंचने की विधि को जाननेवाला।

२ अपने सामर्थ्य को जाननेवाला, जैसे—मैं इस पुष्करिणी का अवगाहन कर सकता हूं या नही ? मेरे मे इतना सामर्थ्य है या नही ?

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : कुशलो दक्षः

२ वृत्ति, पत्र ८ : 'कुशलो' हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिपुण।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ · प्लवने उत्पतने च उत्पाटने च पण्डितः।

४. वृत्ति, पत्र ८. पापाड्डीन पण्डितो धर्मज्ञ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : व्यक्त अषोडशक।

६ वृत्ति, पत्र ८ 'व्यक्तो' बालभावान्निष्क्रान्त परिणतबुद्धि।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ मेधावित्ति आशुग्रहणधारणसंपन्न।

८ वृत्ति, पत्र ८ 'मेधावी' प्लवनोत्प्लवनयोरुपायज्ञ।

९ चूर्णि, पृष्ठ ३१२ अबालोऽवुड्ढो, व्यक्तबुद्धिर्वा।

१०. वृत्ति, पत्र ८ 'अबालो' मध्यमवया षोडशवर्षोपरिवर्ती।

११. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१२ मग्गण्णुत्ति मग्गविदू जेण उत्तरिज्जइ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८ 'मार्गस्थ' सद्भिराचीर्णमार्गव्यवस्थित तथा सन्मार्गज्ञ।

१२ चूर्णि. पृष्ठ ३१२ मग्गस्स गतिआगति जो जेण वा कालेण गम्मइ उत्तरणं च।

१३. चूर्णि, पृष्ठ ३१२ परक्कम्मण्णू तरित्तु जाणइ।

१४. वृत्ति, पत्र ८ पराक्रमणं—विवक्षितदेशगमनं तज्जानातीति पराक्रमज्ञ, यदि वा पराक्रमः—सामर्थ्यं तज्ज्ञोऽहमात्मज्ञ इत्यर्थ।

१६. गहरा (महते)

यहा महद् का प्रयोग अगाध[1] और गहरे[2] के अर्थ मे किया है।

१७. न इधर का न उधर का (णो हव्वाए णो पाराए)

वह व्यक्ति श्वेत कमल को उखाड़ने के लिए पुष्करिणी मे उतरा था। तट से आगे चला। तट पीछे छूट गया। वह अपने गन्तव्य नक भी नही पहुंच पाया। वह बीच मे ही कीचड़ मे फस गया। अब वह न तट पर ही आने मे समर्थ है और न आगे जाने मे ही समर्थ है। वह न इधर का रहा और न उधर का रहा।[3]

सूत्र १० :

१८. राग-द्वेष रहित (लहे)

इसका सस्कृत रूप है—रूक्ष। यह मुनि का विशेषण है। वह मुनि रूक्ष कहलाता है जो राग-द्वेष से रहित है। राग-द्वेष कर्मबन्ध के मूल हेतु है। वे स्निग्ध है, अत कर्म-परमाणु उनसे चिपकते हैं। स्निग्धता के विना रजें नही चिपकती। इसी प्रकार जो राग-द्वेष से रहित है, उसके कर्मरेणु नही चिपकते, कुछ रेणु चिपकते है तो वे झटकने से झड जाते है। वीतराग निष्कपाय होते हैं। कपाय से होने वाला (सापरायिक) कर्मबन्ध उनके नही होता। ऐर्यापथिक कर्मबन्ध होता है। वह बन्ध क्षणिक होता है। पहले समय मे बन्धता है, दूसरे मे उसका वेदन होता है और तीसरे मे वह निर्जीर्ण हो जाता है। वह त्रिसामयिक होता है।[4]

योग (चचलता) की अवस्था तक यह बन्ध होता रहता है। अयोग अवस्था मे वह बन्ध नही होता।

१९. क्षेत्र को जानने वाला (खेत्तण्णे)

चूर्णिकार ने व्रत, समिति और कपायो को जानने वाले को क्षेत्रज्ञ माना है।[5]

वृत्तिकार ने इसके सस्कृत रूप 'क्षेत्रज्ञ' और 'खेदज्ञ' दोनो किये हैं।[6]

२०. विदिशा से (अणुदिसाओ)

आग्नेय आदि चार विदिशाओ को अनुदिशा कहा जाता है।[7]

सूत्र ११ :

२१. उदाहरण (णाए)

यहा ज्ञात शब्द दृष्टान्त के अर्थ मे प्रयुक्त है।

ज्ञात का अर्थ है—दृष्टान्त, उदाहरण।[8]

२२. अनेक दृष्टियों से निरूपण करता हूं (विभयामि)

इसका अर्थ है—अनेक दृष्टियो से निरूपित करना। वृत्तिकार ने 'विभावयामि' मानकर इसका अर्थ स्पष्ट रूप से प्रतिपादित

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१२, ३१३ महंते उदए आगाहे।

२. वृत्ति, पत्र ८ महदगाधमुदकम्।

३. वृत्ति, पत्र ८।

४ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१३ लूहे रागद्वेषरहित' तौ हि स्नेहभूतौ ताभ्यां कर्मावत्ते, जहा णेहतुप्पितगत्तस्य, रुक्खयरेण ण लगइ लग्गा वा पपफोडिता पडइ, एवं वीतरागस्सवि कम्मा ण वज्झन्ति, संपराइयं, इतरं वधइ जाव सजोगी, अजोगिस्स तंपि ण वज्झइ।

(ख) वृत्ति, पत्र ९।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३१३ : खेत्तण्णे व्रतसमिति कपायाणा।

६. वृत्ति, पत्र ८ : तथा क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३१३ : अणुदिसा अग्गेयादी।

८. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१३ : णाय-दिट्ठंतो।

(ख) वृत्ति, पत्र ९. ज्ञाते—उदाहरणे।

करना किया है ।[1]

२३. हेतु……सहित (सहेउं)

सूत्रकार का तात्पर्य यह है कि मैं जो बात बताऊंगा वह सहेतुक होगी । मैं अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक उस तथ्य का प्रतिपादन करूगा जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि जैसे वे व्यक्ति पक मे फसकर अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाए वैसे ही अन्यतीर्थिक भी ससार-सागर का पार पाने मे असमर्थ होगे । वे वही डूब जाएगे । इस अर्थ को हेतुओ सहित बताना सहेतुक प्रतिपादन होगा ।[2]

चूर्णिकार ने इसको सहेतु, स्वहेतु और सद्हेतु मानकर व्याख्या की है । सद् का अर्थ है—प्रशसा और अस्तित्व ।[3]

२४. निमित्त सहित (सणिमित्तं)

चूर्णिकार ने निमित्त, हेतु, उपदेश, प्रमाण और कारण को एकार्थक माना है ।[4]

सूत्र १२ :

२५. एक अपेक्षा से (अप्पाहट्टु)

स+दिश् धातु को प्राकृत धात्वादेश के अनुसार 'अप्पाह' आदेश होता है ।[5] इस दृष्टि से हमने इसका सस्कृत रूप 'सदिश्य' किया है ।

चूर्णिकार ने 'आहृत्य' रूप दिया है ।[6]

वृत्तिकार ने आहट्टु के दो सस्कृत रूप दिए है[7]—आहृत्य, अपाहृत्य ।

२६. लोक को (लोयं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ लोकात्मा[8] और वृत्तिकार ने मनुष्य-क्षेत्र[9] किया है ।

२७. कामभोग को (कामभोगे)

कर्म के उदय से काम-सग होता है और काम-सग से फिर कर्म-बध होता है और उससे जन्म । यह चक्र निरन्तर चलता रहता है ।[10]

इस रूपक मे उदक है कर्म और पक है कामभोग ।[11]

२८. जन और जानपदों को (जणजाणवए)

चूर्णिकार ने 'जानपद' का अर्थ—पुरवासी किया है ।[12] उन्होने सूत्र ४६ मे प्रयुक्त 'जन जानपद' का अर्थ भिन्न किया है[13]—

---

१ वृत्ति, पत्र ९, १० · 'विभावयामि'—आविर्भावयामि—प्रकटार्थं करोमि ।

२. वृत्ति, पत्र १० : कथं प्रतिपादयामीति दर्शयति—सहार्थेन—दार्ष्टान्तिकार्थेन वर्तत इति सार्थः पुष्करिणीदृष्टान्तस्तं, तथा सह हेतुना-अन्वयव्यतिरेकरूपेण वर्तत इति सहेतुस्तं तथाभूतमर्थं प्रतिपादयिष्यामि यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थितार्थाः पुष्करिणीकर्दमे दुरुत्तारे निमग्ना एवं वक्ष्यमाणास्तीर्थिका अपारगा संसारसागरस्य तत्रैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थ सोपपत्तिक प्रदर्शयिष्यते ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ · अथवा स्वो हेतु स्वहेतु, एवं कारणंपि, सत् प्रशंसास्तिभावयो·, शोभनोऽर्थ सदर्थ, सद्धेतु सत्कारणा वा ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ : निमित्तं हेतुरूपदेश प्रमाणं कारणमित्यनर्थान्तरं ।

५. आचार्य हेमचंद्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८/४/१८० : संदिशेरप्पाह-संदिशतेरप्पाह इत्यादेशो वा भवति । अप्पाहइ । संदिसइ ।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ . '…'आहृत्य…'' ।

७. वृत्ति, पत्र १० : आहृत्य अपाहृत्य वा ।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ : यथाप्ययमात्मा एवं लोकात्मा ।

९. वृत्ति, पत्र १० · लोकमिति मनुष्यक्षेत्रम् ।

१०. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ : कर्मोदयाद्धि कामसंगो भवति, कामसंगा वा पुन कर्म ततो जन्म ।

११. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ कर्म उदगं, कामभोगा सेओ ।

१२. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ पौरजणवया ।

१३ चूर्णि, पृष्ठ ३२५ जणजाणवताइं, जण सर्व एव प्रजा, जनपदस्यैतानि जानपदानि, ग्रामनगरखेटकर्वटादीनि, अथवा जनः प्रजास्तत्प्रतिगृहितानि द्विपदचतुष्पदादीनि जानपदानि ।

१. जन-सारी प्रजा ।

२ जानपद—जनपद मे होने वाले अर्थात् ग्राम, नगर, खेट, कर्वट आदि । अथवा प्रजा द्वारा प्रतिगृहीत द्विपद, चतुष्पद आदि ।

वृत्तिकार के अनुसार 'जन' का अर्थ है—सामान्य लोग और 'जानपद' का अर्थ है—साढे पचीस आर्य देशो मे उत्पन्न लोग ।[1] आर्य अनेक प्रकार के होते है—जातिआर्य, भाषाआर्य, क्षेत्रआर्य आदि । यहा क्षेत्रआर्य की दृष्टि मे कथन किया गया है ।

सूत्र १३ :

२९. अनार्य (अणारिया)

प्रस्तुत सूत्र मे विशेषणो के माध्यम से आर्य और अनार्य के बीच एक भेदरेखा खीची है और उनके शारीरिक और मानसिक विकास का तारतम्य बतलाया है । यह तारतम्य अनुपात के आधार पर है । आनुपातिक दृष्टि से आर्य उच्चगोत्री, लबे, गौरवर्ण वाले तथा सुन्दर आकृति वाले होते है । अनार्य नीचगोत्री, नाटे, कृष्णवर्ण वाले तथा असुन्दर आकृतिवाले होते हैं ।

अनार्यो की गणना और उनके कार्य-स्वभाव का निरूपण करते हुए वृत्तिकार ने चार गाथाए उद्धृत की हैं—शक, यवन, शवर, बब्बर, काय, मुरुड, उड्डग, ओड, पक्कण, अरब, हूण, रोमदेशवासी, पारसी, खस, खासी, डोंबिलक, लकुश, बोक्कस, भील, आन्ध्र, पुलिन्द, कोकणक, मरुक, क्रौंच, चीन, चञ्चुक, मालव, दमिल, कुलक्ष, केकय, किरात, हयमुख, खरमुख, अश्वमुख, मेषमुख, हयकर्ण, गजकर्ण—इस प्रकार के अन्य भी बहुत अनार्य होते है ।

वे पापी और घोरदड देनेवाले होते है । वे क्रूर और दयाहीन होते हैं । वे स्वप्न मे भी धर्म की बात नही करते ।[2]

३०. उच्चगोत्र वाले नीचगोत्र वाले (उच्चागोया णीयागोया)

आठ मदस्थान हैं[3]—

१ जातिमद, २ कुलमद, ३ बलमद, ४ रूपमद, ५ तपोमद, ६ श्रुतमद, ७ लाभमद, ८ ऐश्वर्यमद ।

चूर्णिकार के अनुसार वे पुरुष उच्चगोत्र वाले होते हैं जिन्हे ये मदस्थान प्राप्त होते हैं । जिन्हे ये मदस्थान प्राप्त नही होते वे नीचगोत्र कहलाते हे ।[4]

वृत्तिकार ने इक्ष्वाकु आदि कुलोत्पन्न पुरुषो की गणना उच्चगोत्र मे की है । जो गोत्र सारी जनता मे अवहेलनीय होता है, वह नीचगोत्र कहलाता है ।[5]

३१. लंबे होते हैं (कायमंता)

इसका अर्थ है—महाकाय, शरीर मे लबे-चौडे ।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र १० 'जनं' सामान्येन लोकं, तथा जनपदे भवा जानपदा विशिष्टार्यदेशोत्पन्ना गृह्यन्ते, ते चार्द्धषड्विंशतिजनपदोद्भवा इति ।

२. वृत्ति, पत्र १३ सग जवणसवरबब्बर कायमुरुंडोड्डुगोड्डपक्कणिया ।
अरवग हूण रोमय पारसखसखासिया चेव ॥१॥
डोंबिलयलउसबोक्कस भिल्लंधपुलिंदकोंचभमरुया ।
कोंचा य चीणचंचुयमालव दमिला कुलग्घा य ॥२॥
केकयकिरायहयमुहखरमुह तह तुरगमेंढयमुहा य ।
हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥३॥
पावा य चंडदंडा अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा ।
धम्मोत्ति अक्खराइं जेण ण णज्जंति सुमिणेवि ॥४॥

३. ठाणं, ८/२१ ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ जच्चातिएहिं मतट्ठाणेहिं जुत्ता उच्चागोता । तेहिं विणा णीआगोआ ।

५ वृत्ति, पत्र १३ उच्चैर्गोत्रम्—इक्ष्वाकुवशादिक येषां ते । 'नीचैर्गोत्र' सर्वजनावगीतं येषां ते ।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१४ प्राशव. कायवन्त ।
(ख) वृत्ति, पत्र १३ . कायो—महाकाय. प्रांशुत्वं तद्विद्यते येषां ते कायवन्त. ।

३२. नाटे (हस्समंता)

इसका अर्थ है—छोटे शरीर वाले। चूर्णिकार ने इसका अर्थ वामन और कुब्ज किया है।[1]

वृत्तिकार ने इन दो अर्थों के साथ 'वडभ' अर्थ और किया है।[2]

३३. गोरे होते हैं (सुवण्णा)

सुवर्ण का अर्थ है—अच्छे वर्ण वाले, गोरे। तपाए हुए सोने की तरह सुन्दर देह वाले।[3]

आर्य जाति के लोगो का स्वाभाविक रग पीला (कनककान्ति कमनीय) होता था। उनके केश भी वैसे ही होते थे।[4]

चूर्णिकार ने गौरवर्ण और श्यामवर्ण (नीलवर्ण) को सुवर्ण के अन्तर्गत माना है। उनका कथन है कि स्निग्ध छायावाला तथा तेजस्वी श्यामवर्ण (नीलवर्ण) भी सुवर्ण है और परुष स्पर्शवाला गौरवर्ण भी दुवर्ण है। कवि ने कहा है—

चक्षु स्नेहेन सौभाग्यं, दन्तस्नेहेन भोजनम्।
त्वक्स्नेहे परमं सौख्यं, नखस्नेहेऽशनादिकम्॥[5]

३४. काले (दुवण्णा)

काले वर्ण वाले तथा रूक्ष चमडी वाले दुर्वर्ण होते हैं।[6]

पिंगल (पीत मिश्रित लाल) वर्ण वाले भी दुर्वर्ण होते है।[7]

३५. सुडोल (सुरूवा)

सुरूप का अर्थ है—सुडोल। जो पाचो इन्द्रियो से परिपूर्ण, न ज्यादा मोटे और न ज्यादा क्षीण होते हैं, वे सुरूप कहलाते है। जो आखो को प्रिय लगते हैं, वे सुरूप कहलाते है।[8]

जिनके सारे अवयव प्रमाणोपेत होते है वे सुरूप कहलाते हैं।[9]

३६. कुडोल (दुरूवा)

जिनके शरीर के अवयव प्रमाणोपेत नही होते, जो अति स्थूल या अति क्षीण होते है और इन्द्रियो से विकल होते है, वे दुरूप कहलाते हैं अथवा जो देखने मे आखो को प्रिय नही लगते वे दुरूप कहलाते हैं।[10]

जिनका शरीर बीभत्स होता है, डरावना होता है, वे दुरूप हैं।[11]

३७. महान् हिमालय..........महेन्द्र (महाहिमवंत..........मंहिद)

चूर्णिकार ने लिखा है कि हिमालय और मलय तो प्रत्यक्ष है, मदर और महेन्द्र परोक्ष हैं, सुदूरवर्ती हैं।[12] मलय दक्षिण भारत की

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१४ : वामनकुब्जह्रस्ववंतो।
२. वृत्ति, पत्र १३ : 'ह्रस्ववन्तो' वामनककुब्जवडभादय।
३. वृत्ति, पत्र १३ : शोभनवर्णाः सुवर्णाः—प्रतप्तचामीकरचारुदेहाः।
४. भारत के प्राणाचार्य, पृष्ठ ३८६।
५ चूर्णि, पृष्ठ ३१४ सुवर्णा वेगे अवदाताः श्यामा वा वण्णमंता..........
अथवा काला अपि स्निग्धच्छायावन्तस्तेजस्विनश्च सुवर्णाः अवदाता अपि फरुसच्छविणो दुवण्णा, उक्तं हि—चक्षुः..........
६ वृत्ति, पत्र १३ : दुर्वर्णा.—कृष्णरूक्षादिवर्णा।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३१४. काला पिंगला वा दुव्वण्णा।
८. चूर्णि, पृष्ठ ३१४; ३१५ सुरूवा..........अहीनपंचिंदिया नातियूरा नातिकृशाश्च सुरूपा,..........अहवा ये चक्षुषो रोचंते ते सुरूवा।
९. वृत्ति, पत्र १३ · सुरूपा —सुविभक्तावयवचारुदेहा.।
१० चूर्णि, पृष्ठ ३१५।
११ वृत्ति, पत्र १३ दुष्टरूपा—दुरूपा बीभत्सदेहा।
१२. चूर्णि, पृष्ठ ३१५। महंतग्रहणं महाहिमवंते, सक्को चेव मलयो वुच्चति, मंदरो सुमेरू, मंहिदो सक्को, तत्थ हिमवंतमलया पच्चक्खा,.......मंदरमंहिदा परोक्खा।

एक पर्वत-शृंखला है।[1]

३८. सामर्थ्यवान् (या वैभवशाली) (सारे)

सार का अर्थ है—सामर्थ्य, वैभव।[2] चूर्णि के अनुसार पर्वतो का सार है—उन पर उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की औषधिया और उनकी गहराई मे होने वाले रत्न आदि।[3]

३९. युद्ध और कलह को (डिंब-डमरं)

'डिम्ब' का अर्थ है—युद्ध और डमर का अर्थ है—कलह।

चूर्णिकार ने डिम्ब का अर्थ—अपनी सेना से होने वाला राज्यक्षोभ आदि तथा डमर का अर्थ शत्रुसेना से होने वाला राज्यक्षोभ—किया है।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा विपरीत किया है। उन्होने 'टिम्ब' का अर्थ—शत्रु सेना से होने वाला क्षोभ और 'डमर' का अर्थ—स्वसेना से होने वाला क्षोभ किया है। उन्होने दोनो को एकार्थक भी माना है।[5]

आप्टे के अनुसार[6]—डिम्ब का अर्थ है—कलह, छोटा युद्ध, शस्त्रास्त्रो के विना होने वाला युद्ध।

डमर का अर्थ है—कलह, गावो के बीच होने वाला कलह, शत्रु को भयभीत करने के लिए किया जाने वाला शब्द।

सूत्र १४ :

४०. भोज (भोग)

इसका अर्थ है—गुरु-स्थानीय पुरोहित वर्ग।[7] वृत्तिकार ने इसका सस्कृत रुप 'भोग' दिया है[8], किन्तु वास्तव मे इसका संस्कृत रूप 'भोज' होना चाहिए।

भोज की विशेष जानकारी के लिए देखें—ठाण, पृष्ठ २६६, ६६४।

४१. (इक्खागा नागा कोरव्वा)

इक्ष्वाकु—भगवान् ऋषभ के वशज।

नाग—नाग या ज्ञात भगवान् महावीर के वशज।[9]

कौरव—भगवान् शाति के वंशज।[10]

४२. भट्ट भट्टपुत्र (भट्टा भट्टपुत्ता)

भट्ट का अर्थ है—योद्धा। भट्टपुत्र वे कहलाते हैं जो अभी पूर्ण रूप से योद्धा नही हुए, केवल कुमार अवस्था में है।[11]

औपपातिक की वृत्ति में 'भड' शब्द का अर्थ शूर किया है।[12]

---

१. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृष्ठ १२४४ ·
   मलय : a mountain range in the south of India
२. वृत्ति. पत्र १३ : सारः—सामर्थ्यं विभवो वा।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ · सारं स्थैर्यं, पर्वतानां औषधिरत्नसंपण्णा।
४. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ : डिवं सचक्कं—रज्जखोभादि परचक्कं-परबलं।
५. वृत्ति, पत्र १३ : डिम्ब —परानीकभृगालिको, डमरं-स्वराष्ट्रक्षोभ ।
६. आप्टे, संस्कृत, इंग्लिश डिक्शनरी।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ : उग्गा भोगा राइण्ण खत्तिया संगहो भवे चउहा।
   आरक्खिगुरुवयंसा सेसा जे खत्तिया ते उ॥
८ वृत्ति, पत्र १३।
९. औपपातिक वृत्ति पत्र ११० नागवंश्या ज्ञातवंश्या वा।
१०. स्थानांगवृत्ति, पत्र ३४० : कुरवश्च············शांतिजिनपूर्वजाः।
११. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ : भट्टा जोधाः, ते तावद्भटत्वमप्राप्तवयत्वात् कुर्वन्ति ते भट्टपुत्रा ।
१२. औपपातिक वृत्ति, पत्र ११० भडत्ति—शूरा ।

४३. लिच्छवी (लेच्छई)

लिच्छवियो का एक गण था। वे वैशाली गणराज्य के सदस्य थे। चूर्णिकार ने लिच्छवी को एक कुल बतलाया है और उसका वैकल्पिक अर्थ वणिक् किया है।[1] वृत्तिकार के समय मे प्रथम अर्थ विस्मृत हो गया था, इसलिए उन्होने लिच्छवी का अर्थ केवल वणिक् वर्ग किया है।[2]

लिप्सा शब्द के आधार पर लिच्छवी का निर्वचन किया गया है, वह विस्मृति का ही सूचक लगता है। एक कल्पना की जा सकती है कि लिच्छवीगण व्यापारियो का गण था। यदि यह कल्पना सगत हो तो लिच्छवी शब्द के निर्वचन का औचित्य हो सकता है।

४४. प्रशासक (पसत्थारो)

चूर्णिकार के अनुसार लेखक, धर्मपाठक, रक्षक आदि वर्ग प्रशस्त काम करने वाले हैं, इसलिए वे प्रशस्ता कहलाते हैं।[3]

वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—प्रशासक, बुद्धि बल पर जीविका चलाने वाले मत्री आदि।[4]

औपपातिक वृत्ति मे इसका अर्थ—धर्मशास्त्र के पाठक किया है।[5]

सूत्र १५ :

४५ श्रद्धावान् (सड्ढी)

चूर्णि मे इसके दो अर्थ किए हैं—धर्म को सुनने का इच्छुक, धर्म ग्रहण करने का इच्छुक।[6]

४६. श्रद्धावान् जानकर (कामं)

यह शब्द 'अवधारण करने' के अर्थ मे प्रयुक्त है। जो अवधृत होता है, वही आश्रयणीय होता है। जैसे सुन्दर सरोवर या पत्र, पुष्प और फलो का बगीचा।[7]

इसका दूसरा अर्थ है—कामना करना।[8]

इसका तात्पर्य यह है कि अनेक धर्म गुरु यह जानकर कि अमुक व्यक्ति धर्म-श्रद्धालु है, उसके पास जाते हैं और उसे अपने धर्म मे प्रव्रजित करने का प्रयत्न करते हैं।[9]

४७. जलाने के लिए (आदहणाए)

चूर्णिकार ने 'आद्हण' पाठ मानकर उसका अर्थ श्मशान किया है।[10] वृत्तिकार ने आदहण का अर्थ जलाना किया है।[11]

४८. आसंदी·······लौट आते है। (आसंदीपंचमा····पच्चागच्छंति)

आसदीपचमा का अर्थ है—चार पुरुष और पाचवी आसदी [मचक]।

जब कोई आदमी मर जाता है तब चार पुरुष उसे आसदी (अरथी, चारपाई) पर लिटाकर श्मशान मे ले जाते हैं। उसे

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ लेच्छवि कुल लिच्छाजीविणो वा वणिजादि।
२. वृत्ति, पत्र १३ 'लेच्छइ' त्ति लिप्सुक स च वणिगादि।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ . लेखका धर्मपाठका, रक्षका रसकाद्या प्रशस्तानि कुर्वन्तीति प्रशस्तारो।
४. वृत्ति, पत्र १३ प्रशास्तारो—बुद्ध्युपजीविनोमन्त्रिप्रभृतय।
५. औपपातिकवृत्ति, पत्र ११० पसत्यारोत्ति—धर्मशास्त्रपाठकाः।
६. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ . सड्ढी···· ·· धर्मशुश्रूषुर्वाधर्म्मंजिघृक्षुर्वा।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३१५ : काममवधृतार्थे, अवधृतमेव हि आश्रयणीयं आश्रीयते प्रफुल्लसरो वा पत्तोवगादिजुत्तो वा वणसंडो।
८. वही, पृष्ठ ३१५ : कमु इच्छायां वा कामायमाणा।
९. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१५।
   (ख) वृत्ति, पत्र १३, १४।
१०. चूर्णि, पृष्ठ ३१६ : आहृत्य यस्मिन् सुहृवो वहंति तं आद्हणं—श्मशानं।
११. वृत्ति, पत्र १४ : 'आदहनाय'—आसमन्ताद्दहनार्थं श्मशानादौ नीयते।

जलाकर चारो आदमी घर लौट आते हैं और चाडाल उस आसदी को लेकर गाव मे आ जाते हैं।[1]

४९. शरीर से……संवेदन नहीं होता (असंविज्जमाणे)

इसका अर्थ है—शरीर से भिन्न जीव का संवेदन (अनुभव) नही होता। यदि आत्मा नामक कोई तत्त्व होता तो शरीर का छेदन-भेदन करने पर या उसे जलाने पर शरीर से निकलती हुई आत्मा अवश्य ही दृग्गोचर होती, जैसे वृक्ष को काटने पर उस पर निवास करने वाले पक्षिगण दृग्गोचर होते है।[2]

सूत्र १६ :

५०. अण्णो भवइ जीवो अण्ण सरीरं

तुलना—अण्ण जीवं अण्ण सरीरं—उदान ६७।

५१. (आया दीहेति……लुक्खे ति वा)

इस सूत्र में यह प्रतिपादित है कि आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है आदि-आदि। आचाराग (५।१२७-१३१) मे भी ये सारे शब्द प्रयुक्त हैं। वहा केवल आयत और छलस—ये दो शब्द नही हैं। 'आयत' का अर्थ है—लवा और 'छलस' का अर्थ है—पट्कोण।

सूत्र १७ :

५२. मूज से शलाका को (मुंजाओ इसियं)

'मूज' एक प्रकार का तृण होता है।[3]

'इसिय' का अर्थ है, मूज मे से निकाली हुई शलाका या ततु।[4]

तुलना—अन्तरात्मा····त स्वच्छरीरात् प्रव्रहेन् मुञ्जाद् इवेशीकाम्—कठ उपनिषद् २।३।१७

तुलना—अयं मुजो अय इसीका, अण्णो मुजो अण्णा इसीका····।

अयं असी अय कोसी, अण्णो असी अण्णो कोसी····। दीघनिकाय २।५।८८

सूत्र २०

५३. नाना प्रकार के (विरूवरूवेहिं)

'विरूप' का अर्थ है—नाना प्रकार के और 'रूप' का अर्थ है—स्वरूप वाले। विरूपरूप अर्थात् नाना प्रकार के स्वरूप वाले।[5]

५४. कर्म-समारंभ के (कम्मसमारंभेहिं)

कर्म-समारभ अर्थात् प्राणवध, सावद्य प्रवृत्ति, जैसे—पशुहिंसा, मासभक्षण, सुरापान, निर्लाञ्छन आदि करना। इसका दूसरा अर्थ है—किसान का अनुष्ठान आदि।[6]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१६ : परेहिं चउहिं पुरसेहिं णिज्जइ……आसनं ददातीत्यासंदी धारा, चत्तारि गाम पच्चेन्ति, मंचगंपि पाणा आणेति।

(ख) वृत्ति, पत्र १४ : ते च तद्बान्धवा जघन्यतोऽपि चत्वारः 'आसन्दी'—मञ्चकः स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमाः पुरुषास्तं कायमग्निना ध्यापयित्वा पुनः स्वग्रामं प्रत्यागच्छन्ति।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३१६ : यदि पुनरात्मा विद्यते तेन शरीरे छिद्यमाने भिद्यमाने दह्यमाने वा निस्सरन् उपलभ्येत वृक्षविनाशे शकुनिवत् इत्येवं शरीरादूर्ध्वमविद्यमाना।

३. वृत्ति, पत्र १५ : मुञ्जात्—तृणविशेषात्।

४. वही, १५ : तद् (मुञ्जात्)—गर्भभूतां शलाकाम्।

५. वृत्ति, पत्र १५ विरूपं—नानाप्रकारं रूपं—स्वरूपम्।

६ वृत्ति, पत्र १५ कर्मसमारम्भा—सावद्यानुष्ठानरूपा पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिकास्तैरेवंभूतैर्नानाविधै कर्म-समारम्भै, कृषीबलानुष्ठानादिभि।

५५. समारंभ करते हैं (समारंभंति)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए है—अर्जन करना, रक्षण करना ।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—ग्रहण करना, प्राप्त करना ।[2]

यह शब्द 'कामभोगो' के प्रसग मे आया है—'कामभोगाइ समारभंति' । इसका अर्थ—कामभोगो का अर्जन करते हैं—यही ठीक लगता है ।

५६. (सूत्र २०)

प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि जो शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, वे क्रिया, अक्रिया आदि को नही मानते । वैसा मानना उनके लिए प्रयोजनीय भी नही है ।

जब आत्मा अपनी प्रवृत्ति से प्राप्त कर्मो का भोक्ता हो तब अपाय के भय से सद् अनुष्ठान की चिन्ता हो सकती है । अन्यथा सत्क्रिया की चिन्ता उद्‌भूत ही नही हो सकती । इसी प्रकार सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-अकल्याण, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक-अनरक की चिन्ता भी नही हो सकती ।

यदि यह माना जाए कि सुकृत अर्थात् कल्याण-विपाक वाले कर्मो का फल अच्छा होता है और दुष्कृत अर्थात् पाप-विपाक वाले कर्मो का फल बुरा होता है, तब आत्मा के फल भोगने की बात प्राप्त होती है । अन्यथा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने की बात कैसे सोची जा सकती है ? इसी प्रकार सुकृत से सिद्धि प्राप्त होती है और दुष्कृत से असिद्धि अथवा नरक या अनरक प्राप्त होता है—यह भी नही सोचा जा सकता । क्योकि इस सब चिन्तन का आधार है—आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति ।[3]

वृत्तिकार ने अनरक का अर्थ—तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति किया है ।[4]

चूर्णिकार ने क्रिया और कर्मबंध को एकार्थक माना है ।[5]

सूत्र २१ :

५७. घर से निकल कर (णिक्खम्म)

निष्क्रम्य का अर्थ है—घर से निकल कर, अपने दर्शन मे विहित प्रव्रज्या को ग्रहण कर, अपने मान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर ।[6]

वृत्तिकार ने यहा एक प्रश्न उपस्थित किया है कि लोकायत दर्शन मे दीक्षा का विधान नही है तो फिर यह निष्क्रमण की बात का क्या प्रयोजन है ? इसके समाधान मे वे कहते है—कोई व्यक्ति शाक्य दर्शन के प्रव्रज्या-विधान के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करता है । वह अन्यान्य दर्शनो का अध्ययन करता है । लोकायत मत का अध्ययन करते समय उसके विचारो मे परिवर्तन आता है और उसे वह दर्शन सत्य प्रतीत होने लगता है । तब वह कहता है—यह मेरा धर्म है । वह स्वय उसे स्वीकार करता है और दूसरो के समक्ष भी उसी धर्म का प्रतिपादन करता है ।[7]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१७ : समारभंति अर्जयन्ति रक्षयन्ति ।

२. वृत्ति, पत्र १५ : समारभंते—समाददति तदुपभोगार्थमिति ।

३. (क) चूर्णि, पृ० ३१७ ये चाक्रियावादिन तेसु सुकडदुक्कडविवागो ण भवति, सुकडाणं कल्लाणफलविवागो सुकडकारी च साहू, दुक्कडकारी असाधू, सुकृतकल्याणाच्च साधो सिद्धिर्भवति विपर्ययवद्, असिद्धि असिद्धस्स दुक्कडकारिस्स इतरस्स णिरयो, तेषामेते एवं प्रकारा स्वकर्मजनिता सुकृताद्या फलविपाका न भवति ।

(ख) वृत्ति पत्र १५ ।

४ वृत्ति पत्र १५ : अनरको वा तिर्यक्नरामरगतिलक्षणः ।

५. चूर्णि, पृ० ३१७ क्रिया कर्मबन्ध इत्यनर्थान्तरं ।

६. वृत्ति, पत्र १६ निष्क्रम्य च स्वदर्शनविहितां प्रव्रज्या गृहीत्वा नान्यो जीव शरीराद्विद्यत इत्येवं यो धर्मो मदीयोऽयमित्येव-मभ्युपगम्य स्वतः ।

७. वही, पत्र १६ यद्यपि लोकायतिकाना नास्ति दीक्षादिकं तथाऽप्यपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्य पश्चाल्लोकायतिक-मधीयानस्य (नानां) तथाविधपरिणतेस्तदेवाभिरुचितम्, अतो मामकोऽयं धर्म (इति) स्वयमभ्युपगच्छन्त्यन्येषां च प्रज्ञापयन्ति ।

कुछ नास्तिक 'नीलपट' को धारण करते हैं। यह भी प्रव्रज्या विशेष का ही प्रतीक है।[1]

५८. (तं सद्दहमाणा……माहणेति वा)

प्राचीन काल मे श्रमण और ब्राह्मण—दोनो परंपराओ मे अनात्मवाद का समर्थन करने वाली धाराए विद्यमान थी। उनके विचार से लोग प्रभावित होते थे। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उनसे प्रभावित लोगो की प्रतिक्रिया प्रदर्शित की है।

चूर्णिकार के अनुसार—

'देवानुप्रिय! यदि आप हमे धर्म का यह पक्ष नही बतलाते तो हम परलोक के भय से सुख के साधनभूत हिंसा आदि कार्यो का परिहार कर वास्तव मे दुःखी ही होते। अब हम निःशक होकर आपके धर्म मे दीक्षित हो जाएगे। आज तक जो हम मद्य और मास का परिहार कर रहे थे, उपवास आदि तपस्या कर रहे थे, वह सब निरर्थक ही था। हम आपका उपकार मानते है।[2]

वृत्तिकार के अनुसार—

शरीर और आत्मा को एक ही मानने वाले उसके प्रज्ञापको को कहते हैं—आपने हमे यथार्थ धर्म का दर्शन कराया है। अन्यथा हम परलोक के भय से भयभीत होकर हिंसा आदि कर्मों मे कभी प्रवृत्त नही होते। हम सुख के साधनभूत मास, मद्य आदि मे प्रवृत्त न होकर वास्तव मे मनुष्य जन्म-फल से वचित हो रहे हैं। आपने अच्छा किया। हमे यह अच्छा धर्म दिखलाया।[3]

५९. पूजा के लिए निमंत्रण दे देते हैं (पूयणाए णिकाइंसु)

'णिकाइंसु' का सस्कृत रूप है—न्यचीकचन्। वृत्तिकार ने इसका रूप 'निकाचितवन्त' दिया है।[4]

वे नास्तिक आचार्य अपने मत मे आने वाले नए सदस्यो को नियमित करते हुए कहते हैं—'तुम तज्जीव-तच्छरीर के सिद्धान्त को ग्रहण करो। जीव अन्य है और शरीर अन्य है—इस मत को छोड दो। आज से तुमको इसी मत के अनुरूप अनुष्ठान करना होगा।'[5]

सूत्र २२ :

६०. पहले ही उन्हें यह ज्ञात होता है (पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ)

इसका तात्पर्य है कि पहले कोई व्यक्ति किसी धर्म परपरा मे प्रव्रज्या तथा लिंग ग्रहण करता है। कुछ समय पश्चात् वह अन्यान्य मतो का अध्ययन करता है। लोकायत मत के सिद्धान्तो के प्रति उसकी रुचि जागती है। इसी को लक्ष्य कर सूत्रकार उस व्यक्ति की मन स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहते है कि पहले ही उसने यह प्रतिज्ञा की थी—हम श्रमण होगे····आदि।[6]

चूर्णिकार का तात्पर्य वृत्तिकार से सर्वथा भिन्न है। वे कहते हैं—लोकायत मत मे प्रव्रज्या का विधान नही है। उस मत के अनुयायी गैरुक वेषधारी या अन्य सन्यासियो के पास जाते है। उनके स्वच्छन्द और अपनी मति से कल्पित सिद्धान्तो को सुनकर कहते हैं—हम आपके पास प्रव्रजित होकर श्रमण होगे····आदि। ऐसा सोचकर वे उनके पास प्रव्रजित होते हैं, पढते हैं और धर्म-श्रवण करते हैं। धीरे-धीरे उनके मन मे उस धर्म के प्रति रुचि पैदा होती है।

---

१. वृत्ति, पत्र १६ यदि वा—नीलपटाद्यभ्युपगन्तु कश्चिदस्त्येव प्रव्रज्याविशेष इत्यादोष इति।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३१७ इच्छामि देवाणुप्पिया! तं तुमे अम्हाणं तज्जीवतस्सरीरको पक्खो अक्खातो इहरहा वयं परलोगभएण हिंसादीणि सुहसाहणाणि परिहरमाणा दुक्खिता आसी, संपति णिस्संकित पव्वइस्सामो इहरहा हि मज्जं मंसं परिहरामो उववासं करेमो णिरत्थयं चेव, अस्माच्च कारणात् वयं भवतां प्रत्युपकार कुर्म।

३. वृत्ति, पत्र १६ नास्तिकवाद्यपन्यस्तं धर्मं विपयिणामनुकूलं 'श्रद्दधाना'—स्वमतावतिशयेन रोचयन्त तथा 'प्रतिपादयन्त' अवितथभावेन गृह्णन्त तथा तत्र रुचि कुर्वन्त तथा साधु—शोभनमेतद्यत् यथा स्वाख्यातो—यथावस्थितो भवता धर्मोऽन्यथाऽसति हिंसादिष्ववर्त्तमाना परलोकभयात् सुखसाधनेषु मांसमद्यादिष्वप्रवृत्ति कुर्वन्तो मनुष्यजन्मफलवञ्चिता भवेयुः, तत शोभनमकारि भवता।

४ वृत्ति, पत्र १६ .········निकाचितवन्तो।

५. वही, पत्र १६ तथाहि—भवतेदं तज्जीवतच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतच्च परित्याज्यम्, अनुष्ठानमपि एतदनुरूपमेव विधेयमित्येव निकाचितवन्त इति।

६. वृत्ति, पत्र १६ : तत्र ये भागवतादिकं लिङ्गमभ्युपगताः पश्चाल्लोकायतग्रन्थश्रवणेन लोकायताः संवृत्तास्तेषां 'पूर्वम्' आदौ प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञात भवति; तद्यथा—···· ···।

दूसरा कारण है कि वे लोक समूह को आकृष्ट करने के लिए उसका आश्रय लेकर विहरण करने लग जाते हैं। चरक आदि लिंग का आश्रय लेते हैं। लोक-समूह को आकृष्ट करने के लिए ही अपनी वास्तविकता को ढाककर, उनके वाद का उच्चारण करने लग जाते है। यह सूत्र मे साक्षात् प्रतिपादित है।[1]

६१. स्वयं परिग्रह करते हैं (सयमाइयंति)

चूर्णिकार ने 'आइयति' का अर्थ अदत्त ग्रहण करना किया है।[2]

वृत्तिकार ने व्याख्या मे लिखा है—वे मनुष्य पहले सावद्य अनुष्ठानो से निवृत्त होकर, नीलपट आदि सन्यासी का वेश धारण कर स्वय सावद्य अनुष्ठानो मे प्रवृत्त हो जाते है।[3]

यहा परिग्रह का अर्थ ही उचित लगता है।

६२. (मुच्छिया······लुद्धा)

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने परिग्रह के प्रति होनेवाली आसक्ति की पाच अवस्थाओ का उल्लेख किया है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१ मूर्च्छित—मूर्च्छित व्यक्ति की तरह दोषो को न देख पाना,[4] एकमेक हो जाना, तदात्म हो जाना।[5]

२. गृद्ध—परिग्रह की सतत कामना करना।[6]

३. ग्रथित—ऐसा वध जाना कि फिर उससे निकलपाना कठिन होता है।[7]

४ अध्युपपन्न—(परिग्रह के) प्रति तीव्र अभिनिवेश।[8]

५ लुब्ध—लीन हो जाना, आसक्त हो जाना।

कामवासना के तीन उत्तेजक तत्त्व हैं—धन (परिग्रह), शरीर और अवस्था।[9] जहा तीनो का एकत्रावस्थान होता है, वहा कामक्रीडा को खुलकर खेलने का अवसर मिल जाता है।[9]

६३. मुक्त······कर पाते (समुच्छेदेंति)

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है[10]—कामभोग के तृष्णारूपी पक से अपना उद्धार करना।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए है[11]—

१ ससार से उद्धार करना।

२. कर्म-वधन से मुक्त करना।

चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप से प्रतिपादन किया है कि लोकायत मत वालो के लिए ससार ही नही होता तो भला फिर मोक्ष की वात ही क्या ? इसलिए उनके लिए आत्म-मोक्ष की वात ही प्राप्त नही होती।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१७, ३१८ तेसिं लोगायतियाणं पासंडो चेव णत्थि, ते पुण अण्णेसिं केसिं गेरुअलिंगमाईण सच्छंदमतिकप्पिअं धम्मं सोतु भणति—तेसिं अतिए पव्वइतु समणा भविस्सामो, अणगारा जाव पावं कम्मं णो करिस्सामो एवं संप्रधार्य तदन्तिके प्रव्रजिता आढत्ता पठितु सोतु च पच्छा तं चेव रुचितं, अथवा लोकपंक्तिनिमित्तं सूत्रमात्रपाषडमाश्रित्य विचरिष्यामः मुद्गलासातिपुत्रवत्। किंच—चरमादिलिङ्गमाश्रयन्ति, लोकपंक्तिनिमित्तं च प्रच्छादयन्त्यात्मानं पव्वयामो, पव्वइतु समणा भविस्सामो अणागारा जाव पावकम्मं णो करिस्सामो, पव्वइयावि सन्ता तमेव वादं वदति यथा······।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ जं च त अगाराइं सचित्तकम्माइ हिरण्णा दियंति परेहि य अदत्तमादियति।

३. वृत्ति पत्र १७ पूर्वं सावद्यारम्भान्निवृत्तिं विधाय नीलपटादिकं च लिङ्गमास्थाय स्वमात्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते—स्वीकुर्वन्ति।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३१८ : ते मूच्छिता इव न तत्र दोषान् पश्यन्ति।

५ वृत्ति, पत्र १७ मूच्छिता—एकीभावतामापन्नाः।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ः गृद्धास्तदभिलाषिण।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ ग्रन्थिताः बद्धा न तेभ्योऽपसर्पन्ति।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ अज्झोववातो तीव्राभिनिवेशः।

९. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ः कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्चे'ति मूलमितिकृत्वा कामसाधनेष्वपि लुब्धा ते तासु रक्ताः।

१०. चूर्णि, पृष्ठ ३१८ :······कामभोगतृष्णापंकात्।

११. वृत्ति, पत्र १७: ······समुच्छेदयन्ति—मोचयन्ति····समुच्छेदयन्ति—कर्मबन्धात् त्रोटयन्ति।

लोकायतिक चाहे किसी भी प्रकार से आत्मा का अभाव मानकर अपने आपको ठगते रहे, किन्तु वे यथार्थरूप मे आत्मा का अभाव कर नही सकते। क्योकि जातिस्मृति, स्तनाभिलाप, जन्म-मरण करना—ये सब आत्म-सिद्धि के उपाय है। इन्हे अस्वीकार नही किया जा सकता।[1]

६४. न इधर के न उधर के (णो हव्वाए णो पाराए)

चूर्णिकार ने 'हव्व' का अर्थ गृहवास और 'पार' के चार अर्थ किए हैं—प्रव्रज्या-फल, पारलौकिक फल, स्वर्ग और मोक्ष।[2]

प्रव्रजित होकर भी जो हिंसा आदि मे प्रवृत्त होते हैं वे न गृहवास का ही सुख भोग पाते हैं और न प्रव्रज्या का ही आनन्द ले पाते है। वे दोनो ओर से अपने जीवन को गवा देते है।

६५. तज्जीवतच्छरीरवादी (तज्जीवतस्सरीरिए)

तज्जीव-तच्छरीरवाद की विशेष जानकारी के लिए देखे—सूयगडो १, १।११-१२, टिप्पण पृष्ठ २९-३१।

सूत्र २३ :

६६. पंचमहाभौतिक (पंचमहब्भूइए)

पाच महाभूत हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। ये त्रिकालवर्ती हैं इसलिए ये 'भूत' कहे जाते हैं और विश्व-व्यापी होने के कारण इन्हे महाभूत कहा गया है।[3] इनको माननेवाले पाच महाभौतिक कहलाते हैं। यहा पाच की सख्या नियामक है—न पाच से अधिक और न न्यून। 'सख्या ह्युपादीयमाना सख्यान्तर निवर्तयति'—इस न्याय से।[4]

वृत्तिकार ने इसके अन्तर्गत दो दर्शनो का ग्रहण किया है[5]—

१. साख्य—कुछ साख्य यह मानते हैं कि आत्मा मे इतना भी सामर्थ्य नही है कि वह एक तृण को भी मोड सके। प्रकृति भूतात्मिका है। उसी का सारा कर्त्तृत्व है।

२. लोकयतिक दर्शन, जो भूतो के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करता।

विशेष विवरण के लिए देखें—सूयगडो १, १।७, ८, १५, १६, टिप्पण पृष्ठ २६, ३४, ३५।

सूत्र २५ :

६७. क्रिया (किरिया)

चूर्णिकार ने क्रिया, कर्म, परिस्पन्द को एकार्थक माना है।[6]

वृत्तिकार ने परिस्पन्दनात्मक और चेष्टारूप प्रवृत्ति को क्रिया माना है।[7]

---

१. चूर्णि पृष्ठ ३१८ अथवा तेसिं लोगायतगाणं संसारो चेव णत्थि, किं पुण मोक्खो ? तेण न युक्तं यत्कुतो अप्पाणं समुच्छिंदिति ? उच्यते, केणापि प्रकारेणासद्भावनेनेत्यर्थ, स समुच्छेदो नाम विनाश अभावभवणमित्यर्थः, त एवं विप्रेलंभंतोऽप्यात्मन अभावं कर्तुंमसमर्था, कथं ? तदुक्तं—'जातिस्मरणात् स्तनाभिलाषात् पूर्वापरगमनागमनादित्येवमादिभि।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३१८,३१९ गिहिवासो जहा हव्विंवि, तान् रूवान् विघ्न, पारं प्रव्रज्या फल वा पारलौकिकं वा सग्गो मोक्षो वा।

३ वृत्ति, पत्र १८ पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, तेषां च सर्वव्यापितयाऽभ्युपगमात् महत्त्वम्।

४. वृत्ति, पत्र १८ संख्या ह्युपादीयमाना सख्यान्तरं निवर्तयती' तिकृत्वा न न्यूनानि नाप्यधिकानि।

५. वृत्ति, पत्र १८ पञ्चभि (भूतै) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यैश्चरति पञ्चभूतिका पञ्च वा भूतानि अभ्युपगमद्वारेण विद्यन्ते यस्य स पञ्चभूतिक ......स च सांख्यमतावलम्बी आत्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसामर्थ्याभ्युपगमात् भूतात्मिकायाश्च प्रकृते सर्वत्र कर्त्तृत्वाभ्युपगमात् द्रष्टव्यो, लोकायत-मतावलम्बी वा नास्तिको भूतव्यतिरिक्तनास्तित्वाभ्युपगमादाख्यायते।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३१९ क्रिया कर्म्म परिस्पन्द इत्यनर्थान्तरं।

७. वृत्ति, पत्र १८ क्रिया—परिस्पन्दात्मिका चेष्टारूपा।

६८. अक्रिया (अकिरिया)

चूर्णिकार ने अक्रिया, अनारंभ, अवीर्य, अपरिस्पन्द—को एकार्थक माना है ।[१]

वृत्ति मे अप्रवृत्ति और स्थिति को अक्रिया कहा है ।[२]

६९. सिद्धि (सिद्धि)

इसके दो अर्थ हैं[३]—

१ यथेष्ट अर्थ की प्राप्ति ।

२ निर्वाण ।

७०. (इह खलु पंचमहब्भूया ···तणमायमवि)

चूर्णिकार ने इस सूत्र की व्याख्या केवल साख्य दर्शन के अनुसार की है[४]—

'प्रश्न होता है कि पाचो भूत अचेतन हैं, फिर वे क्रिया करने मे कैसे समर्थ हो सकते है ?

भूत जब सत्त्व, रज और तमोगुण से अधिष्ठित होते हैं तब उनमे क्रिया करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है । इसे प्रधान और अव्यक्त भी कहा जाता है । क्रिया का तात्पर्य है—रज-बहुलता और अक्रिया का तात्पर्य है—तम-बहुलता । तम महान् आवरण है । जितनी भी प्रशस्त, कल्याणकारी और सुकृत क्रियाए होती हैं, वे सब सत्त्व गुण के कारण होती है । तम गुण की प्रधानता मे दुष्कृत होते है । रज और तमगुण के अभाव मे पुरुष एक तिनके को भी टेढा नही कर सकता । कर्तृत्व इन गुणो का है । पुरुषमात्र उनका फलभोक्ता है । पुरुष के योग से अचेतन प्रकृति भी चेतन की तरह अवभासित होती है । वह प्रकृति का गुण नही है । वह कर्तृत्व के प्रति उदासीन रहता है ।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या साख्य और लोकायत दर्शन—दोनो के अनुसार की है ।[५]

साख्यदर्शन विषयक दृष्टिकोण लगभग चूर्णि के सदृश है । लोकायत दर्शन के अनुसार—

इसी जीवन मे जो सुखानुभूति होती है वह स्वर्ग और जो कष्टानुभूति होती है वह नरक है । इन सबका साधन है—पचभूत । ऐसा कहा जा सकता है कि तृणमात्र कार्य भी भूतो के विना नही होता । वे ही इसके साधक है ।[६]

लोकायतिक आत्मा का सर्वथा अभाव मानते हैं और भूतो को ही सब कार्य करने मे समर्थ स्वीकार करते हैं ।[७]

सूत्र २६ :

७१. पृथक्-पृथक् नामों से (पदोद्देसेण)

पूर्ववर्ती सूत्रो मे पचमहाभूत का उल्लेख मिलता है किन्तु वहा उनका नाम-निर्देश नही है । प्रस्तुत सूत्र मे पचमहाभूतो के

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१९ अक्रिया अनारंभ अवीर्यं अपरिस्पन्द इत्यनर्थान्तर ।

२ वृत्ति, पत्र १८ अक्रिया वा—निर्व्यापाररूपतया स्थितिरूपा ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३१९ ईप्सितार्थनिष्ठाना सिद्धिविषय ······निर्वाणं वा सिद्धि ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८ ईप्सितार्थनिष्ठानं सिद्धिविपर्ययस्त्वसिद्धि निर्वाणं वा सिद्धि ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३१९ स्यात्कथं महाभूतान्यचेतनानि क्रियाकर्म्म कुर्वते ? उच्यते, सत्त्वरजस्तमोभि प्रधानगुणैरधिष्ठितानि कर्म कुर्वते, उक्तं च "सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज । गुरुवरणकमेव तम" इत्यादि सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति , प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरं, तत्र रजोबाहुल्या क्रिया भवंति, तमस्तु गुर्वावरणकं चेति कृत्वा अक्रिया भवति, सत्त्वबाहुल्यात् सुकडं रजस्तमोबाहुल्यात् दुक्कडं, एवमन्यान्यपि कल्याणसाधुसिद्धिनरकादीणि अ०, प्रशस्तानि सत्त्वबाहुल्यात्, रजस्तमो न यदि स्यात् अवि अंतशो तृणस्य कुब्जीकरणेऽपि पुरुषोऽनीश्वर , गुणकृतं फलं भुक्ते, उक्त हि—

'तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदवभाति ।

लिंगं त्वप्रकृतिगुणं कर्तृत्वे च भवत्युदासीन ।।

५. वृत्ति, पत्र १८ सांप्रतं साख्यस्य लोकायतिकस्य चाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—'इह'···· '' ।

६. वही, पत्र १८ लोकायताभिप्रायेणापीहैव तथाविधसुखदु खावस्थाने स्वर्गनरकावितीत्येवमन्तशस्तृणमात्रमपि यत्कार्यं तद्भूतैरेव प्रधानरूपापन्नैः क्रियते ।

७. वही, पृष्ठ १८ लोकायतिकाभिप्रायेण त्वात्मन एवाभावाद् भूतान्येव सर्वकार्यकर्तृणीत्येवमभ्युपगम ।

नामो का निर्देश है। 'पदोद्देसेणं' इस पाठ के द्वारा उसकी सूचना दी गई है। प्रत्येक भूत का पद-विशेष के द्वारा नाम-निर्देश किया गया है।[1]

७२. अनिर्मित, अनिर्मापित (अणिम्मिया अणिम्माविया)

ये पाच महाभूत काल, ईश्वर आदि के द्वारा निर्मित—निष्पादित नही हैं।

ये किसी के द्वारा निर्मापित—बनाए जाने के योग्य भी नहीं हैं।[2]

७३. अकृतक (णो कडगा)

ये पाचो महाभूत विस्रसापरिणाम से निष्पन्न होते है। ये स्वाभाविक होते हैं। इनको कृतक—किए हुए नही कहा जा सकता, क्योकि इनमे पर-व्यापार का अभाव होता है।[3]

७४. अवन्ध्य (अवंझा)

वन्ध्य का अर्थ है—शून्य। ये पचभूत वन्ध्य नही हैं—अपने कार्य को निश्चित रूप मे निष्पन्न करने वाले हैं।[4]

७५. अपुरोहित (दूसरे द्वारा अप्रवर्तित) (अपुरोहिता)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) पाच महाभूतो मे सभी स्वतन्त्र हैं। उनका कोई स्वामी नही है। पुरुषार्थ मे उनकी स्वत प्रवृत्ति होती हैं।

(२) उनमे न कोई गौण होता है और न कोई मुख्य। वे सभी अपने-अपने विषय मे बलवान् होते है।[5]

वृत्तिकार के अनुसार इनको कार्य के प्रति प्रवर्तित करने वाला कोई नही होता, इसलिए ये अपुरोहित हैं।[6]

७६. स्वतंत्र (सतंता)

जो अपना कार्य करने मे पर-निरपेक्ष होता है, वह स्वतन्त्र कहलाता है।[7]

चूर्णि मे इसके स्थान पर 'सकत्तता' पाठ निर्दिष्ट है।[8]

सूत्र २७ :

७७. आत्मा को छठा मानने वाले (आयछट्ठा)

प्रस्तुत आगम के १।१५।१६ मे आत्मपष्ठवाद का उल्लेख हुआ है। जो पाचभूतो के अतिरिक्त आत्मा को भी मानते हैं, वे आत्मपष्ठवादी कहलाते है। आत्म-पष्ठवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की दूसरी शाखा है। पहली शाखा है—पच महाभूतवाद।

देखें—सूयगडो १, १।१५,१६ का टिप्पण पृष्ठ ३४-३५।

सूत्र ३२ :

७८. ईश्वर-कारणिक (ईसरकारणिए)

कुछ दार्शनिक चेतन और अचेतनरूप जगत् का कारण ईश्वर मानते हैं। वे ईश्वर-कारणिक कहलाते हैं। प्रस्तुत सात सूत्रो (३२ से ३८) मे उनका वर्णन है।

विशेष विवरण के लिए देखे—सूयगडो १, १।६५ का टिप्पण पृष्ठ ६०-६५।

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३१६ पदउद्देसेण पदानामुद्देश पदैर्वा पञ्चभिरुपदेशात्।

२ वृत्ति, पत्र १६ अपरेण कालेश्वरादिना केनचिदनिर्मितानि—अनिष्पादितानि तथा परेणानिर्मापयितव्यानि।

३. वृत्ति पत्र १६ परव्यापाराभावतया नैव कृतकानि, अपेक्षित परव्यापार स्वभावनिष्पत्तौ भाव. कृतक इति व्यपदिश्यते, तानि च विस्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्कृतकव्यपदेशभाञ्जि न भवन्ति।

४. वृत्ति, पत्र अवन्ध्यानि—अवश्यकार्यकर्तृणि।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३२० : न तेषा कश्चित् स्वामी प्रवर्त्तते इत्यत अपुरोहिता, पुरुषार्थे तु स्वत प्रवृत्तिरेषा, आह हि—वत्सविवृद्धिनिवृत्तं क्षीरस्य' यथा, अथवा नैवैषां कश्चिदेकं इन्द्रियाणामिव चक्षु प्रधानं, स्वविषयबलवन्ति हि भूतानि।

६. वृत्ति पत्र १६ न विद्यते पुरोहित —कार्यं प्रति प्रवर्तयिता येषां तान्यपुरोहितानि।

७ वृत्ति पत्र १६ स्वतत्राणि स्वकार्यकर्तृत्वे प्रत्ययपरनिरपेक्षाणि।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३२० सकत्तता नाम स्वकतभाव स्वकतत्तं।

सूत्र ३४ :

७९. ईश्वर कारण है (पुरिसादिया)

वृत्तिकार ने पुरुष का अर्थ—ईश्वर या आत्मा किया है।[1] किन्तु प्रस्तुत प्रसग ईश्वरकारणिकवाद का है, इसलिए यहा पुरुष का अर्थ 'ईश्वर' ही अभिप्रेत है। पुरुष ही सब धर्मों का आदि-कारण है। 'पुरिसादिया' का अर्थ है—ईश्वरकारणिक।

८०. ईश्वर उनका कार्य है (पुरिसोत्तरिया)

वृत्तिकार ने 'उत्तर' का अर्थ कार्य किया है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष ही चेतन-अचेतन पदार्थ के रूप मे अपने आपको फैलाता है। जगत् के कारण रूप मे भी वही है और कार्यरूप मे भी वही है। जगत् का आदि-विन्दु भी वही है और उसका उत्तर-विन्दु (भविष्य) भी वही है।

८१. ईश्वर में अभिसमन्वागत हैं (पुरिसअभिसमण्णागता)

सभी धर्म ईश्वर मे अभि-समन्वागत है। इसका तात्पर्य यह है कि जन्म, जरा, मरण, व्याधि, रोग, शोक, सुख-दु ख, जीवन आदि जो जीवो के धर्म है तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श जो मूर्त अजीव द्रव्यो के धर्म हैं तथा गति, स्थिति, अवकाश आदि जो अमूर्त अजीव द्रव्यो के धर्म हैं—ये सब धर्म ईश्वरकृत है।[3]

८२. (गंडे ···· ··उदगबुब्बुए)

प्रस्तुत सूत्र मे गड (व्रण) आदि के द्रष्टान्त से यह बताने का प्रयास किया गया है कि जैसे व्रण शरीर का ही एक अवयव बन जाता है, उसी मे बढता है और उसी मे व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सारे धर्म ईश्वर के ही अग है, उसी मे व्याप्त है। जैसे उस व्रण को शरीर से पृथग् दिखाने मे हम असमर्थ है वैसे ही ये चेतन-अचेतन रूप धर्म ईश्वर से पृथक् नही किए जा सकते।[4]

इसी प्रकार प्रस्तुत विषय पर सूत्रकार ने अरति, वल्मीक, वृक्ष, पुष्करिणी, उदक-पुष्कर, उदग-बुद्बुद के उदाहरण प्रस्तुत किए है।

अरति—मेद का रोग। निशीथ ३।३४-३९ मे 'अरइय' शब्द आया है। उसका यही अर्थ है। वह पकता नही। वह केवल गाठ के रूप मे ही रहता है।[5] आप्टे की डिक्शनरी मे अरति के अनेक अर्थ किए है। उनमे एक अर्थ है Bilious disease पित्तज बीमारी।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चित्त का उद्वेग किया है।[6] प्रस्तुत प्रकरण मे यह अर्थ सगत नही है। इसका 'मेद' अर्थ ही सगत है।

उदक-पुष्कर—इसका अर्थ है—जल कमल।

वृत्तिकार ने पुष्कल का अर्थ प्रचुरता किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ होगा—उदक प्राचुर्य।[7]

---

१. वृत्ति, पत्र २२ पुरुष—ईश्वर आत्मा वा कारणमादिर्येषा ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा।

२. वृत्ति, पत्र २२ पुरुष एवोत्तर—कार्यं येषां ते पुरुषोत्तरा।

३. वृत्ति, पत्र २२ ते च धर्मा जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोगशोकसुखदु खजीवनादिका अजीवधर्मास्तु मूर्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शा अमूर्तिमतां च धर्माधर्माकाशानां गत्यादिका धर्मा।

४ वृत्ति, पत्र २२ सभाव्यते च शरीरिणां संसारान्तर्गताना कर्मवशगाना गण्डादिसमुद्भव, तच्च शरीरे जातं शरीरावयवभूत, तथा शरीरे वृद्धिमुपगतं—शरीराभिवृद्धौ च तस्याभिवृद्धि, तथा शरीरेऽभिसमन्वागतं—शरीरमाभिमुख्येन व्याप्य व्यवस्थितं, न तदवयवोऽपि शरीरात्पृथग्भूत इति भाव तथा शरीरमेवाभिभूय—आभिमुख्येन पीडयित्वा तिष्ठति, यदि या तदुपशमे शरीरमेवाश्रित्य तद्गण्ड तिष्ठति न शरीराद्बहिर्भवति, एतदुक्तं भवति—यथा तत्पिटक शरीरैकदेशभूत न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितु शक्यते, एवमेवामी धर्मश्चेतनाचेतनारूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृका न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तु पार्यन्ते।

५. निशीथ चूर्णि, भाग २, पृष्ठ २१५ अरतित वा, अरतितो जं ण पच्चति।

६. वृत्ति, पत्र २२ यथा नामारति—चित्तोद्वेगलक्षणा।

७ वही, पत्र २३ पुष्कलं—प्रचुरमुदकपुष्कलम्—उदकप्राचुर्यम्।

सूत्र ३५ :

८३. व्यञ्जित (विअंजियं)

दशवैकालिक ८।४८ मे 'विअ' और 'जिअ' ये दो शब्द पृथक्-पृथक् माने गए है। मुनि को कैसी भाषा बोलनी चाहिए, इस प्रसग मे इनका कथन हुआ है। 'विअ' का अर्थ है—व्यक्त और 'जिय' का अर्थ है—परिचित।

प्रस्तुत सदर्भ मे 'विअजियं' व्यंजित के अर्थ मे प्रयुक्त है।[१]

८४. तज्जातीय दुःख का (तज्जातियं दुक्खं)

इसका अर्थ है—अपने अभिमत के आग्रह से होने वाला दुःख।

व्यक्ति मे पहले अपने अभिमत के प्रति मोह होता है। मोह से राग उत्पन्न होता है, अपने विद्वेपियो के प्रति द्वेप उत्पन्न होता है। राग-द्वेप और मोह—ये कर्म-बन्ध के कारण हैं। कर्म से ससार का सृजन होता है। संसार दुःख है। अतः अपने दर्शन के प्रति आग्रह रखने वाले वे व्यक्ति दुःखी होते है।[२]

सूत्र ३६ :

८५. नियतिवादी (णियतिवाइए)

कुछ दार्शनिक न क्रियावाद मे विश्वास करते है और न अक्रियावाद मे विश्वास करते है। उनका विश्वास है कि सब कुछ नियति करती है। प्रस्तुत नौ सूत्रो (३६ से ४७) मे नियतिवाद का वर्णन है।

विशेप विवरण के लिए देखें—सूयगडो १, १।२८-४० का टिप्पण पृष्ठ ४३, ४४।

सूत्र ४१ :

८६. वे दोनों पुरुष तुल्य हैं (दो वि ते पुरिसा तुल्ला)

पुरुप दो प्रकार के है—क्रियावादी और अक्रियावादी।

उनके अभिमत—क्रियावाद और अक्रियावाद—दोनो ही नियति के अधीन है, इसलिए क्रियावादी और अक्रियावादी दोनो मे कोई भेद नही किया जा सकता। वे दोनो एकार्थक हो जाते है, क्योकि उन दोनो का कारण एक है, और वह है नियति।[३]

८७. कारण को मानने वाले है (कारण मावण्णा)

प्रस्तुत प्रकरण मे 'कारण' शब्द का अनेक वार प्रयोग किया गया है। नियतिवादी दृष्टिकोण के संदर्भ मे इसका तात्पर्य होगा—नियति और पुरुपार्थवादी दृष्टिकोण के सदर्भ मे इसका तात्पर्य होगा—पुरुषार्थ। नियति और पुरुपार्थ—दोनो उनके अपने-अपने पक्ष की सिद्धि के हेतु वनते हैं।

सूत्र ४२ :

८८. (सूत्र ४२)

प्रस्तुत सूत्र मे अज्ञानी के सवेदन की विभिन्न अवस्थाओं के सूचक शब्दो का सकलन है। उनमे कुछेक की व्याख्या इस प्रकार है—

दुःखामि—शारीरिक और मानसिक दुःख से दुःखित।[४]

सोयामि—पत्नी, पुत्र आदि इष्ट के विप्रयोग तथा अनिष्ट के योग से होने वाला मानसिक दुःख।[५]

---

१. वृत्ति, पत्र २३ : व्यञ्जितं तेषामभिव्यक्तीकृतम्।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३२२ : त एव मोहा मोहिता सव्वं कुर्वन्ति, काउ तत्थेव ठवेंति, सुट्ठु ठवेंति, तेसिं एवं मोहा मोहितता, मोहा पुरिसस्स रागो भवति, तस्सिच्छाभावतो तद्विद्विट्ठेसु च द्वेष, रागद्वेषमोहाश्च कर्मबन्धहेतव., कर्मण. संसारो. तद्दुःखं च, तेनोच्यते—तमेव ते तज्जातीयं दुःखं नातिवर्त्तते।

३. वृत्ति, पत्र २५ क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रितौ तौ द्वावपि नियत्यधीनत्वात्तुल्यौ।

४. वृत्ति, पत्र २६ दुक्खामि त्ति शारीरं मानसं दुःखमनुभवामि।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३२३ : शोको इष्टदारापत्यादिविप्रयोगादि।

(ख) वृत्ति, पत्र २६ : शोचामि—इष्टानिष्टवियोगसंप्रयोगकृतं शोकमनुभवामि।

जूरामि—इसका अर्थ है—खेद करता हूं। 'खिद्' धातु को 'जूर' आदेश होता है।[1] सावद्य प्रवृत्ति मे सलग्न आत्मा की दुर्गति के प्रति मैं खेद कर रहा हूं।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—गर्हा करना किया है।[2]

तिप्पामि—इसका अर्थ है—शारीरिक बल से क्षीण होना। चूर्णिकार ने इसका अर्थ बाह्य और आभ्यन्तर दु ख-विशेष से दु खी होना किया है।[3]

सूत्र ४३ :

८९. मेधावी (मेहावी)

नियतिवादी की दृष्टि मे नियतिवाद को अस्वीकार करने वाला 'बाल' और नियतिवाद का समर्थन करने वाला 'मेधावी' होता है।

९०. (णो अहं एयमकासी……णो परो एयमकासी)

अकृत का कुछ भी फल नही होता। अत सब कुछ नियति द्वारा कृत है। यदि पुरुष ही कुछ करता तो वह अपनी इच्छानुसार सब कुछ सपन्न करता, किन्तु ऐसा नही होता। अत यह मानना ही सगत है कि नियति ही करती है, वही कारिका है। दूसरा जो कुछ सुख-दु ख का अनुभव करता है वह भी नियतिकृत ही होता है।[4]

नियतिवादी मानता है कि जो कुछ दु ख-सुख मेरे मे अभिव्यक्त हुआ है वह सब नियति से ही हुआ है। नियति ही इसका कारण है। यह सब पुरुषकारकृत नही है। किसी की आत्मा अनिष्ट नही है जो कि अनिष्ट दु ख आदि का उत्पादन करे। मनुष्य नही चाहते हुए भी दु ख-सुख का भागी है। यह सब नियति से ही होता है।[5]

सूत्र ४४ :

९१. (सूत्र ४४)

प्रस्तुत सूत्र मे जीव की चार अवस्थाओ का निरूपण किया गया है[6]—

१. सघात—शरीर के साथ संबंध स्थापित करना।

२. विपर्याय—बाल, कुमार, यौवन, स्थविर, वृद्ध आदि अवस्थाओ से गुजरना।

३. विवेक—शरीर से पृथक्भाव—मृत्यु प्राप्त करना।

४. विधान—कुब्ज, काना, लंगडा, वामन, जर्जरित, मरण, शोक, रोग आदि अवस्थाए प्राप्त करना।

विधान का अर्थ है—अवस्था-विशेष।

---

१. हेमचन्द्र, सिद्ध हेमशब्दानुशासन ८।४।१३२ : खिदेर्जूरविसूरौ।

२. वृत्ति, पत्र २६ : जूरामि त्ति अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि।

३. (क) वृत्ति, पत्र २६ : तिप्पामि त्ति शारीरबलं क्षरामि।
   (ख) चूर्णि, पृष्ठ ३२३ तप्पामि बाह्यैरभ्यन्तरैश्च दु खविशेषै।

४. चूर्णि, पृष्ठ १२३ …………णो एतमहमकासि, किन्तु णियती करेइ, न चाकृतं फलमस्तीत्यत णियती करेति, जति पुरिसो करेज्ज तेन सर्वमीप्सितं कुर्यात्, न चेदमस्तीति ततो नियती करेई, नियतिः कारिका, परोऽपि खलु ज दु खति वा णो परो एतमकासी, णियतीए त कृतं।

५. वृत्ति, पत्र २६ नाहमेवमकार्षं दु खम्, अपितु नियतित एवैतन्मय्यागतं, न पुरुषकाराविकृतं, यतो न हि कस्यचिदात्माऽनिष्टो येनानिष्टा दु खोत्पादादिका क्रिया समारभते, नित्यत्यैवासावनिच्छन्नपि तत्कार्यते येन दु खपरम्पराभाग्भवति।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३२३ संघातमागच्छंति, केण संघायमागच्छंति ? सरीरेण, परिजातबालकौमारयौवनमध्यमस्थविरान्त पर्यायभेद, परि आगा परिआगा', एवंविधेणेव शरीरेण बालादिपज्जवे विहिविवागोविधान, पृथक्करणमित्यर्थ।
   (ख) वृत्ति, पत्र २६ सर्वेऽप्येते नियतित एवौदारिकादिशरीरसंबन्धमागच्छन्ति, नान्येन केनचित्कर्मादिना शरीरं ग्राह्यन्ते, तथा बालकुमारयौवन-स्थविरवृद्धावस्थादिकं विविधपर्यायं नियतित एवानुभवन्ति, तथा नियतित एव 'विवेकं' शरीरात्पृथग्भावमनुभवन्ति, तथा नियतित एव विविधं विधानम्—अवस्थाविशेषं कुब्जकाणखञ्जवामनक-जरामरणरोगशोकादिकं बीभत्समागच्छन्ति।

चूर्णिकार ने विधान के अनेक अर्थ किए हैं[1]—

१. विधि-विपाक।

२. शरीर के साथ सघात, विविध पर्यायो (अवस्थाओ) मे सक्रमण, विवेक (शरीर से पृथक् भाव)—उनका विधान।

३. अपना किया हुआ कर्म।

४ जन्म, जरा, रोग, शोक, मरण आदि।

५ नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवयोनि मे उत्तम, अधम और मध्यम के रूप मे उत्पत्ति।

देवताओ मे इद्र, सामानिक आदि, तिर्यञ्च मे एकेन्द्रिय आदि, मनुष्यो मे सम्मूर्च्छिम, गर्भज आदि।

सूत्र ४६ :

६२. युक्ति-विरुद्ध धर्म को मानने वाले (विप्पडिवण्णा)

वृत्तिकार ने नियतिवाद की विप्रतिपत्ति बतलाते हुए लिखा है[2]—प्रश्न होता है कि क्या नियति अपने आप ही नियति स्वभाव वाली है या यह दूसरी नियति से नियन्त्रित होती है? यदि वह तथा स्वभाववाली है तो फिर सभी पदार्थों को तथा स्वभाव वाले मानने मे क्या बाधा है? नियति को मानने की आवश्यकता ही क्या है? यदि यह माना जाए कि नियति दूसरी नियति से नियन्त्रित है तो फिर दूसरी नियति, तीसरी नियति से और तीसरी नियति चौथी नियति से नियन्त्रित होगी। यह क्रम चलता रहेगा। और इसका कही भी अत नही आएगा। यहा अनवस्थादोष का प्रसग आ जाएगा।

यदि यह कहा जाए कि इस नियति का एक ही स्वभाव है, भिन्न-भिन्न स्वभाव नही है तो फिर उसका कार्य भी एकरूप ही होगा, भिन्न-भिन्न नही होगा। यदि ऐसा हो तो ससार मे जो वैचित्र्य देखा जाता है, वह नही हो पाएगा। हम जगत् मे वैचित्र्य का अनुभव करते हैं, जो प्रत्यक्ष दृष्ट है। इसलिए नियति यथार्थ नही है।

सूत्र ४६ :

६३. धर्म-श्रद्धा से व्याप्त हो (अभिभूय)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ परीषहो और उपसर्गों को पराजित करना माना है।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—इन्द्रिय विषयो, कषायो अथवा परीषहो को पराजित करना किया है।[4]

हमने इसका अर्थ—धर्म श्रद्धा से व्याप्त हो—किया है। प्रस्तुत प्रसंग मे यही अर्थ उचित है।

६४. (सतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं·········असतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं च)

प्रस्तुत प्रसग मे बताया गया है कि कुछ पुरुष ऐसे पराक्रमी या अनासक्त होते हैं कि वे अपने विद्यमान स्वजन, परिजन तथा प्रचुर ऐश्वर्य और सुख-सुविधा की सामग्री का त्याग कर मुनिचर्या के लिए उपस्थित हो जाते हैं।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३२३, ३२४ : विहिविवागोविधानं, पृथक्करणमित्यर्थ, त एवं विधो विधिविधानं, तच्चेवं—संघातपरियागविवागा विधानं, स्वकृतं वा कर्म्मविधानं, जन्मजरारोगशोकमरणानि वा, नरकतिर्यक्मनुष्यदेवेषु उत्तमाधममध्यमा-विशेषा, विशेषेणाह—इन्द्रसामानिक-त्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षकलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिका दशविधा., तिर्यक्षु चेकेन्द्रियादय, पण्णवणापदे जहा मणुस्सेसु संमुच्छिमा गब्भवक्कंतिआ वा अण्णे वा गता।

२. वृत्ति, पत्र २७ असौ नियति किं स्वत एव नियतिस्वभावा उतान्यया नियत्या नियम्यते? किं चात?; तत्र यद्यसौ स्वयमेव तथास्वभावा सर्वपदार्थानामेव तथास्वभावत्वं किं न कल्प्यते? किं बहुदोषया नियत्या समाश्रितया?; अथान्यया नियत्या तथा नियम्यते, साऽप्यन्यया साऽप्यन्ययैवमनवस्था। तथा नियते स्वभावत्वान्नियतस्वभावयाऽनया भवितव्यं न नानास्वभावयेति एकत्वाच्च नियतेस्तत्कार्येणाप्येकाकारेणैव भवितव्यं, तथा च सति जगद्वैचित्र्याभाव, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३२५ : अभिभूय, किं? परीसहोवसग्गे।

४. चूर्णि, पृष्ठ २६ : अभिभूय च विषयकषायादीन् परीषहोपसर्गान् वा।

कुछ व्यक्तियो के न कोई स्वजन-परिजन होते है और न उनके पास ऐश्वर्य होता है, फिर भी वे मुनिचर्या के लिए उपस्थित हो जाते हैं।[1]

६५. मुनि-चर्या के लिए (भिक्खायरियाए)

भिक्षाचर्या मुनि-चर्या का वाचक है। इसका अर्थ—धर्म और प्रव्रज्या भी है।[2]

प्रस्तुत सूत्र मे चूर्णिकार ने यह उल्लेख किया है कि जिनशासन मे जैसे आर्य, उच्चगोत्र वाले, महाकायवाले, सुवर्ण और सुरूप प्रव्रजित होते हैं, वैसे ही अनार्य, नीचगोत्रवाले, वामन, दुवर्ण और दुरूप भी प्रव्रजित होते हैं। अनार्य जैसे—आर्द्रकुमार, नीचगोत्र जैसे हरिकेशबल, वामन जैसे अतिमुक्तक मुनि, दुरूप-दुवर्ण जैसे हरिकेशबल। चूर्णिकार ने यह भी संकेत दिया है कि वर्तमान मे नीचगोत्र वालो को छोडकर सभी प्रव्रजित किए जाते हैं।

इस उल्लेख द्वारा चूर्णिकार ने अतीत की परपरा तथा वर्तमान की परम्परा—दोनो का निदर्शन किया है। इससे फलित होता है कि चूर्णिकार के समय मे, नीचगोत्र मे उत्पन्न व्यक्ति को दीक्षित करने की प्राचीन परपरा होने पर भी, वर्तमान के सामाजिक प्रभाव के कारण, उसे दीक्षित करने की वर्जना हो गई।

चूर्णिकार ने यह संकेत भी दिया है कि नीचगोत्र मे उत्पन्न व्यक्ति को अन्य देश या अपरिचित देश मे प्रव्रजित किया जा सकता है, केवल हरिकेश जाति को प्रव्रजित नही किया जाता।[3]

सूत्र ५० :

६६. दूसरी-दूसरी वस्तुओं को (अण्णमण्णं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अनेक प्रकार का किया है।[4]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—दूसरी वस्तुओ को उद्दिष्ट कर।[5]

६७. (खेत्तं मे..........कामभोगा)

प्रस्तुत प्रसग मे व्यक्ति के काम मे आनेवाली अनेक वस्तुओ का उल्लेख है। उनकी सामुदायिक संज्ञा है—कामभोग। कुछेक शब्दो की व्याख्या इस प्रकार है—

उपकरण—कामभोग के लिए उपकारी वस्तुए—हिरण्य, सुवर्ण, क्षेत्र, वास्तु आदि। घट, पट, शकट आदि।[6]

हिरण्य—हिरण्य के अनेक अर्थ हैं—स्वर्ण, आभूषण, चादी, कोई भी मूल्यवान् धातु, ऐश्वर्य आदि।[7]

सुवर्ण—स्वर्ण का अर्थ है—सोना। जो सोना मूल रूप मे है, जो आभूषणो मे परिवर्तित नही हुआ है वह स्वर्ण कहलाता है।[8]

आप्टे डिक्शनरी मे इसका एक अर्थ—सोने का सिक्का भी किया है।[9]

धन—यह पशुधन का वाचक शब्द है।[10] राजस्थानी भाषा मे आज भी पशुओ को 'धन' कहा जाता है।

---

१. वृत्ति, पत्र २९-३०।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३२५ धम्मे पव्वज्जाए य।

३. वही, पृष्ठ ३२५ : अणारियावि पव्वयंति, जहा अद्दयो वक्ष्यमाण, णीयागोत्तावि जहा हरिएसबलो, ह्रस्ववन्तो जहा अतिमुत्तो वामणा वा, दुवण्णरूवेसु सो चेव हरिएसबलो, अण्णो वा जो कोई दुवण्णरूवो, संपतंपि णियागोतवज्जा पव्वाविज्जंति, अण्णदेसे वा हरिएसवज्जा, दुरूवदुवण्णा पुण अव्यंगसरीरा सदोसावि पव्वाविज्जति चेव।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३२६ अण्णं च अण्णं च अण्णमण्णं, अनेकप्रकारमित्यर्थ अन्यच्चान्यच्च अण्णमण्ण।

५. वृत्ति, पत्र ३० : अन्यवन्यद्वस्तूद्दिश्य।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३२५ : कामभोगोवकारी उवकरणं ताणि चेव खेत्तवत्थुहिरण्णसुवण्णादीणि च।
.......उवकरणं च उपकरोतीत्युपकरणं घटपटशकटादि।

७. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

८. वृत्ति, पत्र ३० : सुवर्ण—कनकं (अघटितरूप्यसुवर्णमितिपर्यायः—प्राचीनपुस्तके)।

९. आप्टे, संस्कृतइंग्लिश डिक्शनरी।
स्वर्णम्.......(1) Gold (2) Golden Coin

१०. वृत्ति, पत्र २३० : 'धनं' गोमहिष्यादिकम्।

शख—शख का एक अर्थ सुगधित द्रव्य भी है। मराठी मे उस द्रव्य को 'नखी' कहते है।[1]

शिला-प्रवाल—शिला का अर्थ है—लाजावर्तक और प्रवाल का अर्थ है—मूगा।

वृत्तिकार ने मुख्य रूप से 'शिला' और 'प्रवाल' को भिन्न-भिन्न शब्द मानकर शिला का अर्थ—पर्वत मे विच्छिन्न पत्थर का टुकडा और प्रवाल का अर्थ विद्रुम किया है।

उन्होने वैकल्पिक रूप मे इसको एक शब्द मानकर इसका सस्कृत रूप 'श्रीप्रवाल' दिया है। उसका अर्थ है—वर्ण आदि से युक्त प्रवाल।[2]

सत्-सार—सत् का अर्थ है—श्रेष्ठ वस्तु।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे 'सार' वर्ग है। उसके अन्तर्गत चदन, अगरु, कोलायक (काष्ठ विशेष) तैलपर्णिक (गध वृक्ष) और भद्रश्री आदि गंधद्रव्यो का ग्रहण किया गया है।[3]

९८. रोग और आतंक (रोगातंके)

रोग का अर्थ है—ज्वर, सिरदर्द आदि। आतक का अर्थ है—शीघ्रघाति रोग—शूल आदि।[4]

दीर्घकाल स्थायी व्याधि को रोग और सद्य.घाती व्याधि को आतक कहा जाता है।[5]

९९. मन को नहीं भाने वाला (अमणामे)

वृत्तिकार ने इसका सस्कृत रूप 'अवनाम' दिया है। इसका अर्थ है—विशेप पीडाकारी, दु खरूप। उन्होने इस शब्द को तोड-कर दो शब्द—'अमनाक्', 'मे'—दिए हैं। 'अमवाक्' का अर्थ है—निरन्तर और 'मे' का अर्थ है 'मेरा'।[6]

वृत्तिकार द्वारा दिए गए ये सस्कृत रूप बौद्धिक प्रतीत होते हैं। वास्तव मे 'मणाम' देशी शब्द होना चाहिए। 'मन. आप' यह इसका अर्थसूचक सस्कृत रूप है।

चूर्णिकार ने इसका सस्कृत रूप 'मनोम.' किया है। मनसो मत मनोम:। यह मनाम शब्द के बहुत निकट है।[7]

१००. (एवमेव णो लद्धपुव्वं भवति)

वह दु खी व्यक्ति चाहता है कि नाना प्रकार का परिग्रह या कामभोग उसे दु ख मे मुक्त करदे। पर उसके चाहने मात्र से वैसा नही होता। क्षेत्र आदि परिग्रह तथा शब्द आदि कामभोग उस दु खी व्यक्ति को दु ख से मुक्त नही कर पाते।[8]

१०१. कभी पुरुष……छोड़ देते हैं (पुरिसे वा एगया……पुरिसं विप्पजहंति)

कभी पुरुष कामभोगो को पहले ही छोड देता है और कभी कामभोग पुरुप को पहले ही छोड देते हैं।

रोग के उत्पन्न होने पर, बुढापे से जीर्ण होने पर या राजा आदि के द्वारा उपद्रुत होने पर व्यक्ति सभी पदार्थो को छोड देता है, क्योकि वह उनका उपभोग करने मे असमर्थ हो जाता है। उसकी शारीरिक असमर्थता तथा राजा आदि के द्वारा उत्पादित परिस्थिति के कारण वह उन सब पदार्थो को छोड देता है।

पुरुप कामभोगो को भोगने की लालसा से युक्त है। शारीरिक सामर्थ्य भी है। विपयोन्मुखता भी प्रबल है। किन्तु धन के अभाव में या अन्यान्य परिस्थिति के कारण वे पदार्थ उसे उपलब्ध नही होते। वह उन्हे नही भोग पाता। इस अर्थ मे वे कामभोग उस

---

१ आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

२. वृत्ति, पत्र ३० : मुक्तशैलादिकाः शिला, 'प्रवालं'—विद्रुम यदि वा—सिलप्पवालं ति श्रिया युक्तं प्रवालं श्रीप्रवालं वर्णादिगु-णोपेतम्।

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पुटक ८७, प्रघट्टक ३।

४. वृत्ति, पत्र ३० शिरोवेदनादिकं आतङ्को वाऽऽशुजीवितापहारी शूलादिक।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३२६ रोगातके, विदूणमासासो, पुण वातिओ वा पेत्तिअसिमियसंणिवाइय……दीर्घकालस्थायी रोग, सज्जोघाती आतंक।

६. वृत्ति, पत्र ३० अवनामयतीत्यवनाम —पीडाविशेषकारी दु खरूपो यदि वा न मनागमनाक्, 'मे' मम नितरामित्यर्थ'।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३२६. मनसो मत. मनोम.।

८. वृत्ति, पत्र ३०।

पुरुष को पहले ही छोड देते हैं ।[1]

प्रस्तुत प्रसंग मे 'कामभोग' शब्द व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त है। इसके द्वारा चल-अचल सभी प्रकार के परिग्रह और एकेन्द्रिय विषयो का परिग्रह किया है।

तुलना—जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा ण एगया णियगा त पुव्विं परिहरति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा—आयारो, २/२०।

सूत्र ५१ :

१०२. किसी दूसरे का दुःख कोई दूसरा नहीं लेता (अण्णस्स दुक्ख अण्णो णो परियाइयइ)

जैन दर्शन का यह निश्चित अभिमत है कि जो करता है वही भरता है। जो जैसा बोता है उसी के अनुरूप उसे फल मिलता है। व्यक्ति चाहे किसी के लिए कुछ भी पाप करे, उसका परिणाम उसे ही भोगना पडता है। कोई भी उस पाप के परिणाम का हिस्सा नही बटाता। इसकी पुष्टि इसी सूत्र की आगे प्रयुक्त शब्दावली—'पत्तेयं जायइ, पत्तेय मरइ'—आदि मे है।

जितने भी ससार मे छोटे-बडे प्राणी हैं वे सब अपने-अपने कर्म के विपाक से सुख-दु ख का अनुभव करते है। दूसरे का दु ख दूसरा नही बटा सकता। माता, पिता या स्वजन-बन्धु अपने सम्बन्धियो के असह्य दु ख से पीडित अवश्य होते है, किन्तु वे उस दु ख का विभाग नही ले सकते। दु ख उसी को भोगना होता है, जिसने उन दु खो को पैदा किया है।[2]

१०३. किसी दूसरे के कृत का कोई दूसरा प्रतिसंवेदन नहीं करता (अण्णेण कतं अण्णो णो पडिसंवेदेइ)

दूसरे व्यक्ति के द्वारा सपादित कर्म का कोई दूसरा प्रतिसवेदन नही करता।

कोई प्राणी कषाय के वशीभूत होकर या भोग की अभिलाषा से या अज्ञानवश या मोह के प्रबल उदय से कर्म उपार्जित करता है। उन कर्मो के उदय का अनुभव उसी प्राणी को करना होता है। उन कर्मो का कटु परिणाम उसे ही भुगतना पडता है। दूसरा उस कर्म का अनुभव करता है तो 'अकृत-आगम' अर्थात् बिना किए का उपभोग करना पडता है। यह जैन परम्परा मे मान्य नही है। तथा साथ ही साथ जिसने किया उसने फल नही भोगा—यह 'कृत-नाश' नाम का दोष भी उत्पन्न होता है। अत जो करता है, उसे ही भोगना पडता है—यही जैन दर्शन की मान्यता है।

इसीलिए कहा है— **'परकृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा ।**
तस्मात् सत्त्वानां कर्म, यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥

—दूसरे द्वारा किए गए कर्म मे न सक्रमण होता है और न उसका विभाग होता है। इसलिए जिसने जो कर्म किया है, उसको उसका परिणाम भुगतना ही पडेगा।[3]

१०४. अकेला च्युत होता है, अकेला उपपन्न होता है (पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने चयइ—च्यवन का अर्थ—छोडना स्वीकार किया है। प्रत्येक व्यक्ति क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह तथा, शब्द, रूप आदि इन्द्रिय विषयो तथा माता, पिता, पत्नि आदि सबधियो को छोडता है।

उन्होने 'उपपद्यते' का अर्थ—परिग्रह स्वीकार करते हैं—किया है। किंतु ये अर्थ प्रासगिक नही है। इनके साथ दो क्रिया पद और हैं—जायइ और मरइ।[4]

---

१. वृत्ति, पत्र ३१ : 'पुरिसो वा' इत्यादि पुरि शयनात् पुरुषः-प्राणी, 'एकदा' व्याध्युत्पत्तिकाले जराजीर्णकाले वाऽन्यस्मिन्वा राजाद्युपद्रवे, 'तान्'—कामभोगान् परित्यजति, स वा पुरुषो द्रव्याद्यभावे तैः कामभोगैर्विषयोन्मुखोऽपि त्यज्यते ।

२. वृत्ति, पत्र ३१ : सर्वस्यैव संसारोदरविवरवर्तिनोऽसुमतः स्वकृतकर्मोदयाद् यद् दुःखमुत्पद्यते, तदन्यस्य संबन्धि दुःखमन्यो मातापित्रादिक कोऽपि न प्रत्यापिबति, न तस्मात्पुत्रादेर्दुःखेनासह्येनात्यन्तपीडिता, स्वजना नापि तद्दु खमात्मनि कर्तुमलम् ।

३. वृत्ति, पत्र ३१ . 'अन्येन' जन्तुना कषायवशगेन इन्द्रियानुकूलतया भोगाऽभिलाषिणाऽज्ञानावृतेन मोहोदयवर्तिना यत्कृतं कर्म तदुदयमन्य प्राणी नो प्रतिसंवेदयति—नानुभवति, तदनुभवने ह्यकृतागमकृतनाशौ स्यातां, न चेमौ युक्तिसगतौ अतो यद्येन कृतं तत्सर्वं स एवानुभवति, तथा चोक्तम् ''''''' '''परकृतकर्मणि ।

४. (क) चूर्णि, पृ० ३२७ : पत्तेयं त्यजति उपपद्यते ।
(ख) वृत्ति, पत्र ३१ : प्रत्येकं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णादिकं परिग्रहं शब्दादींश्च विषयान् मातापितृकलत्रादिकं च त्यजति, तथा प्रत्येकमुपपद्यते—युज्यते परिग्रहस्वीकरणतया ।

जायइ और मरइ—ये दोनो क्रियापद मनुष्य और तिर्यञ्च के जन्म और मृत्यु के सूचक हैं। चयइ और उववज्जइ—ये दो क्रियापद देवो के जन्म और मरण के सूचक है। च्यवन का अर्थ है—ऊपर से च्युत होकर नीचे आना और उपपात का अर्थ है—गर्भ की प्रक्रिया के विना जन्म-धारण करना।

१०५. (पत्तेयं झंझा……पत्तेयं वेदणा)

प्रस्तुत प्रसग मे पाच महत्त्वपूर्ण शब्दो का उल्लेख हुआ है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

झंझा—इसका अर्थ है कलह। वृत्तिकार ने कलह के उपादान कारणभूत कपायो को भी ग्रहण किया है। उनका कहना है कि कपायो का मन्द, तीव्र उदय भी अपना-अपना होता है। सवका समान नही होता।[1]

सन्ना—इसका अर्थ है—जानना, पदार्थों का परिज्ञान। यह भी किसी प्राणी मे मन्द, किसी में मन्दतर, किसी में पटुतर होता है। जव तक प्राणी सर्वज्ञ नही हो जाता तव तक उसका सारा ज्ञान तारतम्य-युक्त होता है। पूर्णज्ञान होने पर ही यह तरतमता मिटती है।[2]

मनन—मनन भी अपना-अपना होता है। मनन, चिंतन, पर्यालोचन—ये सव समान नही होते।[3]

विन्नान—इसका अर्थ है—विशिष्ट रूप से जानना। वृत्तिकार ने इसका अर्थ विद्वान् किया है।[4]

वेदना—इसका अर्थ है—सवेदन या अनुभव। सातवेदनीय कर्म और असातवेदनीय कर्म—ये दोनो सुख-दुःख के सवेदन मे निमित्त वनते हैं।[5]

विशेष विवरण के लिए देखें—ठाण १।२९-३२ का टिप्पण, पृष्ठ २२, २३।

१०६. क. त्राण……शरण (ताणाए……सरणाए)

त्राण देने का अर्थ है—वर्तमान कष्टो से उवारना और शरण देने का अर्थ है—भविष्य मे सरक्षण देना।[6]

१०६. ख. कभी पुरुष……छोड़ देते हैं (पुरिसे वा एगया……पुरिसं विप्पजहंति)

कभी-कभी व्यक्ति क्रोध आदि आवेगो के वशीभूत होकर या वैराग्य के कारण अपने ज्ञातिजनो के सम्बन्धो को छोड देता है।

कभी ऐसा भी होता है कि ज्ञातिजन उस पुरुष के असदाचरण को देखकर उससे सम्वन्ध-विच्छेद कर लेते है। जैसे अट्टण मल्ल परिवार-जनो द्वारा छोड दिया गया।[7]

१०७. (सूत्र ५१)

जैन दर्शन मे सत्य की व्याख्या दो नयो से की गई है। निश्चय नय के द्वारा सूक्ष्म सत्य व्याख्यात होता है और व्यवहार नय के द्वारा स्थूल सत्य व्याख्यात होता है। भारतीय दर्शन या अध्यात्म से व्यक्तिवादी दृष्टिकोण निर्मित होता है—यह एक चिन्तन है। इसे सर्वथा अवास्तविक भी नही कहा जा सकता। प्रस्तुत सूत्र इसका स्वयंभू साक्ष्य है। जन्म, मृत्यु, रोग, आतक और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति—ये सव वास्तविकताए हैं। इन वास्तविकताओ का वोध जव होता है तव सहज ही मनुष्य को अपने वैयक्तिक अस्तित्व

---

१. वृत्ति, पत्र ३१ झंझा—कलहस्तद्ग्रहणात् कपायाः परिगृह्यन्ते, तत प्रत्येकमेवासुमतां मन्दतीव्रतया कपायोद्भवो भवति।

२. वही, पत्र ३१ सज्ञान संज्ञा—पदार्थपरिच्छित्ति, साऽपि मन्दमन्दतरपटुतरभेदात् प्रत्येकमेवोपजायते, सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितत्वात्।

३. वही, पत्र ३१,३२ मननं—चिन्तनं पर्यालोचनमिति यावत्।

४. वही, पत्र ३२ विण्णु त्ति विद्वान्।

५. वही, पत्र ३२ प्रत्येकमेव सातासातरूपवेदना—सुखदुःखानुभव।

६. वृत्ति, पत्र ३२ संसारचक्रवाले पर्यटतोऽत्यन्तपीडितस्य तदुद्धरणे न त्राणाय न त्राणं कुर्वन्ति, नाप्यनागतसंरक्षणत शरणाय भवन्ति।

७. (क) वृत्ति, पत्र ३२ : क्रोधोदयादिकाले ज्ञातिसंयोगान् 'विप्रजहन्ति'—परित्यजन्ति, 'स्वजनाश्च न बान्धवा'—इति व्यवहार-दर्शनात्. ज्ञातिसंयोगा वैकदा तदसदाचारदर्शनतः पूर्वमेव तं पुरुषं परित्यजन्ति—स्वसंबन्धादुत्तारयन्ति।

(ख) चूर्णि, पृष्ठ ३२७ : पुरिसो वेगता पुव्विं णातिसंजोगे विप्पजहति, जहा भरहो, पुरिसं वा एगता णातिसंयोगा विप्पजहंति जह अट्टण।

का अनुभव होता है। वह उसे अध्यात्म की दिशा मे प्रेरित करता है। इस प्रेरणा को स्वीकार करते हुए भी स्थूलदृष्टि से प्रेरणा को अस्वीकार नही किया जा सकता। वह प्रेरणा है—मूर्च्छा। जब तक व्यक्ति मे मूर्च्छा होती है तब तक वह पूरे अर्थ मे व्यक्तिवादी नही बन सकता। मूर्च्छा का सूत्र उसे समुदायवादी बनाए रखता है। प्रस्तुत सूत्र या दृष्टिकोण उन व्यक्तियो का दृष्टिकोण है जिनके जीवन मे मूर्च्छा का धागा टूट जाता है।

अध्यात्म की भाषा मे यह पूरा सूत्र 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' का सूत्र है। यही 'एकत्व अनुप्रेक्षा' है। मैं अकेला हू—इसका फलित होता है 'मैं सबसे अन्य हू।' 'मैं सबसे अन्य हूं'—इसका फलित है कि 'मैं अकेला हू।'

सूत्र ५२ :

१०८. हाथ····मेरे (हत्था मे····)

चूर्णिकार ने इसका वर्णन इस प्रकार दिया है—'मेरे हाथ कमलदल की तरह कोमल और लक्षणो से उपचित है। मेरी भुजाए हाथी के सूड की आकृति वाली, मेरे पैर कूर्म सदृश, और मेरी आयु दीर्घ है। मुझे औरस-बल और बुद्धि-बल प्राप्त है। मेरा वर्ण अवदात, त्वचा स्निग्ध और शरीर लावण्ययुक्त है।'

'वह मानता है मेरी आखें विशाल रक्तोत्पल की भाति धवल हैं। मेरी नासा ऋजु, ऊची और आयत है। मेरी जीभ पतली और विशद है और स्पर्श कर्कश और कोमल दोनो है। इसी प्रकार दान्त, ओष्ठ, कपोल, भौहे, ललाट, गला, कधा, छाती, पीठ, कटि, जानु, जघा आदि पर भी वह ममकार करता है। शरीर और शरीर के अवयव जैसे मेरे हैं वैसे दूसरो के नही है। यदि वे अवयव सुन्दर नही भी होते हैं तो भी वह उनमे ममकार करता है। यह सामान्य बात है कि कोई भी व्यक्ति अपने शरीर या शरीर के अवयवो के सड-गल जाने पर भी उनको छेदना नही चाहता।'[1]

'मेरे सगे-सम्बन्धी दूर की वस्तु है। सबसे निकट का है मेरा शरीर, मेरे ये अवयव। वह मानता है कि मेरे हाथ अशोक वृक्ष के पत्तो की भाति हैं। मेरी भुजाए हाथी के सूड की आकृति वाली हैं। दूसरो के पुरो को जीतने मे और प्रेमीजनो के मनोरथो को पूरा करने मे वे समर्थ हैं। वे शत्रुओ का नाश करने वाली है। जैसी मेरी ये भुजाए है, वैसी दूसरो की नही है। मेरे पैर भी पद्मगर्भ की भाति सुकुमार हैं।[2]

१०९. आयु (आऊओ)

प्राणी आयुष्य से प्रति समय क्षीण हो रहा है। जिस क्षण मे वह जन्म लेता है उसी क्षण मे वह मरना प्रारभ कर देता है, इसीलिए एक दिन वह मर जाता है। यदि पहले क्षण नही मरता तो आगे कभी नही मरता। क्षण-क्षण मे होने वाली मृत्यु ही उसे एक दिन मार डालती है। प्रतिक्षण होने वाली मृत्यु को जैन शब्दावली मे 'आवीचिमरण' कहा गया है।

११०. वर्ण से···· ··छाया से (वण्णाओ··छायाओ)

वर्ण निरन्तर साथ रहने वाला होता है। छाया (आभा) सबमे नही होती। कुछ लोगो मे होती है, कुछ लोगो मे नही होती। यही वर्ण और छाया मे अन्तर है।[3]

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३२७ : हस्तादय : यथा मम पद्मतलकोमलौ लक्षणोपचितौ हस्तौ तथा कस्यान्यस्य ?

इमौ करिकराकारौ, भुजौ परपरजुतौ ।
प्रदांतौ गोसहस्राणां, जीवितान्तकरः कर ।।

पादा मे कुम्र्मणिभा, आयु मे दीहं निरवद्युतं च, बलं उरसं बुद्धिबल च, वण्णो अवदातादी, त्वक् स्निग्धा, छाया प्रभा, वर्णच्छाययो को विशेष ? वर्ण अनपायी, छाया तु उत्तिन्नपुरिसमनपायिनी, शेषाणा भवति च न भवति च, अनलानिलसलिलसमुद्रवाग्बुद्धि पंचधा स्मृता छाया' अशुभदा त्रिकार्यलक्षणा, अथवा अवर्णणीयेऽपि ममीकारो भवति, शरीरे शरीरावयवेषु वा सडंतंपि कोइ णेच्छइ च्छेतु, जति णिव्विज्जति ण जीवति, सप्पगोणसरवइताइणं सडइ ण च सक्केति पविणेतु, एव अच्छीणि विशालरत्तुप्पलधवलाइं, दिट्ठी मे बलिया, उज्जुतुगायता णासा, जिब्भावि तणुभावि तणुइआ विसदा, फासा कक्कडमउओ, इत्योणं विपरीतो, एवमन्येऽपि वंतोट्ठकवोलभुमगणिडालगलखंधउरपट्ठिकडिजाणुजंघादि ममाति—ममीयते जारिसं मम सरीर सरीरावयवा वा तारिसा कस्सति ?

२. वृत्ति, पत्र ३२।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३२७।

१११. शरीर में झुरियों की तरंगें उठ आती है (वलितरंगे गाए भवति)

वृद्धावस्था के कारण शरीर मे झुरिया पड जाती है। सारा शरीर नाडियो के जाल से वेष्टित हो जाता है। उसे देखकर स्वय मनुष्य भी उद्विग्न हो जाता है। दूसरो का तो कहना ही क्या ? एक कवि ने सुन्दर कहा है—

वलि सततमस्थिशेषित शिथिलस्नायुवृतं कलेवरम् ।
स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा ॥

जो शरीर झुरियो से आक्रान्त है, जिसमे केवल हड्डिया ही शेप हैं, सारे स्नायु शिथिल हो गए हैं, उन्हे देख स्वय व्यक्ति उसकी जुगुप्सा करता है तो भला कमनीय शरीर वाली स्त्री का तो कहना ही क्या ?[1]

११२. काले केश सफेद हो जाते है (किण्हा केसा पलिया भवंति)

काले केश अवस्था के परिणाम रूपी जल से प्रक्षालित होकर सफेद हो जाते हैं।[2]

११३. आहार से उपचित है (आहारोवचियं)

यह शरीर भी परायत्त है। यह बिना किसी आधार के टिक नही सकता। बिना आहार के यह सूख जाता है और अन्त मे मर जाता है। यदि कालोचित, स्निग्ध, मनोज्ञ, पर्याप्त और प्रदीप्तिकर आहार मिलता है तो शरीर तीस वर्ष की अवस्था तक बढता जाता है। बैल और मनुष्यो का वह शरीर उपरोक्त आहार की उपलब्धि पर उसी प्रकार टिका रह सकता है। फिर वह धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। अथवा आवीचिमरण से प्रतिक्षण मरता हुआ प्राणी जीर्ण शकट की भाति एक दिन टूट जाता है, नष्ट हो जाता है।[3]

सूत्र ५३ :

११४. भिक्षाचर्या में (भिक्खायरियाए)

भिक्षाचर्या का अर्थ है—सयम जीवन के निर्वाहार्य भिक्षा की चर्या। यह संयम की भी द्योतक है। शरीर सयम की दीर्घ यात्रा पर प्रयाण करता है। वह भोजन के बिना टिक नही सकता। अत उसे टिकाए रखने के लिए भोजन आवश्यक होता है। भिक्षु का भोजन भिक्षा से ही प्राप्त हो सकता है। उसकी यही चर्या है।[4]

११५. दो प्रकार के लोक को (दुहओ लोगं)

यह द्वैतवाद का सूचक है। इसका विस्तार ठाण २।१ मे प्राप्त है।

सूत्र ५४ :

११६. यहां गृहस्थ……ब्राह्मण (गारत्था……माहणा)

यहा एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि गृहस्थ के कहने मात्र से ब्राह्मणो का ग्रहण स्वतः हो जाता है। यहा दोनो का उल्लेख क्यो हुआ है ?

चूर्णिकार का कथन है कि कुछ ब्राह्मण घर-द्वार को छोडकर, लौकिक तीर्थस्थल या तपोवनो मे जाकर घूमते रहते हैं और मृगचारिका आदि का पालन करते है। इसलिए ऐसे ब्राह्मण गृहस्थ नही कहे जाते। ब्राह्मण का एक अर्थ श्रमणोपासक भी होता है।[5]

---

१ वृत्ति, पत्र ३२ वलितरङ्गाकुलं सर्वत शिराजालवेष्टितमात्मनोऽपि शरीरमिदमुद्वेगकृद्भवति किं पुनरन्येषां ? तथा चोक्तम्……।

२ वृत्ति, पत्र ३२ कृष्णा केशा वय.परिणामजलप्रक्षालिता धवलतां प्रतिपद्यन्ते।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३२८ . आहारोपचय, विणा आहारेण सुस्सति मरयति य. सतापि च आहारेण कालोपकेण णिद्धेण मणुण्णेण पज्जत्तेण पदिज्जमाणेण आणुपुव्वीए जाव तीसवरिसाणि वड्ढित्तु ताव तंपि अवट्ठितं वा गोमणुयाऊणं, जंपि णिरुवक्कमं आउसं भवति तंपि आणुपुव्वीए परिहाति, तंजहा—पण्णासगस्स चक्खू हायति, अथवा समए समए आवीचियमरणेण मरमाणो जीर्णशकटवत् पतति।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३२८ · भिक्खायरियं विणा प्राणी प्राणयिता न ज्ञानादीनि तेन भिक्खायरियग्रहणं।
(ख) वृत्ति, पत्र ३२ स भिक्षुर्देहदीर्घसयमयात्रार्थं भिक्षाचर्यायां समुत्थित।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३२९ णणु गारत्थगहणेण द्विजातयो गहिता ? उच्यते—केचिद् द्विजा घरवारं पयहिऊण लोइआइं तित्थतवोवणाइं आहिंडंति मिगचारियादि चरंति, समणोवासगा वा, ते तु अविरतत्वात्।

सूत्र ५४ :

११७. श्रमण (समणा)

वृत्तिकार ने श्रमण से शाक्य भिक्षुओ का ग्रहण किया है। वे पचन-पाचन आदि की अनुमति देते है तथा दास आदि रखते है, अत वे आरम्भ और परिग्रह-युक्त होते है।[1] चूर्णिकार ने श्रमण से पाच प्रकार के श्रमणो का ग्रहण किया है[2]। वे पाच प्रकार के श्रमण ये है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक—परिव्राजक और आजीवक।[3]

११८. मैं अहिंसक और अपरिग्रही हूं (अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे)

चूर्णिकार ने यहा एक प्रश्न उपस्थित किया है कि जो अनारभ और अपरिग्रह है, वह शरीर का निर्वाह कैसे कर सकेगा ?

इसका समाधान यह है कि गृहस्थ आरभ और परिग्रह युक्त होते है, तथा जो श्रमण द्रव्य आरम्भ मे प्रवृत्त है, वे आरम्भ के प्रति असंयत होने के कारण आरम्भ और परिग्रह-युक्त ही होते है। अत वे आहार, औषधि, वस्त्र, शय्या, वसति आदि के लिए उन गृहस्थो या श्रमणो की निश्रा मे रहते हुए शरीर का निर्वाह करते हैं।[4]

११९. निश्रा (आश्रय) में (णिस्साए)

निश्रा का अर्थ है—आश्रय। स्थानाग मे पाच निश्रा-स्थान बतलाए है—१ छह जीवनिकाय, २. गण—श्रमणसघ, ३ राजा, ४. गृहपति और ५. शरीर।[5]

निश्रा-स्थान का अर्थ है—आलबन स्थान, उपकारक स्थान। विशेष विवरण के लिए देखे—ठाण ५।१९२ का टिप्पण, पृष्ठ ६४५।

१२०. ब्रह्मचर्यवास में (बंभचेरवासं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ चारित्र किया है।[6]

वृत्तिकार ने ब्रह्मचर्य का अर्थ श्रामण्य किया है। इसका अर्थ प्रव्रज्या भी है।[7]

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कध १४।१ मे सुबभचेर—सुब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग हुआ है। वहा चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए है—सुचारित्र, नौ गुप्तियुक्त मैथुन-विरति और गुरुकुलवास।[8]

प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कध ५।१ मे ब्रह्मचर्य की व्याख्या मे चूर्णिकार के आचार, आचरण, सवर, सयम और ब्रह्मचर्य को एकार्थक माना है।[9]

१२१. जैसे पहले …… (जहा पुव्वं ……)

यदि भिक्षु गृहस्थ की निश्रा मे न रहे तो जैसे भिक्षु पर्याय से पहले वह आरम्भ और परिग्रहयुक्त था वैसे ही प्रव्रजित होने पर भी हो जाएगा।

आज वह भिक्षु वन आरम्भ और परिग्रह युक्त है, वैसे वह पहले भी था।

---

१. वृत्ति, पत्र ३३ श्रमणा शाक्यादय। ते च पचनपाचनाद्यनुमते सारम्भा दास्यादिपरिग्रहाच्च सपरिग्रहा।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३२६ समणा पच।

३ निशीथभाष्य गाथा, ४४२० णिग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३२६ अणारभो अपरिग्गहो य कथं शरीर धारयिष्यति ? उच्यते, जइ खलु गारत्था सारभा एगतिया समणा दव्वारंभ प्रति जइ णाम केइ अणारभा अपरिग्रहा वा आरमं प्रति असयतत्वात् सारभा सपरिग्गहा चेव, तत्य जे ते वव्वारभं प्रति सारभा सपरिग्गहा भिक्खगमादी ते चेव णिस्साए आहारोवहिसेज्जादि जायमाणा।

५ ठाण ५।१९२ धम्मण्ण चरमाणस्स पच णिस्साट्ठाणा पण्णत्ता, त जहा—छक्काया, गणे, राया, गाहावती, सरीरं।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३२६ बभचेर ''चारित्रमित्यर्थ।

७. वृत्ति, पत्र ३४ ब्रह्मचर्य—श्रामण्य''''प्रव्रज्याम्।

८ (क) चूर्णि, पृष्ठ २२८ सोभणं बंभचेर वसेज्जा सुचारित्रमित्यर्थ, गुप्तिपरिसुद्ध वा मेयुन वंभचेर वुच्चति, गुरुपादमूले जावज्जीवाए जाव अब्भुज्जतविहारं ण पडिवज्जति ताव वसे।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८।

९ चूर्णि, पृष्ठ ४०३ आचारोत्ति वा आचरणति वा सवरोत्ति वा सजयोत्ति वा वंभचेरंति वा एगट्ठं।

गृहस्थ अपने जीवन मे आरम्भ और परिग्रहयुक्त होता ही है, किन्तु प्रव्रजित होने के बाद भी कुछ भिक्षु पचन-पाचन आदि प्रवृत्तियो मे युक्त होकर तथा अनेक प्रकार का परिग्रह रखकर परिग्रहयुक्त हो जाते है। वे भी कामभोग का सेवन करते है। उन्होंने केवल कधी को छोडा है, घर को छोडा है, आरभ और परिग्रह को नही। जो आरभयुक्त होता है वह घरवासी ही है।[1]

१२२. यह प्रत्यक्ष है (अंजू)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ ऋजुभाव किया है।[2] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[3]—प्रत्यक्ष या व्यक्त, प्रगुण न्याय।

१२३. दोनों (दुहओ)

चूर्णिकार के अनुसार इसके चार अर्थ हैं[4]—

१ गृहस्थ और श्रमण-ब्राह्मण—दोनो।

२ पहले और पीछे दोनो अवस्थाओ मे।

३. स्वय से या पर से।

४ राग मे या द्वेप से।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[5]—

१ आरम्भ और परिग्रह—इन दोनो से।

२ राग और द्वेप से।

३ गृहस्थ अवस्था और मुनि अवस्था—दोनो मे।

१२४. जिसमे आरंभ और परिग्रह—ये दोनों (दोहि वि अंतेहि)

वृत्तिकार ने आरम्भ तथा परिग्रह या राग और द्वेप—ये दो अंत माने है। उनके अनुसार अत का अर्थ अभाव भी है।[6]

१२५. दृश्य न हो (अदिस्समाणो)

वृत्तिकार ने इसके दो सस्कृत रूप दिए हैं[7]—

१. अदृश्यमान —अनुपलभ्यमान।

२. आदिश्यमान अपदिष्ट होता हुआ।

१२६. भिक्षु ऐसा जीवन जीए (इति भिक्खू रीएज्जा)

भिक्षु ऐसा जीवन जीए—यह उपसहारात्मक वाक्य है। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु यह जान ले कि ये जितने सगे-सबधियो के सयोग है, जो यह धन-धान्य आदि का परिग्रह है, जो यह शरीर और उसके अवयव है, जो आयुष्य, बल, वर्ण, छाया आदि है—ये सब अशाश्वत हैं, अनित्य हैं, स्वप्न और इन्द्रजाल के समान असार है। जितने गृहस्थ और श्रमण-ब्राह्मण है—ये सब आरम्भ और परिग्रहयुक्त है। इसको भलीभाति जानकर भिक्षु सयम के अनुष्ठान मे प्रवर्तित हो।[8]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३२९ : गिहत्थे णिस्साए वुत्तं किं वा तेसिं 'अत्थि ज देहेंति ?, उच्यते, पुव्व एगे सारभा सपरिग्गहा एव आसी, इदाणिंपि पव्वइता संता पचमाणगा गामादिपरिग्गहेण य सपरिग्गहा, जेवि दुग्गता आसी तेवि कामादीणि सेवति, केवलं तेहिं फणिहा परिच्चत्ता।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३२९ : ...... रिजुभावेण।

३. वृत्ति, पत्र ३४ : 'अजू'—इति, व्यक्त' ......यदि वा—'अञ्जू' इति प्रगुणेन न्यायेन।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३३० दुहवोत्ति दोवि ते, अथवा पुव्वि पच्छा य, अहवा सय परेहि य, अहवा रागेण दोसेण य।

५. वृत्ति, पत्र ३४ : 'द्विधाऽपि'—सारम्भसपरिग्रहत्वाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्युपादयते, यदि वा रागद्वेषाभ्यामुभाभ्यामपि, यदि वा गृहस्थप्रव्रज्यापर्यायाभ्यामुभाभ्याम्।

६. वृत्ति, पत्र ३४ : 'द्वयोरप्यन्तयोः'—आरम्भपरिग्रहयो. रागद्वेषयोर्वाः।'' ....अन्तौ—अभावौ।

७. वृत्ति, पत्र ३४ 'अदृश्यमान.'—अनुपलभ्यमानः........आदिश्यमानः रागद्वेषाभाववृत्तित्वेनापदिश्यमानः।

८. वृत्ति, पत्र ३४ : य इमे ज्ञातिसंयोगा यश्चाय धनधान्यादिकः परिग्रहो यच्चेद हस्तपादाद्यवयवयुक्तं शरीरक यच्च तदायुर्बलवर्णादिक तत्सर्वमशाश्वतमनित्य स्वप्नेन्द्रजालसदृशमसार, गृहस्थश्रमण-ब्राह्मणाश्च सारम्भा. सपरिग्रहाश्च, एतत्सर्वं परिज्ञाय सत्सयमानुष्ठाने भिक्षू रीयेतेति स्थितम्।

सूत्र ५५ :

१२७. (सूत्र ५५)

प्रस्तुत सूत्र मे तीन विशेष शब्द प्रयुक्त है—परिज्ञातकर्मा, व्यपेतकर्मा और व्यतकारक । इनका अर्थ इस प्रकार है—

१ परिज्ञातकर्मा—आचाराग मे अपरिज्ञातकर्मा और परिज्ञातकर्मा—दोनो का निरूपण है ।[1] परिज्ञा दो प्रकार की होती है—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा । जो कर्म-समारम्भ को जानकर उसका प्रत्याख्यान करता है, उसे परिज्ञातकर्मा कहा जा सकता है ।[2]

२ व्यपेतकर्मा—जैसे-जैसे सवर की साधना वढती है, वैसे-वैसे कर्म-वध का निरोध होता जाता है । उसके उत्कृष्ट विकास के साथ अवधक स्थिति आ जाती है । यह व्यपेतकर्म की अवस्था है ।

३ व्यतकारक—पूर्वोपार्जित कर्मों का अन्त करनेवाला अथवा अन्तक्रिया करनेवाला ।

तीन अवस्थाए परस्पर सवधित है । जो मुनि परिज्ञातकर्मा होता है वह नए कर्मों का उपचय नही करता, अवधक होता है । वह व्यपेतकर्मा होता है । जो व्यपेतकर्मा होता है वह अवधक होने के कारण पूर्व कर्मो का नाश करनेवाला होता है, व्यतकारक होता है ।[3]

बौद्ध परपरा मे तीन प्रकार की परिज्ञाओ का कथन है[4]—

१ ञात परिञ्ञा (ज्ञात परिज्ञा)

२. तीरण परिञ्ञा (तीरण परिज्ञा)

३. पहान परिञ्ञा (प्रहान परिज्ञा)

सूत्र ५६ :

१२८. (हम्ममाणस्स)

चूर्णिकार ने 'आउडिज्जति' और 'हम्मइ' को एकार्थक माना है । उनका कहना है कि जैसे सिर पर कील ठोकने को 'हम्मइ' कहते है और कानो मे कील ठोकने को 'आउडिज्जति' कहते है । दोनो एकार्थक है । अथवा ये दोनो शब्द देशी हैं ।[5]

एक ही अर्थ भिन्न-भिन्न स्थानो मे अनेक प्रकार के शब्दो से वाच्य होता है । जैसे—चावल को कही 'ओदन' कहते है, कही 'कूर' और कही 'भक्त' कहते है ।[6] इसी प्रकार आहनन क्रिया को कही आकुट्टन कहते है और कही 'हनन' कहते हैं और कही तीनो शब्द—आकुट्टन, हनन और तर्जन प्रचलित हैं ।[7]

---

१. आयारो, १।८-१२ ।

२. वही, १।१२ : जस्सेते लोगंसि कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ।

३ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३० दुविधाए परिण्णाए परिण्णायकम्मे परिज्ञातकर्मत्वात् व्यपेतकर्मा अवन्धक इत्यर्थः अवन्धकत्वात् पूर्वोपचित-कर्मणः वियतिकारिए, अंतं करोत्येवमाख्यातं भगवता ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३४ : ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय, प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय च परिज्ञातकर्मा भवति ।.... "परिज्ञातकर्मत्वाव्यपेत-कर्मा भवति । अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थ, पुनरेवमित्यबन्धकतया योगनिरोधोपायत पूर्वोपचितस्य कर्मणो विषेशेणान्तकारको भवतीति ।

४ महानिदेश पालि (ना० सं) पृष्ठ ४५ ।

५ चूर्णि, पृष्ठ ३३० जहा सीसे हम्मइ खीलगो तहा सकण्णे आउडिज्जति, हम्मति तज्जण वाधाए आउडिज्जति हमइ एगट्ठा, देसिं वा आसज्ज ।

६. (क) वही, पृष्ठ ३३० जहा ओयणो कूरो भत्तं ददाति, एक एवार्थ अण्णण्णधाऽभिलवेंति ।

(ख) बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका पृष्ठ २० यथा—मगधाना ओदन, लाटानां कूर, द्रमिलाना चौर, आन्ध्राणां इडाकुरिति—मगध देश मे चावल को 'ओदन', लाट देश मे 'कूर' द्रमिल (तमिल) देश मे 'चौर' और आन्ध्र देश मे 'इडाकु' कहते हैं ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३३० एवमाहननक्रियायां केइ आउडत्ति भणतित्ति, केइ हमतित्ति भणंति, केइ पुण तिहिंवि पगारेहिं ।

१२९. (परिताविज्जमाणस्स)

परितापना का अर्थ है—अत्यन्त गाढ दुख। ऐसा दुख जिसमे मरने की आशका हो।[1]

वृत्तिकार ने अग्नि आदि मे जलाने को परितापना कहा है।[2]

१३०. (किलामिज्जमाणस्स)

क्लामना का अर्थ है—मूर्च्छित कर देना।[3]

वृत्तिकार ने चाबुक आदि से प्रहार करने को हनन, अगुलि आदि से तिरस्कृत करने को तर्जना, कुड्य आदि से नीचे गिराने को ताडना अग्नि आदि मे जलाने को परितापना और विभिन्न प्रकारो से क्लान्ति उत्पन्न करने को परिक्लामना कहा है।[4]

१३१. सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को (सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता)

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व—ये चारो शब्द एकार्थक भी हैं और कथचिद् भिन्न अर्थ वाले भी हैं।[5] भिन्न अर्थ को स्पष्ट करने वाला यह प्रसिद्ध श्लोक है—

प्राणा द्वित्रिचतु. प्रोक्ता भूतास्तु तरव' स्मृता.।
जीवा पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया, सर्वे सत्त्वा उदीरिता ॥

—दो, तीन और चार इन्द्रियवाले जीवो को 'प्राण', वनस्पति जगत् के जीवो को 'भूत', पांच इन्द्रिय वाले जीवो को 'जीव' और शेष सब जीवों को 'सत्त्व' कहा जाता है।

१३२. (सव्वे पाणा······ण उद्दवेयव्वा)

तुलना—आयारो ४।१

चूर्णिकार ने यहा एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या इस अहिंसा प्रधान धर्म का प्रतिपादन वर्धमान ने ही किया अथवा वृषभ आदि तीर्थंकरो ने अथवा सुदूर अतीत मे होने वाले तीर्थंकरो ने भी ? इस प्रकार शिष्य के पूछने पर आचार्य इसका उत्तर आगे के दो सूत्रो मे देते हैं।[6]

सूत्र ५७ :

१३३. जे अईया······उद्दवेयव्वा।

तुलना—आयारो ४।१

सूत्र ५८ :

१३४. (धुवे णितिए सासए)

ध्रुव—जो नित्य रहता है, अवश्यभावी।

नित्य—जो सभी कर्मभूमियो मे रहता है।

शाश्वत—सदा रहनेवाला।

चूर्णिकार ने वैकल्पिकरूप मे तीनो को एकार्थक माना है।[7]

तुलना—आयारो ४।२

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३३० ताऽतिगाढ दुक्खं परितावणा, जेण वा मरणसदेहेण भवति।

२. वृत्ति, पत्र ३७ परिताप्यमानस्याग्न्यादौ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३३० . किलावणं पुण मुच्छा।

४. वृत्ति, पत्र ३६-३७ : हन्यमानस्य कशादिभिः, तर्ज्यमानस्याङ्गुल्यादिभिः, ताड्यमानस्य कुड्यादावभिघातादिना, परिताप्यमानस्याग्न्यादौ, अन्येन वा प्रकारेण परिक्लाम्यमानस्य।

५ वृत्ति पत्र ३७ : तथा सर्वे प्राणा जीवा भूतानि सत्त्वा इत्येते एकार्थिका, कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येया'।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३३० किमयं धर्मो वर्द्धमानस्वामिनैव प्रणीत. ? आहोस्वित् वृषभाद्यैरपि तीर्थकरैरन्यैश्च तत. परेणातिक्रान्तै ?

७ चूर्णि, पृष्ठ ३३१ ध्रुव नित्यं तिष्ठति, सर्वकर्मभूमिषु नितिओ नित्य, शश्वद्भवतीति शाश्वत', एगट्ठाइं वा।

१३५. जीव-लोक को जानकर (समेच्च लोगं)

वृत्तिकार ने 'समेत्य' का अर्थ केवलज्ञान से देखकर तथा 'लोक' का अर्थ चौदह रज्जु प्रमाण लोक किया है।[१] वास्तव मे यह सूत्र अहिसा के प्रसग मे आया है, अत यहा जीव-लोक ही अभिप्रेत है।

सूत्र ५६ :

१३६. (सूत्र ५६)

प्रस्तुत सूत्र मे पाच महाव्रतो का तथा पाच उत्तरगुणो का प्रतिपादन है।

दसवैकालिक ३।२-६ मे ५२ अनाचारो का वर्णन है। उनमे दत-प्रक्षालन, अंजन, वमन, विरेचन और धूपन भी हैं। प्रस्तुत सूत्र मे केवल इन पाचो का उल्लेख है, शेष अनाचारो का नही।

इनके विवरण के लिए देखे—दसवेआलिय, पृष्ठ ५०-६२।

सूत्र ६० :

१३७. अक्रिय (अकिरिए)

अक्रिय का अर्थ है—क्रिया से विरत। क्रिया की जानकारी के लिए देखें—स्थानाग २।२-३७।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ कर्म का अबधन[२] और वृत्तिकार ने सापरायिक कर्म का अबधक किया है।[३]

१३८. अक्रोध····अलोभ (अकोहे ·····अलोहे)

अकषायाणा निर्वाणं[४]—जो कषायरहित होते हैं उनका निर्वाण होता है। कषाय निर्वाण के बाधक हैं। जो कषायी होता है वह मूलगुणो और उत्तरगुणो का अतिक्रमण करता है, अत वह उपशान्त नही होता।[४]

१३९. उपशांत (उवसंते)

जो क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारो कषायो को निष्क्रिय रखता है, वह उपशान्त होता है।[५]

१४०. परिनिर्वृत (परिणिव्वुडे)

कषाय एक उष्णता है। उसके उपशान्त होने पर अन्तर् आत्मा मे शीतलता व्याप जाती है। इसलिए उपशान्त व्यक्ति परिनिर्वृत (शीतलीभूत) हो जाता है।[६]

१४१. भविष्य के लिए आशंसा न करे (णो आससं पुरतो करेज्जा)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—मुनि पारलौकिक कामभोगो की आशसा न करे। पारलौकिक या भविष्य यह अर्थ 'पुरतो' शब्द के आधार पर किया गया है।[७]

---

१ वृत्ति, पत्र ३७ 'अभिसमेत्य'—केवलज्ञानेनावलोक्य 'लोक'—चतुर्दशरज्ज्वात्मकम्।

२ चूर्णि, पृष्ठ ३३१ नास्य क्रिया विद्यते ते सो अकर्म्मबन्धक इत्यर्थ।

३. वृत्ति, पत्र ३७ नास्य क्रिया—सावद्या विद्यते इत्यक्रिय, सवृतात्मकतया सापरायिककर्माबन्धक इत्यर्थ.।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३३१ : अकसायाणं णिव्वाणतिकाउ अकोहे जाव अलोभे,····जे य कसायग्गहं करेइ, कसाइओ पुण मूलगुणे उत्तरगुणे य खिप्पं अतिचरति।

५ वृत्ति, पत्र ३७ कषायोपशमाच्चोपशान्त—शीतीभूत।

६ चूर्णि, पृष्ठ ३३१ कसायोवि उसिणो, तदुवसमे परिनिव्वुडे वुच्चति।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३३१ परलोइएसु कामभोगेसु णो आससा पुरतो काउ विहरेज्जा।

१४२. दृष्ट..............विज्ञात (दिट्ठेण..............विण्णाएण)

धर्म-फल के लिए चार विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं—दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात।

दृष्ट—मैंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष देखा है कि धर्म का आचरण करने वालों में आमर्ष-औषधी आदि अनेक प्रकार की लब्धियों (योगज ऋद्धियों) का विकास हो जाता है।

श्रुत—मैंने अनेक आख्यानों में सुना है कि धर्म करने वाला पारलौकिक जीवन में स्वर्ग में जाता है और वहां से लौटकर अच्छे कुलों में उत्पन्न होता है।

मत—मत शब्द के दो संस्कृतरूप हो सकते हैं—मत और स्मृत। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'मण ज्ञाने' धातु का उल्लेख कर इसका अर्थ—जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा स्वयं ज्ञात—किया है।

इसका जातिस्मरण आदि के द्वारा स्मृत, यह अर्थ भी संगत हो सकता है।

विज्ञात—धर्म-फल के बारे में मैंने विवेक किया है, निदिध्यासन किया है।[1]

१४३. जीवन-यापन भर आहार वाले धर्म के द्वारा (जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं)

जो भिक्षु केवल उतना ही खाता है जितना निर्वाह के लिए उपयोगी हो अथवा उतना ही खाता है जितना साधना के लिए आवश्यक हो वह यात्रा मात्रावृत्तिक होता है।

चूर्णिकार ने उसकी विशेषता बतलाने के लिए एक श्लोक उद्धृत किया है—

यात्रामात्राशनो भिक्षुः, परिशुद्धमलाशयः।
विविक्तनियताचारः, स्मृतिदोषैर्न बाध्यते ॥[2]

१४४. कामभोगों का वशवर्ती (कामभोगाण वसवत्ती)

कामभोग मेरे वशवर्ती होंगे—यह वृत्तिकार का अर्थ है।[3]

चूर्णिकार ने 'कामभोगाण वसवत्ती'—इस पाठ के स्थान पर 'कामकामी कामवसवत्ती' पाठ स्वीकार किया है। 'कामकामी' का अर्थ किया है—जितने कामों की कामना करता है उतने कामों को वह प्राप्त कर लेता है। 'कामवसवत्ती' का अर्थ है—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायित्व—ये आठों ऋद्धियां उसे प्राप्त होती हैं।[4]

१४५. सिद्ध (सिद्ध..............)

सिद्ध के दो अर्थ हैं—

१. समस्त कर्म-बंधनों से मुक्त।

२. योगज विभूतियों से युक्त।

जो प्राणी समस्त कर्मों से वियुत हो जाता है वह सुख और दुःख से अतीत हो जाता है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने आठ प्रकार की ऋद्धियों (योगज विभूतियों) के आधार पर आठ प्रकार के सिद्धों का उल्लेख किया है[5]—

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३१-३३२ : दिट्ठं धम्मफलमिहेव, तं जहा—आमोसहि विप्पोसहि अक्खीणमहाणसिआ चारणविउव्वणिड्ढिपत्ताणि, परलोए सग्ग सुकुलपच्चायादिमादि सुतं अट्टखाणएसु धम्मिलब्रह्मदत्तादि, मणज्ञाने मतं सुयमेव जातीस्सरणादिएहिं चेव दिट्ठं, सुतं सुत्तेहिं, विविधं विसिट्ठं वा णात विण्णात।

(ख) वृत्ति, पत्र ३७ : दृष्टेनामर्षौषध्यादिना तथा, पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्रकधम्मिल्लब्रह्मदत्तादीनां विशिष्टतपश्चरणफलेन, तथा, 'मएण व' त्ति—'मन ज्ञाने' जातिस्मरणादिना ज्ञानेन, तथाऽऽचार्यादि. सकाशाद्विज्ञातेन—अवगतेन।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३३२ : यातामाता यस्य वृत्ति स भवति यातामातावृत्तिका, यात्रा नाम मोक्षयात्रा, मात्राऽल्पपरिमाणा या वृत्तिराहारादि, उक्तं च—यात्रामात्राशनो······

३. वृत्ति, पत्र ३८ : मे वशवर्तिन कामभोगा भवेयुः।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३३२ : कामंकमित्ति यतिमितान् कामान् कामयते तान् लभते चासेवतित्ति, वसे इंदियाणि जस्स विट्ठंति, कामवसवत्तिगहणेण अट्ठविधं लोइयं इस्सरियं सूइत, तं जहा—अणिमा लघिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं ईशित्वं वशित्वं यत्र कामावसायित्वं।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३२। (ख) वृत्ति, पत्र ३२।

१ अणिमा सिद्ध	५. प्राकाम्यसिद्ध
२ लघिमा सिद्ध	६. ईशित्वसिद्ध
३. महिमा सिद्ध	७ वशित्वसिद्ध
४ प्राप्ति सिद्ध	८ कामावसायित्वसिद्ध

१४६. तप आदि से ....नही होते (एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया)

तपस्या आदि के आचरण से कभी कामभोग प्राप्त होते है और कभी नही होते ।

कोई व्यक्ति विशिष्ट तपश्चरण करता है, किन्तु किसी निमित्त से उसके दुष्प्रणिधान होता है तब दूसरी सिद्धि हो भी सकती है, पर सपूर्ण कर्मक्षयरूप सिद्धि नही हो सकती । उसका दुष्प्रणिधान उसमे बाधक बन जाता है । क्योकि जितने निमित्त भव (ससार) के है उतने ही मोक्ष के है । अथवा विशिष्ट तपस्या के अनुष्ठान से कभी सिद्धि होती है और कभी सिद्धि नही होती—कभी अणिमा, लघिमा आदि आठ प्रकार की सिद्धिया प्राप्त होती है और कभी ये प्राप्त नहीं होती ।[1]

सूत्र ६१

१४७. अमूर्च्छित (अमुच्छिए)

मूर्च्छा से राग और द्वेष—दोनो गृहीत होते हैं । अमूर्च्छित का अर्थ है—अरक्त-अद्विष्ट ।[2]

१४८ आदान (कर्म-संग्रह) से (आदाणाओ)

आदान शब्द का अर्थ है—कर्म-सग्रह का मार्ग ।

चूर्णिकार ने मुख्यरूप से क्रोध, मान, माया और लोभ को आदान माना है । ये ही कर्म-सग्रह के मूल मार्ग है । वैकल्पिक रूप मे उन्होने पचन-पाचन आदि हिंसात्मक कार्य, सचित्त-अचित्त आदि परिग्रह, कामभोग, ज्ञाति आदि स्वजन तथा शरीर को भी आदान माना है । ये सभी कर्म-सग्रह के निमित्त बन सकते है ।[3]

सूत्र ६५

१४९. (अंस्सिपडियाए)

इसका अर्थ है—एतत् प्रतिज्ञया—आहार देने की प्रतिज्ञा से ।

वृत्तिकार ने इसका एक अर्थ और भी किया है—'अस्मिन् पर्याये'—साधु पर्याय मे व्यवस्थित ।[4] यह अर्थ मूलस्पर्शी प्रतीत नही होता ।

१५०. (समुद्दिस्स)

प्रस्तुत सूत्र मे समुद्दिस्स शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है—एग साहम्मिय समुद्दिस्स . . . सत्ताइ समारब्भ समुद्दिस्स. ... .. ।

वृत्तिकार के अनुसार प्रथम सदर्भ मे इसका अर्थ है—एक साधर्मिक को उद्दिष्ट कर और दूसरे सदर्भ मे इसका अर्थ है—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को पीडित कर ।' हमारी दृष्टि मे दूसरे सदर्भ मे प्रयुक्त इस शब्द को प्राण, भूत आदि के साथ न जोडकर क्रीत आदि शब्दो के साथ जोडना उपयुक्त लगता है, क्योकि प्राण, भूत आदि के साथ 'समारभ्य' शब्द आ चुका है। प्राणियो के साथ हिंसा का

---

१ वृत्ति, पत्र ३८ विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमित्ताद् दुष्प्रणिधान-सद्भावे सति कदाचित्सिद्धि स्यात्कदाचिच्च नैवाशेषकर्म-क्षय-लक्षणा सिद्धि स्यात्, तथा चोक्तम्—"जे जत्तिया उ हेऊ भवस्स, ते चेव तत्तिया मोक्खे" इत्यादि । यदि वाऽत्राप्यणिमाद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणादौ सिद्धि स्यात्कदाचिच्च न स्यात्—तद्विपर्ययोऽपि वा स्यादिति ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३२ : अमुच्छितो सद्दादिएसु विसएसु सुभेसु, असुभेसुवि अदुट्ठे ।

(ख) वृत्ति, पत्र ३८ 'अमूर्च्छित'—अगृद्धोऽनध्युपपन्न , तथा रासभादिशब्देषु कर्कशेषु अद्विष्ट ।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३३२ कस्स आदाण ? कोहादि अथवा आरंभो पयणादि परिग्गहो वा सचित्तादि कामभोगा सण्णातगा सरीरं वा ।

४. वृत्ति, पत्र ३८ 'एतत्प्रतिज्ञया' आहारदानप्रतिज्ञया यदि वा 'अस्मिन् पर्याये'—साधुपर्याये ।

प्रयोग होता है और साधर्मिक के साथ क्रीत आदि का।[1]

१५१. (कीयं..............आहट्टुद्देसियं)

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त क्रीत, अनिसृष्ट, अभिहृत, औद्देशिक शब्दो की व्याख्या के लिए देखें—दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण जै० वि० भा०) पृष्ठ ५०-५७।

१५२. ऐसा आहार यदि प्राप्त हो जाए (तं चेतियं सिया)

कोई श्रावक श्रद्धावश या मोहवश साधु के निमित्त कुछ आहार आदि बना लेता है या उधार आदि ले लेता है। मुनि भिक्षा के लिए जाता है। वह मूल स्थिति से अजान रहकर उस भोजन का ग्रहण कर लेता है। ग्रहण करने के पश्चात् यदि उसे यह ज्ञान हो जाए कि वह भोजन दोषयुक्त है तो मुनि उस आहार को काम मे न ले।

सूत्र ६६ :

१५३. पराक्रम है (परक्कमे)

पराक्रम का सामान्य अर्थ है—शक्ति। चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसग मे भोजन निष्पादन मे होने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति को पराक्रम माना है। गृहस्थ अपने लिए, दूसरों के लिए या दोनों के लिए आहार का उत्पादन करते है। यह उनका स्वभाव है, धर्म है।[2]

वृत्तिकार ने भी पराक्रम का यही अर्थ किया है।[3]

१५४. (सूत्र ६६)

प्रस्तुत सूत्र मे गृहस्थ भोजन का निष्पादन किन-किन कारणो से करता है उसका स्पष्ट निर्देश है। सूत्रकार ने मुख्यरूप से पन्द्रह कारण गिनाए हैं—

१. स्वय के लिए
२ पुत्र के लिए
३. पुत्रवधू के लिए
४. धात्री के लिए
५ ज्ञातिजनो के लिए
६ राजा के लिए
७ दास के लिए
८. दासी के लिए
९. नौकर के लिए
१०. नौकरानी के लिए
११. अतिथि के लिए
१२. भेंट विशेष के लिए
१३. रात्रीकालीन भोजन के लिए
१४. कलेवे के लिए
१५. तथा अन्यान्य कारणो से विशिष्ट आहार का संचय करने के लिए।

१५५. शस्त्रातीत (सत्थातीतं)

जो सचित्त पदार्थ एक बार अचित्त हो जाता है, प्रासुक हो जाता है, वह शस्त्रातीत कहलाता है। शस्त्र से अतीत अर्थात् अब उसमे शस्त्र की कोई अपेक्षा नही है क्योकि वह अजीव हो चुका है।[4]

१५६. शस्त्र-परिणामित (सत्थपरिणामितं)

शस्त्र दो प्रकार के होते हैं—स्वकायशस्त्र और परकायशस्त्र। सजीव को निर्जीव बनाने मे दोनो प्रकार के शस्त्र काम मे आते हैं। जब पानी आदि सजीव पदार्थ शस्त्र से परिणामित होते हैं तब उनके वर्ण, गंध, रस आदि बदल जाते हैं। यह परिणमन होने पर ही वह वस्तु निर्जीव मानी जाती है।[5]

---

१. (क) वृत्ति, पत्र ३८ : एकं साधु साधर्मिकं समुद्दिश्य।
(ख) वही, पत्र ३८, ३९ प्राणिन ... ...सत्त्वोपेतान् 'समारभ्य'—तदुपमर्दकमारम्भं विधाय 'समुद्दिश्य—तत्पीडां सम्यगुद्दिश्य।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३३३ परक्कमे हिंसादिप्रवृत्ति., पराक्रम प्रकरणमित्यर्थ आतपरउभयपराक्रम स्वभाव धर्म्मः।

३. वृत्ति, पत्र ३९ पराक्रमः सामर्थ्यमाहारनिर्वर्तनं प्रत्यारम्भः।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३४ शसु हिंसायां शशति तेनेति शस्त्रं अग्न्यादि सत्थेण क्रामितं जीवभावात् सत्थादीना सत्थेण अजीवभावात्।
(ख) वृत्ति, पत्र ३९।

५. वृत्ति, पत्र ३९ : शस्त्रपरिणामितमितिशस्त्रेण स्वकायपरकायात्रिना निर्जीवीकृतं वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणामितं।

१५७. निर्जीव (अविहिंसितं)

चूर्णिकार ने इस शब्द से उद्गम आदि दोषो से रहित शुद्ध आहार का ग्रहण किया है।[1] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूर्णरूप से निर्जीव बना हुआ।[2] जब तक पदार्थ पूर्ण रूप से निर्जीव नही हो जाता, वह विहिंसित कहलाता है। उसको निर्जीव बनाने के लिए हिंसा की गई है, पर वह सम्यक्‌रूप से विहित न होने के कारण, पदार्थ पूर्ण निर्जीव नही बन सका। मुनि ऐसे आहार का वर्जन करता है और पूर्ण निर्जीव पदार्थ ही ग्रहण करता है।[3]

१५८. केवल साधुवेश से लब्ध (वेसितं)

मुनि का अपना वेष होता है। उस वेष के आधार पर उसकी पहचान होती है और वह पूजनीय बनता है। उसका बाह्य परिधान भी उसको श्रमण होने की निरन्तर स्मृति कराता रहता है, इसलिए यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुमार श्रमण केशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए गणधर गौतम ने कहा—मुने! मोक्ष-साधना की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मुख्य साधन हैं। किन्तु वेष-धारण का भी अपना मूल्य है। मुनि के वेष-धारण के तीन प्रयोजन हैं[4]—

१ लोगो की इस प्रतीति के लिए कि यह मुनि है।

२. 'जीवन-यात्रा को निभाने के लिए 'मैं भिक्षाचर्या का अधिकारी हूं' इसका विचार आते रहने के लिए।

३ 'मैं मुनि हूं'—ऐसा चिन्तन निरतर बने रहने के लिए।

प्रस्तुत प्रसग मे 'वेसित' का तात्पर्य है कि मुनि वही आहार ग्रहण करे जो साधुवेष के निमित्त से ही प्राप्त हुआ हो। मुनि अपनी जाति, रूप, गोत्र, शिल्प, प्रज्ञा आदि को बताकर जो आहार प्राप्त करता है, वह 'वेसित' नही माना जाता। ऐसा आहार अकल्प्य होता है।[5]

१५९. माधुकरी से प्राप्त (सामुदाणियं)

सामुदानिक भिक्षा के तीन अर्थ हैं[6]—

१. सामूहिक घरो से प्राप्त होने वाली भिक्षा।

२ माधुकरी वृत्ति से प्राप्त भिक्षा।

३. थोडी-थोडी विविध प्रकार की भिक्षा।

१६०. प्राज्ञ (गीतार्थ) द्वारा लाया गया आहार (पण्णमसणं)

प्रज्ञ या प्राज्ञ का अर्थ है—गीतार्थ। चूर्णिकार ने प्राज्ञ का अर्थ पिण्डकल्पी किया है।[7] इसका वैकल्पिक अर्थ है—साधु गीतार्थ मुनि द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण करे। वृत्तिकार ने यहा एक परपरा की ओर सकेत किया है। मुनि की यह चर्या है कि वह स्वय भिक्षा के लिए जाए और अपनी आवश्यकता के अनुसार आहार प्राप्त करे। यदि कोई रोग हो जाए या सेवा आदि का कार्य उपस्थित हो जाए तो वह अपने लिए भिक्षा मगा सकता है। उस स्थिति मे वह हर किसी साधु को भिक्षाचर्या के लिए न भेजे, गीतार्थ मुनि द्वारा लाया हुआ आहार ही ग्रहण करे, क्योकि गीतार्थ मुनि ही भिक्षा के विधि-निषेधो का ज्ञाता होता है। वही शुद्ध भिक्षा ला सकता है।[8]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३३४ : अवहिंसितं उग्गमदोसादी।

२ वृत्ति पत्र ३९ : अविहिंसितं निर्जीवमित्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र ३९ . हिंसां प्राप्तं—हिंसितं, विरूपं हिंसितं विहिंसितं न सम्यक् निर्जीवीकृतमित्यर्थः। तत्प्रतिषेधादविहिंसितं, निर्जीवमित्यर्थः।

४. उत्तरज्झयणाणि, २३।३०-३३।

५. वृत्ति, पत्र ३९ वैषिक मिति केवलसाधुवेषावाप्तं न पुनर्जात्याद्याजीवनतो निमित्ताविना।

६. वृत्ति, पत्र ३९ : सामुदानिकं समुदानं भिक्षासमूहस्तत्र भव सामुदानिकम् एतदुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्याऽवाप्तं सर्वत्र स्तोकं स्तोकं गृहीतमित्यर्थः।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३३४ एतत्प्रज्ञस्यासणं पिण्डकप्पियस्येत्यर्थः।

८. वृत्ति, पत्र ३९।

१६१. कारणपूर्वक (कारणट्ठा)

आगमों में मुनि को छह कारणों से आहार करने का निर्देश है —[1]

१. वेदना—भूख की पीडा मिटाने के लिए।
२. वैयावृत्य करने के लिए।
३. ईर्यासमिति का पालन करने के लिए।
४. संयम की रक्षा के लिए।
५. प्राण-धारण के लिए।
६. धर्मचिन्ता के लिए।

मुनि इन कारणों के अतिरिक्त और किसी भी प्रयोजन से आहार न करे। वह अपना वर्ण सुन्दर करने, बल बढाने या सौन्दर्य की वृद्धि के लिए भोजन न करे। यह मुनि के लिए अनाचार है।[2]

१६२. प्रमाणयुक्त (पमाणजुत्तं)

चूर्णिकार ने बत्तीस कवल प्रमाण आहार को प्रमाणयुक्त माना है।[3] आहार का प्रमाण एक-सा नहीं हो सकता। भोजन की मात्रा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सापेक्ष भी होती है। व्यक्ति की भूख भी समान नहीं होती। शारीरिक रोग या वेदना के कारण वह न्यूनाधिक होती है। अतः सबके लिए एक ही प्रमाण नहीं हो सकता। फिर भी यह मानदंड सबके लिए हो सकता है कि व्यक्ति भूख से अतिरिक्त भोजन न करे। उसमें भी कुछ न्यून ही रखे[4]—

'अद्धमसणस्स सव्वजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वाउपवियारणट्ठा छब्भाग ऊणयं कुज्जा ॥'

१६३. पहिए की धुरी ··· बिल में घुसते सांप के समान (अक्खोवंजण ··· पन्नगभूतेणं)

प्रस्तुत प्रसंग में भोजन की विधि का संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण निर्देश है। मुनि बिना प्रयोजन भोजन न करे, यह सामान्य निर्देश है। जब कोई प्रयोजन उपस्थित हो तब वह भोजन कैसे करे, क्या सोचे, इसका सुन्दर निरूपण प्रस्तुत सूत्र में है।

सबसे पहले मुनि यह सोचे कि उसे संयम-जीवन का निर्वाह करना है। शरीर साधना का वाहन है। वह आहार के बिना चल नहीं सकता। संयम की क्रियाओं में उसे निरन्तर लगाए रखने के लिए भोजन अत्यन्त अपेक्षित है। उससे शरीर को बल मिलता है, वह स्वस्थ रहता है और तब मुनिचर्या की आवश्यक दैहिक क्रियाएं सानंद निष्पादित होती हैं। मुनि यह सोचे—

१. जैसे रथ या गाडी के पहिए की धुरी में बार-बार अंजन लगाया जाता है, जिससे कि वह पहिया कोमलता से घूम सके, उसी प्रकार मुनि भी शरीर के विभिन्न अवयवों को चिकनाहट दे, जिससे कि वे संयमयात्रा के रथ को निर्विघ्न आगे खींच सकें।
२. जैसे घाव को भरने के लिए औषधि-द्रव्यों का लेप किया जाता है, जिससे कि घाव दूषित न हो और शीघ्र भर जाए, उसी प्रकार मुनि अपनी क्षतिपूर्ति के लिए भोजन करे।
३. मुनि उतना ही आहार ले जिससे कि उसकी संयम-यात्रा सुखपूर्वक चल सके। जैसे अंजन के बिना गाडी का पहिया सुगमता पूर्वक नहीं चल सकता, इसलिए उसके अंजन लगाना पडता है, वैसे ही यदि साधु समझे कि बिना विगय लिए उसका शरीर चल नहीं सकता तो वह मात्रा सहित विधिपूर्वक विगय का सेवन करे, अन्यथा विगय न खाए।
४. 'बिलमिव पन्नगभूए'—के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है—जैसे सर्प बिल में शीघ्रता से घुस जाता है, वैसे ही साधु भोजन का स्वाद न लेते हुए शीघ्र उसे निगल जाए। दूसरा अर्थ है—बिल में सर्प को जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है वह उसका स्वाद लिए बिना निगल जाता है, वैसे ही साधु भी, जो कुछ प्राप्त हो, उसको खा ले।

इन चारों का आशय एक ही है कि मुनि भोजन के प्रति आसक्त न हो, जैसा मिले वैसा खा ले, अस्वादवृत्ति रखे और निरन्तर यह सोचे कि शरीर के लिए भोजन है, भोजन के लिए शरीर नहीं है।[5]

---

१. ठाणं ६।४१।
२. वृत्ति, पत्र ३९।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३३४ : पमाणं बत्तीसं।
४. वृत्ति, पत्र ३९।
५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३४।
(ख) वृत्ति, पत्र ४०।

१६४. भोजन के समय भोजन····शयनकाल में शयन (अण्णं अण्णकाले ···· सयणं सयणकाले)

काल दो प्रकार का होता है—ग्रहणकाल और परिभोगकाल। सूत्र और अर्थ की पौरुषी सपन्न हो जाने पर मुनि को भिक्षाकाल प्राप्त होता है। वह उस समय भोजन-पानी की भिक्षा करने गाव मे जाता है। वहा भोजन-पानी प्राप्त कर अपने स्थान पर आता है। यह भोजन-पानी का ग्रहण-काल है। फिर मुनि के उस आहार-पानी का उपभोग-काल प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य है कि भोजन के समय मे वह भोजन करे और पानी पीने के समय मे वह पानी पीए। जब अधिक प्यास हो तो वह पानी पीए, भोजन न करे या भोजन करते समय मध्य मे पानी पीए। और जब अधिक भूख हो तो वह भोजन करे, पानी न पीए। इसी प्रकार वस्त्र के ग्रहण और उपभोग के समय को जाने। आचाराग (८।५०-५३) मे कहा गया है कि मुनि जब यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रो का विसर्जन करे। विसर्जन कर वह एक सूती और एक ऊनी कपडा रखे या एक-शाटक रहे या अचेल हो जाए।

मुनि वर्षा ऋतु मे वर्षात्राण रख सकता है। वर्षा ऋतु मे मुनि निश्चित रूप से गुफा आदि मे निवास करे। अन्य ऋतुओ मे वह लयन का उपयोग भी कर सकता है और नही भी कर सकता।

शयन का अर्थ है—सस्तारक—बिछौना। मुनि सोने के समय मे ही सोए। जो मुनि अगीतार्थ है वे दो प्रहर तक नीद ले सकते है, सो सकते है। जो मुनि गीतार्थ हैं वे केवल एक प्रहर तक ही सो सकते हैं। शेषकाल उन्हे धर्म-जागरिका मे बिताना होता है।

चूर्णिकार ने 'सयण सयणकाले' शब्द से सस्तारक और शय्या—दोनो का ग्रहण किया है। शय्या का अर्थ है—वसति, मकान। जहा सोया जाता है वह शय्या है। प्रतिमाधर मुनि को ऋतुबद्ध काल मे श्मशान आदि स्थानो मे तथा वर्षाकाल मे मकान या वसति मे रहना पडता है। दूसरे मुनि सदा वसति मे रहते हैं।[1]

इस प्रकार आहार, पानी, वस्त्र, लयन और शयन—ये पाच मुनि-जीवन की अनिवार्य आवश्यकताए है। मुनि इनके ग्रहण-काल और उपभोग-काल को उचित रूप से जाने।

सूत्र ६७-७०

१६५. (सूत्र ६७-७०)

इनमे प्रथम तीन सूत्रो मे धर्म-देशना का विवेक दिया गया है। मुनि धर्म-देशना किसके लिए करे ? धर्म-देशना का विषय क्या हो ? और धर्म-देशना का उद्देश्य क्या है ?—इन तीनो का सक्षिप्त विवेक इन सूत्रो मे प्रस्तुत है। अतिम सूत्र मे धर्म-देशना के परिणाम का उल्लेख है।

धर्म-देशना के लिए प्रस्थित मुनि को सबसे पहले मात्रज्ञ होना चाहिए। वह केवल आहार की मात्रा को ही जानने वाला न हो। उसे आहार, उपधि, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि की मात्रा भी जाननी चाहिए। अकाल या अमात्रा मे स्वाध्याय, ध्यान या शयन भी हानिकारक हो जाता है। इसलिए मुनि को मात्रज्ञ होना चाहिए।

जो भी व्यक्ति धर्म सुनने के लिए तत्पर हो, मुनि उसे धर्म की देशना दे। वह जाति, गोत्र, ऊच, नीच, ईश्वर, अनीश्वर की बात न सोचे। वह ऐसी बात बताए जिससे लोगो मे शाति हो, वैराग्य बढे, अलोभ की वृत्ति जागे, ऋजुता और मृदुता का विकास हो, अहिंसा की वृद्धि हो।

धर्म-देशना का एक मात्र उद्देश्य होना चाहिए—कर्मक्षय। जो मुनि निर्मलभाव से केवल निर्जरा के लिए धर्म-देशना करता है, वह मुनि धर्म-देशना देने का अधिकारी होता है। लोगो को धर्म की उपलब्धि हो, वे अपने कर्म को लघु बना सके, विरक्ति की ओर बढ सकें, इसलिए मुनि धर्म-देशना का आयोजन करे, अन्यथा मौन रहकर स्वाध्याय, ध्यान करे। वह किसी भौतिक उपलब्धि के लिए या अधिक सुख-सुविधा प्राप्त करने के लिए धर्म-देशना न दे। जो ऐसा करता है वह आत्म-प्रवचना करता है।

धर्म-श्रवण और धर्माचरण का एक मात्र फल है—बधनमुक्ति, कर्मक्षय। जो धर्म को सुनकर, उस मार्ग पर प्रस्थित होते हैं वे परिवर्तन को प्राप्त हो जाते हैं।

तुलना—आयारो ६।१०२,१०३।

---

१. (क) चूर्णि पृष्ठ ३३४।
 (ख) वृत्ति, पत्र ४०।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३४,३३५।
 (ख) वृत्ति, पत्र ४०।

सूत्र ७१ :

१६६. संयम (णियाग)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा केवल चारित्र ।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संयम या विमोक्ष ।[2] तात्पर्यार्थ में णियाग का अर्थ संयम है ।

सूत्र ७२ :

१६७. (सूत्र ७२)

प्रस्तुत सूत्र के कुछेक शब्दों का तात्पर्य इस प्रकार है—[3]

परिज्ञातकर्मा—कर्मों के स्वरूप और विपाक को जानने वाला ।

परिज्ञातसंग—बाह्य और आभ्यंतर आसक्तियों या सम्बन्धों को जानने वाला ।

परिज्ञातगृहवास—गृहवास—धन, धान्य, आदि, तथा पुत्र, कलत्र, भाई, स्वजन, ज्ञाति आदि को निःसार मानने वाला ।

क्षान्त—क्षमाशील ।

दान्त—इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण करने वाला ।

मुक्त—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथियों से मुक्त अथवा निर्ग्रन्थ ।

ऋषि—विशिष्ट तपस्वी ।

मुनि—विशिष्ट ज्ञानी ।

कृति—पुण्यवान्, परमार्थ का पंडित ।

रूक्ष—अन्त-प्रान्त आहार करने वाला । चूर्णिकार ने इसका अर्थ राग-द्वेष मुक्त माना है ।

तीरार्थी—संसार समुद्र का तीर है मोक्ष । तीरार्थी अर्थात् मोक्षार्थी ।

चरणकरणपारविद्—चरण का अर्थ है—मूलगुण और करण का अर्थ है—उत्तरगुण । जो मुनि मूलगुण और उत्तरगुणों का पारगामी होता है, वह चरणकरणपारविद् कहलाता है ।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३३५ : णियागं णाणादी ३ च चरित्तं वा ।

२. वृत्ति, पत्र ४१ : नियाग : संयमो विमोक्षो वा ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ : ३३५, ३३६ ।
   (ख) वृत्ति, पत्र ४१ ।

बीअं अज्झयणं
किरियाठाणे

दूसरा अध्ययन
क्रियास्थान

आमुख

इस अध्ययन मे कर्मबन्ध और मोक्ष की कारणभूत क्रियाओ का प्रतिपादन है। जो भिक्षु चरणकरणविद् हो जाता है, जो कर्म क्षय के लिए उत्थित है, उसे कर्मबन्ध के स्थानो और कर्मक्षय के स्थानो को भी जानना चाहिए।

इसमे कर्मबन्ध की कारणभूत बारह क्रियाओ का और कर्मबन्ध से मुक्त होने की तेरहवी क्रिया का वर्णन है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' रखा गया है।[1]

प्रश्न होता है कि कर्ममुक्ति की बात तो उपयुक्त है, पर कर्मबन्ध का प्रसग क्यो ? चूर्णिकार कहते हैं—बन्ध के विना मुक्ति कैसी ? इसलिए बन्ध को भी जानना चाहिए।[2]

प्रस्तुत अध्ययन मे प्रतिपादित तेरह क्रियास्थान ये है—

१. अर्थदड	८. आध्यात्मिक (मन)
२. अनर्थदड	९. मानप्रत्यय
३. हिंसादड	१० मित्रदोषप्रत्यय
४. अकस्मात्‌दड	११. मायाप्रत्यय
५. दृष्टिविपर्यासिकादड	१२. लोभप्रत्यय
६. मृषाप्रत्यय	१३. ईर्यापथिक
७ अदत्तादानप्रत्यय	

आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत प्रतिक्रमण अध्ययन मे 'पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं'— पाठ से इन्ही तेरह क्रियाओ का ग्रहण किया है।

क्रियाओ का यह एक वर्गीकरण है। दूसरा वर्गीकरण स्थानाग सूत्र का है। उसमे गौण-मुख्य भेद से बहत्तर क्रियाओ का निर्देश है।[3]

तीसरा वर्गीकरण तत्त्वार्थसूत्र का है। उसमे पचीस क्रियाओ का प्रतिपादन है।[4]

क्रियाओ की विशेष जानकारी के लिए ठाणं (स्थानाग) के २।२-३७ के टिप्पण ११३-११९ अवश्य द्रष्टव्य हैं। वहा हमने क्रियाओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत प्रकरण मे तेरह क्रियाओ मे प्रवृत्ति की प्रेरणा, प्रकार और परिणाम तीनो की चर्चा है। मनुष्य प्रवृत्ति करता है, उसके पीछे कोई न कोई प्रेरणा रहती है। उस प्रवृत्ति के प्रकार भिन्न होते हैं और उनके परिणामो मे भी भिन्नता आ जाती है।

१. अर्थदंड

इस प्रवृत्ति के प्रेरक तत्त्व हैं—ज्ञाति, परिवार तथा भूत, यक्ष आदि।

प्रवृत्ति है—त्रस-स्थावर प्राणियो की मन, वचन, काया से हिंसा।

परिणाम है—पापकर्म का बन्ध।

---

१. (क) निर्युक्ति गाथा १६५

किरियाओ भणियाओ किरियाठाणं तेण अज्झयणं।
अहिगारो पुण भणिओ बन्धे तह मोक्खमग्गे य ॥

(ख) चूर्णि, पृष्ठ ३३६ : इमेहिं बारसहिं किरियट्ठाणेहिं बज्झति, मुच्चति तेरसमेणं, एतेणाभिसंबंधेणं किरियट्ठाणं णाम अज्झयणं आगतं।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३३६ : अस्तु ताव मोक्खेणाधिकारो, बन्धेन किं प्रयोजनं ? उच्यते—अनेनाबन्धे मोक्खो न भवतीति, अतो बन्धेनाप्यधिकारो भवति।

३. ठाणं २।२।३७।

४. तत्त्वार्थ सूत्र ६।६।

२. अनर्थदंड

इस क्रिया मे प्रेरक तत्त्व हैं—निष्प्रयोजनता, अविवेक, मनोरंजन।

प्रवृत्ति है—त्रस स्थावर प्राणियो की हिंसा करना। त्रस प्राणियों की चमड़ी उधेड़ना, नाग काटना, विषाण और दांत उखाड़ना, घास को कटवाना, जंगलो मे आग लगाना आदि।

इसका परिणाम है—महापापकर्म का वन्ध और वैर का अनुवन्ध।

३. हिंसादंड

इसमे प्रेरक तत्त्व है—मारे जाने की आशंका।

प्रवृत्ति है—पुरुष या सर्प, सिंह आदि की घात करना, घात करवाना।

परिणाम है—पापकर्म और वैर का अनुवन्ध।

४. अकस्मात्‌दंड

इसमे प्रेरक तत्त्व है—आजीविका कमाना।

प्रवृत्ति है—शिकार, कृषि आदि करते समय किसी के मारने के प्रयत्न में किसी दूसरे की घात कर देना। जैसे, कोई मृग को मारने के लिए तीर चलाता है और वह तीर बीच मे किसी दूसरे जानवर के लग जाता है। मृग बच जाता है और वह दूसरा प्राणी मर जाता है।

परिणाम है—पाप कर्म का वन्ध।

५. दृष्टिविपर्यासिकादंड

इसमे प्रेरक तत्त्व है—दृष्टि की विपरीतता, भ्रांतचित्तता।

प्रवृत्ति है—अचोर को चोर, मित्र को अमित्र मानकर मार डालना।

परिणाम है—पाप कर्म का वन्ध और वैमनस्य की प्राप्ति।

६. मृषाप्रत्यय

प्रेरक तत्त्व है—अपने पक्ष का आवेश या आग्रह अथवा अपने लिए या ज्ञाति-परिवार के लिए झूठ बोलना।

प्रवृत्ति है—झूठ बोलना, दूसरो को झूठ बोलने के लिए प्रेरित करना, झूठ का समर्थन करना।

परिणाम है—पापकर्म का बन्ध और अविश्वास।

७. अदत्तादानप्रत्यय

इसका प्रेरक तत्त्व है—स्वयं के लिए या ज्ञाति-परिवार के लिए सुख-सुविधा जुटाना।

प्रवृत्ति है—चोरी करना, दूसरो से करवाना, चोरी का समर्थन करना।

परिणाम है—पापकर्म का वन्ध, अविश्वास का फैलाव।

८. आध्यात्मिक (मन)

इसके प्रेरक तत्त्व हैं—चार आन्तरिक दोष—क्रोध, मान, माया और लोभ।

प्रवृत्ति है—विना कारण हीन, दीन, क्रुद्ध, शोकमग्न, दुर्मनस्क हो जाना।

परिणाम है—निराशा और चिन्ता मे डूब जाना।

९. मानप्रत्यय

इसका प्रेरक तत्त्व है—जाति, कुल, वल, ऐश्वर्य आदि का अहकार।

प्रवृत्ति है—दूसरो की अवहेलना करना, गर्हा करना, अवज्ञा करना।

परिणाम है—जन्म-मरण की वृद्धि, नरकगमन आदि-आदि।

१०. मित्रदोषप्रत्यय

प्रेरक तत्त्व है—अपना प्रभुत्व स्थापित करने की भावना।

प्रवृत्ति है—परिवार के सदस्यो द्वारा छोटा-सा अपराध हो जाने पर उन्हे भारी दड देना—गर्म पानी से शरीर का सिंचन

करना, अग्नि से शरीर को दागना, चमडी उधेडना आदि ।

परिणाम है—पारिवारिक क्लेश और दौर्मनस्य की वृद्धि ।

११. मायाप्रत्यय

इसका प्रेरक तत्त्व है—मायाचार से आजीविका कमाना ।

प्रवृत्ति है—गला काटना, ग्रंथिच्छेद करना, दूसरो मे विश्वास उत्पन्न कर उन्हे ठगना ।

परिणाम है—एक माया से दूसरी माया मे फंसना, दुर्गतिगमन ।

१२. लोभप्रत्यय

प्रेरक तत्त्व है—प्रवल लोभ ।

प्रवृत्ति है—जीवहिंसा करना, रहस्यमय साधना करना, स्त्रीकामो में मूर्च्छित होना ।

परिणाम—पापपूर्ण किल्विपिक स्थानो मे उत्पत्ति, जन्म से ही गूगे और वधिर होना ।

१३. ईर्यापथिक

प्रेरक तत्त्व है—आत्मा की उपलब्धि ।

प्रवृत्ति है—निष्पाप क्रिया, अप्रमाद और सयममय क्रिया ।

परिणाम है—वीतरागता की प्राप्ति

इनमे प्रथम बारह क्रियाए पापकर्म-बन्ध की कारण है और तेरहवीं क्रिया पुण्यकर्म-बन्ध की कारण है । प्रथम वारह क्रियाए अनाचरणीय हैं, तेरहवी क्रिया शुभयोग की प्रवृत्ति होने के कारण आचरणीय है ।

क्रिया के दो प्रकार हैं—द्रव्यक्रिया और भावक्रिया । द्रव्यक्रिया और भावक्रिया की परिभाषा अनुपयोग और उपयोग के आधार पर की जाती है है । जिस क्रिया के साथ चित्तवृत्ति जुडी हुई नही होती वह द्रव्यक्रिया और जिसके साथ वह जुडी हुई होती है, वह भाव-क्रिया होती है । यहां इन्हे भिन्न कोण से परिभापित किया है ।

१ द्रव्यक्रिया—जीव या अजीव की कम्पन रूप या चलन स्वभाव रूप क्रिया । यह स्वाभाविक भी होती है और पर-प्रेरित भी । यह उपयोगपूर्वक भी होती है और अनुपयोगपूर्वक भी ।[1]

२ भावक्रिया—निर्युक्तिकार ने इसके आठ प्रकार बतलाए हैं[2]—

१ प्रयोगक्रिया—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ।

२. उपायक्रिया—द्रव्य की निष्पत्ति से होने वाली उपायात्मक क्रिया ।

३. करणीयक्रिया—जिस द्रव्य की निष्पत्ति जैसे होती है वैसी क्रिया करना । जैसे—मिट्टी से ही घर वनता है, पथरीली वालू से नही ।

४. समुदानक्रिया—गृहीत कर्मपुद्गलो को प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप मे व्यवस्थित करना । यह क्रिया असयत, सयत, अप्रमत्त सयत, सकपाय व्यक्ति के होती है ।

५ ईर्यापथक्रिया—उपशान्त मोहावस्था से सयोगि केवली तक होने वाली क्रिया, ग्यारहवें गुणस्थान तक होने वाली सूक्ष्म क्रिया । यह तीन समय की स्थितिवाली होती है—प्रथम समय मे बन्ध, दूसरे मे सवेदन और तीसरे मे निर्जरण । यह वीतराग अवस्था की क्रिया है ।

६ सम्यक्त्वक्रिया—सम्यग्दर्शनयोग्य ७७ प्रकृतिया है, उनको बाधने वाली क्रिया ।

७. सम्यग्मिथ्यात्वक्रिया—७४ प्रकृतियो का बन्ध करनेवाली क्रिया ।

८. मिथ्यात्वक्रिया—१२० प्रकृतियो का बन्ध करनेवाली क्रिया ।

प्रस्तुत अध्ययन के कुछ सूत्र पूर्ववर्ती अध्ययन (पहले) मे आए हुए सूत्रो के समान है । उनका वर्णन अक्षरश मिलता है—

---

१. वृत्ति पत्र ४३ . तत्र द्रव्ये—द्रव्यविषये या क्रिया एजनता' एजृ कम्पने' जीवस्याऽजीवस्या वा कम्पनरूपाचलनस्वभावा सा द्रव्य-क्रिया, सापि प्रयोगाद्विस्रसया वा भवेत्, तत्राप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोगपूर्विका वा अक्षिनिमेषमात्रादिका सा सर्वा द्रव्यक्रियेति ।

२. निर्युक्तिगाथा १६६ .

दव्वे किरिएजणया य पयोगुवायकरणिज्जसमुदाणे ।
इरियावहसंमत्ते सम्मामिच्छा य मिच्छत्ते ।।

	पहला अध्ययन		दूसरा अध्ययन
सूत्र—	४९-५२	सूत्र—	३३-३६
	५३-५५		३७-३९
	५६-५८		४०-४२
	५९-६६		४३-५०
	६७-७०		५१-५५

इस प्रकार बावीस सूत्र दोनो अध्ययनो मे समान है। इस अध्ययन के अठारहवे सूत्र मे पापश्रुत अध्ययनो के प्रसग मे निमित्त-शास्त्र, लक्षणशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र और मन्त्रशास्त्र की अनेक जानकारिया दी है। सूत्रकार ने चौसठ पापश्रुत गिनाए हैं। पापश्रुत का अर्थ है—ऐसा ज्ञान जिससे पाप का बन्ध होता हो। कोरा ज्ञान पाप का बन्ध नही करता। पाप के बन्ध मे ज्ञान का प्रयोग ही कारण बनता है। जो व्यक्ति इन सारी विद्याओ का प्रयोग भौतिक सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए करता है, वह पापकर्म का बन्ध करता है।

उन्नीसवे सूत्र मे चौदह प्रकार के क्रूरकर्म बतलाए है। इनके अध्ययन से तात्कालिक समाज-व्यवस्था मे होने वाले अनाचरणो का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

इसी प्रकार शब्द आदि विषयो के प्रति आसक्त, सम्प्रदाय के अभिनिवेश से लिप्त अचिन्तनशील व्यक्ति अनेक प्रकार के क्रूर कर्म करने मे सलग्न रहते है। वे आत्महित और परहित का अनुसंधान नही करते। वे विपुल कर्मों का बन्ध कर निम्नतम गति मे जाते है और अपने कर्मों को भोगते है।

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—

१ धर्मपक्ष मे स्थित

२. अधर्मपक्ष मे स्थित

३. धर्म-अधर्मपक्ष मे स्थित

मुनि धर्मपक्ष मे स्थित होते है। तापस परिव्राजक आदि मिश्रपक्ष—धर्म-अधर्म पक्ष मे स्थित होते हैं। जो गृहस्थ महारभ, महा-परिग्रह वाले होते है। वे अधर्म पक्ष मे स्थित है। इन पाच सूत्रो (५८-६२) मे उनके क्रूरकर्मों का सुन्दर निरूपण हुआ है। किस प्रकार वे पशुओ, दास-दासियो तथा अन्यान्य स्त्री-पुरुषो को दडित करते है, अपने परिवार के सदस्यो—माता-पिता, भाई-बहिन आदि को सताते है, पीटते हैं दागते है, इसका चित्रण है। इसके अध्ययन से तात्कालिक पारिवारिक व्यवस्था और दड व्यवस्था का सम्यक् अवबोध होता है।

अहिंसा का सिद्धान्त आत्मौपम्यदृष्टि पर आधृत है। इसका सुन्दर निदर्शन सतत्तरवे सूत्र मे किया गया है। अनेक प्रावादुक एक स्थान पर समवसृत हैं। एक व्यक्ति जलते हुए अगारो से भरे हुए पात्र को सडासी से पकड कर लाता है और एक-एक से कहता है—'प्रत्येक प्रावादुक अगारो से भरे इस लोहपात्र को अपने-अपने हाथ मे थामे रखे।' वह उस पात्र को उनकी ओर बढाता है। वे प्रावादुक अपना हाथ खीच लेते है। वह पूछता है—हाथ पीछे क्यो खीच रहे है? प्रावादुक कहते है—क्या हाथ नही जल जाएगा? क्या हमे दु ख-पीडा नही होगी? वह व्यक्ति तब कहता है—यही तुला है, यही प्रमाण है, यही समवसरण है। जैसे तुम्हे सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय, वैसे ही प्रत्येक जीव सुख चाहता है, जीना चाहता है, कोई दु ख नही चाहता, मरना नही चाहता। यही आत्मौपम्य का सिद्धान्त है, यही आत्म-तुला है।

इस अध्ययन का सार-सक्षेप यही है कि बारह क्रियाओ मे प्रवृत्ति करने वाला कर्मो से बन्धता है, ससार-भ्रमण को बढाता है और तेरहवी क्रिया मे प्रवृत्ति करने वाला संसार-भ्रमण का उच्छेद कर देता है।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के ७२ वें सूत्र के अन्तर्गत पाठ निर्धारण की कठिनाई का उल्लेख करते हुए कहा है—'प्राय सभी सूत्र प्रतियो मे नानाविध सूत्र देखे जाते है। टीका (प्राचीन टीका) मे स्वीकृत पाठ का सवादी एक भी आदर्श हमारे सामने नही है। इसलिए हमने एक आदर्श को स्वीकार कर, उसके पाठ के अनुसार विवरण दिया है। सूत्र पाठो की विसवादिता को देखकर पाठक व्यामूढ न बने, सकल्प-विकल्प मे न फसे।'[1]

वृत्तिकार के इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके सामने पाठ-निर्धारण की अनेक समस्याए थी। हस्तलिखित आदर्शों के पाठ एकरूप नही थे। उन भिन्न-भिन्न पाठो से मूल पाठ का निर्धारण करना सहज-सुगम नही था।

---

१ वृत्ति पत्र ७९ इह च प्राय सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासंवाद्येकोऽप्यस्माभिरादर्श· समुपलब्धोऽत एक-मादर्शमङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरणं क्रियते इत्येतदवगम्य सूत्रविसंवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति।

बीअं अज्झयणं : दूसरा अध्ययन

किरियाठाणे : क्रियास्थान

मूल

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरियाठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते । तस्स णं अयमट्ठे, इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति, तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव ।।

२. तत्थ णं जे से पढमठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे, तस्स णं अयमट्ठे, इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा सतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे । तेसिं च णं इमं एयारूवं दंडसमादाणं संपेहाए, तं जहा—णेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु माणुसेसु देवेसु जे यावण्णे तहप्पगारा पाणा विण्णू वेयणं वेयंति । तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति मक्खायं, तं जहा—अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकस्मादंडे, दिट्ठिविपरियासियादंडे, मोसवत्तिए, अदिण्णादाणवत्तिए, अज्झत्थिए, माणवत्तिए, मित्तदोसवत्तिए, मायावत्तिए, लोभवत्तिए, इरियावहिए ।।

संस्कृत छाया

श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं—इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनं प्रज्ञप्तम् । तस्य अयमर्थः, इह खलु संयूथेन द्वे स्थाने एवमाह्रीयेते, तद् यथा—धर्मश्चैव अधर्मश्चैव, उपशान्तश्चैव अनुपशान्तश्चैव ।

तत्र य एष प्रथमस्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंग, तस्य अयमर्थ, इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीन वा उदीचीन वा दक्षिण वा सति एकका मनुष्या. भवन्ति, तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके, उच्चगोत्रा अप्येके नीचगोत्रा अप्येके, कायवन्तः अप्येके ह्रस्ववन्त अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा अप्येके । तेषा च इद एतद्रूपं दण्डसमादान सप्रेक्ष्य, तद् यथा—नैरयिकेषु तिर्यग्योनिकेषु मनुष्येषु देवेषु ये चाप्यन्ये तथाप्रकारा. प्राणा विज्ञा वेदनां वेदयन्ति । तेषा अपि च इमानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्ति इति आख्यात, तद् यथा—अर्थदण्ड, अनर्थदण्ड, हिंसादण्ड, अकस्मात्दड, दृष्टिविपर्यासिकादण्ड, मृषाप्रत्यय, अदत्तादानप्रत्यय., आध्यात्मिक, मानप्रत्यय., मित्रदोषप्रत्यय., मायाप्रत्यय., लोभप्रत्यय, ईर्यापथिकः ।।

हिन्दी अनुवाद

१ आयुष्मान्[१] मैंने सुना है, उन भगवान् ने ऐसा कहा—यहा क्रियास्थान[१] नामक अध्ययन प्रज्ञप्त है । उसका यह अर्थ है । यहा सक्षेप मे[२] दो स्थान इस प्रकार प्रतिपादित है, जैसे—धर्म और अधर्म, उपशान्त और अनुपशान्त[३] ।

२. उनमे प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का जो विकल्प है[४], उसका यह अर्थ है । इस जगत् मे पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते है, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते है कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लबे होते है कुछ नाटे, कुछ गोरे होते है कुछ काले, कुछ सुडोल होते हैं और कुछ कुडोल । (अधर्मपक्ष मे वर्तमान) उन मनुष्यो के इस प्रकार के दड-समादान[५] (हिंसात्मक आचरण) को देखकर (यह प्रश्न होता है कि क्या दड-समादान केवल मनुष्य मे ही है या अन्य प्राणियो मे भी ? समाधान की भाषा मे सूत्रकार कहते हैं) नैरयिको, तिर्यञ्चो, मनुष्यो और देवो मे जितने भी उस प्रकार के[६] प्राणी है, जो ज्ञानी हैं और वेदना का वेदन करते है[७], उन सभी के ये तेरह क्रियास्थान होते हैं, यह कहा गया है । जैसे—अर्थदड[८], अनर्थदड, हिंसादड, अकस्मात्दड, दृष्टिविपर्यासिकादड, मृषाप्रत्यय, अदत्तादानप्रत्यय, आध्यात्मिक, मानप्रत्यय, मित्रदोषप्रत्यय, मायाप्रत्यय, लोभप्रत्यय और ईर्यापथिक ।

३. पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ—
से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा णागहेउं वा मित्तहेउं वा भूयहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।
पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥

प्रथम दण्डसमादान अर्थदण्ड-प्रत्यय इति आह्रीयते—तद् यथा-नाम कश्चित् पुरुष. आत्महेतु वा ज्ञातिहेतु वा अगारहेतु वा परिवारहेतुं वा मित्रहेतु वा नाग-हेतु वा भूतहेतु वा यक्षहेतु वा त दण्ड त्रसस्थावरेषु प्राणेषु स्वयमेव निसृजति, अन्येनापि निसर्जयति अन्यमपि निसृजन्त समनुजानाति। एव खलु तस्य तत्प्रत्यय सावद्य इति आह्रीयते।
प्रथम दण्डसमादान अर्थदण्ड-प्रत्यय इति आहृतम्।

३. पहला दड-समादान अर्थदडप्रत्यय कहलाता है—जैसे कोई पुरुष अपने लिए या ज्ञाति के लिए या घर के लिए या परिवार के लिए या[1] मित्र के लिए या नाग के लिए या भूत के लिए या यक्ष के लिए त्रस-स्थावर प्राणियो के प्रति स्वयमेव उस दड का प्रयोग करता है, दूसरो से प्रयोग करवाता है और प्रयोग करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार उस मनुष्य के अर्थदड के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।
पहला दड-समादान अर्थदडप्रत्यय कहा गया है।

४. अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अण-ट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ—
से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए णो हिययाए णो पित्ताए णो वसाए णो पिच्छाए णो पुच्छाए णो वालाए णो सिंगाए णो विसा-णाए णो दंताए णो दाढाए णो णहाए णो ण्हारुणिए णो अट्ठीए णो अट्ठिमिजाए, णो हिंसिसु मे त्ति, णो हिंसति मे त्ति, णो हिंसि-स्संति मे त्ति, णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो अगारपरिवूहण-याए णो समणमाहणवत्तणाहेउ णो तस्स सरीरगस्स किंचि विप-रियाइत्ता भवति।

अथापर द्वितीयं दण्डसमादान अनर्थदण्डप्रत्यय इति अह्रीयते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. ये इमे त्रसा. प्राणा. भवन्ति, तान् नो अर्चायै नो अजिनाय नो मासाय नो शोणिताय नो हृदयाय नो पित्ताय नो वसायै नो पिच्छाय नो पुच्छाय नो वालाय नो शृगाय नो विषाणाय नो दन्ताय नो दन्ष्ट्रायै नो नखाय नो स्नायवे नो अस्थ्ने नो अस्थिमज्जायै नो अहिंसिषु मां इति, नो हिन्सन्ति मा इति, नो हिन्सिष्यति मा इति नो पुत्रपोषणाय नो पशुपोपणाय नो अगारपरिवृंहणाय नो श्रमण-ब्राह्मणवर्तनाहेतु नो तस्य शरीर-कस्य किञ्चित् विपर्यादाता भवति।

४ अब दूसरा दड-समादान अनर्थ-दडप्रत्यय कह-लाता है—जैसे कोई पुरुष (निष्प्रयोजन हिंसा करता है।) जो ये त्रस प्राणी हैं, उन्हे न शरीर के लिए[2], न चर्म के लिए, न मास के लिए, न रक्त के लिए, न हृदय के लिए, न पित्त के लिए, न चर्बी के लिए, न पख के लिए, न पूछ के लिए, न केश के लिए, न सीग के लिए, न विषाण के लिए, न दात के लिए, न दाढ के लिए, न नख के लिए, न स्नायु के लिए, न हड्डी के लिए, न अस्थि-मज्जा के लिए और न इसलिए कि उसने मुझे चोट पहुंचाई थी, वह मुझे चोट पहुचा रहा है, वह मुझे चोट पहुचायेगा, न पुत्रपोषण के लिए, न पशु-पोषण के लिए, न घर को बढाने के लिए, न श्रमण-ब्राह्मण की आजीविका के लिए और न उसके अपने शरीर के लिए कुछ भी उपा-देय होता है।

से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता ओदवइत्ता उज्झिउं वाले वेरस्स आभागी भवति—अणट्ठादंडे।
से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इक्कडा इ वा कडिणा इ वा जंतुगा इ वा परगा इ वा मोरका इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्छगा

स हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पित्वा विलुम्प्य अवद्राव्य उज्झित्वा वाल. वैरस्य आभागी भवति—अनर्थदण्ड.।
तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. ये इमे स्थावरा प्राणा. भवन्ति, तद् यथा—'इक्कडा' इति वा 'कडिणा' इति वा 'जतुगा' इति वा 'परगा' इति वा 'मोरका'

फिर भी उन त्रस-प्राणियो का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन, प्राण-हरण कर,[3] विवेक को छोड, वह अज्ञानी पुरुष वैर का[4] भागी होता है—यह अनर्थदड है।
जैसे कोई पुरुष (निष्प्रयोजन हिंसा करता है।) जो ये स्थावर प्राणी होते है, जैसे[5]—इक्कड, कडिण, जतुक, परक, मोरक, तृण[6], कुश, कूर्चक, पर्वज या पलाल—उन (वनस्पति जीवो) को न पुत्र-पोषण के लिए, न पशु-

इ वा पव्वगा इ वा पलाला इ वा—ते णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो अगारपरिवूहणयाए णो समणमाहणवत्तणाहेउं णो तस्स सरीरगस्स किंचि विपरियाइत्ता भवति।
से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता ओदवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवइ—अणट्ठादंडे।

इति वा तृणा इति वा कुशा इति वा कूर्चका इति वा पर्वजा इति वा पलाला इति वा तान् नो पुत्रपोषणाय नो पशुपोषणाय नो अगारपरिबृंहणाय नो श्रमण-ब्राह्मणवर्तनाहेतु नो तस्य शरीरकस्य किञ्चित् विपर्यादाता भवति। स हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पित्वा विलुम्प्य अवद्राव्य उज्झित्वा बाल वैरस्य आभागी भवति—अनर्थदण्ड ।

पोषण के लिए, न घर को बढाने के लिए, न श्रमण-ब्राह्मण की आजीविका के लिए, न उसके अपने शरीर के लिए कुछ भी उपादेय होता है, फिर भी उन स्थावर प्राणियो का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन, प्राण-हरण कर, विवेक को छोड, वह अज्ञानी पुरुष वैर का भागी होता हे—यह अनर्थदड है।

से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय-ऊसविय सयमेव अगणिकाय णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणति—अणट्ठादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष कक्षे वा द्रहे वा उदके वा 'दवियसि' वा वलये वा 'णूमसि' वा गहने वा गहनविदुर्गे वा वने वा वनविदुर्गे वा पर्वते वा पर्वतविदुर्गे वा तृणानि उच्छित्य-उच्छित्य स्वयमेव अग्निकाय निसृजति, अन्येनापि अग्निकाय निसर्जयति, अन्यमपि अग्निकाय निसृजन्तमपि समनुजानाति—अनर्थदण्डः। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्यं इति आह्रीयते।

जैसे कोई पुरुष कछार, द्रह, जल, घास का जगल, टेढी-मेढी नदी से घिरे हुए भूभाग, वृक्षो से आच्छन्न जगल, गहन, दुर्गम-गहन, वन, दुर्गम-वन, पर्वत या दुर्गम-पर्वत मे तृणो का ढेर कर स्वय आग लगता है, दूसरो से आग लगवाता है, आग लगाने वाले का अनुमोदन करता है—यह अनर्थदड है। इस प्रकार उस मनुष्य के अनर्थदड के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए॥

द्वितीयं दण्डसमादान अनर्थदण्डप्रत्यय इति आहृतम्॥

दूसरा दड-समादान अनर्थदडप्रत्यय कहा गया है।

५. अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ—से जहाणामए केइ पुरिसे ममं वा ममियं वा अण्णं वा अण्णियं वा हिंसिसु वा, हिंसंति वा, हिंसिस्संति वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरइ, अण्णेण वि णिसिरावेइ, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणइ—हिंसादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।
तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिए॥

अथापर तृतीय दण्डसमादान हिन्सादण्डप्रत्यय इति आह्रीयते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. मा वा मामकीनां वा अन्यं वा अन्यदीया वा अहिंसिषु, हिन्सन्ति, हिन्सिष्यन्ति, वा तद् दण्डं त्रसस्थावरेषु प्राणेषु स्वयमेव निसृजति अन्येनापि निसर्जयति अन्यमपि निसृजन्त समनुजानाति—हिंसादण्ड। एव खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्यं इति आह्रीयते। तृतीयं दण्डसमादान हिंसादण्डप्रत्यय इति आहृतम्।

५ अब तीसरा दड-समादान हिंसादड-प्रत्यय कहलाता है—
जैसे कोई पुरुष (अमुक त्रस या स्थावर प्राणी ने) मेरी या मेरे व्यक्ति की, दूसरे की या दूसरे के व्यक्ति की हिंसा की थी, कर रहा है या करेगा इसलिए त्रस-स्थावर प्राणियो पर स्वय उस दड का प्रयोग करता है, दूसरो से करवाता है और वैसा करने वाले का अनुमोदन करता है—यह हिंसादड है। इस प्रकार उस मनुष्य के हिंसादड के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।
तीसरा दड-समादान हिंसादड-प्रत्यय कहा गया है।

६. अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मादडवत्तिए त्ति आहिज्जइ—

अथापर चतुर्थ दण्डसमादान अकस्मात्दण्डप्रत्ययं इति आह्री-

६ अब चौथा दड-समादान अकस्मात्-दडप्रत्यय कहलाता है—

से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एते मिय त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविजलं वा विंधित्ता भवति—इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसइ—अकस्मादंडे ।

यते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. कक्षे वा द्रहे वा उदके वा 'दवियसि' वा वलये वा 'णूमंसि' वा गहने वा गहनविदुर्गे वा वने वा वनविदुर्गे वा पर्वते वा पर्वतविदुर्गे वा मृगवृत्तिक. मृगसंकल्पः मृगप्रणिधान. मृगवधाय गत्वा 'एते मृगा' इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषु आयम्य निसृजेत, स 'मृगं हनिष्यामि' इति कृत्वा तित्तिरं वा वर्तकं वा चटकं वा लावक वा कपोतक वा कपिं वा कपिंजलं वा व्यद्धा भवति—इति खलु स अन्यस्यार्थाय अन्य स्पृशति—अकस्मात्दण्डः ।

जैसे कोई मृगजीवी पुरुष मृग का संकल्प और अवधान कर[१६] कछार, द्रह, जल, घास का जंगल, टेढी-मेढी नदी से घिरे हुए भू-भाग, वृक्षो से आच्छन्न जगल, गहन, दुर्गम-गहन, वन, दुर्गम-वन पर्वत या दुर्गम-पर्वत मे मृगवध के लिए जाकर 'ये मृग हैं'—ऐसा सोच, किसी एक मृग के वध के लिए वाण को खीच कर फेंकता है, वह 'मृग को मारूंगा'—ऐसा सोच (वाण फेकता है, किन्तु उससे) तीतर, वटेर, चिडिया, लावा, कवूतर, कपि या कपिंजल (चातक) को बीध डालता है—इस प्रकार वह दूसरे को मारने के लिए वाण फेकता है और दूसरे को मार डालता है[१७]—यह अकस्मात्दड है ।

से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अण्णयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं तणगं मुकुंदुगं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवति—इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसति—अकस्मादंडे । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

यथानाम कश्चित् पुरुष. शालीन् वा व्रीहीन् वा कोद्रवान् वा कंगूर्वा परकान् वा राला. वा निलीयमानः अन्यतरस्य तृणस्य वधाय शस्त्र निसृजेत्, स श्यामक तृणकं मुकुन्दुक व्रीहि-उच्छ्रित 'कलेसुय' तृण छेत्स्यामि इति कृत्वा शालिं वा व्रीहिं वा कोद्रव वा कगु वा परक वा रालकं वा छेत्ता भवति—एव खलु स अन्यस्यार्थाय अन्य स्पृशति—अकस्मात्दड. । एव खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्य इति आह्रीयते ।

जैसे कोई पुरुष शालि, व्रीही, कोदव, कगू (टागुन), परक या राल के खेत को नीदते हुए, किसी तृण को काटने के लिए शस्त्र का प्रयोग करे, वह सवा[१८] को, तृण को, मुकुन्दुक[१९] को, व्रीहि पर जमे हुए 'कलेसुक' तृण को काटूंगा यह सोच शालि, व्रीहि, कोदव, कगू, परक या राल को काट देता है, इस प्रकार वह दूसरे को काटने के लिए शस्त्र चलता है और दूसरे को काट डालता है। यह अकस्मात्दड है। इस प्रकार उस मनुष्य के अकस्मात्दड के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मादंडवत्तिए आहिए ॥

चतुर्थं दण्डसमादान अकस्मात्दडप्रत्यय इति आहृतम् ।

चौथा दड-समादान अकस्मात्दडप्रत्यय कहा गया है।

७. अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ—से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमिति मण्णमाणे मित्ते हयपुव्वे भवइ—दिट्ठिविपरियासियादंडे ।

अथापर पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासिकादण्डप्रत्यय इति आह्रीयते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. मातृभिर्वा पितृभिर्वा भ्रातृभिर्वा भगिनीभिर्वा भार्याभिर्वा पुत्रैर्वा दुहितृभिर्वा स्नुषाभिर्वा सार्ध संवसन् मित्र अमित्रमिति मन्यमानः मित्र हतपूर्व भवति—दृष्टिविपर्यासिकादण्ड ।

७ अब पाचवा दडसमादान दृष्टिविपर्यासिकादड प्रत्यय कहलाता है—

जैसे कोई पुरुष माता, पिता,[२०] भाई, बहिन, भार्या, पुत्र, पुत्री या पुत्रवधू के साथ रहता हुआ मित्र को अमित्र मान कर उसे मार डालता है—यह दृष्टिविपर्यासिकादड है ।

से जहाणामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेडघायंसि कब्बडघायंसि मडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघायंसि वा सण्णिवेसघायंसि वा णिगमघायंसि वा रायहाणिघायंसि वा अतेणं तेणमिति मण्णमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ—दिट्ठिविपरियासियादंडे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।
पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठिविपरियासियादंडवत्तिए त्ति आहिए॥

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष· ग्रामघाते वा नगरघाते वा खेटघाते वा कर्वटघाते वा मडंबघाते वा द्रोणमुखघाते वा पत्तनघाते वा आश्रमघाते वा सन्निवेशघाते वा निगमघाते वा राजधानीघाते वा अस्तेन स्तेनमिति मन्यमान. अस्तेनं हतपूर्वो भवति—दृष्टिविपर्यासिकादण्ड। एव खलु तस्य तत्प्रत्यय सावद्य इति आह्नीयते।
पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासिकादण्डप्रत्यय इति आहृतम्॥

जैसे कोई पुरुष ग्रामघात,[२१] नगरघात, खेटघात, कर्वटघात, मडवघात, द्रोणमुखघात, पत्तनघात, आश्रमघात, सन्निवेशघात, निगमघात या राजधानीघात के समय अचोर को चोर मानकर उसे मार डालता है—यह दृष्टिविपर्यासिकादड है। इस प्रकार उस मनुष्य के दृष्टिविपर्यासिकादड के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

पाचवा दड-समादान[२२], दृष्टिविपर्यासिकादड-प्रत्यय कहा गया है।

८. अहावरे छट्ठे किरियट्ठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिज्जइ—
से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वयावेइ, मुसं वयत पि अण्णं समणुजाणति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।
छट्ठे किरियट्ठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिए॥

अथापरं षष्ठ क्रियास्थान मृषाप्रत्यय इति आह्नीयते—
तद् यथानाम कश्चित् पुरुष आत्महेतु वा ज्ञातिहेतु वा अगारहेतु वा परिवारहेतु वा स्वयमेव मृषा वदति, अन्येनापि मृषा वादयति, मृषा वदतमपि अन्य समनुजानाति। एव खलु तस्य तत्प्रत्यय सावद्य इति आह्नीयते।
षष्ठ क्रियास्थान मृषाप्रत्यय इति आहृतम्॥

८. अब छठा क्रियास्थान मृषाप्रत्यय कहलाता है—
जैसे कोई पुरुष अपने लिए[२३] या ज्ञाति के लिए या घर के लिए या परिवार के लिए स्वय ही झूठ बोलता है, दूसरो से भी झूठ बुलवाता है और बोलने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार उस मनुष्य के मृषाप्रत्यय के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

छठा क्रियास्थान मृषाप्रत्यय कहा गया है।

९. अहावरे सत्तमे किरियट्ठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिज्जइ—से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियति, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेति, अदिण्णं आदियंतं पि अण्णं समणुजाणइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।
सत्तमे किरियट्ठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिए॥

अथापर सप्तम क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्यय इति आह्नीयते—
तद् यथानाम कश्चित् पुरुष आत्महेतु वा ज्ञातिहेतु वा अगारहेतु वा परिवारहेतु वा स्वयमेव अदत्त आददाति, अन्येनापि अदत्तं आदापयति, अदत्त आददतमपि अन्यं समनुजानाति। एव खलु तस्य तत्प्रत्यय सावद्य इति आह्नीयते।
सप्तम क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्यय इति आहृतम्॥

९ अब सातवा क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्यय कहलाता है। जैसे कोई पुरुष अपने लिए या ज्ञाति के लिए या घर के लिए या परिवार के लिए स्वय ही अदत्त ग्रहण करता है, दूसरो से भी अदत्त ग्रहण करवाता है और अदत्त ग्रहण करने वाले दूसरे व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस प्रकार उस मनुष्य के अदत्तादानप्रत्यय के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

सातवा क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्यय कहा गया है।

१०. अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिज्जइ—
से जहाणामए केइ पुरिसे—णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेइ—

अथापर अष्टम क्रियास्थान आध्यात्मिक इति आह्नीयते—
तद् यथानाम कश्चित् पुरुष.—नास्ति कश्चित् किञ्चिद् विसं-

१० अब आठवा क्रियास्थान आध्यात्मिक कहलाता है—
जैसे कोई पुरुष—किसी के द्वारा इच्छा का अतिक्रमण न होने पर भी—अपने आप ही

सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चितासोगसागर-संपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाति, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तं जहा—कोहे माणे माया लोहे। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

वादयति स्वयमेव हीनो दीनो दुष्टो दुर्मना अपहृतमन:सकल्प. चिताशोकसागरसंप्रविष्ट. करतलपर्यस्तमुखः आर्त्तध्यानोपगत. भूमिगतदृष्टिक. ध्यायति, तस्य आध्यात्मिकानि असश्रितानि चत्वारि स्थानानि एवं आह्लीयन्ते, तद् यथा—क्रोधः मान माया लोभ.। एव खलु तस्य तत्प्रत्यय सावद्यं इति आह्लीयते।

हीन, दीन, क्रुद्ध, दुर्मनस्क, मरे हुए मन के सकल्प वाला, चिन्ता और शोक के सागर मे डूबा हुआ, मुह को हथेली पर टिकाए हुए, आर्त्तध्यान से युक्त, भूमी मे दृष्टि गाडे हुए चिन्ता करता है। उसके आध्यात्मिक[३७] (अन्तर्मन मे होने वाले) और निमित्तशून्य[३८] चार स्थान कहे जाते है, जैसे—क्रोध, मान, माया और लोभ। इस प्रकार उस मनुष्य के आध्यात्मिक निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिए॥

अष्टमं क्रियास्थानं आध्यात्मिकं इति आहृतम्।

आठवा क्रियास्थान आध्यात्मिक कहा गया है।

११. अहावरे णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जइ—से जहाणामए केइ पुरिसे जाइमदेण वा कुलमदेण वा बलमदेण वा रूवमदेण वा तवमदेण वा सुयमदेण वा लाभमदेण वा इस्सरियमदेण वा पण्णामदेण वा, अण्णयरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति णिंदेति खिंसति गरिहति परिभवति अवमण्णति। इत्तरिए अयं, अहमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइगुणोववेए— एवं अप्पाणं समुक्कसे। देहा चुए कम्मबिइए अवसे पयाति,[३८] तं जहा—गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं। चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

अथापरं नवमं क्रियास्थान मानप्रत्ययं इति आह्लीयते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. जातिमदेन वा कुलमदेन वा बलमदेन वा रूपमदेन वा तपोमदेन वा श्रुतमदेन वा लाभमदेन वा ऐश्वर्यमदेन वा प्रज्ञामदेन वा, अन्यतरेण वा मदस्थानेन मत्त. सन् परं हीलयति निन्दति 'खिसति' गर्हते परिभवति अवमन्यते। इत्वरिक अय, अहमस्मि पुन विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेत·—एव आत्मान समुत्कर्षयेत्। देहाद् च्युत. कर्मद्वितीय. अवश. प्रयाति, तद् यथा—गर्भात् गर्भ जन्मन. जन्म मरणात् मरण नरकात् नरकम्। चण्ड· स्तब्धः चपल. मानी चापि भवति। एवं खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्य इति आह्लीयते।

११ अब नौवा क्रियास्थान मानप्रत्यय कहलाता है—

जैसे कोई पुरुष जातिमद, कुलमद बलमद रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद, ऐश्वर्यमद, या प्रज्ञामद, अथवा किसी अन्य मद-स्थान से मत्त होकर दूसरे की अवहेलना[३९] करता है, निन्दा करता है, भर्त्सना करता है और गर्हा करता है, तिरस्कार करता है और अवज्ञा करता है। 'यह तुच्छ है'[४०] और मैं विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणो से युक्त हू'—इस प्रकार वह अपने को बड़ा अनुभव करता है। (किन्तु मृत्यु आने पर वह) देह से च्युत हो, कर्म को साथ लिए हुए विवश होकर प्रयाण कर देता है, जैसे—एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे,[४१] एक जन्म से दूसरे जन्म मे, एक मरण से दूसरे मरण मे, एक नरक से दूसरे नरक मे।[४२] वह चड, स्तब्ध, चपल और मानी होता है।[४३] इस प्रकार उस मनुष्य के मान के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है।

णवमे किरियट्ठाणे माणवत्तिए त्ति आहिए॥

नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययं इति आहृतम्॥

नौवा क्रियास्थान मानप्रत्यय कहा गया है।

१२. अहावरे दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जइ—से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे

अथापरं दशम क्रियास्थान मित्रदोषप्रत्यय इति आह्लीयते—तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः मातृभिर्वा पितृभिर्वा भ्रातृभिर्वा भगिनीभिर्वा भार्याभिर्वा दुहितृभिर्वा पुत्रैर्वा स्नुषाभिर्वा सार्धं

१२ अब दसवा क्रियास्थान मित्रदोषप्रत्यय कहलाता है—

जैसे कोई पुरुष माता, पिता भाई, बहिन, भार्या, पुत्री, पुत्र या पुत्रवधू के साथ रहता हुआ, उनके किसी छोटे से अपराध पर स्वयं ही भारी दड देता है, जैसे—ठंडे पानी मे

तेसिं अण्णयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिव्वत्तेति, तं जहा—सीओदग-वियडंसि वा कायं उब्बोलेत्ता भवइ, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ, अगणिकायेणं कायं उड्डहित्ता भवइ, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा अण्णयरेण वा दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति ।

संवसन् तेषां अन्यतरस्मिन् यथा-लघुके अपराधे स्वयमेव गुरुक दंडं निर्वर्तयति, तद् यथा—शीतो-दकविकटे वा कायं उद्ब्रोडयिता भवति, उष्णोदकविकटेन वा काय अवसेक्ता भवति, अग्नि-कायेन काय उद्दग्धा भवति, योक्त्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा त्वचा वा कशेन वा 'छिवाए' वा लतया वा अन्यतरेण वा दवरकेन पार्श्वाणि उद्दालयिता भवति, दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्ट्या वा लेष्टुना वा कपालेन वा कायं आकुट्टयिता भवति ।

शरीर को डुबोता है,[१२] गर्म पानी से शरीर का सिंचन करता है[१३], अग्नि से शरीर को दागता है[१४], जोत, बेंत, नेत्र (बाध), त्वचा, चाबुक, लोहे की पतली छडी, लता या किसी अन्य रस्सी से दोनो पार्श्वों की चमडी को उधेड डालता है और डडे, हड्डी, मुट्ठी, ढेले या कपाल से शरीर को कूटता है ।

तहप्पगारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पवसमाणे सुमणा भवंति ।

तथाप्रकारे पुरुषजाते संवसति दुर्मनसो भवन्ति, प्रवसति सुमनसो भवन्ति ।

ऐसे पुरुष के घर पर रहते हुए (पारिवारिक लोग) अप्रसन्न मन वाले होते है और उसके परदेश चले जाने पर वे प्रसन्न मन वाले होते हैं ।

तहप्पगारे पुरिसजाते दंडपासी, दंडगरुए, दंडपुरक्खडे, अहिते इमंसि लोगंसि, अहिते परंसि लोगंसि, संजलणे कोहणे, पिट्ठिमंसियावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जति ।

तथाप्रकार. पुरुषजातः दण्ड-पार्श्वी, दण्डगुरुक. पुरस्कृतदण्ड अहित अस्मिन् लोके, अहित परस्मिन् लोके, सज्वलन क्रोधन पृष्ठमांसाशी चापि भवति । एवं खलु तस्य तत्प्रत्यय. सावद्यं इति आह्रीयते ।

दड को पार्श्व (दाए-बाए) मे रखने वाला, भारी दड देने वाला, दड को ही सामने रखने वाला ऐसा पुरुष इस लोक मे भी अहितकर होता है और परलोक मे भी अहितकर होता है । वह थोडे मे ही जल-भुन जाने वाला, क्रोधी[१५] और चुगलखोर[१६] होता है । इस प्रकार उस मनुष्य के मित्रदोष के निमित्त से सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है ।

दसमे किरियट्ठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिए ॥

दसम क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययं इति आहृतम् ॥

दसवा क्रियास्थान मित्रदोपप्रत्यय कहा गया है ।[१७]

१३. अहावरे एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जइ—
जे इमे भवंति गूढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया पव्वयगुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ पउंजंति, अण्णहा संतं अप्पाणं अण्णहा मण्णंति, अण्णं पुट्ठा अण्णं वागरेंति, अण्णं आइक्खियव्वं अण्णं आइक्खंति ।

अथापर एकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययं इति आह्रीयते—
ये इमे भवन्ति गूढाचाराः तम.काषिकाः उलूकपत्रलघुकाः पर्वतगुरुका., ते आर्या अपि सन्तः अनार्याः भाषाः प्रयुञ्जते, अन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा मन्यन्ते, अन्यत् पृष्टा अन्यद् व्याकुर्वन्ति, अन्यत् आचक्षितव्यं अन्यत् आचक्षते ।

१३ अब ग्यारहवा क्रियास्थान मायाप्रत्यय कहलाता है—
जो ये रहस्यमय आचार वाले,[१८] अधेरे मे दुराचार करने वाले,[१९] उल्लू के पख की भाति हल्के और पर्वत की भाति भारी[२०] होते हैं, वे आर्य होते हुए भी अनार्य भाषाओ का प्रयोग करते है ।[२१] वे होते कुछ और है और अपने आप को मानते कुछ और ही है । उनसे पूछा कुछ और ही जाता है और उत्तर कुछ और ही देते हैं । उन्हे कहना कुछ और ही होता है और वे कहते कुछ और ही हैं ।

से जहाणामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णीहरति, णो अण्णेण णीहरावेति,

तद् यथानाम कश्चित् पुरुष. अन्त शल्य तत् शल्य नो स्वय निर्हरति, नो अन्येन निर्हारयति,

जैसे कोई भीतरी शल्य वाला पुरुष[२२] उस शल्य को न स्वय निकालता है, न दूसरे से निकलवाता है और न उसे नष्ट करता है ।

णो पडिविद्धंसेति, एवमेव णिण्हवेति, अविउट्टमाणे अंतो-अंतो रियाति, एवमेव माई मायं कट्टु णो आलोएइ, णो पडिक्कमेइ, णो णिंदइ, णो गरहइ, णो विउट्टइ, णो विसोहेइ, णो अकरणाए अब्भुट्ठेइ, णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ ।

नो प्रतिविध्वसयति, एवमेव निन्हुते, अविवर्तमान अन्त:-अन्त. रीयते, एवमेव मायी माया कृत्वा नो आलोचयति, नो प्रतिक्रामति, नो निन्दति, नो गर्हते, नो विवर्तते, नो विशोधयति, नो अकरणाय अभ्युत्तिष्ठति, नो यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्त प्रतिपद्यते ।

वह उसे ऐसे ही छिपाता है । न निकालने पर वह शल्य भीतर ही भीतर गहरे मे चला जाता है । इसी प्रकार मायावी पुरुप माया का आचरण कर आलोचना नही करता, प्रतिक्रमण नही करता, निन्दा नही करता, गर्हा नही करता, विवर्तन नही करता, विशोधन नही करता, पुन न करने के लिए अभ्युत्थित नही होता और न यथायोग्य तप कर्मरूपी प्रायश्चित्त को स्वीकार करता है ।

माई अंसि लोए पच्चायाति, माई परंसि लोए पच्चायाति, णिंदइ, पसंसति, णिच्चरति, ण णियट्टति, णिसिरिया दंडं छाएइ, माई असमाहडसुहलेस्से यावि भवइ । एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ ।

मायी अस्मिन् लोके प्रत्यायाति, मायी परस्मिन् लोके प्रत्यायाति, निन्दति, प्रशंसति, निश्चरति, न निवर्तते, निसृज्य दण्डं छादयति, मायी असमाहृतशुभलेश्यश्चापि भवति । एव खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्य इति आह्रीयते ।

मायावी पुरुप (मृत्यु के उपरान्त) इस लोक मे जन्म लेता है (तो वह साधारण कुल मे उत्पन्न होता है।) मायावी पुरुप (मृत्यु के उपरान्त) परलोक मे जन्म लेता है (तो वह दुर्गति मे उत्पन्न होता है।) मायावी पुरुप दूसरो की निन्दा और अपनी प्रशसा करता है, ठगी मे सफल होने पर और अधिक ठगी करने लग जाता है, माया से निवृत्त नही होता, दड का प्रयोग कर उसे छिपा लेता है और वह अशुभलेश्या से युक्त होता है । इस प्रकार उस मनुष्य के माया-प्रत्यय के निमित्त मे सावद्य होता है, ऐसा कहा गया है ।

एक्कारसमे किरियट्ठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए ॥

एकादशं क्रियास्थान मायाप्रत्यय इति आहृतम् ॥

ग्यारहवा क्रियास्थान मायाप्रत्यय कहा गया है ।

१४. अहावरे वारसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिज्जइ—
जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईरहस्सिया णो वहुसंजया, णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति—अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अण्णे उद्दवेयव्वा ।

अथापर द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्यय इति आह्रीयते—
ये इमे भवन्ति—आरण्यका: आवसथिका: ग्रामान्तिका: क्वचिद् राहस्यिका. नो वहुसंयता नो वहुप्रतिविरता. सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु, ते आत्मना सत्यामृपा एवं वियुञ्जन्ति—अहं न हन्तव्य· अन्ये हन्तव्या:, अह न आज्ञापयितव्य. अन्ये आज्ञापयितव्या., अहं न परिग्रहीतव्य. अन्ये परिग्रहीतव्या., अह न परितापयितव्य. अन्ये परितापयितव्या:, अहं न उद्द्रावयितव्य: अन्ये उद्द्रावयितव्या: ।

१४. अव वारहवा क्रियास्थान[४३] लोभप्रत्यय कहलाता है—
जो ये होते हैं—आरण्यक,[४४] आवसथिक[४५], ग्राम के समीप रहने वाले,[४६] रहस्यमय साधना मे सलग्न,[४७] जो वहुसंयमी नही हैं,[४८] जो सव प्राण-भूत-जीव-सत्त्वो के प्रति वहुप्रतिविरत नही हैं, वे स्वय सत्यमृपा वचन का प्रयोग इस प्रकार करते हैं—मैं वध्य नही हू दूसरे वध्य हैं, मैं आज्ञापनीय नही हू दूसरे आज्ञापनीय हैं, मैं दास होने योग्य नही हू दूसरे दास होने योग्य है, मैं परितापनीय नही हूं दूसरे परितापनीय है, मैं मारे जाने योग्य नही हू दूसरे मारे जाने योग्य हैं ।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा

एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता: गद्धा. ग्रथिता. अध्युपपन्ना:

इसी प्रकार वे स्त्री-कामो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त होकर चार-पाच या छह-

जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति। तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ।

यावत् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पञ्च) षड्दशमानि (षड्दश) अल्पतरं वा भूयस्तरं वा भुक्त्वा भोग-भोगान् कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति। ततो विप्रमुच्यमाना. भूय. एडमूकत्वेन तमस्त्वेन जातिमूकत्वेन प्रत्यायान्ति। एव खलु तस्य तत्प्रत्ययं सावद्य इति आख्रीयते।

दस वर्षो तक[४९] कम या अधिक भोगो को भोग, कालमास मे मर कर, किन्ही पापपूर्ण किल्विषिक[५०] स्थानो मे उत्पन्न होते है। वे वहा से मरकर पुन मेमने की भाति मूगे, अंधे[५१] और जन्म से मूगे—इस रूप मे जन्म लेते है। इस प्रकार उस मनुष्य के लोभप्रत्यय के निमित्त मे सावद्य होता है, ऐसा कहा गया हे।

दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए॥

द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययं इति आहृतम्॥

वारहवा क्रियास्थान लोभप्रत्यय कहा है।

१५. इच्चेताइं दुवालस किरियट्ठाणाइं दविएणं समणेणं वा माहणेणं वा सम्मं सुपरिजाणियव्वाणि भवंति॥

इत्येतानि द्वादश क्रियास्थानानि द्रव्येण श्रमणेन वा ब्राह्मणेन वा सम्यक् सुपरिज्ञातव्यानि भवन्ति।

१५ ये वारह क्रियास्थान राग-द्वेप मुक्त श्रमण या ब्राह्मण के लिए[५२] सम्यक् प्रकार से जानने योग्य हैं।

१६. अहावरे तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जइ—
इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडऽमत्त - णिक्खेवणासमियस्स उच्चार - पासवण - खेल-सिंघाण-जल्ल - पारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वइसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वइगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवायमवि, अत्थि विमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया णाम कज्जइ—सा पढमसमए बद्धपुट्ठा बितियसमए वेइया ततियसमए णिज्जिण्णा।

अथापर त्रयोदश क्रियास्थान ऐर्यापथिकं इति आख्रीयते—
इह खलु आत्मत्वाय सवृतस्य अनगारस्य ईर्यासमितस्य भाषासमितस्य एषणासमितस्य आदानभाण्डामत्रनिक्षेपणासमितस्य उच्चार-प्रस्रवण-क्ष्वेल-सिंघाण-जल्ल - पारिष्ठापनिकासमितस्य मन समितस्य वाक्समितस्य कायसमितस्य मनोगुप्तस्य वाग्गुप्तस्य कायगुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य गुप्तब्रह्मचारिण. आयुक्तं गच्छत. आयुक्त तिष्ठत आयुक्त निषीदत: आयुक्त त्वग् वर्तयत. आयुक्तं भुञ्जानस्य आयुक्त भाषमाणस्य आयुक्तं वस्त्रं प्रतिग्रहं कवल पादप्रोञ्छन गृह्णतो वा निक्षिपतो वा यावत् चक्षु पक्ष्मनिपातमपि, अस्ति विमात्रा सूक्ष्मा क्रिया ऐर्यापथिकी नाम क्रियते सा प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीयसमये वेदिता तृतीयसमये

१६ अव तेरहवा क्रियास्थान ऐर्यापथिक[५३] कहलाता है—

यहा आत्महित के लिए सवृत्त,[५४] गति मे सम्यक् प्रवृत्त,[५५] भापा मे सम्यक् प्रवृत्त, आहार आदि की एपणा मे सम्यक् प्रवृत्त, वस्त्र-पात्र आदि के लेने-रखने मे सम्यक् प्रवृत्त, मल-मूत्र-कफ-श्लेष्म-मेल की परिष्ठापना मे सम्यक् प्रवृत्त, मन से सम्यक् प्रवृत्त, वचन से सम्यक् प्रवृत्त, काया से सम्यक् प्रवृत्त, मन से गुप्त, वचन से गुप्त, काया से गुप्त, इन्द्रियो का सम्यग् निग्रह करने वाला, ब्रह्मचर्य की गुप्तियो से युक्त[५६] जो अनगार होता है, उसके अप्रमादपूर्वक[५७] चलते हुए, अप्रमादपूर्वक खडे रहते हुए, अप्रमादपूर्वक वैठते हुए, अप्रमादपूर्वक लेटते हुए, अप्रमादपूर्वक भोजन करते हुए, अप्रमादपूर्वक वोलते हुए, अप्रमादपूर्वक वस्त्र-पात्र-कवल-पादप्रोछन को लेते या रखते हुए, यहा तक कि पलक झपकाते हुए भी[५८] नाना-मात्रा वाली[५९] ईर्यापथिक नाम की सूक्ष्म क्रिया होती है। वह प्रथम समय मे वद्धस्पृष्ट होती है, दूसरे समय मे भोगी जाती है और तीसरे समय मे निर्जीर्ण हो जाती। वह वद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण होकर तत्

सा बद्धपुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मयाऽवि भवइ। एवं खलु तस्स तप्पत्तियं आहिज्जइ।

तेरसमे किरियट्ठाणे इरियावहिए त्ति आहिए॥

निर्जीर्णा। सा बद्धस्पृष्टा उदीरिता वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्-काले अकर्मताऽपि भवति। एव खलु तस्य तत्प्रत्ययं आह्नीयते।

त्रयोदशं क्रियास्थानं ऐर्यापथिक इति आहृतम्।

पश्चात्[१०] अकर्म हो जाती है। इस प्रकार उस वीतराग के ईर्यापथ के निमित्त से होने वाला वंध होता है।[११]

तेरहवा क्रियास्थान ऐर्यापथिक कहा गया है।

१७. से वेमि—जे य अईया जे य पडुप्पण्णा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियट्ठाणाइं भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्संति वा, पण्णवेंसु वा पण्णवेंति वा पण्णवेस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियट्ठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा॥

अथ ब्रवीमि—ये च अतीता ये च प्रत्युत्पन्ना ये च आगमिष्यन्तः अर्हन्तो भगवन्तः सर्वे ते एतानि चैव त्रयोदश क्रियास्थानानि अभाषिषत वा भाषन्ते वा भाषिष्यन्ते वा प्राजिज्ञपन् वा प्रज्ञापयन्ति वा प्रज्ञापयिष्यन्ति वा, एवं चैव त्रयोदश क्रियास्थानं असेविषत वा सेवन्ते वा सेविष्यन्ते वा।

१७. मैं कहता हूं—जो अर्हत् भगवान् अतीत मे हुए हैं, जो वर्तमान मे हैं और जो भविष्य मे होंगे, उन सबने इन तेरह क्रियास्थानो का प्रतिपादन किया है, करते है और करेंगे। उनका प्रज्ञापन किया है, करते हैं और करेंगे। इसी प्रकार उन्होने तेरहवे क्रियास्थान का सेवन किया है, करते हैं और करेंगे।

१८. अदुत्तरं च णं पुरिस-विजय-विभंगमाइक्खिस्सामि—
इह खलु णाणापण्णाणं णाणाछंदाणं णाणासीलाणं णाणादिट्ठीणं णाणारुईणं णाणारंभाणं णाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं इहलोगपडिबद्धाणं परलोगणिप्पिवासाणं विसयतिसियाणं इणं णाणाविहं पावसुयज्झयणं भवइ, तं जहा—
१. भोमं २. उप्पायं ३. सुविणं ४. अंतलिक्खं ५. अंगं ६. सरं ७. लक्खणं ८. वंजणं ९. इत्थिलक्खणं १०. पुरिसलक्खणं ११. हयलक्खणं १२. गयलक्खणं १३. गोणलक्खणं १४. मेंढलक्खणं १५. कुक्कुडलक्खणं १६. तित्तिरलक्खणं १७. वट्टगलक्खणं १८. लावगलक्खणं १९. चक्कलक्खणं २०. छत्तलक्खणं २१. चम्मलक्खणं २२. दंडलक्खणं २३. असिलक्खणं २४. मणिलक्खणं २५. कागणिलक्खणं २६. सुभगाकरं २७. दुब्भगाकरं २८. गब्भाकरं २९. मोहणकरं ३०. आहव्वणिं ३१.

अथ उत्तर च पुरुष-विचय-विभंगं आख्यास्यामि—
इह खलु नानाप्रज्ञाना नानाछंदाना नानाशीलानां नानादृष्टीना नानारुचीना नानारम्भाणां नानाध्यवसाय-सयुक्ताना इहलोकप्रतिबद्धाना परलोकनिष्पिपासाना विषय-तृषिताना इदं नानाविधं पाप-श्रुताध्ययनं भवति, तद् यथा—
१. भौम, २. उत्पात, ३. स्वप्न., ४. अन्तरिक्षं, ५. अंग, ६. स्वर, ७. लक्षणं, ८. व्यंजनं, ९. स्त्रीलक्षणं, १०. पुरुषलक्षण, ११. हयलक्षण, १२. गजलक्षण, १३. गोलक्षण, १४. मेषलक्षण, १५ कुक्कुटलक्षणं, १६. तित्तिर-लक्षण १७. वर्तकलक्षणं, १८. लावकलक्षण, १९. चक्रलक्षण, २०. छत्रलक्षणं, २१. चर्मलक्षणं, २२. दण्डलक्षणं, २३. असिलक्षणं, २४. मणिलक्षण, २५. काकिणी-लक्षण, २६. सुभगाकरं, २७. दुर्भगाकर, २८. गर्भकर, २९.

१८. इसके पश्चात्[१२] पुरुष-विचय[१३] का विभाग[१४] वतलाऊंगा—
यहां नानाप्रज्ञान,[१५], नानाछंद,[१६] नानाशील, नानादृष्टि, नानारुचि, नानाआरभ,[१७], नाना अध्यवसाय से संयुक्त, इहलोक के प्रति उदासीन तथा विषय के प्यासे मनुष्यो के यह नाना प्रकार का पापश्रुत-अध्ययन[१८] होता है, जैसे—

१. भौम—भूगर्भ-शास्त्र।
२. उत्पात—उल्कापात आदि प्राकृतिक घटनाओ की व्याख्या करने वाला शास्त्र।
३. स्वप्न—स्वप्नशास्त्र।
४. अन्तरिक्ष—ज्योतिषशास्त्र।
५. अग—अगविद्या।
६. स्वर—स्वर-शास्त्र।
७. लक्षण—सामुद्रिकशास्त्र, हस्तरेखा-विज्ञान।
८. व्यजन—तिल आदि चिह्नों के आधार पर शुभ-अशुभ वताने वाला शास्त्र।
९. स्त्रीलक्षण—स्त्रीलक्षण शास्त्र।
१०. पुरुषलक्षण—पुरुषलक्षण शास्त्र।
११. हयलक्षण—अश्वलक्षण शास्त्र।
१२. गजलक्षण—हस्तिलक्षण शास्त्र।
१३. गोलक्षण—वैललक्षण शास्त्र।
१४. मेषलक्षण—मेषलक्षण शास्त्र।
१५ कुक्कुटलक्षण—कुक्कुटलक्षण शास्त्र।

पागसासणि ३२. दव्वहोमं ३३. खत्तियविज्जं ३४. चंदचरियं ३५. सूरचरियं ३६. सुक्कचरियं ३७. बहस्सइचरियं ३८. उक्कापायं ३९. दिसादाहं ४०. मियचक्कं ४१. वायसपरिमंडलं ४२. पंसुवुट्ठि ४३. केसवुट्ठि ४४. मंसवुट्ठि ४५. रुहिरवुट्ठि ४६. वेयालिं ४७. अद्धवेयालिं ४८. ओसोवणिं ४९. तालुग्घाडणिं ५०. सोवागिं ५१. सावरिं ५२. दामिलिं ५३. कालिंगिं ५४. गोरिं ५५. गंधारिं ५६. ओवतणिं ५७. उप्पतणिं ५८. जंभणिं ५९. थंभणिं ६०. लेसणिं ६१. आमयकरणिं ६२. विसल्लकरणिं ६३. पक्कमणिं ६४. अंतद्धाणिं।

मोहनकर, ३०. आथर्वणी, ३१ पाकशासनी, ३२. द्रव्यहोम, ३३. क्षत्रियविद्या, ३४. चन्द्रचरिका, ३५. सूरचरिका, ३६. शुक्रचरिका, ३७. बृहस्पतिचरिका, ३८. उल्कापात, ३९. दिग्दाह, ४०. मृगचक्र, ४१ वायसपरिमण्डल, ४२. पांसुवृष्टिः, ४३. केशवृष्टिः, ४४. मांसवृष्टि, ४५ रुधिरवृष्टिः, ४६ वैताली, ४७ अर्द्धवैताली, ४८. अवस्वापिनी, ४९. तालोद्घाटिनी, ५० श्वपाकी, ५१ शाबरी, ५२. द्राविडी, ५३. कालिंगी, ५४. गौरी, ५५ गान्धारी, ५६ अवपतनी, ५७. उत्पतनी, ५८ जृम्भणी, ५९. स्तम्भनी, ६०. श्लेषणी, ६१. आमयकरणी, ६२. विशल्यकरणी, ६३. प्रक्रामणी, ६४. अन्तर्धानी।

१६. तीतरलक्षण—तीतरलक्षण-शास्त्र।
१७ वर्तकलक्षण—बटेरलक्षण-शास्त्र।
१८. लावकलक्षण—लावालक्षण-शास्त्र।
१९. चक्रलक्षण—चक्रवर्ती के चक्र का लक्षण-शास्त्र।
२० छत्रलक्षण—चक्रवर्ती के छत्र का लक्षण-शास्त्र।
२१. चर्मलक्षण—चक्रवर्ती के चर्म का लक्षण-शास्त्र।
२२. दडलक्षण—चक्रवर्ती के दड का लक्षण-शास्त्र।
२३. असिलक्षण—चक्रवर्ती के असि का लक्षण-शास्त्र।
२४. मणिलक्षण—चक्रवर्ती के मणि का लक्षण-शास्त्र।
२५ काकिणीलक्षण—चक्रवर्ती के काकिणी का लक्षण-शास्त्र।
२६. सुभगाकर—दुर्भाग्य को सुभाग्य करने वाली विद्या।
२७. दुर्भगाकर—सुभाग्य को दुर्भाग्य करने वाली विद्या।
२८ गर्भकर—गर्भाधान की विद्या।
२९. मोहनकर—वाजीकरण विद्या।
३०. आथर्वणी—अथर्ववेद के मंत्र।
३१. पाकशासनी—इन्द्रजाल विद्या।
३२ द्रव्यहोम—उच्चाटन आदि के लिए की जाने वाली हवनक्रिया।
३३. क्षत्रियविद्या—धनुर्वेद।
३४. चन्द्रचरित—चन्द्र सबधी ज्योतिष शास्त्र।
३५. सूर्यचरित—सूर्य सबधी ज्योतिष शास्त्र।
३६. शुक्रचरित—शुक्र सबधी ज्योतिष शास्त्र।
३७ बृहस्पतिचरित—बृहस्पति सबधी ज्योतिष शास्त्र।
३८ उल्कापात—उल्कापात सबधी शास्त्र।
३९ दिग्दाह—दिशादाह शास्त्र।
४० मृगचक्र—ग्राम, नगर के प्रवेश आदि मे अरण्य पशुओ के दर्शन या शब्द-श्रवण के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
४१ वायसपरिमडल—कौए आदि पक्षियो की अवस्थिति और शब्द के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।
४२. पांसुवृष्टि—धूल की वृष्टि के आधार पर

शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

४३ केशवृष्टि—केश की वृष्टि के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

४४ मांसवृष्टि—मांस की वृष्टि के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

४५. रुधिरवृष्टि—रक्त की वृष्टि के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।

४६. वैताली—उच्छित देश-काल में दंडे को ऊंचा उठाने वाली विद्या।

४७. अर्धवैताली—वैताली की प्रतिपक्षी विद्या। इसमें दंडा नीचे आ गिरता है।

४८. अवस्वापिनी—निद्रा दिलाने वाली विद्या।

४९. तालोद्घाटिनी—ताले को खोलने वाली विद्या।

५०. श्वपाकी—मातंगी विद्या।

५१. शाबरी—शबर भाषा में निबद्ध विद्या।

५२. द्राविडी—तमिल भाषा में निबद्ध विद्या।

५३. कालिंगी—कलिंग देश की भाषा में निबद्ध विद्या।

५४ गौरी—एक मातंग विद्या।

५५ गान्धारी—एक मातंग विद्या।

५६ अवपतनी—नीचे गिराने वाली विद्या।

५७ उत्पतनी—ऊंचा उठाने वाली विद्या।

५८ जृम्भणी—उबासी लाने वाली विद्या।

५९. स्तम्भनी—स्तंभित करने वाली विद्या।

६०. श्लेषणी—जंघा तथा ऊरु को आसन से चिपकाने वाली विद्या।

६१ आमयकरणी—रोग पैदा करने वाली विद्या।

६२ विशल्यकरणी—शल्य को निकालने वाली विद्या, औषधिज्ञान।

६३. प्रक्रामणी—भूत दूर करने वाली विद्या।

६४. अन्तर्धानी—अदृश्य होने की विद्या।

एवमाइयाओ विज्जाओ अण्णस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अण्णेसिं वा विरूव-रूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्जं सेवंति, ते अणारिया विप्पडिवण्णा कालमासे

एवमादिका विद्या अन्नस्य हेतु प्रयुञ्जंति, पानस्य हेतु प्रयुञ्जंति, वस्त्रस्य हेतु प्रयुञ्जति, लयनस्य हेतु प्रयुञ्जति, शयनस्य हेतु प्रयुञ्जंति, अन्येषां वा विरूप-रूपाणां कामभोगानां हेतु प्रयुञ्जंति, तिरश्चीनां ते विद्यां सेवन्ते, ते अनार्या: विप्रतिपन्ना:

जो लोग इन विद्याओं तथा इसी प्रकार की दूसरी विद्याओं का अन्न, पान, वस्त्र, घर, शय्या, अथवा नाना प्रकार के कामभोगों के लिए प्रयोग करते हैं, वे (मोक्ष के) प्रतिकूल विद्याओं का सेवन करते हैं। वे अनार्य विभ्रान्त बने हुए कालमास में मरकर किन्हीं

कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति। ततो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमंधयाए पच्चायंति ॥

कालमासे काल कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति । ततोऽपि विप्रमुच्यमाना भूय. एडमूकत्वेन तमोन्धतया प्रत्यायान्ति ।

पापपूर्ण स्थानो मे उत्पन्न होते है । वे वहा से मरकर पुन मेमने की भाति मूगे और जन्मान्ध—इस रूप मे जन्म लेते है ।

१९. से एगइओ आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा णायगं वा सहवासियं वा णिस्साए—१. अदुवा अणुगामिए २. अदुवा उवचरए ३. अदुवा पाडिपहिए ४. अदुवा संधिच्छेयए ५. अदुवा गंठिच्छेयए ६. अदुवा ओरब्भिए ७. अदुवा सोयरिए ८. अदुवा वागुरिए ९. अदुवा साउणिए १०. अदुवा मच्छिए ११. अदुवा गोवालए १२. अदुवा गोघायए १३. अदुवा सोवणिए १४. अदुवा सोवणियंतिए ।

स एकक आत्महेतु वा ज्ञातिहेतु वा अगारहेतु वा परिवारहेतु वा ज्ञातक वा सहवासिकं वा निश्रित्य—१ अथवा आनुगामिक., २. अथवा उपचरक', ३. अथवा प्रातिपथिक., ४. अथवा सन्धिच्छेदक:, ५ अथवा ग्रन्थिच्छेदक:, ६. अथवा औरभ्रिक , ७. अथवा शौकरिक , ८. अथवा वागुरिक , ९. अथवा शाकुनिक , १०. अथवा मात्स्यिक , ११ अथवा गोपालक , १२. अथवा गोघातक:, १३. अथवा शौवनिक:, १४. अथवा शौवनिकान्तिक: ।

१९ कोई[११] व्यक्ति अपने लिए, ज्ञाति के लिए, घर के लिए, परिवार के लिए, परिचित या सहवासी (पडोसी) के निमित्त—

१ अथवा आनुगामिक (सहगामी),
२ अथवा उपचरक (सेवक),
३ अथवा प्रातिपथिक (वटमार)
४ अथवा सन्धिच्छेदक (सेंध लगाने वाला),
५. अथवा ग्रन्थिच्छेदक (गिरहकट),
६. अथवा भेड का वध करने वाला,
७ अथवा शूकर का वध करने वाला,
८ अथवा जाल बिछाकर मृगो को पकडने वाला,
९. अथवा चीडीमार,
१० अथवा मछुआ,
११ अथवा ग्वाला,
१२. अथवा गो-घातक,
१३ अथवा कुत्तो को पालने वाला,
१४. अथवा कुत्तो से शिकार करने वाला होता है ।

से एगइओ अणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगमिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारं आहारेति—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ।

स एकक. आनुगामिकभाव प्रतिसधाय तमेव अनुगम्य हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापै कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति ।

कोई पुरुष मन मे अनुगामी का भाव[१०] बना, अनुगमन कर, उसका हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर, उसके पास होने वाली धनराशि ले लेता है—इस प्रकार वह अहने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

से एगइओ उवचरगभावं पडिसधाय तमेव उवचरिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ— इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ।

स एकक उपचरकभाव प्रतिसधाय तमेव उपचर्य हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापै कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति ।

कोई पुरुष मन मे सेवक का भाव बना, पथिक की सेवा करता हुआ, उसका हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उसके पास होने वाली धनराशि ले लेता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव, पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता

स एकक प्रातिपथिकभाव प्रतिसधाय तमेव, प्रतिपथे स्थित्वा हत्वा छित्वा भित्वा लम्पयित्वा

कोई पुरुष मन मे प्रातिपथिक (वटमार) का भाव बना, वटमारी करता हुआ मार्ग मे ठहर, पथिकों का हनन, छेदन, भेदन, लुपन,

उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापैः कर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति।

विलुपन और प्राण-वियोजन कर, उनके पास होने वाली धनराशि ले लेता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप में प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव, संधि छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति

स एकक: सन्धिच्छेदकभाव प्रतिसधाय तमेव, सन्धि छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि. पापै. कर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन में सेंध लगाने का भाव बना, वह कार्य करता है और सेंध लगा प्राणियों का छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर, उनके पास होने वाली धनराशि ले लेता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप में प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ गंठिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव, गंठि छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक. ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिसंधाय तमेव, ग्रन्थि छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापैः कर्मभि आत्मानं उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन में गिरहकट का भाव बना, वह कार्य करता है। उस कार्य के प्रसग में वह प्राणियों का छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन, और प्राण-वियोजन कर उनके पास होने वाली धनराशि ले लेता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ ओरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक औरभ्रिकभाव प्रतिसंधाय उरभ्र वा अन्यतरं वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि. पापै. कर्मभि· आत्मानं उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे भेड़-वधक का भाव बना, भेड अथवा दूसरे किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक: शौकरिकभाव प्रतिसधाय महिष वा अन्यतर वा त्रसं प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि. पापै. कर्मभि: आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे शूकर-वधक का भाव बना, भैंस अथवा दूसरे किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजम कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक. वागुरिकभाव प्रतिसधाय मृग वा अन्यतर वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि: पापै कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे मृग-जालिक का भाव बना, मृग अथवा दूसरे किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणिं वा अण्णयर वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक. शाकुनिकभाव प्रतिसधाय शकुनिं वा अन्यतर वा त्रसं प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भिः पापैः कर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे चीडीमार का भाव बना, पक्षी अथवा दूसरे किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक. मात्सिकभाव प्रतिसधाय मत्स्य वा अन्यतर वा त्रसं प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि. पापै. कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे मछुए का भाव बना, मत्स्य अथवा दूसरे किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ गोवालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं परिजविय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक· गोपालकभाव प्रतिसधाय तमेव गा परिविच्य हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापै कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे ग्वाले का भाव बना, उसी गोजाति का चुन-चुनकर हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उसका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता हे।

से एगइओ गोघायगभावं पडिसंधाय गोणं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक. गोघातकभावं प्रतिसधाय गा वा अन्यतर वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापै कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे गो-घातक का भाव बना, गाय अथवा किसी दूसरे त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता हे—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

से एगइओ सोवणियभावं पडिसंधाय सुणगं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

स एकक शौवनिकभाव प्रतिसंधाय शुनक वा अन्यतर वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भि पापै. कर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

कोई पुरुष मन मे कुत्ता-पालक का भाव बना, कुत्ते अथवा किसी दूसरे त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता हे।

से एगइओ सोवणियतियभावं पडिसधाय मणुस्स वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं

स एकक शौवनिकान्तिकभाव प्रतिसधाय मनुष्य वा अन्यतर वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स

कोई प्रत्यन्तवासी पुरुष मन मे कुत्तो से शिकार करने का भाव[७१] बना, मनुष्य अथवा किसी दूसरे त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने

कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

महद्भि. पापै. कर्मभिः आत्मान उपाख्याता भवति ।

आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२०. से एगइओ परिसामज्भाओ उट्ठेत्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा [चडगं वा ?] लावगं वा कवोयगं वा [कविं वा ?] कविजलं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ—इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक पर्षन्मध्यादुत्थाय 'अहमेन हन्मि' इति कृत्वा तित्तिर वा वर्त्तक वा [चटक वा ?] लावकं वा कपोतकं वा (कपि वा ?) कपिञ्जल वा अन्यतर वा त्रस प्राण हत्वा छित्वा भित्वा लुम्पयित्वा विलुम्प्य उद्द्रुत्य आहार आहरति—इति स महद्भिः पापैः कर्मभि॰ आत्मान उपाख्याता भवति ।

२० कोई[७२] पुरुष परिषद् के बीच उठकर 'मैं इसको मारूंगा' कह तीतर, बटेर (चिड़िया ?), लावा, कबूतर, (कपि ?), कपिजल (चातक) या अन्य किसी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, लुपन, विलुपन और प्राण-वियोजन कर उनका मास खाता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२१. से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेणं, अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइ भामेइ, अण्णेण वि अगणिकाएणं सस्साइं भामावेइ, अगणिकाएण सस्साइं भामेतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक. केनचिद् आदानेन विरुद्ध सन्, अथवा खलदानेन अथवा सुरास्थालकेन गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणा वा स्वयमेव अग्निकायेन शस्यानि दहति, अन्येनापि अग्निकायेन शस्यानि दाहयति, अग्निकायेन शस्यानि दहन्तमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि. पापकर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति ।

२१ कोई पुरुष किसी निमित्त से[७३] अथवा खलिहान देने से[७४] अथवा सुरास्थाल के कारण[७५] विरुद्ध होकर गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो की खेती को स्वय अग्नि मे जलाता है, दूसरो से जलवाता है और उसे जलाने हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२२. से एगइओ केणइ आदाणेण विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेणं, अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेइ, अण्णेण वि कप्पावेइ, कप्पंतं वि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक. केनचिद् आदानेन विरुद्ध सन्, अथवा खलदानेन, अथवा सुरास्थालकेन गृहपतोना वा गृहपतिपुत्राणा वा उष्ट्राणा वा गवा वा घोटकाना वा गर्दभाना वा स्वयमेव 'घूराओ' कल्पते, अन्येनापि कल्पयति, कल्पमानमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि॰ पापकर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति ।

२२. कोई पुरुष किसी निमित्त से अथवा खलिहान देने से अथवा सुरास्थाल के कारण विरुद्ध होकर गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो के ऊट, बैल, घोडे अथवा गधो के अवयव[७६] स्वय काटता है, दूसरो से कटवाता है और काटते हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२३. से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेणं, अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा

स एकक. केनचिद् आदानेन विरुद्ध. सन्, अथवा खलदानेन, अथवा सुरास्थालकेन गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणा वा उष्ट्रशालाः वा गोशाला. वा घोटकशालाः वा

२३ कोई पुरुष किसी निमित्त से अथवा खलिहान देने से अथवा सुरास्थाल के कारण विरुद्ध होकर गृहपति अथवा गृहपतिपुत्रो की उष्ट्रशालाओ, गोशालाओ, अश्वशालाओ अथवा

कंटकबोदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ, अण्णेणं वि झामावेइ, झामंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

गर्दभशाला. वा कटक-'वोंदियाए' प्रतिपिधाय स्वयमेव अग्निकायेन दहति, अन्येनापि दाहयति, दहन्तमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि. पापकर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति ।

गर्दभशालाओ को काटे की वाड से ढक कर, उनको स्वय अग्नि से जलाता है, दूसरो से जलवाता है और उन्हे जलाते हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२४. से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेणं, अदुवा सुराथालएणं गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा कुंडलं वा मणि वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ, अण्णेण वि अवहरावेइ, अवहरतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक. केनचिद् आदानेन विरुद्ध. सन्, अथवा खलदानेन, अथवा सुरास्थालकेन गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणा वा कुडल वा मणि वा मौक्तिक वा स्वयमेव अपहरति, अन्येनापि अपहारयति, अपहरन्त अपि अन्यं समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि. आत्मान उपाख्याता भवति ।

२४ कोई पुरुष किसी निमित्त से अथवा खलिहान देने से अथवा सुरास्थाल के कारण विरुद्ध होकर गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो के कुडल, मणि अथवा मौक्तिक का स्वय अपहरण करता है, दूसरो से अपहरण करवाता है और अपहरण करने वाले का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२५. से एगइओ केणइ वि आदाणेणं विरुद्धे समाणे, समणाणं वा माहणाण वा दंडगं वा छत्तग वा भडग वा मत्तग वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिग वा चम्मगं वा चम्मछेयणगं चम्मकोसिय वा सयमेव अवहरइ, अण्णेण वि अवहरावेइ अवहरंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक केनचिद् आदानेन विरुद्ध सन्, श्रमणाना वा ब्राह्मणाना वा दण्डक वा छत्रक वा भाडक वा अमत्रक वा यष्टिका वा वृषिका वा चेलक वा 'चिलिमिलिग' वा चर्मक वा चर्मच्छेदनक वा चर्मकौशिक वा स्वयमेव अपहरति, अन्येनापि अपहारयति, अपहरतमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति ।

२५ कोई पुरुष किसी निमित्त से विरुद्ध होकर श्रमणो या ब्राह्मणो के दडे, छत्र, भाड, पात्र, लट्ठी, आसन, वस्त्र, प्रावरण, चर्म, चर्म-छेदनक अथवा चर्मकोशिका का स्वय अपहरण करता, है, दूसरो से अपहरण करवाता है और अपहरण करने वाले का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है ।

२६. से एगइओ नो वितिगिंछइ—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेइ, अण्णेण वि अगणिकाएणं ओसहीओ झामावेइ, अगणिकाएणं ओसहीओ झामेंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक. नो विचिकित्सति—गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणा वा स्वयमेव अग्निकायेन ओषधी. दहति, अन्येनापि अग्निकायेन ओषधी दाहयति, अग्निकायेन ओषधी दहन्तमपि समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति ।

२६ कोई पुरुष (ऐहिक या पारलौकिक दोषो का) विमर्श नही करता,[७७] ऐसे ही गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो की खेती को स्वय अग्नि से जलाता है, दूसरो से जलवाता है और उसे जलाते हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता हैं ।

२७. से एगइओ णो वितिगिंछइ—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेइ, अण्णेण वि कप्पावेइ, अण्णं पि कप्पंतं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक: नो विचिकित्सति—गृहपतीनां वा गृहपतिपुत्राणां वा उष्ट्राणां वा गवा वा घोटकानां वा गर्दभाना वा स्वयमेव 'घूराओ' कल्पते, अन्येनापि कल्पयति, अन्यमपि कल्पमान समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि: आत्मानं उपाख्याता भवति।

२७. कोई पुरुप (ऐहिक या पारलौकिक दोपो का) विमर्श नही करता, ऐसे ही गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो के ऊट, बैल, घोडे अथवा गधो के अवयव स्वय काटता है, दूसरो से कटवाता है और काटते हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

२८. से एगइओ णो वितिगिंछइ—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ, अण्णेण वि झामावेइ, झामंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक. नो विचिकित्सति—गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणां वा उष्ट्रशाला' वा गोशाला वा घोटकशाला वा गर्दभशाला. वा कंटक-'बोंदियाए' प्रतिपिधाय स्वयमेव अग्निकायेन दहति, अन्येनापि दाहयति, दहन्तमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

२८ कोई पुरुप (ऐहिक या पारलौकिक दोपो का) विमर्श नही करता, ऐसे ही गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रों की उष्ट्रशालाओ, गोशालाओ, अश्वशालाओ अथवा गर्दभशालाओ को काटे की बाड मे ढककर उनको स्वय अग्नि से जलाता है, दूसरो से जलवाता है और उन्हे जलाते हुए का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

२९. से एगइओ णो वितिगिंछइ—गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरइ, अण्णेण वि अवहरावेइ, अवहरंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक: नो विचिकित्सति—गृहपतीना वा गृहपतिपुत्राणा वा कुडलं वा मणिं वा मौक्तिक वा स्वयमेव अपहरति अन्येनापि अपहारयति, अपहरन्तमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि. पापकर्मभि आत्मान उपाख्याता भवति।

२९ कोई पुरुप (ऐहिक या पारलौकिक दोपो का) विमर्श नही करता, ऐसे ही गृहपति अथवा गृहपति-पुत्रो के कुडल, मणि अथवा मौक्तिक का स्वय अपहरण करता है, दूसरो से अपहरण करवाता है और अपहरण करने वाले का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आपको महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

३०. से एगइओ णो वितिगिंछइ—समणाण वा माहणाण वा दंडगं वा छत्तगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा चम्मछेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरइ, अण्णेण वि अवहरावेइ, अवहरंतं पि अण्णं समणुजाणइ—इति से महया पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥

स एकक नो विचिकित्सति—श्रमणानां वा ब्राह्मणाना वा दण्डकं वा छत्रकं वा भाडक वा अमत्रकं वा यष्टिकां वा वृषिका वा चेलकं वा 'चिलिमिलिग' वा चर्मकं वा चर्मच्छेदनकं वा चर्मकौशिकं वा स्वयमेव अपहरति, अन्येनापि अपहारयति, अपहरन्तमपि अन्य समनुजानाति—इति स महद्भि पापकर्मभि. आत्मानं उपाख्याता भवति।

३० कोई पुरुप (ऐहिक या पारलौकिक दोपो का) विमर्श नही करता, ऐसे ही श्रमणो या ब्राह्मणो के दडे, छत्र, भाड, पात्र, लट्ठी, आसन, वस्त्र, प्रावरण, चर्म, चर्म-छेदनक अथवा चर्मकोशिका का स्वय अपहरण करता है, दूसरो से अपहरण करवाता है और अपहरण करने वाले का अनुमोदन करता है—इस प्रकार वह अपने आप को महान् पापकारी कर्म करने वाले के रूप मे प्रख्यात कर देता है।

३१. से एगइओ समणं वा माहणं वा दिस्सा णाणाविहेहिं पावेहिं

स एकक. श्रमण वा ब्राह्मण वा दृष्ट्वा नानाविधै. पापै. कर्मभि.

३१ कोई पुरुप श्रमण या ब्राह्मण को देखकर नाना प्रकार के पापकर्म करने वाले के रूप मे अपने

कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ, अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवइ, अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवइ, कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा णो दवावेत्ता भवति, जे इमे भवंति—वोण्णमंता भारक्कंता अलसगा वसलगा किवणगा समणगा, ते इणमेव जीवितं धिज्जीवियं संपडिवूहेंति।

आत्मानं उपाख्याता भवति, अथवा अप्सरस आस्फालयिता भवति, अथवा परुष वदिता भवति, कालेनापि तस्य अनुप्रविष्टस्य अशन वा पान वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा नो दापयिता भवति, ये इमे भवन्ति—'वोण्णमंता' भाराक्रान्ता. अलसका. वृषलका कृपणका: श्रमणका, ते इदमेव जीवित धिग्जीवित संप्रतिबृंहयन्ति।

आपको प्रख्यात करता है, अथवा चुटकिया बजाता है, अथवा कठोर वचन बोलता है, समय पर घर आए हुए (श्रमण या ब्राह्मण) को अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य नही देने देता, वह कहता है—जो ये होते हैं लकडहारे, भार ढोने वाले, आलसी, वृपल, क्लीव, याचक—वे इस धिक्कारपूर्ण जीविका वाले जीवन (भिक्षा-जीवन) को चलाते है।

णाइ ते पारलोइयस्स अट्ठस्स किंचि वि सिलिस्संति, ते दुक्खंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टंति ते परितप्पंति ते दुक्खण-जूरण-सोयण - तिप्पण - पिट्टण-परितप्पण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अपडिविरता भवंति। ते महता आरंभेण ते महता समारंभेण ते महता आरंभसमारंभेण विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तंजहा—अण्णं अण्णकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले।

न ते पारलौकिकस्य अर्थस्य किञ्चिदपि श्लिष्यन्ति, ते दु:खयन्ति ते शोचन्ते ते खिद्यन्ते ते तेपन्ते ते पिट्यन्ते ते परितप्यन्ते ते दु:खन-खेदन-शोचन-तेपन-पिट्टन-परितापन-वध-वन्ध-परिक्लेशात् अप्रतिविरता भवन्ति। ते महता आरम्भेण ते महता समारम्भेण ते महता आरम्भ-समारभेण विरूपरूपै. पापकर्म-कृत्यै. उदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भोक्तारो भवन्ति, तद् यथा—अन्नं अन्नकाले पान पानकाले वस्त्र वस्त्रकाले लयन लयनकाले शयन शयनकाले।

वे कुछ भी पारलौकिक अर्थ की साधना नही कर पाते। वे दु खी होते है, शोक करते है, खिन्न होते है, आसू वहाते हैं, पीटे जाते है, और परितप्त होते है। वे दु ख, खेद, शोक, अश्रु-विमोचन, पीडा, परिताप, वध, वन्ध और परिक्लेश से विरत नही होते। वे महान् आरभ, महान् समारभ, महान् आरभ-समारभ, नाना प्रकार के पापकारी कृत्यो से उदार[७८] मानुपिक भोगो को भोगने वाले होते है, जैसे—भोजन के समय भोजन, पान[७९] के समय पान, वस्त्र के समय वस्त्र, आवास के समय आवास और शयन के समय शयन।

सपुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलि-कम्मे कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ते सिरसा ण्हाए कंठेमालकडे आविद्ध-मणिसुवण्णे कप्पियमालामउली पडिवद्धसरीरे वग्घारिय-सोणि-सुत्तग-मल्ल-दामकलावे अहयवत्थ-परिहिए चंदणोक्खितगाय-सरीरे महइमहालियाए कूडागारसालए महइमहालयंसि सीहासणंसि इत्थी-गुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं जोइणा झियायमाणेणं महयाहय-णट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल - ताल तुडिय-घण - मुइंग - पडुप्पवाइय-रवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

सपूर्वापरञ्च स्नात. कृतवलि-कर्मा कृतकौतुकमगलप्रायश्चित्त शिरसा स्नात कृतकण्ठेमाल आविद्धमणिसुवर्ण· कल्पित-मालामौलि. प्रतिबद्ध-शरीर: 'वग्घारिय'-श्रोणिसूत्रक - माल्य-दामकलाप. अहतवस्त्रपरिहित. चन्दनोक्षितगात्रशरीर· महाति-महत्या कूटागारशालाया महातिमहति सिंहासने स्त्रीगुल्म-संपरिवृत. सर्वरात्रिकेन ज्योतिपा दह्यमानेन महताहतनाट्य-गीत-वाद्य-तन्त्री-तल-ताल - तूर्य - घन-मृदग-पटुप्रवादित-रवेण उदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति।

वह साय-प्रात[८०] हाथ-मुह धो, कुल देवता की पूजा कर,[८१] कौतुक[८२]-मगल[८३] और प्राय-श्चित्त[८४] कर, सिर से पैर तक नहा, गले मे माला पहन, मणिजटित स्वर्णमय चूडामणी पहन, मालायुक्त मुकुट[८५] धारण कर, कमरपट्टा वाध,[८६] पुष्पमाला युक्त प्रलम्वमान करधनी को धारण कर, नए वस्त्र पहन, शरीर और उसके अवयवो पर चन्दन का उपलेप कर, अति विशाल कूटागारशाला मे अति विशाल सिंहासन पर बैठ, स्त्री-समूह से परिवृत हो, पूरी रात दीपक के जलते, महान् प्रयत्न से आहत, नाट्य, गीत, वाद्य, वीणा, तल, ताल, तूर्य, घटा और मृदग के कुशल वादको द्वारा वजाए जाते हुए स्वर के साथ उदार मानुपिक भोगो को भोगता हुआ रहता है।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं उवट्ठावेमो ? किं भे हियइच्छियं? किं भे आसगस्स सयइ ?

तस्य एकमपि आज्ञापयत. यावत् चत्वार. पञ्च जना· अनुक्ताश्चैव अभ्युत्तिष्ठन्ति—भण देवानुप्रिय ! किं कुर्मः ? किं आहराम. ? किं उपनयाम ? किं उपस्थापयामः ? किं भवत हृदयेष्टम् ? किं भवत आस्यकस्य स्वदते ?

वह एक को आज्ञा देता है तब बिना बुलाए चार-पाच मनुष्य उठ खडे होते हैं। (वे कहते हैं) कहे देवानुप्रिय ! हम क्या करे ? क्या लाए ? क्या भेंट करे ? क्या उपस्थित करें ? आपका दिल क्या चाहता है ? आपके मुख को क्या स्वादिष्ट लगता है ?

तमेव पासित्ता अणारिया एवं वयंति—देवे खलु अयं पुरिसे। देवसिणाए खलु अयं पुरिसे। देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे। अण्णे वि य णं उवजीवंति।

तमेव दृष्ट्वा अनार्याः एव वदन्ति—देव खलु अय पुरुष । देवस्नात. खलु अय पुरुष. । देवजीवनीय खलु अयं पुरुष । अन्येऽपि च एन उपजीवन्ति ।

उमी पुरुप को देख अनार्य इस प्रकार कहते हैं—यह पुरुप देवता है। यह पुरुप देव-स्नातक है। यह पुरुप देवता का जीवन जीने वाला है। उमके महारे दूमरे भी जीने हैं।

तमेव पासित्ता आरिया वयंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अइधूए, अइआयरक्खे दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए यावि भविस्सइ ॥

तमेव दृष्ट्वा आर्या वदन्ति-अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खलु अय पुरुष., अतिधूत. अत्यात्मरक्ष , दक्षिणगामिक नैरयिक. कृष्णपाक्षिक. आगमिष्यता दुर्लभबोधिकः चापि भविष्यति ।

उसी पुरुप को देख आर्य कहते हैं—यह पुरुप क्रूरकर्म मे प्रवृत्त, भारी कर्म वाला[87] अति स्वार्थी[88] दक्षिण दिशा मे जाने वाला, नरक मे उत्पन्न होने वाला,कृष्णपाक्षिक[89] और भविष्य काल मे दुर्लभबोधिक होगा।

३२. इच्चेतस्स ठाणस्स उट्ठित्ता वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठित्ता वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झंति।

इति एतस्य स्थानस्य उत्थाय वा एके अभिगृध्यन्ति, अनुत्थाय वा एके अभिगृध्यन्ति, अभिझझातुरा. अभिगृध्यन्ति ।

३२ इस भोगी पुरुप जैसे स्थान को कुछ प्रव्रजित पुरुप भी चाहते हैं,[90] कुछ गृहस्थ भी चाहते है और जो तृष्णा से आतुर हैं (वे सब) चाहते है।

एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे 'अणेयाउए असंसुद्धे' असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू।

एतत् स्थानं अनार्य अकेवल अप्रतिपूर्ण अनैर्यातृकं, असशुद्धं. अशल्यकर्त्तनं, असिद्धिमार्गं, अमुक्तिमार्गं, अनिर्वाणमार्गं, अनिर्याणमार्गं, असर्वदु.खप्रहाणमार्गं एकान्तमिथ्या असाधु ।

यह स्थान अनार्य, अकेवल—द्वन्द्व सहित,[92] अप्रतिपूर्ण, पार नही पहुचाने वाला, अशुद्ध, शल्यो को नही काटने वाला,[93] सिद्धि का अमार्ग, मुक्ति का अमार्ग, निर्वाण का अमार्ग निर्याण का अमार्ग, सब दु खो के क्षय का अमार्ग, एकात मिथ्या और असाधु है।

एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥

एष खलु प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभग· एवमाहृत ।

यह प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार निरूपित है।

३३. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवति, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवण्णा

अथापर द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभग एव आख्यायते —इह खलु प्राचीनं वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिणं वा सन्ति एकका मनुष्या भवन्ति, तद् यथा—आर्या अप्येके अनार्या अप्येके, उच्चगोत्रा अप्येके नीचगोत्रा अप्येके, कायवन्तः अप्येके

३३ अब दूमरे स्थान धर्मपक्ष का विकल्प[94] इस प्रकार कहा जाता है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण मे कुछ मनुष्य होते है, जैसे—कुछ आर्य होते हैं कुछ अनार्य, कुछ उच्च गोत्र वाले होते हैं कुछ नीच गोत्र वाले, कुछ लबे होते हैं कुछ नाटे, कुछ गोरे होते हैं कुछ काले, कुछ सुडोल होते हैं कुछ कुडोल। उनके भूमी और घर

वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तेसिं च णं जण-जाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिया। सतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं च विप्प-जहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया। असतो वा वि एगे णायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खा-यरियाए समुट्ठिया ॥

ह्रस्ववन्त अप्येके, सुवर्णा अप्येके दुर्वर्णा अप्येके, सुरूपा अप्येके दूरूपा अप्येके। तेषा च क्षेत्र-वास्तूनि परिगृहितानि भवन्ति, तद् यथा—अल्पतराणि वा भूयस्तराणि वा। तेषां च जन-जानपदा परिगृहीता. भवन्ति, तद् यथा—अल्पतरा वा भूय-स्तरा. वा। तथाप्रकारेषु कुलेषु आगम्य अभिभूय एके भिक्षाचर्याया समुत्थिता.। सतो वाऽपि एके ज्ञातीन् च उपकरण च विप्रहाय भिक्षाचर्याया समु-त्थिता। असतो वाऽपि एके ज्ञातीन् च उपकरण च विप्रहाय भिक्षाचर्याया समुत्थिता.।

परिगृहीत होते है, जैसे—बहुत थोडे या बहुत अधिक। उनके जन-जानपद परिगृहीत होते है, जैसे—बहुत थोडे या बहुत अधिक। कुछ पुरुप वैसे कुलो से अभिनिष्क्रमण कर, (धर्म-श्रद्धा से) व्याप्त हो, मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते है। कुछ पुरुप विद्यमान ज्ञातियो और उपकरणो को त्याग कर मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते है। कुछ पुरुप अविद्यमान ज्ञातियो और उपकरणो को त्यागकर मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते है।

३४. जे ते सतो वा असतो वा णायओ य उवगरणं च विप्प-जहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिया, पुव्वमेव तेहिं णात भवति—इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा—खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे धणं मे धण्णं मे कंसं मे दूसं मे विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख- सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संत-सार-सावतेयं मे सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे। एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं।

ये एते सतो वा असतो वा ज्ञातीश्च उपकरण च विप्रहाय भिक्षाचर्याया समुत्थिता., पूर्वमेव तैर्ज्ञात भवति—इह खलु पुरुष. अन्यद् अन्यद् ममार्थाय एव विप्रतिवेदयति, तद् यथा—क्षेत्र मे वास्तु मे हिरण्य मे सुवर्णं मे धन मे धान्यं मे कास्य मे दूष्य मे विपुलधन - कनक - रत्न - मणि-मौक्तिक-शख-शिला-प्रवाल- रक्त-रत्न-सत्सार-स्वापतेयं मे शब्दा मे रूपाणि मे गन्धा मे रसा मे स्पर्शा मे। एते खलु मे काम-भोगा , अहमवि एतेषाम्।

३४ जो पुरुप विद्यमान या अविद्यमान ज्ञातियो और उपकरणो को त्यागकर मुनि-चर्या के लिए उपस्थित होते है, उन्हे पहले ही यह ज्ञात होता है कि इस ससार मे मनुष्य दूसरी-दूसरी वस्तुओ को अपनी समझता है, जैसे—भूमी मेरी, घर मेरा, सिक्का मेरा, सोना मेरा, धन मेरा, धान्य मेरा, कासा मेरा, दुप्य मेरा तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शख, शिला, मूगा, लाल रत्न, सुगधित द्रव्य—यह सारी सपत्ति मेरी हे, शब्द मेरा, रूप मेरा, गध मेरा, रस मेरा, और स्पर्श मेरा है। ये मेरे कामभोग है, मै भी इनका हू।

से मेहावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु मम अण्णतरे दुक्खे रोगातंके समुप्प-ज्जेज्जा—अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।

स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एव समभिजानीयात्—इह खलु ममा-न्यतर. दु.ख. रोगातङ्क समुत्प द्येत—अनिष्ट अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप. दु.ख नो सुख.।

वह मेधावी पहले ही स्वय यह जाने—इस ससार मे मुझे कोई दु खदायी रोग या आतक उत्पन्न हो, जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला दु खद हो, सुखद न हो।

से हंता! भयतारो! कामभोगा! मम अण्णतर दुक्खं रोगायकं परियाइयह—अणिट्ठ अकत अप्पियं असुभ अमणुण्णं अमणाम दुक्ख णो सुहं। माऽह दुक्खामि

तद् हन्त! भदन्ता! काम-भोगा! ममान्यतरद् दु.खं रोगातङ्क पर्यादत्त—अनिष्ट अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप दु.ख नो सुखम्। माऽह

हन्त! भदन्त! कामभोगो! (तुम्हारे ही कारण) मुझे जो कोई दु खदायी रोग या आतक उत्पन्न हुआ है, जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दु खद हे, सुखद नही है, उसे तुम

वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा। इमाओ मे अण्णतराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ पडिमोयह—अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेव णो लद्धपुव्वं भवति।

दु.खयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा तेप्ये वा पीड्ये वा परितप्ये वा। अस्माद् मे अन्यतराद् दु खाद् रोगातङ्काद् परिमोचयत—अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दु खाद् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

वापस लो, जिससे कि मैं दु खी न होऊ, शोक न करू, खिन्न न होऊ, आसू न वहाऊ, पीडित और परितप्त न होऊ। मुझे इस दु खदायी, अनिष्ट अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला रोग या आतक से मुक्त करो जो दु खद है, सुखद नही है। पर उसके चाहने मात्र से ऐसा नही होता।

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अण्णे खलु कामभोगा, अण्णो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अण्णमण्णेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो? इति संखाए णं वयं कामभोगे विप्पजहिस्सामो॥

इह खलु कामभोगा. नो त्राणाय वा नो शरणाय वा। पुरुषो वा एकदा पूर्वं कामभोगान् विप्रजहाति, कामभोगा वा एकदा पूर्वं पुरुषं विप्रजहति। अन्ये खलु कामभोगा. अन्योऽहमस्मि। तत् किमङ्ग पुनर्वय अन्यान्येषु कामभोगेषु मूर्च्छाम? इति सख्याय वय कामभोगान् विप्रहास्याम.।

ये कामभोग त्राण और शरण देने वाले नही होते। कभी पुरुष कामभोगो को पहले ही छोड देता है और कभी कामभोग पुरुष को पहले ही छोड देते हैं। कामभोग मुझ से भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हूं। फिर हमसे भिन्न कामभोगो मे हम क्यो मूर्छित वनें? यह जानकर हम कामभोगो को छोडेंगे।

३५. से मेहावी जाणेज्जा—बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतरगं, तं जहा—माता मे पिता मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे णत्ता मे धूया मे पेसा मे सहा मे सुही मे सयणसंगंथसंथुया मे। एते खलु मम णायओ, अहमवि एएसिं।
से मेहावी पुव्वमेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा। इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगातके समुप्पज्जेज्जा—अणिट्ठे अकते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।
से हंता! भयंतारो! णायओ! इमं मम अण्णयरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयह—अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं। माऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा। इमाओ मे अण्णतराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ

स मेधावी जानीयाद्—बाह्यकमेतत्, इदमेव उपनीततरक, तद् यथा—माता मे पिता मे भ्राता मे भगिनी मे भार्या मे पुत्रा मे नप्ता मे दुहिता मे प्रेष्या मे सखा मे सुहृद् मे स्वजनसग्रन्थसस्तुता मे। एते खलु मम ज्ञातय', अहमपि एतेषाम्।
स मेधावी पूर्वमेव आत्मना एव समनुजानीयात्—इह खलु मम अन्यतर दु ख: रोगातङ्क समुत्पद्येत—अनिष्ट. अकान्त: अप्रिय. अशुभ अमनोज्ञ अमनआप' दुख नो सुख।
तद् हन्त! भदन्ता! ज्ञातय! इद मम अन्यतरद् दु ख रोगातङ्कं पर्यादत्त—अनिष्टं अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप दु ख नो सुखम्। माऽह दु खयामि वा शोचामि वा खिद्ये वा तेप्ये वा पीड्ये वा परितप्ये वा। अस्माद् मे अन्यतराद् दु खाद् रोगातङ्काद् परिमोच-

३५. वह मेधावी जाने—यह परिग्रह दूर की वस्तु है और ये ज्ञातिजन उससे निकट के हैं, जैसे—माता मेरी, पिता मेरा, भाई मेरा, बहिन मेरी, पत्नी मेरी, पुत्र मेरा, पौत्र मेरा, पुत्री मेरी, नौकर मेरा, साथी मेरा, मित्र मेरा, स्वजन (पूर्व सबधी) और सग्रन्थ (उत्तर सबधी श्वसुर आदि) मेरा है। ये ज्ञाति मेरे हैं, मैं भी इनका हू।
वह मेधावी पहले ही स्वय यह जाने—इस ससार मे मुझे कोई दु खदायी रोग या आतक उत्पन्न हो जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला दु खद हो, सुखद न हो।

हन्त! भदन्त! ज्ञातियो! मुझे जो कोई दु खदायी रोग या आतक उत्पन्न हुआ है जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भानेवाला, दु खद है, सुखद नही है, उसे तुम वटाओ। ताकि मैं दु,खी न होऊ, शोक न करू, खिन्न न होऊ, आसू न वहाऊ, पीडित और परितप्त न होऊ। मुझे इस

परिमोयह—अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेवं णो लद्ध-पुव्वं भवइ।

यत—अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दुखाद् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

दुखदायी, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, रोग या आतक से मुक्त करो जो दुखद है, सुखद नही है। पर उसके चाहने मात्र से ऐसा नही होता।

तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अण्णयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा—अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे।

तेषा वाऽपि भदन्ताना मम ज्ञातकाना अन्यतर. दुखः रोगातङ्क समुत्पद्येत—अनिष्ट अकान्त. अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप दुख नो सुख।

मेरे उन भदत ज्ञतियो के कोई दुखदायी रोग या आतक उत्पन्न हो जो अनिष्ट, अकान्त अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दुखद हो सुखद न हो।

से हंता! अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णतरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयामि—अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा सोयंतु वा जूरंतु वा तिप्पंतु वा पोडंतु वा परितप्पंतु वा। इमाओ णं अण्णयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ परिमोएमि—अणिट्ठाओ अकंताओ अप्पियाओ असुभाओ अमणुण्णाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवमेव णो लद्धपुव्वं भवति।

तद् हन्त! अहमेतेषा भदन्ताना ज्ञातकाना इदमन्यतरद् दुख रोगातङ्क प्रत्याददे—अनिष्ट अकान्त अप्रिय अशुभ अमनोज्ञ अमनआप दुख नो सुखम्। मा मे दुखयन्तु वा शोचन्तु वा खिद्यन्ता वा तेप्यन्तु वा पीड्यन्तां वा परितप्यन्ता वा। अस्माद् अन्यतरस्माद् दुखाद् रोगातङ्कात् परिमोचयामि-अनिष्टात् अकान्तात् अप्रियात् अशुभात् अमनोज्ञात् अमनआपात् दुखात् नो सुखात्। एवमेव नो लब्धपूर्वं भवति।

हत! इन भदन्त ज्ञातियो के इस दुखदायी रोग या आतक को मैं बटाऊ जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नहीं भाने वाला, दुखद है, सुखद नही है। ताकि मेरे ज्ञाती दुखी न हो, शोक न करे, खिन्न न हो, आसू न बहाए, पीडित और परितप्त न हो। मै उन्हे इस दुखदायी रोग या आतक से मुक्त करू जो अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को नही भाने वाला, दुखद है, सुखद नही है। पर उसके चाहने मात्र से ऐसा नही होता।

अण्णस्स दुक्खं अण्णो णो परियाइयइ, अण्णेण कतं अण्णो णो पडिसंवेदेइ, पत्तेयं जायइ, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सण्णा, पत्तेयं मण्णा, पत्तेयं विण्णू, पत्तेयं वेदणा।

अन्यस्य दुख अन्यो नो पर्याददत्ते, अन्येन कृतं अन्यो नो प्रतिसवेदयति, प्रत्येक जायते, प्रत्येक म्रियते, प्रत्येक च्यवते, प्रत्येक उपपद्यते, प्रत्येक झझा, प्रत्येकं सज्ञा, प्रत्येक मन्या, प्रत्येक विज्ञता, प्रत्येक वेदना।

किसी दूसरे का दुख कोई दूसरा नही लेता। किसी दूसरे के कृत का कोई दूसरा प्रतिसवेदन नही करता। प्राणी अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, अकेला च्युत होता है, अकेला उत्पन्न होता है, कलह अपना-अपना होता है, सज्ञा अपनी-अपनी होती है, मनन अपना-अपना होता है, विज्ञान अपना-अपना होता है, वेदना अपनी-अपनी होती है।

इति खलु णातिसंजोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं णाइसंजोगे विप्पजहइ, णाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अण्णे खलु णातिसंजोगा, अण्णो अहमंसि।

इति खलु ज्ञातिसयोगा नो त्राणाय वा नो शरणाय वा। पुरुषो वा एकदा पूर्व ज्ञातिसयोगान् विप्रजहाति, ज्ञातिसयोगा वा एकदा पूर्व पुरुष विप्रजहति। अन्ये खलु ज्ञातिसयोगा, अन्योहमस्मि।

ये ज्ञातिजनो के सयोग, त्राण और शरण देने वाले नही होते। कभी पुरुष ज्ञाति-सयोगो को पहले ही छोड देता है और कभी ज्ञाति-सयोग पुरुष को पहले ही छोड देते है। ये ज्ञाति-सयोग मुझ से भिन्न है, मैं उनसे भिन्न हूं।

से किमंग पुण वयं अण्णमण्णेहिं णाइसंजोगेहिं मुच्छामो ? इति

तत् किमङ्ग पुनर्वय अन्यान्येषु ज्ञातिसयोगेषु मूर्च्छाम. ? इति

फिर हमसे भिन्न ज्ञाति-सयोगो मे क्यो मूर्च्छित बनें ? यह जानकर हम ज्ञाति-सयोगो

संखाए णं वयं णातिसंजोगे विप्पजहिस्सामो ॥

संख्याय वयं ज्ञातिसयोगान् विप्रहास्याम ।

को छोडेंगे ।

३६. से मेहावी जाणेज्जा—बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतरगं, तं जहा—हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उदरं मे सीसं मे आउं मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खुं मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाति, वयाओ परिजूरइ, तं जहा—आऊओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ चक्खूओ घाणाओ जिब्भाओ फासाओ। सुसंधिता संधी विसंधीभवति, वलितरंगे गाए भवति, किण्हा केसा पलिया भवंति। जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवचियं, एयं पि य मे अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति ॥

स मेधावी जानीयात्—बाह्यकमेतत्, इदमेव उपनीततरकं, तद् यथा—हस्तौ मे पादौ मे बाहू मे ऊरू मे उदरं मे शीर्षं मे आयु मे बलं मे वर्णः मे त्वक् मे छाया मे श्रोत्रं मे चक्षुः मे घ्राणं मे जिह्वा मे स्पर्शा मे ममायति, वयसः परिजीर्यते, तद् यथा—आयुषः बलात् वर्णात् त्वच छायायाः श्रोत्राद् चक्षुषः घ्राणात् जिह्वायाः स्पर्शात्। सुसंहित सन्धिः विसधी भवति, वलितरग गात्र भवति, कृष्णाः केशाः पलिताः भवन्ति। यदपि च इद शरीरक उदार आहारोपचितं एतदपि च मे आनुपूर्व्या विप्रहातव्य भविष्यति ।

३६ वह मेधावी जाने—यह ज्ञातिजन दूर की वस्तु है और यह शरीर उससे निकट का है, जैसे—हाथ मेरे, पैर मेरे, भुजा मेरी, साथलें मेरी, उदर मेरा, शिर मेरा, आयु मेरा, वल मेरा, वर्ण मेरा, त्वचा मेरी, छाया मेरी, श्रोत्र मेरा, चक्षु मेरा, घ्राण मेरा, जीभ मेरी और स्पर्शन मेरा। इस प्रकार वह ममत्व करता है। (वह ममत्व करने वाला) अवस्था आने पर जीर्ण हो जाता है, जैसे—आयु से, वल से, वर्ण से, त्वचा से, छाया से, श्रोत्र से, चक्षु से, घ्राण से, जीभ से, और स्पर्शन से। सुदृढ सधिया शिथिल हो जाती हैं, शरीर मे झुर्रियो की तरगें उठ आती है, काले केश सफेद हो जाते हैं। मेरा यह शरीर सुन्दर और आहार से उपचित है मुझे इसे भी क्रमश छोडना होगा ।

३७. एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव, अजीवा चेव। तसा चेव, थावरा चेव।

एतत् सख्याय स भिक्षु भिक्षाचर्यायां समुत्थितः द्वितः लोक जानीयात्, तद् यथा—जीवाश्चैव, अजीवाश्चैव। त्रसाश्चैव, स्थावराश्चैव ।

३७ यह जानकर वह भिक्षु भिक्षाचर्या मे उपस्थित हो, दो प्रकार के लोक को जाने, जैसे—जीव और अजीव। त्रस और स्थावर ।

३८. इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा—जे इमे तसा थावरा पाणा—ते सयं समारंभंति, अण्णेण वि समारंभावेंति, अण्णं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

इह खलु अगारस्था सारम्भाः सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणाः ब्राह्मणाः अपि सारम्भाः सपरिग्रहा—ये इमे त्रसाः स्थावरा प्राणा. तान् स्वय समारभन्ते, अन्येनापि समारम्भयन्ति, अन्यमपि समारभमाणं समनुजानन्ति ।

३८ यहा गृहस्थ आरभ (हिंसा) और परिग्रहयुक्त होते हैं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त होते है। जो ये त्रस और स्थावर प्राणी है, उनकी वे स्वय हिंसा करते है, दूसरो से हिंसा करवाते है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करते है ।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा—जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा—ते सयं परिगिण्हंति, अण्णेण वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणजाणंति।

इह खलु अगारस्थाः सारम्भा. सपरिग्रहा, सन्त्येके श्रमणाः ब्राह्मणाः अपि सारम्भा. सपरिग्रहा—ये इमे कामभोगा. सचित्ता. वा अचित्ता वा तान् स्वय परिगृह्णन्ति अन्येनापि परिग्राहयन्ति, अन्यमपि परिगह्णन्त समनजानन्ति ।

यहा गृहस्थ आरम्भ और परिग्रहयुक्त होते है। कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रहयुक्त होते हैं। जो ये चेतन या अचेतन कामभोग हैं, उनका वे स्वय परिग्रह करते है, दूसरो से परिग्रह करवाते है और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन करते हैं ।

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव णिस्साए बंभचेरवासं वसिस्सामो।

इह खलु अगारस्थाः सारम्भाः सपरिग्रहा, सन्त्येके श्रमणा· ब्राह्मणा अपि सारम्भा· सपरिग्रहाः, अहं खलु अनारम्भ अपरिग्रहः। ये खलु अगारस्था सारम्भा· सपरिग्रहाः, सन्त्येके श्रमणा ब्राह्मणा अपि सारम्भाः सपरिग्रहा, एतेषां चैव निश्रया ब्रह्मचर्यवास वत्स्याम ।

यहा गृहस्थ आरम्भ और परिग्रहयुक्त हैं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरम्भ और परिग्रह-युक्त है। मैं अहिंसक और अपरिग्रही हूं। जो गृहस्थ आरम्भ और परिग्रहयुक्त है, जो कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरम्भ और परिग्रहयुक्त है, उनकी ही निश्रा (आश्रय) मे हम ब्रह्मचर्यवास मे रहेगे।

कस्स णं तं हेउं ?

कस्य तद् हेतो· ?

इसका क्या कारण है (कि अनारम्भ और अपरिग्रह होकर आरम्भ और परिग्रहयुक्त की निश्रा मे रहे ?)

जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं।

यथा पूर्व तथा अपर, यथा अपर तथा पूर्वम्।

(यदि हम गृहस्थ की निश्रा मे न रहे तो) जैसे पहले (आरभ और परिग्रहयुक्त) थे वैसे ही वाद मे (भिक्षु की चर्या स्वीकार करने पर भी) हो जायेंगे। जैसे भिक्षु की चर्या मे आरम्भ और परिग्रहयुक्त है वैसे पहले भी थे।

अंजू एते अणुवरया अणुवट्ठिया पुणरवि तारिसगा चेव।

ऋजु एते अनुपरता अनुपस्थिता पुनरपि तादृशका एव।

यह प्रत्यक्ष है कि ऐसे भिक्षु दोषो से विरत नही हैं, धर्म के लिए उपस्थित नही हैं। ये प्रव्रजित होने पर भी गृहस्थ जैसे ही हैं।

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहओ पावाइं कुव्वंति, इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो। इति भिक्खू रीएज्जा॥

ये खलु अगारस्था सारम्भा सपरिग्रहा., सन्त्येके श्रमणा ब्राह्मणा अपि सारम्भा. सपरिग्रहाः, द्वित पापानि कुर्वन्ति, इति संख्याय द्वाभ्यामपि अन्ताभ्या अदृश्यमानः इति भिक्षु रीयेत।

जो गृहस्थ आरम्भ और परिग्रहयुक्त है, कुछ श्रमण, ब्राह्मण भी आरभ और परिग्रह-युक्त है, वे दोनो पाप (आरभ और परिग्रह) करते है, यह जानकर जिनमे आरभ और परिग्रह—ये दोनो दृश्य न हो—भिक्षु ऐसा जीवन जीए।

३९. से बेमि—पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा एवं से परिण्णातकम्मे, एवं से ववेयकम्मे, एवं से वियंतकारए भवइ त्ति मक्खायं।

तद् ब्रवीमि—प्राचीन वा प्रतीचीन वा उदीचीन वा दक्षिणं वा एवं स परिज्ञातकर्मा, एव स व्यपेतकर्मा, एव स व्यन्तकारको भवतीति आख्यातम्।

३९ मैं कहता हूं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण, किसी भी दिशा से आया हुआ भिक्षु अनारभ और अपरिग्रह होकर परिज्ञातकर्मा होता है। परिज्ञातकर्मा होने के कारण वह व्यपेतकर्मा (नए कर्म का अवधक) होता है। व्यपेतकर्मा होने के कारण वह व्यतकर (पूर्व-सचित कर्म का अन्त करने वाला) होता है—यह भगवान् महावीर ने कहा है।

४०. तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाए आउकाए तेउकाए वाउकाए वणस्सइकाए तसकाए।

तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकाया हेतव प्रज्ञप्ता, तद् यथा—पृथिवीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय वनस्पतिकायः त्रसकायः।

४० भगवान् महावीर ने छह जीव-निकायो—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—को कर्म-बन्ध का हेतु बतलाया है।

से जहाणामए मम असायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि—इच्चेवं जाण।

तद् यथानाम मम असात दंडेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमानस्य वा हन्यमानस्य वा तर्ज्यमानस्य वा ताड्यमानस्य वा परिताप्यमानस्य वा क्लाम्यमानस्य वा उद्द्राव्यमानस्य वा यावत् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारकं दु ख भयं प्रतिसवेदयामि—इत्येव जानीहि।

जैसे मेरे लिए यह अप्रिय होता है, (यदि) डडे, हड्डी, मुट्ठी, ढेले या खप्पर से मुझे कोई पीटे, मारे, तर्जना और ताडना दे, परितप्त और क्लान्त करे, प्राण से वियोजित करे तब, यहा तक कि रोम उखाडने मात्र से भी मैं हिंसाकारक दुःख और भय का प्रतिसवेदन करता हू, ऐसा तुम जानो।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परिताविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा॥

सर्वे प्राणा. सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा· सर्वे सत्त्वा. दडेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमाना वा हन्यमाना. वा तर्ज्यमाना वा ताड्यमाना वा परिताप्यमाना वा क्लाम्यमाना वा उद्द्राव्यमाना. वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारक दु.खं भय प्रतिसवेदयन्ति। एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणा. सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वा. न हन्तव्या. न आज्ञापयितव्याः न परिगृहीतव्या. न परितापयितव्याः न उद्द्रावयितव्याः।

सब प्राण, भूत जीव और सत्त्व को डडे से, अस्थि, से मुट्ठी मे, ढेले से या खप्पर से कोई पीटे, मारे तर्जना और ताडना दे, परितप्त और क्लान्त करे, प्राण से वियोजित करे तब, यहा तक कि रोम उखाड़ने मात्र से भी वे हिंसाकारक दु.ख और भय का प्रतिसवेदन करते हैं। (आत्म-तुला से) ऐसा जानकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को न मारे, न अधीन बनाए, न दास बनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे।

४१. से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पण्णा, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा॥

अथ ब्रवीमि—ये अतीता, ये च प्रत्युत्पन्ना., ये च आगमिष्या अर्हन्तो भगवन्त. सर्वे ते एवमाचक्षते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः न आज्ञापयितव्या न परिगृहीतव्या. न परितापयितव्याः न उद्द्रावयितव्याः।

४१ मैं कहता हूं—जो अर्हत् भगवान् अतीत मे हुए हैं, वर्तमान मे हैं और भविष्य मे होगे, वे सब ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को कोई न मारे, न अधीन बनाए, न दास बनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे।

४२. एस धम्मे धुवे णितिए सासए समेच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेइए॥

एष धर्म. ध्रुवः नित्य शाश्वतः समेत्य लोकं क्षेत्रज्ञै. प्रवेदित।

४२ यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। जीव-लोक को जानकर आत्मज्ञ तीर्थंकरो ने इसका प्रतिपादन किया है।

४३. एवं से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ विरए मुसावायाओ विरए

एवं स भिक्षुः विरत. प्राणातिपाताद् विरतः मृपावादाद्

४३ इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरत रहे।

अदत्तादाणाओ विरए मेहुणाओ विरए परिग्गहाओ। णो दंत-पक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो विरेयणं, णो धूवणे, णो तं परियाविएज्जा ॥

विरत अदत्तादानाद् विरत. मैथुनाद् विरत· परिग्रहात्। नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जन, नो वमनं, नो विरेचन, नो धूपन, नो तं पर्यापिवेत्।

दतौन से दातो का प्रक्षालन न करे। अजन, वमन, विरेचन और धूपन का प्रयोग न करे, धूम न पीए।

४४. से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिणिव्वुडे णो आसंसं पुरतो करेज्जा—इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विण्णाएण वा, इमेण वा सुचरियतव-णियमबंभचेरवासेणं, इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे सिया कामभोगाण वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुहे। एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया।

स भिक्षु अक्रिय. अलूषक· अक्रोध: अमान: अमाय: अलोभ. उपशान्त परिनिर्वृत. नो आशसा पुरत कुर्यात्—अनेन मे दृष्टेन वा श्रुतेन वा मतेन वा विज्ञातेन वा, अनेन वा सुचरिततप·-नियमब्रह्मचर्यवासेन, अनेन वा यात्रामात्रावृत्तिकेन धर्मेण इत: च्युत. प्रेत्य देव स्यात् कामभोगाना वशवर्त्ती सिद्धो वा अदु खाऽशुभ.। अत्रापि स्यात्, अत्रापि नो स्यात्।

४४ वह अक्रिय, अहिंसक, अक्रोधी, अमानी, अमायी, अलोभी, उपशात, परिनिर्वृत भिक्षु भविष्य के लिए आशसा न करे—मैंने देखा है, सुना है, मनन किया है, विज्ञान (विवेक) किया है (कि धर्म से आशंसा पूर्ण होती है। इस आधार पर वह) इस सुचरित तप-नियम और ब्रह्मचर्यवास के द्वारा अथवा इस जीवन-यापन भर आहार वाले धर्म के द्वारा यहा से च्युत हो परलोक मे कामभोगो का वशवर्त्ती देव होऊ अथवा दु ख और अशुभ से अतीत सिद्ध होऊ। (इस प्रकार की आशसा न करे, क्योकि) तप आदि से कभी कामभोग प्राप्त होते है और कभी नहीं होते।

४५. से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए रूवेहिं अमुच्छिए गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए फासेहिं अमुच्छिए, विरए—कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरइ-रईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षु: शब्देषु अमूर्च्छित· रूपेषु अमर्च्छित: गन्धेषु अमूर्च्छित. रसेपु अमूर्च्छित: स्पर्शेषु अमूर्च्छित:, विरत.—क्रोधाद् मानाद् मायाया लोभात् प्रेयस दोषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशुन्यात् परपरिवादात् अरतिरते:, मायामृषात· मिथ्यादर्शनशल्यात्—इति स महत. आदानात् उपशान्त. उपस्थित. प्रतिविरत।

४५ वह भिक्षु शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श मे अमूर्च्छित तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, अरति-रति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होता है। इसलिए वह महान् आदान (कर्म-सग्रह) से उपशात, सयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

४६. से भिक्खू—जे इमे तसथावरा पाणा भवंति—ते णो सयं समारंभइ, णो अण्णेहि समारंभावेइ, अण्णे समारंभंते वि ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षु·—ये इमे त्रसस्थावरा. प्राणा· भवन्ति—तान् नो स्वय समारभते, नो अन्यै समारम्भयति, अन्यान् समारभमानानपि न समनुजानाति—इति स महत आदानात् उपशान्त. उपस्थित: प्रतिविरत.।

४६. वह भिक्षु—जो ये त्रस-स्थावर प्राणी हैं—उनका स्वय समारभ नही करता, दूसरों से समारभ नही करवाता और समारभ करने वाले का अनुमोदन नही करता। इसलिए वह महान् आदान (कर्म-सग्रह) से उपशात, सयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है।

४७. से भिक्खू—जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा—ते णो

स भिक्षु—ये इमे कामभोगा: सचित्ता वा अचित्ता वा—तान्

४७. वह भिक्षु—जो ये सचित्त या अचित्त कामभोग हैं—उनका स्वय परिग्रह नही करता,

सयं परिगिण्हइ, णो अण्णेणं परिगिण्हावेइ, अण्णं परिगिण्हंतंपि ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

नो स्वय परिगृह्णाति, नो अन्येन परिग्राहयति, अन्य परिगृह्णंतं न समनुजानाति—इति स महत: आदानात् उपशान्त: उपस्थित: प्रतिविरत: ।

दूसरो से परिग्रह नही करवाता और परिग्रह करने वाले का अनुमोदन नही करता । इसलिए वह महान् आदान (कर्म-सग्रह) से उपशात, सयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है ।

४८. से भिक्खू—जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ—णो तं सयं करेइ, णो अण्णेणं कारवेइ, अण्णं पि करेंतं ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षु:—यदपि चेद साम्परायिक कर्म क्रियते—नो तत् स्वय करोति, नो अन्येन कारयति, अन्यमपि कुर्वन्त न समनुजानाति—इति स महत: आदानात् उपशान्त. उपस्थित: प्रतिविरत. ।

४८. वह भिक्षु—जो यह सापरायिक (पारलौकिक) कर्म किया जाता है—उसे वह स्वय नही करता, दूसरो से नही करवाता और करने वाले का अनुमोदन नही करता । इसलिए वह महान् आदान (कर्म-सग्रह) से उपशात, सयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है ।

४९. से भिक्खू जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वा अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं, तं चेतियं सिया, तं णो सयं भुंजइ, णो अण्णेणं भुंजावेइ, अण्णं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ—इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते ॥

स भिक्षु: जानीयात्—अशनं वा पानं वा खाद्य वा स्वाद्यं वा एतत् प्रतिज्ञया एकं साधर्मिक समुद्दिश्य प्राणान् भूतानि जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्ट अभिहृतं आहृत्यौद्देशिकं, तत् दत्त स्यात्, तत् नो स्वयं भुञ्जीत, नो अन्येन भोजयेत्, अन्यमपि भुञ्जानं न समनुजानाति, इति स महत: आदानात् उपशान्त: उपस्थित. प्रतिविरत. ।

४९. वह भिक्षु जाने—यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य देने की प्रतिज्ञा से मेरे एक साधर्मिक के उद्देश्य से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का समारंभ कर (उन्हे पीड़ित कर) दिया गया, अथवा उसी के उद्देश्य से खरीदा गया, उधार लिया गया, छीना गया, भागीदार द्वारा अननुमत, सामने लाया गया अथवा साधु के पास आकर उसके उद्देश्य से बनाया गया—ऐसा आहार यदि प्राप्त हो जाए (तो पता चलने पर) वह उसे न खाए, न दूसरो को खिलाए और खाने वाले का अनुमोदन भी न करे । इसलिए वह महान् आदान (कर्म-सग्रह) से उपशात, संयम मे उपस्थित और प्रतिविरत होता है ।

५०. से भिक्खू अह पुण एवं जाणेज्जा—तं विज्जइ तेसिं परक्कमे । जस्सट्ठाए चेतियं सिया, तं जहा—अप्पणो पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं धातीणं णातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाणं पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए सण्णिहि-सण्णिचओ कज्जति, इह एएसिं माणवाणं भोयणाए ।

स भिक्षु अथ पुन. एवं जानीयात्—तद् विद्यते तेषां पराक्रम. । यस्यार्थं कृतं स्यात्, यद् यथा—आत्मने पुत्रेभ्य दुहितृभ्य स्नुषाभ्य. धात्रीभ्य ज्ञातिभ्य. राजभ्य: दासेभ्य दासीभ्य: कर्मकरेभ्य कर्मकरीभ्य आवेशेभ्य. पृथक् 'पहेणाए' सायमाशाय प्रातराशाय सन्निधि-सन्निचय क्रियते, इह एकेषां मानवाना भोजनाय ।

५०. और वह भिक्षु इस प्रकार जाने—आहार को निष्पन्न करना गृहस्थो का पराक्रम है । जिसके लिए वह बनाया गया है, जैसे—अपने लिए, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, धाई, ज्ञाती, राजा, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी और अतिथि के लिए तथा भेट विशेष के लिए, सायकालीन भोजन या कलेवे के लिए और इन मनुष्यो के भोजन के लिए सन्निधि और सचय किया जाता है ।

तत्थ भिक्खू परकड-परणिट्ठितं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थातीतं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं

तत्र भिक्षु परकृत-परनिष्ठितं उद्गम-उत्पादनैषणाशुद्ध शस्त्रातीत शस्त्रपरिणामित अविहिं-

वहा भिक्षु दूसरे के लिए कृत, दूसरे के लिए निष्पादित, उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध, शस्त्रातीत, शस्त्र-परिणामित, अहिंसा-

एसितं वेसितं सामुदाणियं पण्णमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्त अक्खोवंजण-वणलेवणभूयं संजमजायामायावुत्तियं बिलमिव पण्णगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा—अण्णं अण्णकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले ॥

सितं एषितं वैषिकं सामुदानिकं प्राज्ञमशन कारणार्थ प्रमाणयुक्त अक्षोपाञ्जन - व्रणलेपनभूत, संयमयात्रामात्रावृत्तिक विलमिव पन्नगभूतेन आत्मना आहार आहरेत्—अन्न अन्नकाले, पान पानकाले, वस्त्रं वस्त्रकाले, लयन लयनकाले, शयन शयनकाले।

प्राप्त, एपणा से प्रात, केवल साधु-वेप से लब्ध, माधुकरी से प्राप्त, प्राज्ञ (गीतार्थ) द्वारा लाया गया आहार करे। वह कारण-पूर्वक, प्रमाण-युक्त, पहिए की धुरी के तेल आजने के समान, व्रण पर लेप भर जैसा, संयमयात्रामात्र की वृत्ति के लिए, विल मे घुसते साप के समान भोजन करे—भोजन के समय भोजन, पान के समय पान, वस्त्रकाल मे वस्त्र, लयनकाल (आवासकाल) मे लयन और शयनकाल मे शयन (शय्या) ग्रहण करे।

५१. से भिक्खू मायण्णे अण्णयरिं दिसं वा अणुदिसं वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे विभए किट्टे—उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए—संतिं विरतिं उवसमं णिव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं ॥

स भिक्षु. मात्रज्ञ अन्यतरीं दिश वा अनुदिशं वा प्रतिपन्न धर्म आचक्षीत विभजेत् कीर्त्तयेत्, उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत्—शातिं विरतिं उपशमं निर्वाण शौचं आर्जव मार्दवं लाघव अनतिपातिकम्।

५१. वह मात्रा को जानने वाला भिक्षु किसी दिशा या अनुदिशा मे पहुच कर धर्म का आख्यान करे, विश्लेपणपूर्वक उसे कहे, उसका निरूपण करे, धर्म सुनने के इच्छुक मनुष्यो के बीच, फिर वे (धर्माचरण के लिए) उपस्थित हो या अनुपस्थित हो, मुनि शाति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच (अलोभ), आर्जव, मार्दव, लाघव (उपकरण आदि की अल्पता) और अहिंसा का प्रतिपादन करे।

५२. सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं ॥

सर्वेभ्य. प्राणेभ्यः सर्वेभ्य भूतेभ्य सर्वेभ्यः जीवेभ्यः सर्वेभ्यः सत्त्वेभ्य अनुवीचि कीर्त्तयेद् धर्मम्।

५२. भिक्षु सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो के सामने विवेकपूर्वक धर्म का निरूपण करे।

५३. से भिक्खू धम्मं किट्टेमाणे—णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा। णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्ममाइक्खेज्जा ॥

स भिक्षु. धर्मं कीर्त्तयन्—नो अन्नस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो पानस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो वस्त्रस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो लयनस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो शयनस्य हेतु धर्ममाचक्षीत। नो अन्येषा विरूपरूपाणां कामभोगाना हेतु धर्ममाचक्षीत। अग्लान्या धर्ममाचक्षीत। नान्यत्र कर्मनिर्जरार्थ धर्ममाचक्षीत।

५३ वह भिक्षु धर्म का निरूपण करता हुआ—अन्न के लिए धर्म का आख्यान न करे। पान के लिए धर्म का आख्यान न करे। वस्त्र के लिए धर्म का आख्यान न करे। लयन (स्थान) के लिए धर्म का आख्यान न करे। शयन के लिए धर्म का आख्यान न करे। दूसरे विविध प्रकार के कामभोगो के लिए धर्म का आख्यान न करे। निर्मल भाव से धर्म का आख्यान करे। कर्म-निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से धर्म का आख्यान न करे।

५४. इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया। जे तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म

इह खलु तस्य भिक्षोरन्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य सम्यग् उत्थानेन उत्थाय वीराः अस्मिन् धर्मे समुत्थिता.। ये तस्य भिक्षोरन्तिके धर्म श्रुत्वा निशम्य सम्यग् उत्था-

५४ उस भिक्षु के पास धर्म सुनकर, जानकर, सम्यग् उत्थान (अन्त प्रेरणा) से उत्थित हो वीर पुरुप इस धर्म मे उत्थित हुए हैं। जो वीर पुरुप उस भिक्षु के पास धर्म सुनकर, जानकर, सम्यग् उत्थान से उत्थित हो इस धर्म मे उत्थित हुए

सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अंसि धम्मे समुट्ठिया, ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिणिव्वुड त्ति वेमि ॥

नैन उत्थाय वीरा. अस्मिन् धर्मे समुत्थिताः ते एवं सर्वोपगताः, ते एवं सर्वोपरताः, ते एवं सर्वोपशान्ताः, ते एवं सर्वात्मना परिनिर्वृता इति ब्रवीमि ।

हैं, वे इस प्रकार सर्वात्मना उपगत (मोक्ष मार्ग को प्राप्त), सर्वात्मना उपशात और सर्वात्मना परिनिर्वाण को प्राप्त हैं—ऐसा मैं कहता हूं ।

५५. एस ठाणे आरिए केवले पडिपुण्णे णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु

दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥

एतत् स्थानं आर्यं केवलं प्रतिपूर्णं नैर्यातृकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्वाणमार्गं निर्याणमार्गं सर्वदुःखप्रहाणमार्गं एकान्तसम्यक् साधु ।

द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंग एवं आहृतः ॥

५५ यह स्थान आर्य, केवल—द्वन्द्वरहित, प्रतिपूर्ण, पार पहुंचाने वाला, शुद्ध, शल्यों को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, निर्याण का मार्ग, सब दुःखों के क्षय का मार्ग, एकान्त-सम्यक् और साधु है ।

दूसरे स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार निरूपित है ।

५६. अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईरहस्सिया णो वहुसंजया, णो वहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति—अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, अहं ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अण्णे उद्दवेयव्वा ।

अथापरं तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंग एवं आह्रीयते —ये इमे भवन्ति—आरण्यकाः आवसथिकाः ग्रामान्तिकाः क्वचिद् राहस्यिकाः नो वहुसयताः, नो वहुप्रतिविरताः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु, ते आत्मना सत्यामृषा एवं वियुञ्जन्ति—अहं न हन्तव्यः अन्ये हन्तव्याः, अहं न आज्ञापयितव्यः अन्ये आज्ञापयितव्याः, अहं न परिग्रहीतव्यः अन्ये परिग्रहीतव्याः, अहं न परितापयितव्यः अन्ये परितापयितव्याः, अहं न उद्द्रावयितव्य. अन्ये उद्द्रावयितव्याः ।

५६. अब तीसरे स्थान मिश्रक का[५] विकल्प इस प्रकार निरूपित है—जो ये होते हैं—आरण्यक,[६] (अरण्यवासी तपस्वी) आवसथिक (पान्थशाला मे रहने वाले), ग्राम के समीप रहने वाले, रहस्यमय साधना मे संलग्न, जो बहु-सयमी नही हैं, जो सब प्राण-भूत-जीव-सत्त्वों के प्रति बहु-प्रतिविरत नहीं हैं, वे स्वय सत्य-मृषा वचन का प्रयोग इस प्रकार करते हैं—मैं वध्य नहीं हूं, दूसरे वध्य है, मैं आज्ञापनीय नही हूं, दूसरे आज्ञापनीय है, मैं दास होने योग्य नही हू, दूसरे दास होने योग्य हैं, मैं परितापनीय नही हू, दूसरे परितापनीय हैं, मैं मारे जाने योग्य नही हूं, दूसरे मारे जाने योग्य हैं ।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति । तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायति ॥

एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता. गृद्धाः ग्रथिता. अध्युपपन्नाः यावत् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पंच) षड्-दशमानि (षड्दश) अल्पतर वा भूयस्तर वा भुक्त्वा भोगभोगान् कालमासे काल कृत्वा अन्यतरेषु आसुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषु उपपत्तारो भवन्ति । ततो विप्रमुच्यमानाः भूयः एडमूकत्वेन तमस्त्वेन प्रत्यायान्ति ।

इसी प्रकार वे स्त्री-कामो में मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित, आसक्त होकर चार-पाच या छह-दस वर्षो तक कम या अधिक भोगो को भोग, काल-मास मे मरकर किन्ही पापपूर्ण किल्विषिक स्थानो मे उत्पन्न होते हैं । वे वहा से मरकर पुन. मेमने की भांति मूगे और अधे—इस रूप मे जन्म लेते है ।

५७. एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू ।

एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए ।।

५८. अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति—महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदाचारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कंचण - वंचण-माया - णियडि-कूड - कवड-साइ - संपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ ण्हाणम्मद्दण-वण्णग-

एतत् स्थानं अनार्यं अकेवलं अप्रतिपूर्णं अनैर्यातृक असंशुद्ध अशल्यकर्त्तनं असिद्धिमार्ग अमुक्तिमार्ग अनिर्वाणमार्ग अनिर्याणमार्ग असर्वदुःखप्रहाणमार्ग एकान्तमिथ्या असाधु ।

एष खलु तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंग एवं आहृत ।

अथापरः प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभग. एव आख्यायते —इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिण वा सन्ति एकका मनुष्या. भवन्ति—महेच्छा. महारभा महापरिग्रहा अधार्मिका अधर्मानुगा. अधर्मिष्ठा., अधर्माख्यायिन. अधर्मप्राय जीविन· अधर्मप्रलोकिन अधर्मप्ररञ्जना अधर्मशीलसमुदाचारा· अधर्मेण चैव वृत्ति कल्पमाना· विहरन्ति, जहि छिन्धि भिन्धि विकर्त्तका· लोहितपाणय चण्डा रुद्राः क्षुद्राः साहसिका. 'उक्कचण'-वचन-माया-निकृति—कूट-कपट-साचि-सप्रयोग-बहुला दुःशीला दुर्व्रता दुष्प्रत्यानन्दा असाधव सर्वस्मात् प्राणातिपातात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् मृषावादात् अप्रतिविरताः यावज्जीव, सर्वस्मात् अदत्तादानात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् मैथुनात् अप्रतिविरताः यावज्जीव, सर्वस्मात् परिग्रहात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् क्रोधात्, मानात्, मायाया, लोभात्, प्रेयस., दोषात्, कलहात्, अभ्याख्यानात्, पैशुन्यात्, परपरिवादात् अरतिरतेः मायामृषात. मिथ्यादर्शनशल्यात्, अप्रतिविरता· यावज्जीव, सर्व-

५७ यह स्थान अनार्य, अकेवल, अप्रतिपूर्ण, पार नही पहुचाने वाला, अशुद्ध, शल्यो को नही काटने वाला, सिद्धि का अमार्ग, मुक्ति का अमार्ग, निर्वाण का अमार्ग, निर्याण का अमार्ग सब दुःखो के क्षय का अमार्ग, एकात मिथ्या और असाधु है ।

यह तीसरे स्थान मिश्रक का विकल्प इस प्रकार निरूपित है ।

५८ अब प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओ मे कुछ मनुष्य होते हैं—महान् इच्छा वाले,[९७] महाआरभी,[९८] महापरिग्रही,[९९] अधार्मिक, अधर्म का अनुगमन करने वाले, अधर्मिष्ठ, अधर्मवादी, अधर्म-प्राय जीवन जीने वाले, अधर्म को देखने वाले, अधर्म मे अनुरक्त,[१००] अधर्म शील और आचारवाले, अधर्म के द्वारा आजीविका करते हुए रहते है । 'मारो, छेदो, काटो' (यह कह) चमडी को उधेडने वाले, रक्त से सने हाथ वाले, चण्ड, रुद्र, क्षुद्र, साहसिक (बिना विचारे काम करने वाले), ठगी,[१०१] वचना,[१०२] माया,[१०३] वकवृत्ति,[१०४] कूट[१०५] (झूठा तोल-माप), कपट[१०६] साचि-प्रयोग[१०७] (असली दिखाकर नकली वस्तु देने) का बहुत प्रयोग करने वाले, दुःशील, दुर्व्रत,[१०८] दुष्प्रत्यानन्द[१०९] (उपकारी का भी प्रत्युपकार न करने वाले) असाधु, यावज्जीवन सर्व प्राणातिपात से अविरत, यावज्जीवन सर्व मृषावाद से अविरत, यावज्जीवन सर्व अदत्तादान से अविरत, यावज्जीवन सर्व मैथुन से

विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सिय-सदमाणिया-सयणासण-जाण-वाहण-भोग-भोयण-पवित्थर-विहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास-रूवग-संववहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुल-कूडमाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करण-कारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयण-पयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-ताडण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए। जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति (तत्तो वि अप्पडिविरया जावज्जीवाए।)

स्मात् स्नानोन्मर्दन-वर्णक-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध-माल्यालंकारात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् शकट-रथ-यान-युग्य-'गिल्लि'-'थिल्लि'-शिविका-स्यन्दमानिका-शयनासन-यान-वाहन-भोग-भोजन-प्रविस्तर-विधेः अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् क्रय-विक्रय-माषार्धमापरूपक-संव्यवहाराद् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-मणि-मौक्तिक-शंख-शिला-प्रवालाद् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् कूटतुला-कूटमानात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भाद् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् करण-कारापणात् अप्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् पचनपाचनात् अप्रतिविरताः यावज्जीव, सर्वस्मात् कुट्टन-पिट्टन-तर्जन-ताडन-वध-बंध-परिक्लेशात् अप्रतिविरताः यावज्जीवम्। ये चाप्यन्ये तथाप्रकारा सावद्या अबोधिका कर्मान्ता परप्राण-परितापनकरा क्रियन्ते (ततोऽपि अप्रतिविरता यावज्जीवम्)।

अविरत, यावज्जीवन सर्व परिग्रह से अविरत, यावज्जीवन सर्व क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरति-रति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य से अविरत, यावज्जीवन सब स्नान, उन्मर्दन, वर्णक,[११०] विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलंकारों से अविरत, यावज्जीवन सब शकटयान, रथयान, वाहन,[१११] डोली,[११२] दो खच्चरों की बग्घी,[११३] शिविका, स्यंदमानिका,[११४] शयन, आसन, यान, वाहन, भोग, भोजन की विस्तीर्ण विधियों से अविरत, यावज्जीवन सब प्रकार के क्रय, विक्रय, मापक, अर्धमापक, रूप्यक से होने वाले विनिमय से अविरत, यावज्जीवन सब प्रकार के हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, मणि, मौक्तिक, शंख, शिला, मूंगा से अविरत, यावज्जीवन सब कूट-तोल, कूट-माप से अविरत, यावज्जीवन सब आरंभ-समारंभ से अविरत, यावज्जीवन सब प्रकार के करण-कारापण से अविरत, यावज्जीवन सब पचन-पाचन से अविरत, यावज्जीवन सब कुट्टन, पीडन, तर्जन, ताडन, वध, बंध, परिक्लेश से अविरत होते हैं। जो इस प्रकार के अन्य सावद्य, अबोधि करने वाले, दूसरे प्राणियों को परितप्त करने वाले कर्म-व्यवहार किए जाते हैं (उनसे भी यावज्जीवन अविरत होते हैं।)

से जहाणामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-पलिमंथग-मादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिर-वट्टग-लावग-कवोय-कविंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सिरीसिव-मादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः कलम-मसूर-तिल-मुद्ग-माष-निष्पाव-कुलत्थ-आलिसन्दक-परिमन्थकादिकेषु अयतः क्रूरः मिथ्यादंडं प्रयुङ्क्ते एवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः तित्तिर-वर्तक-लावक-कपोत-कपिञ्जल-मृग-महिष-वराह-ग्राह-गोधा-कूर्म-सरीसृपादिकेषु अयत क्रूर मिथ्यादंडं प्रयुङ्क्ते।

जैसे कोई पुरुष चावल, मसूर,[११५] तिल, मूंग, उड़द, राजमाष, कुलथी, चावल, काला चना आदि धान्यों के प्रति अयत और क्रूर होकर मिथ्यादंड का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वैसा पुरुषजात तीतर, बटेर, लावा, कबूतर, कपिञ्जल, मृग, भैंसा, सूअर, मगर, गोह, कछुआ, सांप आदि प्राणियों के प्रति अयत और क्रूर होकर मिथ्यादंड का प्रयोग करता है।

जा वि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तं जहा—दासे इ वा पेसे इ

यापि च तस्य बाह्या परिषद् भवति, तद् यथा—दास इति वा

जो उसकी बाह्य परिषद् होती है जैसे—दास,[११६], प्रेष्य, भृतक, भागीदार, कर्मकर

वा भयए इ वा भाइल्ले इ वा कम्मकरए इ वा भोगपुरिसे इ वा, तेसिं पि य णं अण्णयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं णिव्वत्तेइ, तं जहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अंदुयबंधणं करेह, इमं णियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं णियल-जुयल-संकोडिय-मोडियं करेह, इमं हत्थच्छिण्णयं करेह, इमं पायच्छिण्णयं करेह, इमं कण्णच्छिण्णयं करेह, इमं णक्कच्छिण्णयं करेह, इमं ओट्ठच्छिण्णयं करेह, इमं सीसच्छिण्णयं करेह, इमं मुहच्छिण्णयं करेह, इमं वेयवहितं करेह, इमं अंगवहितं करेह, इमं फोडियपयं करेह, इमं णयणुप्पाडियं करेह, इमं दसणुप्पाडियं करेह, इमं वसणुप्पाडियं करेह, इमं जिब्भुप्पाडियं करेह, इमं ओलंबियं करेह, इमं घसियं करेह, इमं घोलियं करेह, इमं सूलाइय करेह, इमं सूलाभिण्णयं करेह, इमं खारपत्तियं करेह, इमं वज्झपत्तियं करेह, इमं सीहपुच्छियगं करेह, इमं वसहपुच्छियगं करेह, इमं कडग्गिदड्ढयं करेह, इमं कागणिमंसखावियगं करेह, इमं भत्तपाणणिरुद्धगं करेह, इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अण्णतरेणं असुभेणं कु-मारेणं मारेह ।

प्रेष्य इति वा भृतकः इति वा भागिकः इति वा कर्मकरः इति वा भोगपुरुषः इति वा तेषां अपि च अन्यतरस्मिन् यथालघुके अपराधे स्वयमेव गुरुकं दंड निर्वर्तयति तद् यथा—इम दंडयत, इमं मुण्डयत, इमं तर्जयत, इमं ताडयत इमं अंदुकवन्धनं कुरुत, इम निगडवन्धन कुरुत, इम 'हडि'वधन कुरुत, इमं चारकवन्धनं कुरुत, इमं निगडयुगल-संकोटित-मोटित कुरुत, इमं हस्तच्छिन्नकं कुरुत, इम पादच्छिन्नकं कुरुत, इमं कर्णच्छिन्नक कुरुत, इमं नक्रच्छिन्नक कुरुत, इम ओष्ठच्छिन्नक कुरुत, इम शीर्षच्छिन्नक कुरुत, इमं मुखच्छिन्नक कुरुत, इम वेदहतं कुरुत, इमं अंगहतं कुरुत, इमं स्फोटितपद कुरुत, इमं नयनोत्पाटित कुरुत, इम दशनोत्पाटित कुरुत, इम वृषणोत्पाटित कुरुत, इमं जिह्वोत्पाटित कुरुत, इम उल्लवित कुरुत, इम घर्षित कुरुत, इमं घोलित कुरुत, इम शूलायित कुरुत, इम शूलाभिन्नकं कुरुत, इम क्षारप्रतीत कुरुत, इम वर्ध्रप्रतीतं कुरुत, इमं सिहपुच्छितक कुरुत, इम वृषभपुच्छितक कुरुत, इमं कटाग्निदग्धक कुरुत, इम काकणिमासखादितकं कुरुत, इम भक्तपाननिरुद्धक कुरुत, इमं यावज्जीवं वध-बंधन कुरुत, इम अन्यतरेण अशुभेन कु-मारेण मारयत।

अथवा भोगपुरुष—उनके द्वारा किसी प्रकार छोटा-सा अपराध होने पर स्वय भारी दड का प्रयोग करता है जैसे (वह कहता है) इसे दडित करें, इसे मुडित करें, इसे तर्जना दें, इसे ताडना दें, इसे साकल से बाध दें, इसे बेडी से बांध दें,[११७] इसे 'खोडे' मे डाल दे, इसे बन्दी बना जेल मे डाल दे,[११८] इसे दो जजीरो से सिकोड कर लुढका दे,[११९] इसके हाथ काट दें,[१२०] इसके पैर काट दें, इसके कान काट दें, इसका नाक काट दें, इसके होठ काट दें, इसका शरीर काट दे, इसका मुह काट दें, इसे नपुसक कर दें, इसके अग काट दे, इसके पैरो मे छाले डाल दे, इसकी आखे निकाल दें, इसके दात निकाल दें, इसके अडकोश निकाल दे, इसकी जीभ खीच लें, इसे (कूए मे) लटका दें,[१२१] इसे घसीटें, इसे पानी मे डुबो दें, इसे शूली मे पिरो दें,[१२२] इसे शूली मे पिरोकर टुकडे-टुकडे कर दें, इस पर नमक छिडक दे,[१२३] इस पर चमडा बाध दें, इसकी जननेन्द्रिय को काट दे,[१२४] इसके अडकोशो को तोडकर इसके मुह मे डाल[१२५] दें, इसे चटाई मे लपेट आग मे जला दे, इसके मास के छोटे-छोटे टुकडे कर इसे खिलाए,[१२६] इसका भोजन-पानी बन्द कर दे, इसको जीवनभर पीटें और बाधे रखें, इसे दूसरे किसी प्रकार के अशुभ और बुरी मार से मारें।

जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवइ, तं जहा—माया इ वा पिया इ वा भाया इ वा भगिणी इ वा भज्जा इ वा पुत्ता इ वा धूया इ वा सुण्हा इ वा, तेसिं पि य णं अण्णयरंसि अहालहुगंसि अवरा-

याऽपि च तस्य आभ्यन्तरिका परिषद् भवति, तद् यथा—माता इति वा पिता इति वा भ्राता इति वा भगिनी इति वा भार्या इति वा पुत्रा इति वा दुहितारो इति वा स्नुषा इति वा, तेषा-

जो उसकी आन्तरिक परिषद् होती है, जैसे—माता-पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री अथवा पुत्रवधू—उनके द्वारा किसी प्रकार का छोटा-सा अपराध होने पर स्वय भारी दड का प्रयोग करता है, जैसे—ठडे पानी मे

हंसि सयमेव गरुयं दंडं णिव्वत्तेति, तं जहा—सीओदगवियडंसि उव्वोलेत्ता भवइ, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवइ, अगणिकायेणं कायं उड्डहित्ता भवइ, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा अण्णयरेण दवरएण पासाइं उद्दालित्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति,

मपि च अन्यतरस्मिन् यथालघुके अपराधे स्वयमेव गुरुक दण्ड निर्वर्तयति, तद् यथा—शीतोदकविकटे उद्ब्रोडयिता भवति, उष्णोदकविकटेन वा काय अवसेक्ता भवति, अग्निकायेन काय उद्दग्धा भवति, योक्त्रेण वा वेत्रेण वा नेत्रेण वा त्वचा वा कशेन वा 'छियाए' वा लतया वा अन्यतरेण वा दवरकेन पार्श्वाणि उद्दालयिता भवति, दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्ट्या वा लेष्टुना वा कपालेन वा काय आकुट्टयिता भवति।

उसके शरीर को डुबोता है, गर्म पानी से शरीर का सिंचन करता है, अग्नि से शरीर को दागता है, जोते, बेंत, नेत्र (वाध), त्वचा, चाबुक, लोहे की पतली छड़ी, लता या किसी अन्य रस्सी से दोनों पार्श्वों की चमड़ी को उधेड़ डालता है और डंडे, हड्डी, मुट्ठी तथा ढेले या कपाल से शरीर को कूटता है।

तहप्पगारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवति, पवसमाणे सुमणा भवंति, तहप्पगारे पुरिसजाते दंडपासी, दंडगरुए, दंडपुरक्खडे, अहिते इमंसि लोगंसि, अहिते परंसि लोगंसि।

तथाप्रकारे पुरुषजाते संवसति दुर्मनसो भवन्ति, प्रवसति सुमनसो भवन्ति। तथाप्रकारः पुरुषजातः दण्डपार्श्वी दण्डगुरुक पुरस्कृतदण्ड: अहितः अस्मिन् लोके, अहितः परस्मिन् लोके।

ऐसे पुरुष के घर पर रहते हुए (पारिवारिक लोग) अप्रसन्न मन वाले होते हैं और उसके परदेश चले जाने पर वे प्रसन्न मन वाले होते हैं। दंड को पार्श्व (आस-पास) रखने वाला, भारी दंड देने वाला, दंड को ही सामने रखने वाला—ऐसा पुरुष इस लोक में भी अहितकर होता है और परलोक में भी अहितकर होता है।

ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति। ते दुक्खण-सोयण-जूरण - तिप्पण - पिट्टण-परितप्पण-वह - बंधण- परिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति॥

ते दुःखयन्ति शोचन्ते खिद्यन्ते तेप्यन्ते पीड्यन्ते परितप्यन्ते। ते दुःखन-शोचन-खेदन-तेपन-पीडन-परितापन-वध-बन्धन-परिक्लेशात् अप्रतिविरताः भवन्ति।

वे दुःखी होते हैं, शोक करते हैं, खिन्न होते हैं, आंसू बहाते हैं, पीटे जाते हैं और परितप्त होते हैं। वे दुःख, शोक, खेद, अश्रु-विमोचन, पीड़ा, परिताप, वध, बन्धन और परिक्लेश से विरत नहीं होते।

५६. एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा काल भुंजित्तु भोगभोगाइं पसवित्तु वेरायतणाइं, सचिणित्ता बहूइं कूराइं कम्माइं उस्सण्णाइं संभारकडेण कम्मुणा—

एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः यावत् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पञ्च) षड्दशमानि (षड्दश) वा अल्पतर वा भूयस्तर वा काल भुक्त्वा भोगभोगान् प्रसूय वैरायतनानि, सचित्य बहूनि क्रूराणि कर्माणि उत्सन्नानि संभारकृतेन कर्मणा—

५६ इसी प्रकार वे स्त्री-कामों में मूर्च्छित,[153] गृद्ध, ग्रथित, आसक्त होकर, चार-पांच या छह-दस वर्षों तक, कम या अधिक काल तक भोगों को भोग, वैर के आयतनों को[154] जन्म देकर, अनेक बार[155] बहुत क्रूर कर्मों का संचय कर, प्रचुर मात्रा में किए गए[156] कर्मों के कारण—

से जहाणामए अयगोले इ वा सेलगोले इ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्ज-

तद् यथानाम अयोगोलो वा शैलगोलो वा उदके प्रक्षिप्तः सन् उदकतलमतिवर्त्य अधो धरणितलप्रतिष्ठानो भवति, एवमेव तथाप्रकारः पुरुषजात वर्ज्य-

जैसे लोहे का गोला अथवा पत्थर का गोला जल में डालने पर, जल के तल को पार कर धरती के तल पर जाकर टिकता है, इसी प्रकार वैसा पुरुषजात जो कर्मबहुल[157] धूत-बहुल, पंकबहुल, वैरबहुल, अविश्वासबहुल,

बहुले धूयबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सण्णतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवति ॥

बहुल. धूतबहुल: पकबहुल वैरबहुल. अप्रत्ययबहुल. दम्भबहुल' निकृतिबहुल' साचिबहुल: अयशोबहुल. उत्सन्नत्रसप्राणघाती कालमासे काल कृत्वा धरणितलमतिवर्त्य अधो नरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।

दभबहुल, निकृतिबहुल, कपटताबहुल, अयशबहुल तथा बहुलतया त्रस प्राणियो की घात करने वाला, कालमास मे मरकर, धरती के तल को पार कर, नीचे नरकतल मे जा टिकता है ।

६० ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधगारतमसा ववगय-गह-चंद-सूर-णक्खत्त-जोइसप्पहा मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूय -पडलचिक्खल्ल-लित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा कण्ह-अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा। असुभा णरएसु वेयणाओ। णो चेव णं णरएसु णेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सइं वा रइं वा धिइं वा मइं वा उवलभंते। ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णेरइय-वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥

ते नरका. अन्तोवृत्ता' बहिश्चतुरस्रा अध क्षुरप्रसंस्थानसस्थिता नित्यान्धकारतमस व्यपगतग्रहचन्द्रसूरनक्षत्रज्योतिष्प्रभा: मेदोवसामासरुधिरपूतिपटल'चिक्खल्ल'- लिप्तानुलेपनतला' अशुचयो विस्रा परमदुर्गन्धा' कृष्णाग्निवर्णाभा कक्खट-स्पर्शा दुरध्यासा अशुभा. नरका.। अशुभा नरकेषु वेदना.। नो चैव नरकेषु नैरयिका. निद्रान्ति वा प्रचलायन्ते वा स्मृति वा रति वा धृति वा मति वा उपलभन्ते। तत्र उज्ज्वला विपुलां प्रगाढा कटुका कर्कशा चण्डां दुखा दुर्गां तीव्रां दुरध्यासा नैरयिकवेदना प्रत्यनुभवन्त. विहरन्ति ।

६० वे नरकावास अन्तर् मे वृत्त, बाहिर मे चतुष्कोण और नीचे खुरपे की आकृति वाले है। वे निरन्तर अन्धकार से तमोमय,[111] ग्रह, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिष् की प्रभा से शून्य, मेद-चर्बी, पीव, लोही और मास के कीचड से पकिल तलवाले, अशुचि, अपक्वगध से युक्त, उत्कृष्ट दुर्गन्ध वाले, कृष्ण (कापोत) अग्नि-वर्ण की आभावाले,[113] कर्कश-स्पर्श से युक्त[114] और असह्य वेदना वाले है। वे नरकावास अशुभ है और उनमे अशुभ वेदनाए है। उन नरकावासो मे नैरयिक न सोकार नीद ले सकते है, न बैठे-बैठे नीद ले सकते है। उनमे न स्मृति होती है, न आनन्द होता है, न धैर्य और मति होती है। वे वहा उत्कृष्ट, विपुल, प्रगाढ, कटुक, कर्कश, चण्ड, दु खबहुल, विषम, तीव्र और दु सह्य नैरयिक वेदना का अनुभव करते हुए जीवन विताते है ।

६१. से जहाणामए रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए, मूले छिण्णे, अग्गे गरुए, जओ णिण्णं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरग दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ ॥

तद् यथानाम रूक्ष: स्यात् पर्वताग्रे जात., मूले छिन्न , अग्रे गुरुक., यतो निम्न यतो विषमं यतो दुर्गं तत' प्रपतति, एवमेव तथाप्रकार. पुरुषजात गर्भात् गर्भ जन्मतो जन्म मारात् मारं नरकात् नरक दुखाद् दु:ख दक्षिणगामिक: नैरयिक. कृष्णपाक्षिक आगमिष्यता दुर्लभबोधिकश्चापि भवति ।

६१ जैसे कोई वृक्ष पर्वत के शिखर पर उत्पन्न हो, जिसकी जड कट गई हो, जो ऊपर से भारी हो, वह जिधर मे नीचा, जिधर से विषम और जिधर से दुर्गम हो उधर से गिरता है, ऐसे ही वैसा पुरुषजात एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे, एक जन्म से दूसरे जन्म मे, एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु मे, एक नरक से दूसरी नरक मे और एक दुख से दूसरे दुख मे जाता है। वह दक्षिण दिशा मे जानेवाला, नरक मे उत्पन्न होनेवाला, कृष्ण-पाक्षिक और भविष्यकाल मे दुलर्भबोधिक होता है ।

६२. एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्ति-

एतत् स्थान अनार्यं अकेवल अप्रतिपूर्ण अनैयातृक असशुद्ध अशल्यकर्त्तनं असिद्धिमार्ग अमुक्ति-

६२ यह स्थान अनार्य, अकेवल, अप्रतिपूर्ण, पार नही पहुचाने वाला, अशुद्ध, शल्यो को नही काटने वाला, सिद्धि का अमार्ग, मुक्ति का

मग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू ।

मार्ग अनिर्वाणमार्गं अनिर्याणमार्ग असर्व-दु:खप्रहाणमार्ग एकान्तमिथ्या असाधु ।

अमार्ग, निर्वाण का अमार्ग, निर्याण का अमार्ग, सब दु:खों के क्षय का अमार्ग, एकान्त मिथ्या और असाधु है ।

पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥

प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभंग एवमाहृतः ।

प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार निरूपित है ।

६३. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरइ-रईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द - फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ सगड-रह- जाण - जुग्ग - गिल्लि-थिल्लि-सिय-संदमाणिया- सयणासण-जाण-वाहण- भोग - भोयण-पवित्थरविहीओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास -रूवग - संववहाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ

अथापर द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभग एवं आख्यीयते—इह खलु प्राचीनं वा प्रतीचीन वा उदीचीनं वा दक्षिणं वा सन्ति एकके मनुष्याः भवन्ति, तद् यथा—अनारम्भा. अपरिग्रहाः धार्मिका धर्मानुगाः धर्मिष्ठाः धर्माख्यायिन. धर्मप्रलोकिनः धर्मप्ररञ्जनाः धर्मसमुदाचारा. धर्मेण चैव वृत्ति कल्पयन्तः विहरन्ति, सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दा सुसाधव सर्वस्मात् प्राणतिपातात् प्रतिविरता. यावज्जीवं, सर्वस्मात् मृषावादात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्मात् अदत्तादानात् प्रतिविरताः यावज्जीव, सर्वस्मात् मैथुनात् प्रतिविरता. यावज्जीव, सर्वस्मात् परिग्रहात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्मात् क्रोधात्, मानात् मायाया लोभात् प्रेयसः दोषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशुन्यात् परपरिवादात् अरतिरते. मायामृषात मिथ्यादर्शनशल्यात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्मात् स्नानोन्मर्दन-वर्णक - विलेपन- शब्द-स्पर्श-रस - रूप-गंध - माल्यालकारात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्मात् शकट-रथ-यान-युग्य-'गिल्लि' - 'थिल्लि' - शिविका-स्यन्दमानिका - शयनासन-यान-वाहन - भोग - भोजन-प्रविस्तर-विधेः प्रतिविरता. यावज्जीव, सर्वस्मात् क्रय-विक्रय-मापार्धमापरूपक - सव्यवहारात्

६३ अब दूसरे स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओ मे कुछ मनुष्य होते हैं, जैसे—अनारम्भी, अपरिग्रही, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्म को देखने वाले, धर्म मे अनुरक्त, धर्मयुक्त शील और आचार वाले, धर्म के द्वारा आजीविका करते हुए रहते हैं। वे सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द (उपकारी का उपकार करने वाले), सुसाधु, यावज्जीवन सर्व प्राणातिपात से विरत, यावज्जीवन सर्व मृषावाद से विरत, यावज्जीवन सर्व अदत्तादान से विरत, यावज्जीवन सर्व मैथुन से विरत, यावज्जीवन सर्व परिग्रह से विरत, यावज्जीवन सर्व क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरति-रति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य से विरत, यावज्जीवन सब स्नान, उन्मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलंकारो से विरत, यावज्जीवन सब शकटयान, रथयान, वाहन, डोली, दो खच्चरो की बग्घी, शिविका, स्यन्दमानिका, शयन, आसन, यान, वाहन, भोग और भोजन की विस्तीर्ण विधियो से विरत, यावज्जीवन सब प्रकार के क्रय, विक्रय, मापक-अर्धमापक-रूप्यक से होने वाले विनिमय से विरत,

हिरण्ण-सुवण्ण-धण - धण्ण -मणि-मोत्तिय-संख - सिल - प्पवालाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुल-कूडमाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ आरंभ-समारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करण-कारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयण-पयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-ताडण- वह-बंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मता परपाणपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए ॥

प्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् हिरण्य - सुवर्ण-धन- धान्य-मणि-मौक्तिक - शंख - शिल-प्रवालाद् प्रतिविरता· यावज्जीवं, सर्वस्मात् कूटतुला-कूटमानात् प्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भात् प्रतिविरता यावज्जीवं, सर्वस्मात् करण-कारापणात् प्रतिविरता. यावज्जीवं, सर्वस्मात् पचन-पाचनात् प्रतिविरता यावज्जीव, सर्वस्मात् कुट्टन-पिट्टन-तर्जन-ताडन-वध-वधपरिक्लेशात् प्रतिविरता. यावज्जीव, ये चाप्यन्ये तथाप्रकारा. सावद्या. अवोधिका. कर्मान्ता परप्राण-परितापनकरा. क्रियन्ते, ततोऽपि प्रतिविरता. यावज्जीवम् ।

यावज्जीवन सब प्रकार के हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, मणि, मौक्तिक, शख, शिलप्रवाल से विरत, यावज्जीवन सब कूटतोल, कूटमाप से विरत, यावज्जीवन सब आरभ-समारभ से विरत, यावज्जीवन सब करण-कारापण से विरत, यावज्जीवन सब पचन-पाचन से विरत, यावज्जीवन सब कुट्टन, पीडन, तर्जन, ताडन, वध, वन्ध, परिक्लेश से विरत होते हैं। जो इस प्रकार के अन्य सावद्य, अवोधि करने वाले, दूसरे प्राणियो को परितप्त करने वाले कर्म-व्यवहार किए जाते है, उनसे भी यावज्जीवन प्रतिविरत होते है ।

६४. से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाण-भंड-ऽमत्त-णिक्खेवणासमिया उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण - जल्ल-पारिट्ठावणियासमिया मणसमिया वइसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिण्णसोया णिरुवलेवा, कंसपाई व मुक्कतोया, सखो इव णिरंजणा, जीव इव अप्पडिहयगई, गगणतलं पिव णिरालंबणा, वायुरिव अप्पडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व णिरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गविसाणं व एगजाया, भारुंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायथामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो

तद् यथानाम अनगारा. भगवन्त. ईर्यासमिता· भाषासमिता. एषणासमिता. आदानभाण्डामत्र-निक्षेपणासमिता उच्चार-प्रस्रवण - क्ष्वेल-सिंघाण -'जल्ल'-पारिष्ठापनिकासमिताः मन.-समिता. वाक्समिता. काय-समिता. मनोगुप्ता. वाग्गुप्ता. कायगुप्ता गुप्ता गुप्तेन्द्रिया गुप्तब्रह्मचारिण अक्रोधाः अमाना. अमाया. अलोभा. शान्ता. प्रशान्ता उपशाता परिनिर्वृता. अनाश्रवा अग्रन्था. छिन्नस्रोतस निरुपलेपा कांस्यपात्रीव मुक्ततोया शख इव निरञ्जना , जीव इव अप्रतिहतगतय , गगनतलमिव निरालम्बना वायुरिव अप्रतिबद्धा., शारदसलिलमिव शुद्ध-हृदयाः, पुष्करपत्रमिव निरुपलेपा , कूर्म-इव गुप्तेन्द्रिया , विहग इव विप्रमुक्ताः खड्गविषाण इव एकजाता भारण्डपक्षीव अप्र-

६४ जैसे अनगार भगवान् चलने मे समित (सम्यग् प्रवृत्त), बोलने मे समित, आहार की एषणा मे समित, वस्त्र-पात्र लेने और रखने मे समित, उच्चार-प्रस्रवण-कफ-श्लेष्म-मेल के उत्सर्ग मे समित, मन से समित, वाणी से समित, शरीर से समित, मन से गुप्त, वाणी से गुप्त, शरीर से गुप्त, गुप्त, गुप्तेन्द्रिय वाले, गुप्त ब्रह्मचर्य वाले, क्रोध-मान-माया और लोभ से मुक्त, शान्त, प्रशान्त, उपशान्त, परिनिर्वाण को प्राप्त, आस्रव से रहित, ग्रन्थि से रहित, छिन्नस्रोत वाले, अलिप्त कासे की कटोरी की भाति स्नेहमुक्त, शख की भाति निरजन (रग से शून्य), जीव की भाति अप्रतिहत गति वाले, गगन की भाति आलवन रहित, वायु की भाति स्वतत्र, शरद् ऋतु के जल की भाति शुद्ध हृदय वाले, कमलपत्र की भाति निर्लेप, कछुए की भाति गुप्त इन्द्रिय वाले, पक्षी की भाति स्वतन्त्र विहारी, गेंडे के सींग की भाति अकेले, भारण्ड-पक्षी की भाति अप्रमत्त, हाथी की भाति पराक्रमी, बैल की भाति भार के निर्वाह मे समर्थ, सिंह की भाति अपराजेय, मदर पर्वत की भाति अप्रकप,

इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सुरो इव दित्ततेया, जच्चकणगं व जायरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलंता ॥

मत्ता:, कुञ्जर इव शौण्डीरा:, वृषभ इव जातस्थामान:, सिह इव दुर्धर्षा:, मन्दर इव अप्रकम्पा:, सागर इव गम्भीरा., चन्द्र इव सोमलेश्या:, सूर इव दीप्ततेजस:, जात्यकनकमिव जातरूपा:, वसुन्धरा इव सर्वस्पर्शविसहा:, सुहुतहुताशन इव तेजसा ज्वलन्त: ।

सागर की भाति गंभीर, चन्द्र की भाति सौम्य मनोवृत्ति वाले, सूर्य की भाति दीप्त तेजस्वी, शुद्ध स्वर्ण की भाति सहज सुन्दर, पृथ्वी की भाति सब स्पर्शो को सहने वाले, घृतसिक्त अग्नि की भाति तेज से दीप्यमान होते है ।

६५. णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थ वि पडिबंधे भवइ । (से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए इ वा पोयए इ वा उग्गहे इ वा पग्गहे इ वा) जण्णं-जण्णं दिसं इच्छंति तण्णं-तण्णं दिसं अप्पडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अप्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

नास्ति तेषा भगवतां कुत्राऽपि प्रतिबन्धो भवति। (स प्रतिबन्ध. चतुर्विध. प्रज्ञप्त', तद् यथा—अंडज इति वा, पोतज इति वा अवग्रह इति वा प्रग्रह इति वा) या यां दिशमिच्छन्ति तां ता दिश अप्रतिबद्धा' शुचिभूता: लघुभूता' अल्पग्रन्था: संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्तो विहरन्ति ॥

६५. उन भगवानो के कोई प्रतिबन्ध[11] नही होता। (वह प्रतिबन्ध चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—अडज, पोतज, अवग्रह, और प्रग्रह ।) जिस-जिस दिशा में वे जाना चाहते हैं, उस उस दिशा मे अप्रतिबद्ध, शुचिभूत, धन-धान्य से रहित, लघुभूत—अल्प उपधिवाले, अल्पग्रथ—अपरिग्रही रहते हुए, सयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विहार करते हैं ।

६६. तेसिं णं भगवंताणं इमा एयारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा —चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे भत्ते दुवालसमे भत्ते चउदसमे भत्ते अद्धमासिए भत्ते मासिए भत्ते दोमासिए भत्ते तिमासिए भत्ते चउम्मासिए भत्ते पंचमासिए भत्ते छम्मासिए भत्ते ।

तेषा भगवतां इयं एतद्रूपा यात्रामात्रावृत्तिर्भवति, तद् यथा—चतुर्थं भक्तं षष्ठं भक्त अष्टमं भक्तं दशम भक्तं द्वादश भक्तं चतुर्दश भक्तं अर्धमासिक भक्त मासिक भक्त द्विमासिक भक्तं त्रिमासिक भक्तं चतुर्मासिक भक्तं पचमासिक भक्त षण्मासिकं भक्तम् ।

६६. उन भगवानो की यह इस प्रकार की केवल सयम जीवन चलाने वाली वृत्ति होती है,[12] जैसे—एक दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, एक पक्ष का उपवास, एक मास का उपवास, दो मास का उपवास, तीन मास का उपवास, चार मास का उपवास, पाच मास का उपवास, छह मास का उपवास ।

अदुत्तरं च ण

अथोत्तरं च

तथा—

१. उक्खित्तचरगा	१ उत्क्षिप्तचरका:	१ उत्क्षिप्तचरक—पाक-भाजन से वाहर निकाले हुए भोजन को लेने वाले ।
२. णिक्खित्तचरगा	२ निक्षिप्तचरका:	२ निक्षिप्तचरक—पाक-भाजन मे स्थित भोजन को लेने वाले ।
३. उक्खित्तणिक्खित्तचरगा	३. उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरका:	३. उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक—पाक-भाजन से वाहर निकाले हुए तथा पाक-भाजन मे स्थित भोजन को लेने वाले ।
४. अंतचरगा	४. अन्त्यचरका:	४. अन्त्यचरक—बचा-खुचा भोजन लेने वाले ।
५. पंतचरगा	५. प्रान्त्यचरका.	५ प्रान्त्यचरक—बासी भोजन लेने वाले ।
६. लूहचरगा	६. रूक्षचरका.	६ रूक्षचरक—रूखा भोजन लेने वाले ।
७. समुदाणचरगा	७. समुदानचरका.	७ समुदानचरक—अनेक घरो से भिक्षा लेने वाले ।

८. संसट्ठचरगा	८. संसृष्टचरका:	८ ससृष्टचरक—लिप्त हाथ या कडछी से भिक्षा लेने वाले।
९. असंसट्ठचरगा	९. असंसृष्टचरका:	९. अससृष्टचरक—अलिप्त हाथ या कडछी से भिक्षा लेने वाले।
१०. तज्जायसंसट्ठचरगा	१०. तज्जातससृष्टचरका:	१० तज्जातससृष्टचरक—देय द्रव्य से लिप्त हाथ या कडछी से भिक्षा लेने वाले।
११. दिट्ठलाभिया	११. दृष्टलाभिका.	११ दृष्टलभिक—सामने दीखने वाले आहार आदि को लेने वाले।
१२. अदिट्ठलाभिया	१२. अदृष्टलाभिका	१२ अदृष्टलाभिक—सामने नही दीखने वाले आहार आदि को लेने वाले।
१३. पुट्ठलाभिया	१३. पृष्टलाभिका:	१३ पृष्टलाभिक—'क्या भिक्षा लोगे ?' यह पूछे जाने पर ही भिक्षा लेने वाले।
१४. अपुट्ठलाभिया	१४. अपृष्टलाभिका:	१४. अपृष्टलाभिक—'क्या भिक्षा लोगे'—यह प्रश्न पूछे बिना भी भिक्षा लेने वाले।
१५. भिक्खलाभिया	१५. भिक्षालाभिका:	१५ भिक्षालाभिक—स्वय भिक्षा ला भोजन करने वाले।
१६. अभिक्खलाभिया	१६. अभिक्षालाभिका·	१६. अभिक्षालाभिक—दूसरे श्रमणो द्वारा लाई हुई भिक्षा का भोजन लेने वाले।
१७. अण्णातचरगा	१७ अज्ञातचरका.	१७ अज्ञातचरक—परिचय दिए बिना भोजन लेने वाले।
१८. उवणिहिया	१८. औपनिधिका	१८ औपनिधिक—पास मे रखा हुआ भोजन लेने वाले।
१९. संखादत्तिया	१९. सख्यादत्तिका·	१९ सख्यादत्तिक—परिमित दत्तियो का भोजन लेने वाले।
२०. परिमियपिंडवाइया	२०. परिमितपिण्डपातिका.	२० परिमितपिण्डपातिक—परिमित द्रव्यो की भिक्षा लेने वाले।
२१. सुद्धेसणिया	२१. शुद्धैषणिका:	२१ शुद्धैपणिक—निर्दोष या व्यजन रहित भोजन लेने वाले।
२२. अंताहारा	२२. अन्त्याहारा:	२२. अन्त्याहार—बचा-खुचा भोजन करने वाले।
२३. पंताहारा	२३. प्रान्त्याहारा:	२३. प्रान्त्याहार—बासी भोजन करने वाले।
२४. अरसाहारा	२४. अरसाहारा.	२४ अरसाहार—हीग आदि के बघार से रहित भोजन करने वाले।
२५. विरसाहारा	२५. विरसाहारा:	२५. विरसाहार—पुराने धान्यो का भोजन करने वाले।
२६. लूहाहारा	२६. रूक्षाहारा.	२६. रूक्षाहार—रूखा आहार करने वाले।
२७. तुच्छाहारा	२७. तुच्छाहारा.	२७ तुच्छाहार—तुच्छ भोजन करने वाले।
२८ अंतजीवी	२८. अन्त्यजीविन:	२८ अन्त्यजीवी—बचे-खुचे भोजन से जीवन चलाने वाले।
२९. पंतजीवी	२९. प्रान्त्यजीविन.	२९ प्रान्त्यजीवी—बासी भोजन से जीवन चलाने वाले।
३०. पुरिमड्ढिया	३०. पूर्वार्द्धिका.	३० पूर्वार्धिक—दिन के पूर्वार्ध मे भोजन नही करने वाले।

३१. आयंबिलिया	३१. आचाम्लिकाः	३१. आचाम्लिक—ओदन, कुल्माष आदि मे से कोई एक अन्न खाकर तप करने वाले।
३२. णिव्विगइया	३२. निर्विकृतिका	३२. निर्विकृतिक—घृत आदि विकृतियो को न खाने वाले।
३३. अमज्जमंसासिणो	३३. अमद्यमांसाशिनः	३३ अमद्यमांसाशी—मद्य-मांस न खाने वाले।
३४. णो णियामरसभोई	३४. नो निकामरसभोजिनः	३४. अधिक रसों का भोजन नही करने वाले।
३५. ठाणाइया	३५. स्थानायतिका'	३५. स्थानायतिक—कायोत्सर्ग-मुद्रा मे खड़े रहने वाले।
३६. पडिमट्ठाइया	३६. प्रतिमास्थायिकाः	३६ प्रतिमास्थायिक—प्रतिमाकाल मे कायोत्सर्ग-मुद्रा मे अवस्थित।
३७. णेसज्जिया	३७. नैषद्यिकाः	३७. नैषद्यिक—विशेष प्रकार से बैठने वाले।
३८. वीरासणिया	३८. वीरासनिकाः	३८. वीरासनिक—वीरासन की मुद्रा मे अवस्थित।
३९. दंडायतिया	३९. दण्डायतिका'	३९ दंडायतिक—पैरो को पसार कर बैठने वाले।
४०. लगंडसाइणो	४०. लगण्डशायिनः	४०. लगडशायी—सिर तथा एडी भूमि मे सलग्न रहे और शेष सारा शरीर ऊपर उठ जाए अथवा पृष्ठभाग भूमि से सलग्न रहे और सारा ऊपर उठ जाए—इस मुद्रा मे सोने वाले।
४१. अवाउडा	४१. अप्रावृताः	४१. अप्रावृतक—वस्त्र त्याग करने वाले।
४२. अगत्तया	४२. अगात्रकाः	४२. अगात्रक—देहाध्यास मे मुक्त रहने वाले।
४३. अकंडुया	४३. अकडूयकाः	४३ अकण्डूयक—खुजली नही करने वाले।
४४. अणिट्ठुहा	४४. अविगलका'[1]	४४. अविगलक—नही थूकने वाले।
४५. धुतकेसमंसुरोमणहा	४५. धुतकेशश्मश्रुरोमनखा.	४५. केश, श्मश्रु, रोम और नखो को न सजाने वाले।
४६. सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति ॥	४६. सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ताः तिष्ठन्ति ॥	४६ समस्त शरीर को सजाने-संवारने से मुक्त रहने वाले होते है।

६७. ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणगे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्धं माणावमाणणाओ हीलणाओ णिंदणाओ खिसणाओ

ते एतेन विहारेण विहरन्तः बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्याय प्राप्नुवन्ति, प्राप्य आबाधे उत्पन्ने वा अनुत्पन्ने वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति, प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि अनशनेन छिन्दन्ति, छित्वा यस्यार्थं क्रियते नग्नभावः मुण्डभावः अस्नानक. अदन्तधावनक अछत्रकः अनुपानत्क भूमिशय्या फलकशय्या काष्ठशय्या केशलोच ब्रह्मचर्यवास परगृहप्रवेश लब्धापलब्धं मानापमानानि हेलना निन्दनानि

६७ वे इस विहार से विहरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करते हैं। उसका पालन कर अबाधा के उत्पन्न होने पर या न होने पर, अनेक दिनो तक भोजन का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान कर अनेक दिनो तक भोजन का अनशन के द्वारा विच्छेद करते हैं। विच्छेद कर जिस प्रयोजन से नग्न-भाव, मुडभाव, स्नान का निषेध, दतौन का निषेध, छत्र का निषेध, जूतो का निषेध, भूमी-शय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, परघरप्रवेश, लब्ध या अपलब्ध, आहार वाली वृत्ति की जाती है। मान, अपमान, अवहेलना, निन्दा, भर्त्सना, गर्हा,

१. (क) हेम, ४।१७५ 'विगलेस्थिप्पणिट्ठुहौ।'
(ख) तुलसी मंजरी, सूत्र ८१०।

गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहेत्ता चरमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं णिव्वाघायं णिरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणं समुप्पाडेंति, तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति ॥

'खिसणाओ' गर्हणानि तर्जना. ताडना: उच्चावचा: ग्रामकण्टका. द्वाविंशति. परीषहोपसर्गा. अध्यास्यन्ते, तमर्थ आराधयन्ति, तमर्थ आराध्य चरमै उच्छ्वासनि श्वासै: अनन्तं अनुत्तर निर्व्याघातं निरावरण कृत्स्न प्रतिपूर्ण केवलवरज्ञानदर्शन समुत्पाटयन्ति, तत पश्चात् सिध्यन्ति, बुध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदु:खाना अन्त कुर्वन्ति ॥

तर्जना, ताडना, नाना प्रकार के ग्राम्यकटक [चुभने वाले शब्द], बाईस परिषह और उपसर्ग सहे जाते हैं। उस प्रयोजन की आराधना करते है। उसकी आराधना कर चरम उच्छ्वास-नि श्वासो मे अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, केवलवरज्ञानदर्शन उत्पन्न करते है। उसके पश्चात् वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं तथा सब दु खो का अन्त करते है।

६८. एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति ॥

एकार्चया पुनरेके भदन्ता. भवन्ति ॥

६८ कुछ अनगार भगवान् एक भवावतारी[१३७] (पूर्व कर्म अवशेष होने के कारण सर्वार्थ सिद्ध के देव) होते है।

६९. अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेण कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महड्डिएसु महज्जुइएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महब्बलेसु महाणुभावेसु महासोक्खेसु ।

अपरे पुन पूर्वकर्मविशेषेण कालमासे कालं कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वेन उपपत्तारो भवन्ति, तद् यथा—महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु महापराक्रमेषु महायशस्सु महाबलेषु महानुभावेषु महासौख्येषु ।

६९ कुछ मुनि पूर्व कर्म अवशिष्ट रहने पर कालमास मे मरकर किन्ही देवलोको मे देवरूप मे उत्पन्न होते है। वे देवलोक महान् ऋद्धि, महान् द्युति, महान् पराक्रम, महान् यश, महान् बल, महान् सामर्थ्य और महान् सुखवाले होते हैं।

ते णं तत्थ देवा भवंति—महड्डिया महज्जुइया महापरक्कमा महाजसा महब्बला महाणुभावा महासोक्खा हार-विराइय-वच्छा कडग-तुडिय-थंभिय-भुया अंगय-कुंडल-मट्ठगंडयल - कण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला-मउलि-मउडा कल्लाणगपवर-वत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइ-

ते तत्र देवा. भवन्ति महर्द्धिका महाद्युतिका महापराक्रमा: महायशस. महाबला: महानुभावा: महासौख्या: हारविराजितवक्षस: कटक-'तुडिय'-स्तभितभुजा. अगद-कुण्डल-मृष्टगण्डतल-कर्णपीठधारिण: विचित्रहस्ताभरणा. विचित्रमालामौलिमुकुटा कल्याणक-प्रवर-वस्त्रपरिहिता कल्याणक-प्रवरमाल्यानुलेपनधरा भास्वर'बोंदी' प्रलबवनमालाधरा दिव्येन रूपेन दिव्येन वर्णेन दिव्येन गन्धेन दिव्येन स्पर्शेन दिव्येन सघातेन दिव्येन सस्थानेन दिव्यया ऋद्ध्या दिव्यया द्युत्या दिव्यया प्रभया दिव्यया छायया दिव्यया अर्चिपा, दिव्येन तेजसा दिव्यया लेश्यया दश दिश:

वे उन देवलोको मे महान् ऋद्धि, महान् द्युति, महान् पराक्रम, महान् यश, महान् बल, महान् सामर्थ्य और महान् सुखवाले देव होते है। वे हार से सुशोभित वक्ष वाले, भुजाओ मे कडे और भुज-रक्षक पहनने वाले, बाजूबन्ध, कुडल, कपोल-आलेखन और कर्णपीठ को धारण करने वाले, विचित्र हस्ताभरणवाले, मस्तक पर विचित्र माला और मुकुट वाले, कल्याणकारी प्रवर-वस्त्र पहनने वाले, कल्याणकारी प्रवर माला और अनुलेपन धारण करने वाले, प्रभायुक्त शरीरवाले, प्रलब वनमाला को धारण करने वाले, दिव्य रुप, दिव्य वर्ण, दिव्य गध, दिव्य स्पर्श, दिव्य सघात, दिव्य सस्थान, दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य छाया, दिव्य अर्चि, दिव्य तेज, दिव्य लेश्या (आभा-मडल) से दसो दिशाओ को उद्योतित और प्रभासित करने वाले, कल्याणकारी गति

कल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति ॥

उद्योतयन्तः प्रभासमानाः गतिकल्याणाः स्थितिकल्याणाः आगमिष्यद्भद्रकाः चापि भवन्ति ॥

वाले, कल्याणकारी स्थितिवाले[११८] और कल्याणकारी भविष्य वाले[११९] होते हैं।

७०. एस ठाणे आरिए केवले पडिपुण्णे णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।

दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥

एतत् स्थानं आर्यं केवलं प्रतिपूर्णं नैर्यातृकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्वाणमार्गं निर्याणमार्गं सर्वदुःखप्रहाणमार्गं एकान्तसम्यक् साधु।

द्वितीयस्य स्थानस्य धर्मपक्षस्य विभंग एवं आहृतः ॥

७०. यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, पार पहुंचाने वाला, शुद्ध, शल्यों को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, निर्याण का मार्ग, सब दुःखों के क्षय का मार्ग, एकांत सम्यक् और साधु है।

दूसरे स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार निरूपित है।

७१. अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू, एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरिया। एगच्चाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायाओ अरइरईओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जी-

अथापरं तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभंग एवं आख्यीयते—इह खलु प्राचीनं वा प्रतीचीनं वा उदीचीनं वा दक्षिणं वा सन्ति एकका मनुष्या भवन्ति, तद् यथा—अल्पेच्छाः अल्पारम्भाः अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुगाः धर्मिष्ठाः धर्माख्यायिनः धर्मप्रलोकिनः धर्मप्ररञ्जनाः धर्मसमुदाचाराः धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पयन्तः विहरन्ति, सुशीलाः, सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः, एकस्मात् प्राणातिपातात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् मृषावादात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् अदत्तादानात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् मैथुनात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् परिग्रहात् प्रतिविरताः यावज्जीवं एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् क्रोधात् मानात् मायायाः, लोभात् प्रेयसः दोषात् कलहात् अभ्याख्यानात् पैशुन्यात् परपरिवादात्, अरतिरतेः मायामृषातः मिथ्यादर्शनशल्यात् प्रतिविरताः यावज्जीवं,

७१. अब तीसरे स्थान मिश्रकपक्ष[१२०] का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में कुछ मनुष्य होते हैं जैसे—अल्प इच्छा वाले, अल्प आरंभ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्म को देखने वाले, धर्म में अनुरक्त, धर्म-युक्त शील और आचार वाले, धर्म के द्वारा आजीविका करते हुए रहते हैं। वे सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द (उपकारी का उपकार करने वाले), सुसाधु, यावज्जीवन कुछ प्राणातिपात से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ मृषावाद से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ अदत्तादान से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ मैथुन से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ परिग्रह से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य पर-परिवाद, अरति-रति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ स्नान, उन्मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलंकारों से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ शकटयान, रथयान, वाहन,

वाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडि-विरया। एगच्चाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि - सिय-संदमाणिया - सयणासण - जाण-वाहण- भोग - भोयण - पवित्थर-विहीओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ कय-विक्कय-मासद्ध-मास-रूवग-संववहाराओ पडि-विरया जावज्जीवाए, एग-च्चाओ अप्पडिविरया। एग-च्चाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एग-च्चाओ अप्पडिविरया। एग-च्चाओ कूडतुल-कूडमाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एग-च्चाओ अप्पडिविरया। एग-च्चाओ आरंभ-समारंभाओ पडि-विरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ करण-कारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडि-विरया। एगच्चाओ पयण-पया-वणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एग-च्चाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-ताडण-वह-बंध-परिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एग-च्चाओ अप्पडिविरया। जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरिता-वणकरा कज्जंति, तओ वि एग-च्चाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया॥

एकस्मात् अप्रतिविरता.। एक-स्मात् स्नानोन्मर्दन-वर्णक, विलेपन - शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गंध माल्यालंकारात् प्रतिविरता यावज्जीव, एकस्मात् अप्रति-विरता। एकस्मात् शकट-रथ-यान-युग्य-'गिल्लि' 'थिल्लि'-शिविका-स्यंदमानिका - शयना-सन-यान-वाहन - भोग - भोजन-प्रविस्तरविधेः प्रतिविरताः याव-ज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरता.। एकस्मात् क्रय-विक्रय-माषार्ध-माषरूपकसव्यवहारात् प्रति-विरताः यावज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एकस्मात् हिरण्य- स्वर्ण - धन - धान्य-मणि मौक्तिक - शख-शिल - प्रवालात् प्रतिविरता यावज्जीवं, एक-स्मात् अप्रतिविरता.। एकस्मात् कूटतुला-कूटमानात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्मात् अप्रति-विरताः। एकस्मात् आरम्भ-समारम्भात् प्रतिविरताः याव-ज्जीवं, एकस्मात् अप्रति-विरताः। एकस्मात् करण-कारा-पणात् प्रतिविरताः यावज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरताः। एक-स्मात् पचन-पाचनात् प्रति-विरता यावज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरता.। एकस्मात् कुट्टन-पिट्टन-तर्जन-ताडन-वध-बंध-परि-क्लेशात् प्रतिविरता यावज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरता। ये चाप्यन्ये तथाप्रकारा. सावद्या अवोधिकाः कर्मान्ता. परप्राण-परितापनकरा क्रियन्ते, ततोऽपि एकस्मात् प्रतिविरताः यावज्जीव, एकस्मात् अप्रतिविरताः॥

डोली, दो खच्चरो की बग्घी, शिविका, स्यन्द-मानिका, शयन, आसन, यान, वाहन, भोग और भोजन की विस्तीर्ण विधियो मे विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछेक प्रकार के क्रय, विक्रय, मापक-अर्धमापक और रूप्यक से होने वाले विनिमय से विरत, कुछ मे अविरत। यावज्जीवन कुछेक प्रकार के हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, मणि, मौक्तिक, शख, शिल-प्रवाल से विरत, कुछ मे अविरत। यावज्जीवन कुछ कूटतोल, कूटमाप से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ आरंभ-समारंभ से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ करण-कारापण से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ पचन-पाचन से विरत, कुछ से अविरत। यावज्जीवन कुछ कुट्टन, पीडन, तर्जन, ताडन, वध, वध, परिक्लेश से विरत, और कुछ से अविरत होते हैं। जो इस प्रकार के अन्य सावद्य, अबोधि करने वाले, दूसरे प्राणियो को परितप्त करने वाले कर्म-व्यवहार किए जाते हैं, उनमे से भी कुछ से यावज्जीवन विरत होते है और कुछ से अविरत होते हैं।

७२. से जहाणामए समणोवासगा भवंति—अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिय-अहिगरण-बंधमोक्ख-कुसला असहेज्जा देवासुर-णाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं णिग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा इणमो णिग्गंथिए पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया णिव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगयट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियत्तंतेउर-परघरदारप्पवेसा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे णिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पीढ-फलग-सेज्जासंथारएण पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

तद् यथानाम श्रमणोपासका भवन्ति — अभिगतजीवाजीवाः उपलब्धपुण्यपापाः आस्रव-संवर-वेदना-निर्जरा-क्रिया-अधिकरण-बन्धमोक्षकुशला' असहाय्याः देवासुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किंपुरुष-गरुड-गन्धर्व-महोरगादिकैः देवगणैः निर्ग्रन्थात् प्रवचनात् अनतिक्रमणीया, अस्मिन् नैर्ग्रन्थिके प्रवचने निःशंकिता. निष्कांक्षिता निर्विचिकित्सा. लब्धार्थाः गृहीतार्थाः पृष्टार्था. विनिश्चितार्था. अभिगतार्था. अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्ता. इदं आयुष्मन् ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनं अर्थ. इदं परमार्थ. शेषं अनर्थ. उच्छ्रितपरिघाः अप्रावृतद्वारा. 'चियत्त'अन्तःपुर-परगृहद्वारप्रवेशाः चातुर्दश्यष्टम्युद्दिष्टपौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यक् अनुपालयन्त. श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुक-एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-प्रतिग्रह-कंबल-पादप्रोञ्छनेन औषध-भैषज्येन पीठ-फलक-शय्या-संस्तारकेन प्रतिलाभयमाना. बहुभि. शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासै. यथापरिगृहीतैः तपःकर्मभिः आत्मान भावयन्तो विहरन्ति॥

७२. जैसे श्रमणोपासक[१४१] होते है जीव-अजीव को जानने वाले, पुण्य-पाप के मर्म को समझने वाले, आस्रव, सवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, वन्ध और मोक्ष के विषय मे कुशल, सत्य के प्रति स्वय निश्चल[१४२], देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गधर्व, महोरग आदि देवगणो के द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अविचलनीय, इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे शका रहित, काक्षा रहित, विचिकित्सा रहित, यथार्थ को सुनने वाले, ग्रहण करने वाले, उस विषय मे प्रश्न करने वाले, उसका विनिश्चय करने वाले, उसे जानने वाले, (निर्ग्रन्थ प्रवचन के) प्रेमानुराग से अनुरक्त अस्थि-मज्जा वाले[१४३], 'आयुष्मान् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन यथार्थ है, यह परमार्थ है, शेष अनर्थ है,' (ऐसा मानने वाले), आगल को ऊचा और दरवाजे को खुला रखने वाले[१४४] अन्त पुर[१४५] और दूसरो के घर मे विना किसी रुकावट के प्रवेश करने वाले, चतुर्दशी, अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करने वाले, श्रमण-निर्ग्रन्थो को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादप्रोंछन, औषध-भैषज्य, पीठ-फलक, शय्या और सस्तारक का दान देने वाले, वहुत शीलव्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास के द्वारा तथा यथापरिगृहीत तप कर्म के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए[१४६] रहते हैं।[१४७]

७३. ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति, पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो

ते एतद्रूपेण विहारेण विहरन्त. बहूनि वर्षाणि श्रमणोपासकपर्याय पालयन्ति, पालयित्वा आबाधाया उत्पन्नाया वा अनुत्पन्नाया वा बहूनि भक्तानि प्रत्याख्यान्ति, प्रत्याख्याय बहूनि भक्तानि अनशनेन छेदयन्ति, छेदयित्वा आलोचितप्रतिक्रान्ता समाधिप्राप्ता कालमासे काल कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु

७३. वे इस प्रकार के विहार से विहरण करते हुए वहुत वर्षों तक श्रमणोपासक की पर्याय का पालन करते हैं। उसका पालन कर आवाधा[१४८] के उत्पन्न होने पर या न होने पर अनेक दिनो तक भोजन का प्रत्याख्यान करते हैं। प्रत्याख्यान कर अनेक दिनो तक भोजन का अनशन के द्वारा विच्छेद करते है। विच्छेद कर आलोचना और प्रतिक्रमण कर[१४९], समाधि को प्राप्त हो, कालमास मे मरकर किन्ही देव-

भवंति, तं जहा—महड्ढिएसु महज्जुइएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महब्बलेसु महाणुभावेसु महासोक्खेसु ।

देवत्वेन उपपत्तारो भवन्ति । तद् यथा—महर्द्धिकेषु महाद्युतिकेषु महापराक्रमेषु महायशस्सु महाबलेषु महानुभावेषु महासौख्येषु ।

लोको मे देवरूप मे उपपन्न होते हैं । वे देवलोक महान् ऋद्धि, महान् द्युति, महान् पराक्रम, महान् यश, महान् बल, महान् सामर्थ्य और महान् सुखवाले होते है ।

ते णं तत्थ देवा भवंति—महड्ढिया महज्जुइया महापरक्कमा महाजसा महब्बला महाणुभावा महासोक्खा हार-विराइय-वच्छा कडग-तुडिय- थंभिय-भुया अंगय-कुंडल-मट्ठगंडयल - कण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला-मउलि-मउडा कल्लाणग-पवर-वत्थपरिहिया कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइ-कल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति ॥

ते तत्र देवा भवन्ति—महर्द्धिका महाद्युतिका महापराक्रमा महायशस. महाबला. महानुभावा महासौख्याः हारविराजितवक्षा कटक-'तुडिय'-स्तभितभुजा अगद-कुडल-मृष्टगडतल - कर्णपीठधारिण विचित्रहस्ताभरणा. विचित्र-मालामौलिमुकुटा. कल्याणक-प्रवरवस्त्रपरिहिताः कल्याणक-प्रवरमाल्यानुलेपनधरा भास्वर-'बोंदी', प्रलम्बवनमाल्यधरा. दिव्येन रूपेन दिव्येन वर्णेन दिव्येन गन्धेन दिव्येन स्पर्शेन दिव्येन सघातेन दिव्येन सस्थानेन दिव्यया ऋद्ध्या दिव्यया द्युत्या दिव्यया प्रभया दिव्यया छायया दिव्यया अर्चया दिव्येन तेजसा दिव्यया लेश्यया दश दिशः उद्योतयन्त. प्रभासयन्त गतिकल्याणा. स्थितिकल्याणाः आगमिष्यद्-भद्रका. चापि भवंति ।

वे उन देवलोको मे महान् ऋद्धि, महान् द्युति, महान् पराक्रम, महान् यश, महान् बल, महान् सामर्थ्य और महान् सुखवाले देव होते है । वे हार से शोभित वक्ष वाले, भुजाओ मे कडे और भुज-रक्षक पहनने वाले, बाजूबन्ध, कुडल, कपोल-आलेखन और कर्णपीठ को धारण करने वाले, विचित्र हस्ताभरण वाले, मस्तक पर विचित्र माला और मुकुट वाले, कल्याणकारी प्रवरवस्त्र पहनने वाले, कल्याणकारी प्रवरमाला और अनुलेपन धारण करने वाले, प्रभायुक्त शरीर वाले, प्रलम्ब वनमाला को धारण करने वाले, दिव्य रूप, दिव्य वर्ण, दिव्य गध, दिव्य स्पर्श, दिव्य सघात, दिव्य सस्थान, दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य छाया, दिव्य अर्चि, दिव्य तेज, दिव्य लेश्या [आभामडल] से दशो दिशाओ को उद्योतित और प्रभासित करने वाले, कल्याणकारी गति वाले, कल्याणकारी स्थिति वाले और कल्याणकारी भविष्य वाले होते हैं ।

७४. एस ठाणे आरिए केवले पडिपुण्णे णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ।

तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए ॥

एतद् स्थान आर्यं केवल प्रतिपूर्ण नैर्यातृक सशुद्ध शल्यकर्त्तन सिद्धिमार्ग मुक्तिमार्गं निर्वाणमार्ग निर्याणमार्गं सर्वदु खप्रहाणमार्ग एकान्तसम्यक् साधु ।

तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकस्य विभग एव आहृत ॥

७४ यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, पार पहुचाने वाला, शुद्ध, शल्यो को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, निर्याण का मार्ग, सब दु खो के क्षय का मार्ग एकान्त सम्यक् और साधु है ।

तीसरे स्थान मिश्रक का विकल्प इस प्रकार निरूपित है ।

७५. अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ । विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ । विरयाविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ ।

अविरतिं प्रतीत्य बाल आख्रीयते । विरतिं प्रतीत्य पडित आख्रीयते । विरत्यविरतिं प्रतीत्य बालपडित. आख्रीयते ।

७५ अविरति की अपेक्षा से जीव बाल कहलाता है, विरति की अपेक्षा से जीव पडित कहलाता है, विरति-अविरति की अपेक्षा से जीव बाल-पडित कहलाता है ।

तत्थ णं जा सा सव्वओ अविरई एसट्ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू।

तत्थ णं जा सा विरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए केवले पडिपुण्णे णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू।

तत्थ णं जा सा विरयाविरई एसट्ठाणे आरंभाणारंभट्ठाणे, एसट्ठाणे आरिए केवले पडिपुण्णे णेयाउए संसुद्धे सल्लगत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू॥

तत्र या एषा सर्वतोऽविरतिः एतत् स्थानं आरम्भस्थान अनार्यं अकेवल अप्रतिपूर्णं अनैर्यातृकं असशुद्धं अशल्यकर्त्तनं असिद्धिमार्गं अमुक्तिमार्गं अनिर्वाणमार्गं अनिर्याणमार्गं असर्वदुःखप्रहाणमार्गं एकान्तमिथ्या असाधु।

तत्र या एषा विरति. एतत् स्थान अनारम्भस्थानं आर्यं, केवल प्रतिपूर्णं नैर्यातृकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्वाणमार्गं निर्याणमार्गं सर्वदु खप्रहाणमार्गं एकान्तसम्यक् साधु।

तत्र या एषा विरत्य-विरतिः एतत् स्थानं आरभ-अनारंभस्थानं, एतत् स्थान आर्यं केवल प्रतिपूर्णं नैर्यातृक संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्वाणमार्गं निर्याणमार्गं सर्वदु खप्रहाणमार्ग एकान्तसम्यक् साधु।

वहा जो सर्वथा अविरति है वह स्थान आरम्भस्थान[५०], अनार्य, अकेवल, अप्रतिपूर्ण, पार नहीं पहुंचाने वाला, अशुद्ध, शल्यो को नही काटने वाला, सिद्धि का अमार्ग, मुक्ति का अमार्ग, निर्वाण का अमार्ग, निर्याण का अमार्ग, सब दु खो के क्षय का अमार्ग, एकांत मिथ्या और असाधु है।

वहा जो विरति है, वह स्थान अनारम्भस्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, पार पहुंचाने वाला, शुद्ध, शल्यो को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, निर्याण का मार्ग, सब दु खो के क्षय का मार्ग, एकांत सम्यक् और साधु है।

वहा जो विरति-अविरति है, वह आरम्भ-अनारम्भ का स्थान है। वह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, पार पहुचाने वाला, शुद्ध, शल्यो को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, निर्याण का मार्ग, सब दु खो के क्षय का मार्ग, एकान्त सम्यक् और साधु है।

७६. एवामेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोयरंति, तं जहा—धम्मे चेव, अधम्मे चेव। उवसंते चेव, अणुवसंते चेव।

तत्थ णं जे से पढमट्ठाणस्स अधम्मपक्खस्स' विभंगे एवमाहिए, तस्स णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावादुयसयाइं भवंतीति मक्खायाइं, तं जहा—किरियावाईणं अकिरियावाईणं अण्णाणियवाईणं वेणइयवाईणं। तेवि णिव्वाणमाहंसु, तेवि पलिमोक्खमाहंसु, तेवि लवंति सावगा, तेवि लवंति सावइत्तारो॥

एवमेव समनुगम्यमानाः अनयोश्चैव द्वयो स्थानयो. समवतरन्ति, तद् यथा—धर्मे चैव अधर्मे चैव। उपशान्ते चैव अनुपशान्ते चैव।

तत्र य एष प्रथमस्थानस्य अधर्मपक्षस्य विभग' एव आहृत., तस्य इमानि त्रीणि त्रिपष्टि. प्रावादुकशतानि भवतीति आख्यातानि, तद् यथा—क्रियावादिना अक्रियावादिनां अज्ञानिकवादिना वैनयिकवादिनाम्। तेऽपि निर्वाण आहु:, तेऽपि प्रतिमोक्ष आहु., तेऽपि लपन्ति श्रावकान्, तेऽपि लपन्ति श्रावयितार।

७६ इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित तीन पक्ष इन दो स्थानो मे समवतरित हो जाते हैं, जैसे—धर्म मे और अधर्म मे। उपशात मे और अनुपशात मे।

वहा जो यह प्रथम स्थान अधर्मपक्ष का विभंग इस प्रकार कहा गया है, उसके अन्तर्गत ये तीन सौ तिरसठ प्रावादुक [दार्शनिक] होते हैं, ऐसा कहा गया है, जैसे—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिकवादी। उन्होने भी निर्वाण का कथन किया है। वे भी श्रावको का कथन करते हैं। वे भी धर्मगुरुओ का कथन करते हैं।

७७. ते सव्वे पावादुया आइगरा धम्माणं, णाणापण्णा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणज्झवसाणसंजुत्ता

ते सर्वे प्रावादुका. आदिकराः धर्माणां, नानाप्रज्ञाः, नानाच्छन्दा नानाशीला. नानादृष्टयः नानारुचय नानारम्भाः

वे सब प्रावादुक धर्म के आदिकर्त्ता[५१], नाना प्रज्ञावाले, नाना अभिप्रायवाले, नाना शीलवाले, नानदृष्टि वाले, नाना रुचि वाले, नाना आरभ वाले, नाना अध्यवसाय से युक्त

एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति ।

नानाध्यवसानसयुक्ता. एक महान्त मण्डलिबन्धं कृत्वा सर्वे एकत. तिष्ठन्ति ।

हैं । वे सब एक बडी मडली बनाकर[152] एक स्थान पर बैठे है ।

पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावादुए आइगरे धम्माणं, णाणापण्णे णाणाछंदे णाणासीले णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभे णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी—हंभो पावादुआ ! आइगरा ! धम्माणं, णाणापण्णा ! णाणाछंदा ! णाणासीला ! णाणादिट्ठी ! णाणारुई ! णाणारंभा ! णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तगं-मुहुत्तगं पाणिणा धरेह । णो बहु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गिथंभणियं कुज्जा, णो बहु साहम्मियवेयावडियं कुज्जा, णो बहु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवण्णा अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह—इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाण पाइं बहुपडिपुण्णं अओमएणं सडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरति ।

पुरुषश्च साग्निकाना अगाराणां पात्री बहुप्रतिपूर्णा अयोमयेन सदशकेन गृहीत्वा तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणा नानाप्रज्ञान् नानाछन्दान् नानाशीलान् नानादृष्टीन् नानारुचीन् नानारम्भान् नानाध्यवसानसयुक्तान् एवं अवादीत्—ह भो प्रावादुका. ! आदिकरा: ! धर्माणा, नानाप्रज्ञा: ! नानाछन्दा. ! नानाशीला: ! नानादृष्टय. ! नानारुचय ! नानारम्भा ! नानाध्यवसानसयुक्ता ! इमां तावद् यूय साग्निकाना अगाराणा पात्री बहुप्रतिपूर्णां गृहीत्वा मुहूर्त्तकं-मुहूर्त्तक पाणिना धरत । नो बहु सदशक सासारिकं कुरुत, नो बहु अग्निस्तभनिका कुरुत, नो बहु साधर्मिकवैयापृत्य कुरुत, नो बहु परधार्मिकवैयापृत्य कुरुत, ऋजुका' नियागप्रतिपन्ना. अमाया कुर्वाणा पाणिं प्रसारयत इति उक्त्वा स पुरुष. तेषा प्रावादुकाना ता साग्निकानां अंगाराणा पात्री बहुप्रतिपूर्णा अयोमयेन सदशकेन गृहीत्वा पाणिषु निसृजति ।

उस समय कोई पुरुष जलते हुए अगारो से भरे हुए पात्र को[153] लोहे की सडासी से पकड कर धर्म के आदिकर्त्ता, नानाप्रज्ञावाले, नानाअभिप्रायवाले, नानाशीलवाले, नानादृष्टिवाले, नानारुचिवाले, नानाआरभवाले, नानाअध्यवसाय से युक्त प्रावादुको से बोला—हे धर्म के आदिकर्त्ता !, नानाप्रज्ञावाले !, नाना अभिप्रायवाले !, नानाशीलवाले !, नानादृष्टिवाले!, नानारुचिवाले!, नानाआरभवाले!, नानाअध्यवसाय से युक्त प्रावादुको !, तुम सब जलते हुए अगारो से भरे इस पात्र को मुहूर्त्त-मुहूर्त्तभर हाथो मे पकड कर रखो । न इसे सडासी से पकड कर दूसरे के हाथ मे दो । न अग्नि-स्तभनी विद्या का[154] प्रयोग करो । न सार्धमिक के लिए अग्नि-स्तभन करो और न परधर्म वालो के लिए अग्नि-स्तभन करो । सीधे पक्ति मे बैठ, शपथपूर्वक, माया का प्रयोग न करते हुए हाथ को पसारो—यह कह कर वह पुरुष उन प्रावादुको के सामने जलते अगारो से भरे हुए पात्र को लोहे की सडासी से पकड, उनके हाथो की ओर आगे बढाता है ।

तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं, णाणापण्णा णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति ।

तत. ते प्रावादुका. आदिकरा: धर्माणां, नानाप्रज्ञा. नानाछदा नानाशीला नानादृष्टय नानारुचय. नानारम्भा नानाध्यवसानसयुक्ता पाणिं प्रतिसहरन्ति ।

तब वे धर्म के आदिकर्त्ता, नानाप्रज्ञावाले, नानाअभिप्रायवाले, नानाशीलवाले, नानादृष्टिवाले, नानारुचिवाले, नानाआरभवाले, नानाअध्यवसाय से युक्त प्रावादुक अपना हाथ खीच लेते है ।

तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावादुए आइगरे धम्माणं, णाणापण्णे णाणाछंदे णाणासीले णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभे णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी—हंभो

तत. स पुरुष तान् सर्वान् प्रावादुकान् आदिकरान् धर्माणा, नानाप्रज्ञान् नानाछन्दान् नानाशीलान् नानादृष्टीन् नानारुचीन् नानारम्भान् नानाध्यवसानसयुक्तान् एव अवादीत्—ह

तब उस पुरुष ने धर्म के आदिकर्त्ता, नानाप्रज्ञावाले, नानाअभिप्रायवाले, नानाशीलवाले, नानादृष्टिवाले, नानारुचिवाले, नानाआरभवाले, नानाअध्यवसाय से युक्त उन सब से कहा—हे धर्म के आदिकर्त्ता !, नानाप्रज्ञा-

पावादुया ! आइगरा ! धम्माणं, णाणापण्णा ! णाणाछंदा ! णाणासीला ! णाणादिट्ठी ! णाणारुई ! णाणारंभा ! णाणाज्झवसाण-संजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?
पाणी णो डज्झेज्जा ?
दड्ढे किं भविस्सइ ?
दुक्खं ।
दुक्खं ति मण्णमाणा पडिसाहरह ?

एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे ।
पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥

भो प्रावादुका ! आदिकरा ! धर्माणा, नानाप्रज्ञा: !, नानाछन्दा ! नानाशीला ! नानादृष्टय ! नानारुचय. ! नानारम्भा ! नानाध्यवसानसयुक्ता ! कस्मात् यूय पाणि प्रतिसहरथ ?
'पाणि: नो दह्येत ।'
'दग्धे किं भविष्यति ?'
'दु क्खम् ।'
'दुक्खं इति मन्यमाना. प्रतिसंहरथ ?'
एषा तुला एतत् प्रमाणं एतत् समवसरणम् ।
प्रत्येकं तुला प्रत्येक प्रमाण प्रत्येक समवसरणम् ।

वाले !, नानाअभिप्रायवाले !, नानाशीलवाले !, नानादृष्टिवाले !, नानारुचिवाले !, नानाआरभवाले !, नाना अध्यवसाय से युक्त प्रावादुको ! तुम किसलिए हाथ को पीछे खीच रहे हो ?

'क्या हाथ नही जल जाएगा ?'
'हाथ जलने से क्या होगा ?'
'दु ख होगा ।'
'दु ख होगा—यह मानकर तुम हाथ को पीछे खीच रहे हो ?'

यह तुला है, यह प्रमाण है[155] और यह समवसरण है ।

प्रत्येक के लिए तुला, प्रत्येक के लिए प्रमाण और प्रत्येक के लिए समवसरण है ।[156]

७८. तत्थ णं जे ते समणमाहणा एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेयव्वा उद्दवेयव्वा—ते आगंतु छेयाए ते आगंतु भेयाए ते आगंतु जाइ-जरा-मरण-जोणिजम्मण - संसार -पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंच-कलंकली-भावभागिणो भविस्सति । ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं बहूणं तज्जणाणं बहूणं तालणाणं बहूणं अंदुबंधणाणं बहूणं घोलणाणं बहूण माइमरणाणं बहूणं पिइ-मरणाण बहूणं भाइमरणाणं बहूण भगिणीमरणाण बहूणं भज्जा-मरणाणं बहूण पुत्तमरणाणं बहूणं धूयमरणाणं बहूणं सुण्हामरणाणं बहूणं दारिद्दाणं बहूणं दोहग्गाणं बहूणं अप्पियसवासाणं बहूणं पिय-विप्पओगाणं बहूणं दुक्ख-दोमणस्साणं आभागिणो भविस्संति । अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं

तत्र ये एते श्रमणब्राह्मणा एव आचक्षते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एव प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणा: सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वा हन्तव्या., आज्ञापयितव्या परिगृहीतव्या: परितापयितव्या: क्लामयितव्या उद्द्रावयितव्या —ते आगंतार. छेदाय ते आगतार भेदाय ते आगतार जाति-जरा-मरण, योनिजन्म-ससार-पुनर्भव-गर्भवास-भवप्रपच-कलकलिभावभागिनो भविष्यन्ति । ते बहूना दण्डनाना बहूना मुण्डनाना बहूना तर्जनाना बहूना ताडनाना बहूना अदुबन्धनाना बहूना घोलनाना बहूना मातृमरणाना बहूना पितृमरणानां बहूना भ्रातृमरणाना बहूना भगिनीमरणाना बहूना भार्यामरणाना बहूना पुत्रमरणानां बहूनां दुहितृमरणाना बहूना स्नुपामरणाना बहूना दारिद्र्याणा बहूनां दौर्भाग्याना बहूना अप्रियसंवासाना बहूना प्रिय-विप्रयोगाना बहूनां दु.ख-

७८ जो ये श्रमण-ब्राह्मण ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते है—

सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का हनन किया जा सकता है, उनको अधीन बनाया जा सकता है, दास बनाया जा सकता है, परिताप दिया जा सकता है, क्लान्त किया जा सकता है और प्राण से वियोजित किया जा सकता है—वे भविष्य मे शरीर के छेदन को प्राप्त होगे । वे भविष्य मे जन्म, जरा, मरण, योनिजन्म, ससार, पुनर्भव, गर्भवास, भव-प्रपंच मे व्याकुल चित्तवाले होगे । वे बहुत दंड, बहुत मुडन, बहुत तर्जना, बहुत ताडना, बहुत साकल-बन्धन, बहुत घुमाने, बहुत मातृमरण, बहुत पितृमरण, बहुत भ्रातृमरण, बहुत भगिनीमरण, बहुत भार्यामरण, बहुत पुत्रमरण, बहुत पुत्रीमरण, बहुत पुत्रवधूमरण, बहुत दरिद्रता, बहुत दौर्भाग्य, बहुत अप्रिय-सवास, बहुत प्रिय-विप्रयोग, बहुत दु ख-दौर्मनस्य के आभागी होगे । वे अनादि-अनन्त, लम्बे मार्गवाले, चतु-

भुज्जो-भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति । ते णो सिज्झिस्संति णो बुज्झिस्संति णो मुच्चिस्संति णो परिणिव्वाइस्संति णो सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति ।

दौर्मनस्यानां आभागिनो भविष्यन्ति । अनादिक च अनवदग्र दीर्घमध्वान चातुरन्त-संसारकान्तार भूयो भूय. अनुपरिवर्त्स्यन्ते । ते नो सेत्स्यन्ति नो भोत्स्यन्ते नो मोक्ष्यन्ति नो परिनिर्वास्यन्ति नो सर्वदु खाना अन्तं करिष्यन्ति ।

रन्त—चतुर्गतिक ससाररूपी अरण्य मे[१५७] बार-बार परिभ्रमण करेंगे । वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वाण को प्राप्त नही होगे । वे सब दु खो का अन्त नही करेंगे ।[१५८]

एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे ।

पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥

एषा तुला एतत् प्रमाणं एतत् समवसरणम् ।

प्रत्येक तुला प्रत्येक प्रमाण प्रत्येकं समवसरणम् ।.

यह तुला है, यह प्रमाण है और यह समवसरण है ।

प्रत्येक के लिए तुला, प्रत्येक के लिए प्रमाण और प्रत्येक के लिए समवसरण है ।

७९. तत्थ णं जे ते समणमाहणा एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एव परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण किलामेयव्वा ण उद्दवेयव्वा— ते णो आगंतु छेयाए ते णो आगंतु भेयाए ते णो आगंतु जाइ-जरा-मरण - जोणिजम्मण - संसार - पुणब्भव - गब्भवास - भवपवंच - कलंकलीभावभागिणो भविस्सति । ते णो बहूणं दंडणाणं णो बहूणं मुंडणाणं णो बहूणं तज्जणाणं णो बहूणं तालणाणं णो बहूणं अंदुबंधणाणं णो बहूणं घोलणाणं णो बहूणं माइमरणाणं णो बहूणं पिइमरणाणं णो बहूणं भाइमरणाणं णो बहूण भगिणीमरणाणं णो बहूणं भज्जामरणाणं णो बहूणं पुत्तमरणाण णो बहूणं धूयमरणाणं णो बहूण सुण्हामरणाणं णो बहूणं दारिद्दाणं णो बहूणं दोहग्गाणं णो बहूणं अप्पियसंवासाणं णो बहूण पिय-विप्पओगाणं णो बहूणं दुक्ख-दोमणस्साणं आभागिणो भविस्संति ।

तत्र ये एते श्रमणब्राह्मणा एवमाचक्षते, एवं भाषन्ते, एव प्रज्ञापयन्ति, एव प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणा सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्या न आज्ञापयितव्या. न परिगृहीतव्या न परितापयितव्या न क्लामयितव्या न उद्द्रावयितव्या ते नो आगन्तर छेदाय ते नो आगन्तार. भेदाय ते नो आगन्तार जाति-जरा-मरण-योनिजन्म- ससार - पुनर्भव-गर्भवास - भवप्रपंच - कलकलोभावभागिनो भविष्यन्ति । ते नो बहूना दण्डनाना नो बहूना मुण्डनाना नो बहूना तर्जनाना नो बहूना ताडनाना नो बहूना 'अदु'बन्धनाना नो बहूना घोलनाना नो बहूना मातृमरणाना नो बहूना पितृमरणाना नो बहूना भ्रातृमरणाना नो बहूना भगिनीमरणाना नो बहूना भार्यामरणाना नो बहूना पुत्रमरणाना नो बहूना दुहितृमरणाना नो बहूना स्नुषामरणाना नो बहूना दारिद्र्याणा नो बहूना दौर्भाग्याना नो बहूना अप्रियसंवासाना नो बहूना प्रिय-विप्रयोगाना नो बहूना दुःख-दौर्मनस्याना

७९ जो ये श्रमण-ब्राह्मण ऐसा आख्यान, भाषाण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते है—सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का हनन नही करना चाहिए, उनको अधीन नही बनाना चाहिए, दास नही बनाना चाहिए, परिताप नही देना चाहिए, क्लान्त नही नही करना चाहिए और प्राण से वियोजित नही करना चाहिए वे भविष्य मे शरीर के छेदन को प्राप्त नही होगे । वे भविष्य मे शरीर के भेदन को प्राप्त नही होगे । वे भविष्य मे जन्म, जरा, मरण, योनिजन्म, ससार, पुनर्भव, गर्भवास, भव-प्रपच मे व्याकुलचित्त वाले नही होगे । वे बहुत दड, बहुत मुडन, बहुत तर्जना, बहुत ताडना, बहुत साकल-बन्धन, बहुत घुमाने, बहुत मातृमरण, बहुत पितृमरण, बहुत भ्रातृ-मरण, बहुत भगिनीमरण, बहुत भार्यामरण, बहुत पुत्रमरण, बहुत पुत्रीमरण, बहुत पुत्रवधूमरण, बहुत दरिद्रता, बहुत दौर्भाग्य, बहुत अप्रिय-सवास, बहुत प्रिय-विप्रयोग और बहुत दु ख-दौर्मनस्य के आभागी नही होगे । वे अनादि-अनन्त लबे मार्ग वाले, चतुरन्त—चतुर्गतिक

अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसार-कंतारं भुज्जो-भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति । ते सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिणिव्वाइस्संति सव्व-दुक्खाणं अंतं करिस्संति ।।

आभागिनो भविष्यन्ति । अनादिकं च अनवदग्र दोर्घ-मध्वान चातुरन्त-ससार-कान्तार भूयोभूय: नो अनुपरिवर्त्स्यन्ते । ते सेत्स्यन्ति भोत्स्यन्ते मोक्ष्यन्ति परिनिर्वास्यन्ति सर्वदु:खाना अन्त करिष्यन्ति ।

ससाररूपी अरण्य मे वार-वार परिभ्रमण नही करेगे । वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परि-निर्वाण को प्राप्त होगे । वे सव दुखो का अन्त करेगे ।

८०. इच्चेतेहिं वारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा णो सिज्झिसु णो वुज्झिसु णो मुच्चिसु णो परि-णिव्वाइंसु णो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा णो करेंति वा णो करिस्संति वा ।

इत्येतेषु द्वादशसु क्रिया-स्थानेषु वर्तमाना जीवा. नो असैत्सु नो अवोधिषत नो अमुञ्चन् नो पर्यवासिषु. नो सर्वदु खाना अन्त अकुर्वन् वा नो कुर्वन्ति वा नो करिष्यन्ति वा ।

८० इन वारह क्रियास्थानो मे वर्तमान जीव न सिद्ध, वुद्ध, मुक्त, और परिनिर्वाण को प्राप्त हुए, न होते है और न होगे । उन्होने सव दु खो का अन्त न किया, न करते है और न करेगे ।

एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु वुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइंसु सव्व-दुक्खाणं अंत करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा ।।

एतस्मिन् चैव त्रयोदशे क्रिया-स्थाने वर्तमाना जीवा असैत्सु अवोधिषत अमुचन् परिनिर-वासिषु: सर्वदु खाना अन्त अकार्षु: वा कुर्वन्ति वा करिष्यन्ति वा ।।

इस तेरहवे क्रियास्थान मे वर्तमान जीव सिद्ध, वुद्ध, मुक्त, और परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और होगे । उन्होने सव दु खो का अन्त किया, करते है और करेंगे ।

८१. एवं से भिक्खू आयट्ठी आयहिए आयगुत्ते आयजोगी आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयणिप्फेडए आयाणमेव पडि-साहरेज्जासि ।

एव स भिक्षु: आत्मार्थी आत्महित आत्मगुप्त: आत्म-योगी आत्मपराक्रम. आत्म-रक्षित: आत्मानुकम्पक आत्म-निष्फेटक आत्मानमेव प्रति-सहरेत् ।

८१. इस प्रकार वह आत्मार्थी, आत्मा का हित करने वाला, आत्मगुप्त, आत्मयोगी, आत्मा के लिए पराक्रम करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, आत्मा की अनुकम्पा करने वाला, आत्मा का (ससार से) उद्धार करने वाला भिक्षु आत्मा का ही प्रतिसहरण करे— वारह क्रियास्थानो से आत्मा को निवृत्त करे ।[१५१]

—त्ति वेमि ।।

इति ब्रवीमि ।।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

अध्ययन २ : टिप्पण

सूत्र १ :

१. क्रियास्थान (किरियाठाणे)

क्रिया का अर्थ है—कंपन। चूर्णिकार के अनुसार एजन, कंपन, गमन और क्रिया—ये एकार्थक हैं।[1] जीव और अजीव—दोनो क्रिया करते हैं। अजीव की क्रिया द्रव्यक्रिया होती है। जीव द्वारा की जाने वाली क्रिया द्रव्यक्रिया और भावक्रिया—दोनो दोनो प्रकार की होती है। जो क्रिया किसी दूसरे के प्रयत्न से होती है, वह द्रव्यक्रिया है। कोई जीव अपने प्रयत्न से क्रिया करता है, किंतु वह उस क्रिया के प्रति जागरूक नही होता तो वह क्रिया भी द्रव्यक्रिया होती है। जिस क्रिया के साथ उपयोग, चित्तवृत्ति अथवा जागरूकता जुड जाती है, वह क्रिया भावक्रिया है।

क्रिया असयमी, प्रमत्तसयमी, अप्रमत्तसयमी और वीतराग—सभी के होती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन मे क्रिया की दो कोटिया निर्दिष्ट है। प्रथम १२ क्रियाए सापरायिक क्रिया के अन्तर्गत है। ये सब अवीतराग के होती है। तेरहवी क्रिया केवल वीतराग के होती है।[2]

सापरायिक क्रिया पाप और पुण्य—दोनो की होती है। किन्तु यहा केवल पाप क्रिया—सापरायिक क्रिया का विस्तार किया गया है। ईर्यापथिकी क्रिया केवल पुण्य की क्रिया होती है।

विशेप विवरण के लिए देखे—

१. ठाण १।४, टिप्पण पृष्ठ १६।

२. ठाणं २।२-३७, टिप्पण पृष्ठ ११३-११६।

२. सक्षेप में (संजूहेणं)

चूर्णिकार ने सयूथ, सक्षेप और समास को एकार्थक माना है।[3]

३. धर्म-अधर्म उपशान्त-अनुपशांत (धम्मे चेव…… अणुवसंते चेव)

चूर्णिकार के अनुसार धर्म ही उपशम है और उपशम ही धर्म है, इसलिए दोनो की अवधारणा की गई है। इसका दूसरा अर्थ है—उपशम से धर्म होता है, इसलिए धर्म और उपशम दोनो का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अधर्म ही अनुपशम है और अनुपशम ही अधर्म है, इसलिए दोनो की अवधारणा की गई है। दूसरे शब्दो मे अधर्म से ही अनुपशम होता है, अत दोनो प्रतिपादित हैं।

मनुष्य मे पहले अधर्म और अनुपशम होता है, फिर विवेक चेतना के जागने पर धर्म और उपशम का विकास होता है। फिर भी धर्म और उपशम को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि वे मनुष्य के लिए प्राप्य हैं तथा अधर्म और अनुपशम को दूसरा स्थान इसलिए दिया गया है कि वे मनुष्य के लिए हेय है।[4]

चूर्णिकार ने बताया है कि जीवन के दो ही पक्ष है—धर्मपक्ष और अधर्मपक्ष, तीसरा पक्ष—मिश्रपक्ष नही है।[5]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३३६ एजनं कम्पनं गमन क्रियेत्यनर्थान्तरं।

२. भगवई, ७।१२५,१२६।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३३८ : संजूहः संक्षेपः समास इत्यनर्थान्तरं।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३३८ : धर्म एवोपशमः उपशम एव च धर्म, उभयावधारणं क्रियते, अथवा उपशमाद्धर्मो भवतीति तेन धर्मग्रहणे कृतेऽपि उपशमस्य क्रियते ग्रहण, एवं अधर्मे अनुपशमे च विभाषा, अर्चितत्वात् पूर्वं धर्मस्योपशमस्य च ग्रहण कृत, इतरथा हि पूर्वमधर्मोऽनुपशमश्च भवति पच्छा धम्म उवसमं च पडिवज्जेति।

५. वही, पृष्ठ ३३८ ऐते दो चेव पक्खा भवंति,
तं जहा—धम्मपक्खो अधम्मपक्खो य।

सूत्र २ :

४. विकल्प है (विभंगे)

चूर्णि मे इसका अर्थ विभाग[1] और वृत्ति मे इसके दो अर्थ है—विभाग और विचार ।[2]

५. दंडसमादान (दंडसमादाणं)

चूर्णिकार ने घात, हिंसा, मारण, दड और अधर्म को एकार्थक माना है ।[3] 'समादान' का अर्थ है—आचरण ।[4]

वृत्तिकार ने दंड का अर्थ-पापकारी सकल्प किया है ।[5]

६. उस प्रकार के (तहप्पगारा)

यहा प्रकार का अर्थ है—सादृश्य । नरक और देवो मे पुण्य आदि के लक्षण से शरीर का सादृश्य होता है तथा तिर्यञ्च-योनिक प्राणियो मे औदारिक शरीर और इन्द्रियो का सादृश्य होता है ।[6]

वृत्तिकार ने 'तथा प्रकार' का अर्थ 'अवान्तर भेदवर्ती' किया है ।[7]

७. जो ज्ञानी हैं और वेदना का वेदन करते हैं (विण्णू वेयणं वेयंति)

विज्ञ जीव का एक नाम है ।[8] चैतन्य की दो अवस्थाए होती हैं—ज्ञान और सवेदन । ज्ञान का अर्थ है जानना और सवेदन का अर्थ है—भोगना । इस भेद को स्पष्ट करने के लिए चूर्णि और वृत्ति मे चतुर्भंगी का प्रयोग मिलता है[9]—

१. सज्ञी (समनस्क) प्राणी जानते हैं और सवेदन भी करते हैं ।

२. सिद्धो मे ज्ञान होता है, सवेदन नही होता ।

३. असज्ञी (अमनस्क) प्राणी जानते नही हैं, सवेदन करते हैं ।

४. अजीव मे न ज्ञान होता है और न सवेदन ।

प्रस्तुत प्रसग मे प्रथम और तृतीय भंग प्रयोजनीय है और द्वितीय तथा चतुर्थ भग अप्रयोजनीय ।

८. अर्थदंड....ईर्यापथिक (अट्ठादंडे ...इरियावहिए)

प्रस्तुत प्रसग मे शास्त्रकार ने तेरह क्रियास्थानो का नामोल्लेख किया है और आगे के सूत्रो मे एक-एक को विस्तार से समझाया है । उन तेरह क्रियास्थानो का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है[10]—

१. अर्थदड—प्रयोजनवश हिंसा करना ।

२. अनर्थदड—निष्प्रयोजन हिंसा करना ।

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३३८ . विभंगो विभाग इत्यर्थ ।

२. वृत्ति, पत्र ४५ : विविधो भङ्गो विभङ्गो विभागो विचार ।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३३८ : घातो हिंसा मारणं दंड अधर्म इत्यनर्थान्तर ।

४. वही, पृष्ठ ३३८ समादाणं ग्रहणमित्यर्थ ।

५. वृत्ति, पत्र ४५ दण्डयतीति दण्ड पापोपादानसंकल्प ।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३३९ प्रकार इति सादृश्ये शरीरेन्द्रियादि, णेरइयदेवाणं पुण्णादिलक्षणत्वात् शरीरसादृश्यमस्ति, तिरिक्खजोणियाओ ओरालियशरीरसादृश्यं इन्द्रियसादृश्यं ।

७. वृत्ति, पत्र ४५ : तथाप्रकारास्तद्भेदवर्तिन ।

८. भगवई, २०।१७ ।

९. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३९ विण्णू संज्ञानग्रहण इन्द्रियाणा च तानि केषाचित् सगलाणि इन्दियणिमित्तं चेव.... ...अहवा विन्नू वेदेंति य भंगा सण्णिणो वेदणं विजाणंति य वेदंति य सिद्धा बिजाणंति ण वेदंति, असण्णिणो ण जाणंति वेदंति अजीवा न जाणति ण वेदयन्ति । एत्थ पुण पढमततिएहिं भंगेहिं अहिगारो, वितियचउत्था अवत्थू ।

(ख) वृत्ति, पत्र ४५ विद्वांसो वेदना —ज्ञानं तद् वेदयन्ति—अनुभवन्ति, यदि वा सातासातरूपां वेदनामनुभवन्तीति.......... भूताविति ।

१०. वृत्ति, पत्र ४५, ४६ ।

३. हिंसादंड—प्रतिशोध और प्रतिकार के लिए हिंसा का आचरण।
४ अकस्मात्‌दंड—किसी एक की हिंसा करते समय अकस्मात् किसी दूसरे की हिंसा हो जाना।
५. दृष्टिविपर्यासिकादंड—दृष्टि की विपरीतता (मति-विभ्रम) से होने वाला पापकारी कार्य।
६. मृषाप्रत्यय—स्वार्थ के लिए असत्य वचन का प्रयोग।
७. अदत्तादान प्रत्यय—स्वार्थ के लिए चोरी का आचरण।
८ आध्यात्मिक—विना किसी कारण के कषायो से आविष्ट होना।
९ मानप्रत्यय—जाति आदि के मद से ग्रस्त होकर दूसरे को हीन और अपने आपको उत्कृष्ट मानना।
१० मित्रदोषप्रत्यय—मित्रो के प्रति कठोर दंड का प्रयोग।
११ मायाप्रत्यय—दूसरो को ठगने की प्रवृत्ति।
१२ लोभप्रत्यय—लोभमय प्रवृत्ति।
१३. ईर्यापथिक—ईर्यापथिकी क्रिया से होने वाला कर्मबन्ध।

सूत्र ३ :

९. ज्ञाति के लिए या घर के लिए या परिवार के लिए (णाइहेउं अगारहेउं परिवारहेउं)

पुत्र, पत्नी, माता, पिता आदि ज्ञाति कहलाते हैं। नौकर, कर्मचारी, घोडे, हाथी आदि को परिवार कहा जाता है।[1] परिवार का वैकल्पिक अर्थ घर की दीवार भी किया गया है।[2]

अगारहेतु का अर्थ—घर के निमित्त खम्भे, ईंटें आदि बनाना किया गया है।[3] इसलिए परिवार का प्रथम अर्थ ही संगत लगता है।

सूत्र ४ :

१०. शरीर के लिए (अच्चाए)

अर्चा का अर्थ है—शरीर। चूर्णिकार ने इसका निरुक्त इस प्रकार दिया है—'अर्चयन्ति तामिति अर्चा—शरीर'—यह शरीर पूजा जाता है, इसलिए इसका नाम अर्चा है।[4]

११. हनन, छेदन......प्राण-हरण कर (हंता......ओदवइत्ता)

प्रस्तुत प्रसग मे प्रयुक्त छह शब्दो से हिंसा के प्रकारो का निर्देश दिया गया है। उनका तात्पर्य है[5]—

- हंता—दंड आदि से मारना, पीटना।
- छेत्ता—कान-नाक आदि काटना।
- भेत्ता—दो टुकडे कर डालना।
- लुपइत्ता—किसी अवयव को काट डालना।
- विलुपइत्ता—आंखे निकालना, चमडी उधेडना आदि।
- ओदवइत्ता—प्राण-वियोजन करना।

१२. वैर का (वेरस्स)

चूर्णिकार ने 'वेर' का अर्थ—कर्म[6] और वृत्तिकार ने वैर किया है।[7] कर्म और वैर मे संबंध खोजा जा सकता है। वैरभाव

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३३९ णातहेतुंति पुत्रदारादीणं अट्ठाए ... परियारोत्ति दासभत्तगचारभट्टआसहत्थिमादि परिवारो।
२ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३३९ अहवा घरस्सेव वा पडियादिपरिवारं करोति।
(ख) वृत्ति, पत्र ४६ : परिवारो ... परिकरो वा गृहादेर्वृत्त्यादिकस्तन्निमित्तं।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३३९ अगारहेतुं ति घरस्स खंभे इट्टकादि वा करोति।
४. चूर्णि, पृष्ठ ३३९।
५. वृत्ति, पत्र ४७।
६. चूर्णि, पृष्ठ ३४० वेरं कम्मं।
७ वृत्ति, पत्र ४७ जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य।

से कर्म का वन्ध होता है और कर्म-वन्ध से वैर की सन्तति चलती है।

१३. (इक्कडा इ वा····)

यहा इक्कड आदि दस शव्द प्रयुक्त हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनकी कोई व्याख्या नही की है। वृत्तिकार ने इन्हें वनस्पति विशेष माना है।[1]

१. इक्कड (इक्कट)—जलीय वनस्पति का पोला डठल या एक प्रकार का घास जो चटाई आदि के काम आता है।[2] यह लाटदेश मे प्रसिद्ध था।[3]

२ कढिण—निशीथ चूर्णि मे 'कढिण' शव्द के दो अर्थ प्राप्त हैं—वास[4] और मरकण्डा।[5]

३. जन्तुक—लाह (लाख) का वृक्ष, जिससे निकला हुआ द्रव-पदार्थ चूडिए वनाने या मोहर आदि लगाने मे काम आता है।

४ परग—

५ मोरक—कोप मे 'मोरट' का अर्थ एक प्रकार का पौधा जिसका रस मीठा हो—किया है और 'मोरट' का अर्थ 'ईक्षु की जड़' किया है। यहा भी संभव है यही शव्द होना चाहिए।

६. तृण—घास-फूस आदि।

७. कुश—दर्भ। एक प्रकार का घास जो अनेक धार्मिक क्रियाकाण्डो मे प्रयुक्त होता है, जो पवित्र माना जाता है।

८. कुच्छग—आयार चूला २।६३ मे 'कुच्चग' पाठ है। कोश मे 'कुच्छं' शव्द का अर्थ सफेद कमल किया है।

९ पर्वज—इक्षु आदि।

१० पलाल—भूसा (Husk)।

१४. तृण (तणाइं)

चूर्णिकार ने तृण से 'सेटिक', 'भगिक' आदि तृणो का[6] तथा वृत्तिकार ने कुश, पुप्पक आदि तृणो का ग्रहण किया है।[7]

सूत्र ५ :

१५. हिंसादंड-प्रत्यय (हिंसादंडवत्तिए)

प्रस्तुत सूत्र मे अतीत, वर्तमान और भविप्य—तीनो कालो से सवधित हिंसा दड का निरूपण किया गया है। प्रतिशोधात्मक हिंसा का सवंध अतीत से है, जैसे—अपने स्वजन की घात करनेवाले को वदला लेने की भावना से मार डालना। प्रतिकारात्मक हिंसा का सवध वर्तमान से है, जैसे—मारने का प्रयत्न करने वाले को मार डालना। आशकाजनित हिंसा का सवंध भविप्य से है, जैसे—यह मारेगा, इस आशका से उसे मार डालना।[8]

सूत्र ६ :

१६ मृग का····अवधान कर (मियपणिहाणे)

चूर्णिकार ने प्रणिधान, वुद्धि और अभिप्राय को एकार्यक माना है।[9]

---

१ वृत्ति, पत्र ४७ इक्कडादयो वनस्पतिविशेषा।

२. आप्टे, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

३. निशीथभाष्य चूर्णि, भाग २ पृष्ठ ८१ : इक्कडा लाडाणं पसिद्धा।

४. वही, पृष्ठ ८१ : कढिणो—वंशो।

५. पीठिका गाथा ६८७, पृष्ठ २०६ . कढिन शरस्तम्ब.।

६. चूर्णि पृष्ठ ३४० तणाणि—सेडियभंगियादीणि।

७. वृत्ति, पत्र ४८ : तृणाणि—कुशपुप्पकादीनि।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३४१।

९. चूर्णि, पृष्ठ ३४१ . प्रणिधानं वुद्धिरभिप्राय इत्यनर्यान्तरं।

१७. काट डालता है (फुसइ)

प्रस्तुत सूत्र मे 'फुसइ' क्रिया शब्द का दो वार प्रयोग हुआ है । यह अनेकार्थक धातु है—इसका सामान्य अर्थ है—घात करना । प्राणी के प्रकरण मे इसका अर्थ है—मार डालना और वनस्पति के प्रकरण मे इसका अर्थ है—उखाड डालना, काटना ।[1]

१८. सवां (सामगं)

श्यामक या श्यामाक के दो अर्थ है—कगु धान्य या एक प्रकार का घास ।[2]

१९. मुकुन्दुक (मुकुंदुगं)

इसका अर्थ है—गुग्गुल या कुरुन्द वृक्ष का निर्यास । इसका दूसरा अर्थ है—एक प्रकार का धान्य ।[3]

सूत्र ७ :

२०. माता, पिता (माईहिं वा पिईहिं वा)

यहा वहुवचन का प्रयोग स्वय एक प्रश्न उपस्थित करता है । चूर्णिकार ने इसके समाधान मे कहा है– **नित्यमात्मनि गुरुषु च बहुवचनं**—स्वय के लिए तथा गुरुजनो के लिए सदा वहुवचन का प्रयोग करना चाहिए । इसका वैकल्पिक समाधान यह है कि 'माईहिं' इस शब्द से सौतेली मा, मौसी, बुआ—इन सवका ग्रहण किया है । 'पिईहिं' के द्वारा चाचा, पिता के मित्र आदि का ग्रहण किया है ।[4]

२१. ग्राम, नगर···· (गाम-णगर···)

ये ग्यारह शब्द विविध प्रकार के आवासीय क्षेत्रो के द्योतक हैं । प्राचीन भारत मे इनकी रचना और अवस्थिति का एक निश्चित मापदंड था । उसी के अनुसार इनका वर्गीकरण किया गया है ।

इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—ठाण २।३९० का टिप्पण, पृष्ठ १४२-१४५ ।

२२. पांचवां दंड-समादान··· (पंचमे दंडसमादाणे····)

प्रथम पाच क्रियास्थानो को 'दंड-समादान' कहा गया है, जैसे—पढमे दडसमादाणे अहावरे दोच्चे दडसमादाणे आदि और शेष को केवल 'क्रियास्थान' कहा गया है । इस पाठ-रचना की भिन्नता के विषय मे चूर्णि और वृत्ति मे विमर्श प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय सूत्र के अनुसार ये सभी क्रियास्थान हैं, किन्तु प्रथम पाच क्रियास्थानो मे प्राय परोपघात होता है, इसलिए उन्हे दंड-समादान कहा गया है तथा शेष आठ क्रियास्थानो मे प्राय परोपघात नही होता, वे आत्माश्रयी हैं, इसलिए उन्हे क्रियास्थान कहा गया है ।[5]

सूत्र ८ :

२३. अपने लिए····(आयहेउं वा····)

चूर्णिकार ने 'आयहेउ' आदि पदो को उदाहरण से समझाया है, जैसे—

आत्महेतुक मृषावाद—चुराए हुए माल सहित पकडे जाने पर भी अपने आपको अचोर वताना ।

---

१ (क) चूर्णि पृष्ठ ३४१ फुसति णाम छिंदति अथवा फुसंति फुसमाणो चेव दुक्खं उप्पाडेति ।
(ख) वृत्ति, पत्र ४९ स्पृशति—घातयति·· ····स्पृशति छिनत्ति ।

२. आप्टे, सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी ।

३. वही ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३४१-३४२ माईहिं वा पितीहिं वा नित्यमात्मनि गुरुषु च बहुवचनं अहवा माईहिंति सवत्तीणीओ मातुसियातो पितुस्सिताओ गिहिताओ, पितीहिंति पितुपितृव्यादय पितृवयंसा वा ।

५ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४२ . इवाणि प्रायेण आत्माश्रयाणि, ण च एकान्तेन तेसु परस्स ववरोवण भवति तहावि कम्मबंधो भवतित्तिकाउं किरियाट्ठाणाणि उच्चति, आदिल्लाइ पुण किरियाट्ठाणत्तेवि सति दडसमादाणेवि सति दडसमादाणा वुच्चंति ।
(ख) वृत्ति, पत्र ५० तत्र च पूर्वोक्ताना पञ्चानां क्रियास्थानानां सत्यपि क्रियास्थानत्वे प्रायश· परोपघातो भवतीतिकृत्वा दण्ड-समादानसज्ञा कृता षष्ठादिषु च बाहुल्येन न परव्यापादनं भवतीत्यत. क्रियास्थानमित्येषा संज्ञोच्यते ।

परिवार और ज्ञातिहेतुक मृषावाद—अपने पुत्र तथा परिवार आदि के लिए झूठ बोलना, जैसे—यह चोर था, पारदारिक नही है।

दूसरे से झूठ बुलवाना—दूसरे को झूठ बोलने की कला सिखाना, मृषा उपदेश करना, झूठा साक्ष्य दिलाना।

झूठ बोलने वाले का अनुमोदन करना, जैसे—तूने इस अपराध का अपलाप कर दिया, यह अच्छा किया।

अनुमोदन का अर्थ है—मृषावाद आदि को अच्छा समझना। श्रीमज्जयाचार्य ने अनुमोदन की यही परिभाषा की है। हिंसा, मृषा आदि की प्रवृत्ति को सुन लेना या उस पर मौन रह जाना अनुमोदन नही है, किन्तु उसके प्रति 'अच्छा किया'—ऐसा मनोभाव करना या वैसा वचन बोलना 'अनुमोदन' है।[१]

सूत्र १० :

२४. आध्यात्मिक (अज्झत्थिए)

आध्यात्मिक का अर्थ है—अन्त करण मे उत्पन्न। यह क्रियास्थान मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बाह्य निमित्तो, कारणो और परिस्थितियो से व्यक्ति दुखी होता है, शोकाकुल और चिन्तातुर होता है। किन्तु कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि कोई भी निमित्त न होने पर भी वह दुखी और चिन्तित हो जाता है। इसका कारण बाह्य में नही खोजा जा सकता। उसका निमित्त आन्तरिक होता है। आज की शरीरशास्त्रीय दृष्टि से अन्तःस्रावी ग्रन्थियो के स्रावो का असतुलन उसके निमित्त बनते है और कर्मशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार इसका कारण तत् तत् वेदनीय कर्म का अहेतुक विपाक है।

प्रस्तुत सूत्र मे शास्त्रकार ने बाह्य निमित्तो के अभाव मे चिन्तित होने वाले पुरुष का बहुत ही सुन्दर चित्र खीचा है। इस कोटि का व्यक्ति अपने आचरण और व्यवहार से अपने प्रति ही क्रोध आदि का प्रदर्शन कर हीन, दीन आदि बन जाता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति आत्मा मे होती है, इसलिए उन्हे आध्यात्मिक कहा गया है।[२]

यहा शिष्य एक प्रश्न करता है—गुरुदेव! क्या कषाय आध्यात्मिक ही होते हैं या अध्यात्म-व्यतिरिक्त भी? गुरुदेव ने कहा—शिष्य! कषाय तो आध्यात्मिक ही होते हैं, किन्तु अध्यात्म कषाय-व्यतिरिक्त भी होता है।[४]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस सूत्र मे प्रयुक्त शब्दो की व्याख्या इस प्रकार की है[५]—

हीन—जिसकी वाणी, आकृति और शोभा क्षीण हो चुकी है।

दीन—अकृपण होने पर भी जो कृपण की तरह संकुचित होकर रहता है।

दुष्ट—अपकार न करनेवाले पर भी द्वेष करनेवाला।

दुर्मना—जिसका मन दुष्ट चिन्ताओ मे लगा रहता है।

अवहतमन संकल्प—मनोवाछित वस्तु की प्राप्ति न होने पर जिसका मन सकल्प टूट गया है।

२५. निमित्तशून्य (असंसइया)

चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप मे 'आसंसइया' पाठ मानकर उसका अर्थ संशयित और भयभीत किया है।[६]

वृत्तिकार ने भी इसका अर्थ आसंशयित किया है।[७]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४२।
(ख) वृत्ति, पत्र ५०।

२. भगवती की जोड़

३. चूर्णि, पृष्ठ ३०३।

४. वही, पृष्ठ ३४३।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४३ : हीणोत्ति हीणे सरतो ओयातो छायातो, दीणो णाम अकृपणोऽपि सन् कृपणवन्नि संहृतोऽवतिष्ठते, दुट्ठोत्ति अकृतापकारस्यापि प्रदुष्यते, दुष्टमना दुर्मणा, इष्टविषयप्रार्थनाभिमुखं हि मन तदलाभे अपहतं भवति, अभिहतमित्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र ५०,५१।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३४३ अथवा युक्तमासंसयमेव समानदीर्घत्वे कृते अज्झत्थया आसंसइया, अहवा संशय. अज्ञाने भये च, संशयं कुर्वंतीति संशयिता, कसाएहिं कषायवृत्तमतिर्न किंचि जानीते भयं चास्य इह परत्र च भवति।

७. वृत्ति, पत्र ५१ : असंशयितानि वा—निःसंशयानि।

हमने 'अससइय' पाठ का सस्कृत रूप 'असश्रित' दिया है। इसकी आर्थिक तुलना 'अप्रतिष्ठ' से की जा सकती है । देखे—ठाण ४।७६ ।

सूत्र ११ :

२६. अवहेलना ⋯ ⋯अवज्ञा (हीलेति⋯—अवमण्णति)

सूत्रकार ने यहा दूसरे की अवमानना के द्योतक छह शब्दो का प्रयोग किया है। चूर्णिकार ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है[1]—

१ हीलना—दूसरो को लज्जित करने की क्रिया।

२ निन्दा—जाति, ऐश्वर्य आदि के आधार पर दूसरे मे मानसिक ताप पैदा करना।

३. खिसना—घृणा करना।

४ गर्हा—दूसरो के समक्ष किसी के प्रति तुच्छ वात कहना, जैसे—यह नीच जाती का है, चाडाल है, चमार है आदि-आदि।

५. परिभव—अपने अह से दूसरो की अवज्ञा करना।

६ अवमानना—तिरस्कार करना—आने पर न उठना, छोटा आसन देना, तुच्छ आहार आदि देना।

वृत्तिकार का अभिमत है कि ये शब्द एकार्थक भी हो सकते हैं, या किसी भेद की अपेक्षा से इनका भिन्न अर्थ भी किया जा सकता है।[2]

२७. तुच्छ है (इत्तरिए)

इत्वरिक का अर्थ है—अल्प, न्यून[3]। वृत्तिकार ने 'इतरोऽय' की व्याख्या जघन्य, हीनजातिक किया है।[4]

२८. कम्मबिइए अवसे पयाति

तुलना—उत्तरज्झयणाणि १३।२४ कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ।

२९. एक गर्भ से दूसरे गर्भ में (गब्भाओ गब्भं)

चूर्णिकार ने यहा चतु भगी प्रस्तुत की है[5]—

१ गर्भ से गर्भ मे—गर्भज प्राणी के रूप मे मरकर गर्भज प्राणी के रूप मे उत्पन्न होना।

२. गर्भ से अगर्भ मे—गर्भज प्राणी के रूप मे मरकर अगर्भज प्राणी के रूप मे उत्पन्न होना।

३. अगर्भ से गर्भ मे—अगर्भज प्राणी के रूप मे मरकर अगर्भज प्राणी के रूप मे उत्पन्न होना।

४ अगर्भ से अगर्भ मे—अगर्भज प्राणी के रूप मे मरकर अगर्भज प्राणी के रूप मे उत्पन्न होना।

मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यञ्च गर्भज होते हैं, शेष सारे प्राणी—पाचो स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, देवता और नारक अगर्भज होते हैं।

३०. एक नरक से दूसरे नरक में (णरगाओ णरगं)

चूर्णि मे इसकी चतुर्भंगी का भी उल्लेख है[6]—

१ नरक मे मरकर पुन नरक मे जन्म लेना।

२. नरक मे मरकर पुन. अनरक—अन्यत्र जन्म लेना।

३ अनरक मे मरकर नरक मे जन्म लेना।

४. अनरक मे मरकर अनरक मे जन्म लेना।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३४४।

२ वृत्ति, पत्र ५१ एतानि चैकार्थिकानि कथञ्चिद्भेदं वोत्प्रेक्ष्य व्याख्येयानीति।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३४४ इत्तरिओ अल्पप्रत्यय इत्वरमित्ययमल्पतर ।

४. वृत्ति, पत्र ५१ इतरोऽय जघन्यो हीनजातिकः।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३४५ एवं गब्भाओ गब्भं गब्भाओ अगब्भं अगब्भाओ गब्भ अगब्भाओ अगब्भं। मणुस्सपंचेंदियाणं गब्भो सेसाण अगब्भो।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३४५ : णरगाओ णरगं चतुभंगो।

३१. चंड, स्तब्ध, चपल, मानी (चंडे थद्धे चवले माणी)

इनका अर्थ है—चंड—क्रोधी, स्तब्ध—अहंकारी, चपल—अगभीर, मानी—अभिमानी।

ये चारो एक दूसरे से सपृक्त हैं। चारो का अवस्थान एक है। जो चंड—क्रोधी होगा वह स्तब्ध भी होगा, चपल भी होगा और मानी भी होगा। जो मानी होगा वह क्रोधी भी होगा, स्तब्ध भी होगा और चपल भी होगा।

क्रोध और मान अन्योन्याश्रित हैं। जब मानी व्यक्ति अपमानित होता है तब वह रुष्ट होकर 'थरथर' कांपने लग जाता है, आक्रुष्ट होता है और जाति आदि से अपने आपकी प्रशंसा करता है। मानी अपमानित होने पर क्रुद्ध और अगंभीर हो जाता है।[1]

सूत्र १२

३२. ठंडे पानी में.... (सीयोदग....)

इसका अर्थ है—हेमंत ऋतु की रात्रि में अपराधी को ठंडे पानी मे डुबोकर कष्ट देना।[2]

३३. गर्म पानी से.... (उसिणोदगवियडेण....)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'विकट' शब्द के द्वारा उष्ण तैल, उष्ण कांजी आदि का ग्रहण किया है।[3]

३४. अग्नि से.... (अगणिकायेणं....)

इसका तात्पर्यार्थ है—अग्नि से, मुर्मुर से या तपे हुए लोहे की शलाका से शरीर को दागना। इन दो अर्थों के अतिरिक्त चूर्णिकार ने एक अर्थ और किया है—अपराधी को चटाई आदि मे लपेट कर आग लगा देना। इसे कटाग्नि कहा जाता है।[4]

३५. थोड़े मे ही जल-भुन जाने वाला, क्रोधी (संजलणे कोहणे)

जो व्यक्ति निरन्तर अपने आश्रितो पर दंड का प्रयोग करता रहता है, वह चिडचिडे स्वभाव वाला हो जाता है। वह हर किसी व्यक्ति पर, जिस किसी निमित्त से क्षण-क्षण मे जलता रहता है और अत्यन्त कुपित होकर बिना सोचे समझे वध, बंधन, छेदन आदि क्रियाओ मे प्रवृत्त हो जाता है। यह सब उसका स्वभाव बन जाता है। यह भी एक प्रकार की मादकता हो जाती है। बिना ऐसा किए उसे चैन नही पडता। नशे की आदत से भी यह अधिक सताने वाली आदत हो जाती है।[5]

चूर्णिकार ने सज्वलन और क्रोध को एकार्थक भी माना है।[6]

३६. चुगलखोर (पिट्ठिमंसियावि)

जब व्यक्ति प्रतिशोध लेने मे स्वय को असमर्थ महसूस करता है तब वह अपने द्वेषी को दु:खी करने के लिए राजकुल मे या अन्य व्यक्ति के पास उसकी चुगली खाता है और उस व्यक्ति को फंसाने को चेष्टा करता है।[7]

३७. (....त्ति आहिए)

चूर्णिकार ने इस सूत्र के अन्त मे मतान्तरो का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ दोषप्रत्ययिक को आठवा क्रियास्थान और

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३४५।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४५ सीतोदगे वा कायं उवल्लेत्ता भवति, हेमंतरातीसु।
   (ख) वृत्ति, पत्र ५२ : शीतोदके विकटे—प्रभूते शीते वा शिशिरादौ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४५ वियडग्गहणा उसिणतेल्लेण वा।
   (ख) वृत्ति, पत्र ५२ तत्र विकट ग्रहणादुष्णतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३४५ : अगणिकाएण वा मुम्मुएण वा तत्तलोहेण वा कायं उडुहित्ता भवति, कडएण वा वेढेतु पलीवेति, सो चेव कडग्गित्ति वुच्चति।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४६।
   (ख) वृत्ति, पत्र ५३।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३४६ : संजलण एव य कोधणो वुच्चति, एगट्ठिता दोवि।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३४६।

'अध्यात्म' को नौवा क्रियास्थान मानते है। कुछ 'दोषप्रत्ययिक' को नौवा और 'मानप्रत्ययिक' को दसवा क्रियास्थान मानते हैं।[1]

वृत्तिकार ने भी मतान्तर का उल्लेख करते हुए लिखा है—कुछ आचार्यो ने आत्मदोषप्रत्ययिक को आठवा, परदोपप्रत्ययिक को नौवा और प्राणवृत्तिक को दसवा क्रियास्थान माना है।[2]

सूत्र १३ :

३८. रहस्यमय आचार वाले (गूढायारा)

चूर्णिकार ने 'गुह सवरणे' धातु के आधार पर इसका अर्थ गूढ आचार वाले व्यक्ति किया है। गला काटने वाले, धोखा देने वाले, इस श्रेणी मे आते हैं। वे पहले अनेक विधियो से विश्वास पैदा कर फिर उस व्यक्ति का धन चुरा लेते है या उसे मार डालते है।[3] वे विविध प्रकार का झूठा वेश बनाकर दूसरो को ठगते है।[4]

चूर्णिकार ने प्रद्योत और अभयकुमार के दृष्टान्त का सकेत किया है।[5]

वृत्तिकार ने गला काटने वाले तथा राहगिरों को लूटने वालो को इसके अन्तर्गत माना है। उन्होने प्रद्योत और अभयकुमार के दृष्टान्त का सकेत भी दिया है।[6]

कथानक के लिए देखें—सूयगडो १, अध्ययन ४ का आमुख, पृष्ठ १८२,१८३।

३९. अन्धेरे में दुराचार करने वाले (तमोकासिया)

चूर्णिकार ने 'तमोकाइया' पाठ मानकर व्याख्या की है। तमस् का अर्थ है अधकार। तमस्, तिमिर और अधकार एकार्थक है। जैसे रात्री मे घूमने वाले पक्षी इधर-उधर घूमते है, दूसरो को दिखाई नही पड़ते, वैसे ही चोर और पारदारिक रात्री मे काम करते है, यह मानकर कि कोई उन्हे देख न ले। वे तमोकायिक कहलाते है।[7]

वृत्तिकार के अनुसार जो रात मे ही सब कुछ करते है वे 'तमोकासिक' कहलाते है। वे इस प्रकार से कार्य करते है कि दूसरों को पता ही न चल सके।[8]

४०. उल्लू के पांख की भांति हल्के और पर्वत की भांति भारी (उलूगपत्तलहुआ पव्वयगुरुया)

उल्लू की पाखे बहुत हल्की होती हैं। वे पाखें थोडे से वायु के झोके से हिल उठती है, ऊपर उछलती है या उड जाती है। वैसे ही मायावी व्यक्ति का मनोबल इतना क्षीण हो जाता है कि थोडा सा भारी काम आने पर विचलित हो जाता है।

जैसे पर्वत गाढरूप मे बद्धमूल होता है और भयंकर तूफान से भी चलायमान नही होता, वैसे ही मायावी और असत्यवादी व्यक्ति भी अपने कार्य या आलवन के प्रति इतने आग्रही और बद्धमूल होते है कि दूसरों के द्वारा प्रार्थना करने पर, चरण पकडने पर भी वे अपने असत् कार्य को नही छोडते।

यह चूर्णिकार की व्याख्या है।[9]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३४६, ३४७ : एवं पुण केयिवि दोसवत्तियं अट्ठम किरियाट्ठाणं भावितु पच्छा भणंति, परे दोसवत्तिय णवमं किरियट्ठाणं पच्छा माणवत्तियं।

२. वृत्ति, पत्र ५३ अपरे पुनरष्टमं क्रियास्थानमात्मदोषप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोषप्रत्ययिकं, दशमं पुन मानवृत्तिकं क्रियास्थानमिति।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३४७ : गूढायारा गुह संवरणे········मारेति वा।

४. वही, पृष्ठ ३४८ : जहा गलगर्त्ता णाणाविहेहिं पासंडवेसेहिं अपरं वंचेति।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३४७ · जहा पज्जोयेण अभयो दासीहिं हरावितो।

६. वृत्ति, पत्र ५३।

७ चूर्णि, पृष्ठ ३४७ यथा नक्तचरा पक्षिणः रत्तिं चरंति अदृश्यमाना केनचित्, एवं तेवि चोरपारदारिया तमसि कार्यं कुर्वन्तीति तमोकाइया।

८. वृत्ति, पत्र ५३।

९. चूर्णि, पृष्ठ ३४७।

वृत्तिकार ने दोनो शब्दों का सयुक्त अर्थ किया है। वे मायावी व्यक्ति उलूक के पाखो की भाति हल्की चेष्टा करने वाले होते है। वे इतनी तुच्छ या हल्की चेष्टा करते हुए भी अपने आपको पर्वत की भाति बड़ा मानते है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—अकार्य मे प्रवृत्त होते हुए उनको कोई रोक नही सकता। वे अपने कार्य मे पर्वत की भाति अटिग रहते है।[1]

४१. वे आर्य····प्रयोग करते हैं (ते आरिया·······पउंजंति)

वे मायावी लोग आर्य देश मे उत्पन्न होकर भी शठता से अपने आपको छिपाने के लिए या दूसरों में भय पैदा करने के लिए अनार्य भाषाओं का प्रयोग करते है। वे परस्पर उस साकेतिक भाषा मे बोलते हैं कि दूसरे उनको नही समझ पाते। वे दूसरो को व्यामूढ बनाकर उनको ठग लेते है।[2]

चूर्णिकार ने बताया है कि आर्य भाषा मे गच्छ, भण, भुञ्ज (जा, बोल, खा) आदि के प्रयोग होते हैं और वे मायावी उन्ही अर्थो के लिए साकेतिक भाषा मे बोलते हैं।[3]

४२ भीतरी शल्य वाला पुरुष (पुरिसे अन्तोसल्ले)

सूत्रकार ने मायावी की तुलना उस व्यक्ति से की है, जिसके अन्दर शल्य है। शल्य निकालने मे पीड़ा होगी, यह सोचकर वह स्वय काटा नही निकालता और न वैद्य या विद्या के द्वारा उसको निकलवाता है। न वह किसी औषधि का प्रयोग कर उसे भीतर ही भीतर गलाता है। लोग जब पूछते हैं—अरे! तुम बहुत दुबले हो गए? क्यो? वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता। वह दूसरो को यह प्रतीति कराना नही चाहता कि उसमे शल्य है। वह अन्दर ही अन्दर जलता रहता है, जैसे पोला वृक्ष अपने भीतर रही अग्नि से जलता है। जैसे परस्त्री का इच्छुक व्यक्ति अपनी प्रेयसी के विरह मे भीतर ही भीतर जलभुन जाता है, वैसे ही वह सशल्य व्यक्ति जलता रहता है। मायावी व्यक्ति की भी यही स्थिति होती है।[4]

तुलना के लिए देखें—ठाणं ८।६,१०।

सूत्र १४

४३. बारहवां क्रियास्थान (बारसमे किरियट्ठाणे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यह माना है पूर्वोक्त ग्यारह क्रियास्थान प्राय: गृहस्थो (असंयतों) को लक्ष्यकर बतलाए गए हैं और बारहवा क्रियास्थान अन्यतीर्थिको को लक्ष्य कर कहा गया है।[5]

४४. आरण्यक (आरण्णिया)

तापस चार प्रकार के होते हैं—आरण्यक, आवसथिक, ग्रामान्तिक और राहसिक।

चूर्णिकार ने 'आरण्यक' का शाब्दिक अर्थ अरण्य मे रहने वाले तापस किया है। उन तापसो मे कुछ तापस वृक्षमूल मे रहते हैं, कुछ तापस सरोवर या नदी के पानी मे रहते हैं।[6]

वृत्तिकार के अनुसार अरण्य मे रहनेवाले वे तापस कन्द, मूल, फल आदि खाते हैं और कुछेक तापस वृक्षमूल मे रहते है।[7]

४५. आवसथिक (आवसहिया)

जो तापस झोपडी मे या झोपडी के आकार वाले मकान मे रहते हैं, वे आवसथिक तापस कहलाते है।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र ५३।

२ वृत्ति, पत्र ५३।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३४७ : आरियभासाहिं, गच्छ भण भुज एवमादिएहिं एते चेवत्थे कलावतालाचरचोरादी आत्मीयपरिभाषाएहिं भणंति।

४. वही, पृष्ठ ३४८।

५. (क) चूर्णि पृष्ठ ३४९ एताणि प्रायेण गृहस्थानां गतानि एक्कारस किरियाट्ठाणाणि, इमं पुण पासंडत्थाणं बारसमं किरिया।
(ख) वृत्ति, पत्र ५५।

६. चूर्णि पृष्ठ ३४९ अरण्णेसु वसंतीत्यारण्णिया तावसा, ते पुण केइ रुक्खमूलेसु य वसंति, केइ उदएसु।

७ वृत्ति, पत्र ५५ अरण्ये वसन्तीत्यारण्यका, ते च कन्दमूलफलाहारा: सन्त केचन वृक्षमूले वसन्ति।

८. (क) चूर्णि पृष्ठ ३४९ आवसहेसु वसन्तीत्यावसत्थिगा।
(ख) वृत्ति, पत्र ५५ आवसथेसु—उटजाकारेषु गृहेषु।

४६. ग्राम के समीप रहने वाले (गामंतिया)

चूर्णिकार के अनुसार जो गांव के अंत भाग मे या गाव के पास या दो गावो के वीच या अनेक गावो के वीच रहते हैं वे ग्रामान्तिक तापस होते हैं। वे गाव से भिक्षा माग कर जीवन चलाते हैं।[1]

४७. रहस्यमय साधना में संलग्न (कण्हुईरहस्सिया)

जो मन्त्र, होम, आरण्यग आदि के रहस्य को जानते हैं और लोगो के लिए उनका प्रयोग करते है, उनके लिए सव वेद रहस्य होते है, इसलिए वे ब्राह्मण के सिवाय किसी दूसरे को उन्हे नही पढाते।[2]

४८. जो बहुसंयमी नहीं हैं (णो बहुसंजया)

वे अन्यतीर्थिक वहुत सयत नही होते। इसका तात्पर्य है कि वे पचेन्द्रिय प्राणियो का वध नही करते, परन्तु वनस्पति, उदक और अग्निकायिक जीवो का वध करते हैं, इसलिए वे बहुत प्राणियो के प्रति सयत नही होते।[3]

वृत्तिकार के अनुसार जो सर्व सावद्य अनुष्ठानो से निवृत्त नही होते, वे वहुसयमी नही कहे जाते। वे प्राय त्रस प्राणियो की हिंसा नही करते, परन्तु एकेन्द्रिय जीवो की घात करते है। वे तापस वहुसयत नही कहलाते।[4]

जो बहुप्रतिविरत नहीं हैं (णो बहुपडिविरया)

जो व्यक्ति प्राणातिपातविरमण आदि सभी व्रतो का पालन नही करते, वे वहुप्रतिविरत नही होते। जो अठारह पाप-स्थानो का वर्जन करते हैं वे वहुप्रतिविरत होते हैं। अप्रतिविरत व्यक्ति द्रव्यत कुछेक व्रतो को स्वीकार करते हैं, परन्तु भावत नही।[5]

४९. चार-पांच या छह-दस वर्षो तक (वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं)

प्रस्तुत सूत्र मे चार-पाच या छह-दस वर्षों का उल्लेख विशेप प्रयोजन से किया गया है।

चूर्णिकार के अनुसार यह मध्यमकाल का ग्रहण है। उन्होने प्रश्न उपस्थित किया है कि वीस, तीस या सौ का ग्रहण क्यो नही किया गया? इसके समाधान मे वे कहते है कि अन्यतीर्थिक प्राय भुक्तभोगी होकर, सतान पैदा कर, प्रौढ अवस्था मे प्रव्रजित होते हैं, सन्यासी वनते हैं, इसलिए अल्पकाल का निर्देश किया गया है। यह औत्सर्गिक प्रतिपादन है। जो वाल-प्रव्रजित हो उनके लिए अधिक काल का निर्देश भी किया जा सकता है।[6]

५०. पापपूर्ण किल्विषिक (आसुरिएसु किब्बिसिएसु)

देवो के चार निकाय हैं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। प्रस्तुत सूत्र मे 'आसुरिएसु किब्विसिएसु' से भवनपति और वानव्यन्तर—इन दो निकायो का निग्रह किया गया है।

इनके क्षेत्र मे सूर्य नही होता। वहा सघन अधकार व्याप्त रहता है। ये अधोलोक मे होते है।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४९ : गामे अतिका ग्रामाभ्यासे ग्रामस्य ग्रामयोर्वा ग्रामाणि वा अंतिए वसतीति ग्रामणियंतिया, ग्राममुपजीवन्तीत्यर्थ।

(ख) वृत्ति, पत्र ५५।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४९ रह त्यागे, किंचिद्रहस्यं एषां भवति यथा होम मंत्राश्च आरण्यगं वा इत्यादि, सर्वे एषां रहस्यं येनाब्राह्मणाय न वीयन्ते।

(ख) वृत्ति, पत्र ५५ क्वचित्—कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते क्वचिद्राहसिका।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३४९ : णो वहुएसु जीवेसु संजता, पंचिंदिए जीवे ण मारेति, एगिंदिय मूलकन्दादि उदयं अगणिकायं च वधेति।

४. वृत्ति, पत्र ५५ : न बहुसंयताः—न सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो निवृत्ताः, एतदुक्तं भवति—न बाहुल्येन त्रसेपु दण्डसमारम्भं विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविगानेन तापसादयो भवन्तीति।

५ वृत्ति, पत्र ५५।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५०।

(ख) वृत्ति, पत्र ५६।

७ चूर्णि, पृष्ठ ३५१ आसुरिएसु किब्विसिएसु जेसु सूरो णत्थि ट्ठाणेसु, ताणि पुण अधे लोए सूरो णत्थि तत्थ, भवणवइवाणमंतरा देवा।

चूर्णिकार के अनुसार किल्विष, कलुष, कल्मष और पाप—ये एकार्थक हैं ।[1]

५१. अन्धे (तमूयत्ताए)

चूर्णिकार ने 'तमोकाइत्ताए' पाठ मानकर, उसका अर्थ जन्मान्ध या बालान्ध किया है ।[2]

सूत्र १५ :

५२. राग-द्वेषमुक्त श्रमण या ब्राह्मण के लिए (दविएणं समणेणं माहणेणं)

चूर्णिकार ने द्रव्य का अर्थ—राग-द्वेष से विप्रमुक्त किया है ।[3] वृत्तिकार ने कर्मग्रन्थि को गलाने वाली क्रिया को द्रव्य अर्थात् संयम माना है । जो संयमयुक्त होता है वह द्रविक कहलाता है अथवा जिसमें मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता है, वह साधु द्रविक कहलाता है ।[4]

चूर्णिकार ने श्रमण और माहन को एकार्थक मानकर 'द्रविक' को उनका विशेषण माना है ।[5]

वृत्तिकार ने द्रविक' शब्द को और 'माहन' शब्द को श्रमण का विशेषण माना है ।[6] किन्तु 'गाथा' अध्ययन के अनुसार चूर्णिकार का मत संगत है ।[7]

सूत्र १६ :

५३. ईर्यापथिक (इरियावहिए)

ईर्यापथिक 'ईर्या' और 'पथ'—इन दो शब्दों से निष्पन्न है । ईर्या का शाब्दिक अर्थ है—गति और उसका तात्पर्य है—प्रवृत्ति । यहां 'पथ' शब्द का अर्थ है—हेतु । प्रस्तुत ईर्यापथिक क्रियास्थान में केवल प्रवृत्ति, योग या चंचलता ही कर्मबन्ध का हेतु बनती है । इसमें कषाय का योगदान नहीं होता । कषायवान् व्यक्ति के साम्परायिक क्रिया होती है । ईर्यापथिकी क्रिया केवल वीतराग के होती है ।[8]

तुलना—भगवती ३।१४८

देखें—ठाणं, पृष्ठ ११४, ११५ ।

५४. आत्महित के लिए संवृत (अत्तत्ताए संवुडस्स)

आत्मत्व का अर्थ है—आत्मभाव । विवेकवान् पुरुष आत्मा के लिए प्रवृत्त होता है । यहां आत्मा का अर्थ है—निर्मल आत्मा । मलिन आत्मा को अनात्मा या दुरात्मा कहा जाता है । जो आत्मा में लीन होता है, उसे 'संवृत अनगार' कहा गया है । चूर्णिकार ने इसका अर्थ इन्द्रिय और मनोजयी किया है ।[9]

वृत्तिकार के अनुसार मन, वचन और काया का संवर करने वाला 'संवृत अनगार' कहलाता है ।[10]

प्रस्तुत सूत्र में ईर्यापथिकी क्रिया के अधिकारी का जो वर्णन किया गया है वह वीतराग की अपेक्षा अप्रमाद की साधना करने वाले सराग संयती पर अधिक घटित होता है । संवृत अनगार के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है वे साधनाकालीन प्रतीत होते हैं । वीतरागता सिद्धि है, वह साधना नहीं है । 'आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स'—इत्यादि वाक्यों में 'आउत्त' पद वीतराग के लिए अपेक्षित नहीं होता । छद्मस्थ वीतराग की कालस्थिति बहुत स्वल्प—केवल अन्तर्मुहूर्त्त की होती है । केवली

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३५१ किव्विसं कलुसं कलमयं पापमित्यनर्थान्तरं ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३५१ तमोकाइयत्ताएत्ति जात्यन्धो भवति बालंधो वा ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३५१ दविओ रागदोसविप्पमुक्को ।

४ वृत्ति, पत्र ५६ कर्मग्रन्थिद्रावणाद्द्रव—संयम, स विद्यते यस्यासौ द्रविको मुक्तिगमनयोग्यतया वा द्रव्यभूत. ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३५१ ....समणेत्ति वा माहणेत्ति वा एगट्ठं ।

६. वृत्ति, पत्र ५६ ....तमेव विशिनष्टि........।

७. देखें—सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कंध सोलहवां अध्ययन ।

८. भगवती १०।१४ :........गोयमा ! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा अवोच्छिण्णा भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ ।

९ चूर्णि पृष्ठ ३५१ इन्द्रियानिन्द्रियसंवुडे अणगारः ।

१०. वृत्ति, पत्र ५७ संवृतस्य मनोवाक्कायैः ।

वीतराग के लिए इन विशेषणो की कोई सार्थकता नही है। इस स्थिति मे यह मत बनता है कि प्रस्तुत सूत्रगत वर्णन साधनाकालीन स्थिति का वर्णन है।

बौद्ध साहित्य मे 'कायानुपश्यना' का दूसरा प्रकार ईर्यापथ है। उससे इसकी तुलना की जा सकती है—

फिर भिक्षुओ! भिक्षु जाते हुए 'जाता हू' जानता है। बैठे हुए 'बैठा हू' जानता है। सोए हुए 'सोया हूं'—जानता है। जैसे-जैसे उसकी काया अवस्थित होती है, वैसे ही उसे जानता है। इसी प्रकार काया के भीतरी भाग मे कायानुपश्यी हो विहरता है, काया के बाहरी भाग मे कायानुपश्यी विहरता है। काया के भीतरी और बाहरी भागो मे कायानुपश्यी विहरता है। काया मे समुदय (=उत्पत्ति) धर्म देखता विहरता है, काया मे व्यय (=विनाश) धर्म देखता विहरता है, काया मे समुदय-व्ययधर्म देखता विहरता है।[1]

५५. गति में सम्यक् प्रवृत्त······काया से सम्यक् प्रवृत्त (इरियासमियस्स·······कायसमियस्स)

जैन परम्परा मे सामान्यत पाच समितिया मानी गई हैं। उत्तराध्ययन सूत्र मे आठ समितियो का उल्लेख है।[2] प्रस्तुत प्रसग मे भी आठ समितिया कही गई हैं। चूर्णिकार ने 'सम्यग्योग प्रवृत्ति समिति—इसके आधार पर मूल की पाच समितियो के साथ-साथ मन, वचन और काया की सम्यक् प्रवृत्ति को भी समिति कहा है।[3]

५६. ब्रह्मचर्य की गुप्तियो से युक्त (गुत्तबंभयारिस्स)

जो नौ गुप्तियो द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह गुप्त ब्रह्मचारी कहलाता है।[4]

५७. अप्रमादपूर्वक (आउत्त)

जो निरन्तर संयम मे उपयुक्त रहता है, अप्रमत्त रहता है और जो यह सोचता है कि मुझ से किञ्चित् मात्र भी विराधना न हो जाए, वह आयुक्त कहलाता है।[5]

५८. पलक झपकाते हुए भी (चक्खपम्हनिवायमवि)

पलके झपकना—यह सूक्ष्म क्रिया है। अप्रमत्त साधक उसके प्रति भी जागरूक रहता है। जब तक योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) है तब तक चचलता पूर्णतया नही मिटती, जीव निश्चल नही हो सकता। इसी का सवादी कथन भगवती मे प्राप्त है। गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—'भते! केवली जिस समय मे जिन आकाश प्रदेशो का अवगाहन करते हैं, क्या तत्पश्चात् वे उन्ही आकाश प्रदेशो का अवगाहन करने मे समर्थ हैं?' भगवान् ने कहा—'नही, क्योकि सयोगी होने के कारण उनका शरीर चल होता है, सर्वथा निश्चल नही होता।'[6]

केवली दो प्रकार के होते हैं—सयोगी केवली और अयोगी केवली। सयोगी केवली के शरीर का सूक्ष्म सचार होता रहता है। क्योकि उनमे भी कर्म शरीर विद्यमान रहता है। जैसे—उबलते हुए पानी मे निरन्तर कम्पन होते रहते है वैसे ही केवली मे भी शरीर का सूक्ष्म सचालन होता रहता है।[7]

५६. नाना मात्रा वाली (विमाया)

विमात्रा का अर्थ है—विषम मात्रा वाली। शरीर की कभी बैठने, गमन करने आदि रूप स्थूल क्रिया होती है और कभी उच्छ्वास, शरीर का सूक्ष्म सचालन रूप सूक्ष्म क्रिया होती है। इन दोनो मे काल, द्रव्य और उपचय की अपेक्षा कर्म का बन्ध तुल्य

---

१. दीघनिकाय पृष्ठ १६१।

२. उत्तरज्झयणाणि, २४।३ एयाओ अट्ठ समिईओ ·· ····।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३५१ : सम्यग्योगप्रवृत्ति समितिरितिकृत्वा अट्ठ समिइओ गहियातो, मणोगुत्तस्स वइकायगुत्तस्सत्ति तिण्णि गुत्तीओ गहिताओ एते पुण तिण्णिवि कायवायमणा य सम्यक् प्रवर्त्तमानस्य समितिओ भवति।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५१, ३५२ जस्स णवहि बंभचेर गुत्तीहिं गुत्तं बंभचेरं भवति सो गुत्तबंभचारी।
(ख) वृत्ति, पत्र ५७।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३५२ णिच्चमेव संजमे उवजुत्तो, मा मे सुहुमा विराहणा होज्जत्ति इत्यर्थः।

६. भगवती ५।११०, १११।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३५२ एवं सजोगीकेवलीणो सुहुमा गत्ताविसंचारा भवति, कम्मयसरीराणुगतो जीवो तत्तमिव च उखास्यमुदक परियत्तति तेण केवलिणो अत्थि सुहुमो गात्रसंचारो।

होता है ।[1]

काल की अपेक्षा से ईर्यापथिक कर्म वन्ध द्विसामयिक होता है—प्रथम समय मे कर्मवन्धता है, स्पृष्ट होता है, दूसरे समय मे वह उदय मे आता है—उसका सवेदन होता है और तीसरे समय मे वह निर्जीर्ण हो जाता है ।[2] द्रव्योपचय मे वह तुल्य होता है ।

चूर्णिकार ने इस प्रसग मे चतुर्विध वन्ध की चर्चा की है । वध के चार प्रकार हैं—प्रकृति वन्ध, स्थिति वन्ध, अनुभाग वन्ध और प्रदेश वन्ध । ईर्यापथिक कर्मवन्ध मे उनकी अवस्थिति इस प्रकार है—

प्रकृति वन्ध—वेदनीय कर्म ।

स्थिति वन्ध—द्वि सामयिक ।

अनुभाग वन्ध—शुभानुभाव । अनुत्तरोपपातिक देवों के सुख से भी अतिशायी सुख वाला ।

प्रदेश वन्ध—वहु और वादर प्रदेश वाला, अस्थिर वन्ध, अधिक व्यय ।

यह वर्ण से श्वेत, गंध मे सुगध, स्पर्श मे मृदु स्पर्श वाला है । इसका लेप मद होता है । जैसे सुरदरी भीत पर किया हुआ लेप ।[3]

६०. तत्पश्चात् (सेयकाले)

इसका अर्थ है—एष्यत् काल, भविष्यकाल । ईर्यापथिक क्रिया का एष्यत् काल है—तीसरा समय । पहले दो समय कर्म के होते हैं । पहले समय मे कर्म वन्धता है, दूसरे समय मे संवेदित होता है और तीसरे समय मे वह निर्जीर्ण हो जाता है । निर्जरा के वाद उसका वेदन नही होता । इस अपेक्षा से वह अकर्म है तथा अतीत की अपेक्षा से वह कर्म होता है । जैसे किसी घट मे गुड भरा था । उसे खाली कर उसमे कुछ और डाल दिया फिर भी वह गुड का घटा ही कहलाएगा ।

कर्म शरीर दो प्रकार का होता है—वद्ध और मुक्त । वद्ध की अपेक्षा निर्जीर्ण कर्म को 'अकर्म' और मुक्त की अपेक्षा उसे मुक्त कर्म कहा जा सकता है ।[4]

तुलना—भगवती ३।१४८ ।

६१. ईर्यापथ के निमित्त से होने वाला बंध होता है (तप्पत्तियं आहिज्जइ)

'तप्पत्तिय' का अर्थ है ईर्याप्रत्ययिक (योग या प्रवृत्ति हेतुक) कर्म । आदर्शों मे यहा 'तप्पत्तिय सावज्ज' पाठ मिलता है, किन्तु चूर्णि और टीका मे वह व्याख्यात नही है । ऐसा प्रतीत होता है कि लिपि प्रमाद से प्रवाहपाती रूप से यह पाठ लिखा गया है । चूर्णिकार ने स्पष्ट लिखा है कि पूर्ववर्ती वारह क्रियास्थान सावद्य होते हैं । सराग-सयमी, भले फिर वह प्रव्रजित हो या गृहस्थ, के कषाय-प्रत्ययिक सावद्य कर्म का वध होता है ।[5] ईर्याप्रत्ययिक कर्म पुण्य कर्म का वध है । यह केवल वीतराग के ही होता है ।

चूर्णि के अनुसार सापरायिक वन्ध प्रमाद, कषाय और योग प्रत्ययिक होता है । जहा प्रमाद होता है, वहा कषाय और योग नियमत होते हैं । प्रमाद-प्रत्ययिक वन्ध अतिदीर्घकालीन स्थिति वाला नही होता । कषाय प्रत्ययिक वन्ध जघन्यत अन्तर्मुहूर्त्त की अथवा आठ वर्ष की स्थिति वाला होता है ।[6]

वृत्तिकार ने सापरायिक क्रिया के पाच प्रत्ययो का उल्लेख किया है । उनमे मिथ्यात्व और अविरति आश्रव को भी सापरायिक

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३५२ ।

२. भगवती, ३।१४८ ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३५२ ।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३५३ : सेयकालो त्ति एस्सो कालो, सेत्ति णिद्देसे ईरियावहियाए कम्मे अकालो तस्स दोण्ह समयाण परेणं अकम्मं वावि भवति, च शब्दोऽधिकवचनाविपु. तथा वेदन पडुच्च अकर्म, तीतभावपण्णवणं पडुच्च कम्मं गुडघटदृष्टान्तो, दुविधा कम्मशरीरा वद्धेल्ला य मुक्केल्ला य मुविकल्लए पडुच्च कम्म ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३५३ : हेट्ठिल्ला पुण सावज्जा चेव वारस किरियाट्ठाणाइं भवति, एवं पव्वइओ वा उप्पव्वइओ वा, एवं सरागसंयतस्स सावज्जो चेव ।

६ वही, ३५३ तेसिं प्रमाद कषाययोगनिमित्तो संपराइयवंधो होइ, जत्थ प्रमादत तत्थ कषाया य जोगा य णियमा, जोगे पुण पुव्विल्ला भजिता, पमादपच्चइयो णातिदीहकालट्ठितीओ होति, कषायपच्चइया वा ऊणतरो अंतोमुहुत्तिओ वा अट्ठसवच्छरिओ ।

कर्म-बंध का कारण बतलाया गया है।[1]

अविरति-प्रत्ययिक सापरायिक कर्म-बन्ध का उल्लेख भगवती मे भी मिलता है।[2]

सूत्र १८ :

६२. इसके पश्चात् (अदुत्तरं)

जो तेरह क्रियास्थानो मे नही कहा जा सका, उसे इस उत्तर—अगले सूत्र मे कहा जा रहा है। जैसे आचाराग के प्रथम श्रुत-स्कंध मे जो नही कहा गया, वह उत्तरवर्ती चूलिकाओ (दूसरे श्रुतस्कध) मे कहा गया है। उसी प्रकार चिकित्सा-शास्त्र मे मूल सहिताओ के श्लोक-स्थान, निदान, शरीर, चिकित्सित, कल्प आदि मे जो तथ्य नही बतलाए गए वे तथ्य उसके उत्तर भाग मे बतलाए गए है। उसी प्रकार रामायण मे भी उत्तर रामायण है।

चूर्णिकार ने 'छन्दोपस्थित' तथा वृत्तिकार ने 'छन्दश्चिति' के उत्तरखड का भी उल्लेख किया है।[3]

६३. विचय (विजय)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ मार्गणा किया है।[4] वृत्तिकार ने इसके दो सस्कृत पर्याय दिए हैं—विचय और विजय। विचय का अर्थ है—मार्गणा—अन्वेषणा और विजय का है जीत।[5] यहा विषय अर्थ ही प्रस्तुत है।

६४. विभाग (विभंग)

चूर्णिकार ने विविध या विशिष्ट विभाग को विभग माना है।[6] वृत्तिकार ने विभग का अर्थ ज्ञान-विशेष किया है।[7] इसका तात्पर्य है—विभागात्मक या विश्लेषणात्मक ज्ञान।

६५. प्रज्ञान (पण्णा)

प्रज्ञा का अर्थ है—बुद्धि या अन्तर्दृष्टि।

प्रज्ञा दो प्रकार की होती है—उत्तम और अधम।[8] वृत्तिकार के अनुसार वह विचित्र प्रकार की—अल्प, अल्पतर और अल्पतम होती है।[9] गणित की भाषा मे इसे षट्स्थानपतित कहा गया है, जैसे—

हीन	अधिक
१. अनन्तभागहीन	१ अनन्तभागअधिक
२ असख्यातभागहीन	२ असख्यातभागअधिक

---

१. वृत्ति, पत्र ५८ मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्त सांपरायिको बन्धो भवति।

२. भगवती ७।५ : गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवइ, आयाहिगरण-वित्तियं च णं तस्स नो रियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५३ : तेभ्य क्रियास्थामेभ्य अथ उत्तरं अदुत्तरं, यथा वैद्यसंहितानां उत्तरं ज मूलसंहितासु श्लोकस्याननिदान-शारीरचिकित्साकल्पेषु च यत् यथोपदिष्ट च, यथोपदिष्टं सदुत्तरोऽभिधीयते रामायणछन्दोपट्ठित-तमादीणंपि उत्तरं अत्थि।

(ख) वृत्ति, पत्र ५६ अस्मात् त्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यदत्र न प्रतिपादितं तदधुनोत्तरभूतेनानेन सूत्रसंदर्भेण प्रति-पाद्यते, यथाऽऽचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे यन्नाभिहितं तदुत्तरभूताभिश्चूलिकाभिः प्रतिपाद्यते; तथा चिकित्साशास्त्रे मूलसंहितायां श्लोकस्थान-निदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकाया यन्नाभिहितं तदुत्तरेऽभिधीयते एवमन्यत्रापि छदश्चित्यादावुत्तरसद्भावोऽवगन्तव्य, तदिहापि पूर्वेण यन्नाभिहितं तदनेनोत्तरग्रन्थेन प्रतिपाद्यत इति।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३५३ विजयो नाम मार्गणा।

५. वृत्ति, पत्र ५६।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३५४ विविधो विशिष्टो वा विभागो विभङ्ग।

७. वृत्ति, पत्र ५६ विभङ्ग ....ज्ञानविशेषम्।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३५४ : प्रज्ञायते अनयेति प्रज्ञा सा य उत्तमाधमा पण्णा, लोके दृष्टत्वात्।

९. वृत्ति. पत्र ५६ : विचित्रक्षयोपशमात् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा, सा चित्रा येषां नानाप्रज्ञा तया चाल्पाल्पतराल्पतमया।

३. संख्यातभागहीन
४. संख्यातगुणहीन
५. असंख्यातगुणहीन
६ अनन्तगुणहीन

३. संख्यातभागअधिक
४. संख्यातगुणअधिक
५. असंख्यातगुणअधिक
६ अनन्तगुणअधिक।

६६. छन्द (छंदाणं)

छंद के दो अर्थ हैं—अभिलाषा, प्रकृति। कोई व्यक्ति उच्च छंद वाला और कोई नीच छंद वाला होता है—कोई उत्तम प्रकृति वाला और कोई अधम प्रकृति वाला होता है।

चूर्णिकार ने इसके चार भंग प्रस्तुत किए हैं—[1]

१. उच्च और उच्च छंद वाला
२. उच्च और नीच छंद वाला
३. नीच और उच्च छंद वाला
४ नीच और नीच छंद वाला

६७. नाना आरंभ (णाणारंभाणं)

यहां आरंभ का अर्थ है—व्यवसाय, प्रवृत्ति। मनुष्य के व्यवसाय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्य पशुपालन, कृषि, वाणिज्य, दुकानदारी, शिल्प, कर्मकर नौकरी आदि-आदि करते हैं।[2]

६८. पापश्रुत अध्ययन (पावसुयज्झयणं)

जो शास्त्र पाप का उपादान होता है उसे 'पापश्रुत' कहा जाता है।[3] समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि में उनतीस प्रकार के 'पापश्रुत प्रसंग' निर्दिष्ट हैं। इन उनतीस प्रकारों की स्वीकृति में सब एक मत नहीं हैं। उसकी दो परम्पराएं प्राप्त होती हैं। एक परम्परा समवायांग की है और दूसरी परम्परा आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि तथा उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति की है। उनमें नाम भेद हैं।[4]

प्रस्तुत प्रसंग में 'पापश्रुत अध्ययन' शब्द प्रयुक्त है, 'प्रसंग' शब्द नहीं है। चूर्णिकार ने अध्ययन के स्थान पर 'प्रसंग' शब्द का प्रयोग किया है।[5] पापश्रुत के अन्तर्गत सूत्रकार ने चौसठ प्रकार के शास्त्रों या ग्रंथों का निर्देश किया है।

इनमें निमित्त शास्त्र के आठ अंग—भौम, उत्पात, आदि तीनों परम्पराओं में समान हैं[6], शेष इनमें निर्दिष्ट नहीं हैं। इन सबकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. भौम—तूफान, भूकम्प आदि का ज्ञान कराने वाला निमित्त शास्त्र।[7]

२. उत्पात—उल्कापात आदि प्राकृतिक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त शास्त्र।

सहज रुधिरवृष्टि, पांशुवृष्टि, केसवृष्टि, मांसवृष्टि आदि होने पर शुभ-अशुभ बताने वाला शास्त्र।[8]

३. स्वप्न—गज, वृषभ, सिंह आदि पशुओं तथा अन्यान्य दृश्यों के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला निमित्त शास्त्र।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३५४।
२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५४ : कृषिपाशुपाल्यपाणिकविपणिशिल्पकर्म्मसेवादिषु णाणारंभो।
(ख) वृत्ति, पत्र ५६।
३. आवश्यक निर्युक्ति, अवचूर्णि भाग २, पृष्ठ १३६ : पापोपादानं श्रुतं पापश्रुतम्।
४. देखें—समवायांग, समवाय २९ का पहला टिप्पण पृ० १५४, १५५।
५ चूर्णि, पृष्ठ ३५४ : इणं णाणाविधं पावसुत्तपसंगं वण्णइस्सामि।
६. आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि तथा उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति में स्वप्न के स्थान पर 'दिव्य' है।
७ वृत्ति, पत्र ५६ : भूमौ भवं भौमं—निर्घात्भूकम्पादिकम्। आप्टे की डिक्शनरी में निर्घात का अर्थ तूफान किया है। इसका एक अर्थ वायु के संघट्टन से होने वाला प्रचण्ड घोष भी है—

वायुना निहतो वायुर्गगनाच्च पतत्यधः।
प्रचण्डघोरनिर्घोषो, निर्घात इति कथ्यते॥

८. (क) आवश्यक अवचूर्णि भाग २ पृ० १३६ उत्पातं सहजरुधिरवृष्ट्यादिविषयं।
(ख) वृत्ति, पत्र ५६।

४. अन्तरिक्ष—ग्रह, नक्षत्र आदि की गति के आधार पर मनुष्य जीवन प्रभावित होता है। उनकी गति और शुभ अशुभ का का ज्ञान कराने वाला निमित्त शास्त्र। इसमे पूरे ज्योतिष शास्त्र का समावेश हो जाता है।

५. अग—शरीर के विभिन्न अग कभी-कभी प्रकपित होते है। आख, भुजा आदि के फडकने से शुभ-अशुभ बताया जाता है। उसका पूरा ज्ञान कराने वाला निमित्त शास्त्र अगविद्या कहलाता है। इस विषय से सबधित 'अगविज्जा' नामक एक ग्रथ आज भी उपलब्ध है।

६ स्वर—प्रत्येक व्यक्ति का स्वर (आवाज) भिन्न-भिन्न होता है। कटु, गभीर, मधुर आदि स्वरो के आधार पर शुभ-अशुभ बताने वाला निमित्त शास्त्र।

७. लक्षण—शरीर मे रेखाओ के आधार पर अनेक प्रकार के चिन्ह निर्मित हो जाते है, जैसे—यव, मत्स्य, पद्म, शख, चक्र, स्वस्तिक आदि-आदि। इनके आधार पर शुभ-अशुभ बताया जाता है। यह भी निमित्त शास्त्र का एक भेद है।

८. व्यजन—कुछ पुरुषो के शरीर के विभिन्न अवयवो पर तिल, मषा आदि होते है। उनके आधार पर सुख-दुख की स्थिति बताई जाती है। यह भी निमित्त शास्त्र का ही भेद है।

इसी प्रकार स्त्री, पुरुष के श्रेष्ठ, अश्रेष्ठ आदि की व्याख्या करने वाले स्वतत्र शास्त्र होते है। उनमे स्त्री-पुरुषो के सहनन, सस्थान, अवयवो का मान-उनमान, सौंदर्य-असौदर्य के विषय मे पूरे तथ्य सप्रमाण दिए जाते है। उनके आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम—सभी स्त्री-पुरुषो के लक्षणो को जाना जा सकता है।

हाथी, घोडे, बैल तथा अनेक पक्षियो के विषय मे पूरा विवरण देने वाले ग्रथ होते है। वे उत्पत्ति से लेकर मरण तक की पूरी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उनके पराक्रम और गति का भी निर्देश करते हैं।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते है। रत्न का अर्थ है अपनी जाति मे श्रेष्ठ। अश्वरत्न का अर्थ है—अश्वजाति मे श्रेष्ठ अश्व। प्रस्तुत प्रसग मे केवल सात रत्नो—चक्र, छत्र, चर्म, दड, असि, मणि, काकिणी की व्याख्या करने वाले सात शास्त्रो का उल्लेख हुआ है। बौद्ध ग्रथो मे चक्रवर्ती के सात रत्न माने है—चक्र, हस्ती, अश्व, मणी, स्त्री, गृहपति और परिनायक। इनका सुन्दर वर्णन मज्झिमनिकाय मे प्राप्त है।[1]

प्रस्तुत प्रसग मे छवीस प्रकार की विद्याओ का नामोल्लेख प्राप्त है। विद्या का अर्थ है—मत्र विशेष के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली शक्ति।[2] उन विद्याओ का सामान्य विवरण इस प्रकार है —

१-२. सुभगाकर, दुभगाकर—सुभाग्य को दुर्भाग्य के रूप मे और दुर्भाग्य को सुभाग्य के रूप मे परिवर्तित करने वाली विद्या।[3]

३. गर्भाकार—कृत्रिम गर्भाधान की विद्या। विद्यावल से सतानोत्पत्ति करना।[4]

४ मोहनकर—मोह के दो अर्थ है—व्यामोह और कामवासना का उदय। इसका फलित है—व्यक्ति को मत्रशक्ति से सम्मोहित अथवा वाजीकरण करने वाली विद्या।

५ आथर्वणी—अथर्ववेद से सवधी मत्र विद्या।

६ पाकशासनी—पाक नामक दैत्य पर अनुशासन करने के कारण इन्द्र का एक नाम 'पाकशासन' है। इन्द्र से सम्बन्धित विद्या—इन्द्रजाल इसका अर्थ है।

७ द्रव्यहोम—कणेर के फूलो या मधु, घृत, चावल आदि द्रव्यो के द्वारा हवन पूर्वक सपादित की जाने वाली उच्चाटन आदि की विद्या।

८ वैताली—यह वेताल को सिद्ध करने पर होने वाली विद्या है। इसके अक्षर निश्चित होते हैं। उनमे परिवर्तन नही होता। कुछेक जाप करने पर यह सिद्ध हो जाती है। इसके द्वारा दड उठकर उसी दिशा और काल मे चला जाता हे, जैसा इष्ट है।

९ अर्द्धवैताली—चूर्णि मे इसका अर्थ है—पहले कोई समस्या दी जाती है, फिर उसका उत्तर पूछा जाता हे। उस विद्या का अधिष्ठाता शुभाशुभ वताता है।[5]

---

१. मज्झिमनिकाय III नालन्दा संस्करण, २९।२।१२-१४।

२. वृत्ति पत्र ९० मंत्रविशेषरूपा विद्याः।

३ वृत्ति पत्र ९० दुर्भगमपि सुभगमाकरोति सुभगाकरा, तथा सुभगमपि दुर्भगमाकरोति दुर्भगाकराम्।

४ वृत्ति, पत्र ९० गर्भकरां—गर्भाधानविधायिनीम्।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३५५ : अद्धवेताली य वेड्डुंतो जाति, पच्छा पुच्छिज्जति, सुभासुभं तोलति।

वृत्तिकार ने इसे वैताली के उत्थापित दड का उपशमन करने वाली विद्या माना है।[1]

१०. अवस्वापिनी—इस विद्या के प्रयोग से जागृत व्यक्ति को सुला दिया जाता है।

११ तालोद्घाटिनी—कपाट या तालो को उद्घाटित करने वाली विद्या।

चोरो का सरदार प्रभव अपने पाच सौ चारो के साथ जवू कुमार के घर चोरी करने आया। उस दिन जम्वू कुमार का आठ कन्याओ के साथ पाणिग्रहण हो चुका था। वहुमूल्य दहेज घर के आगण मे विखरा पडा था। चोर ने आते ही पहले 'अवस्वापिनी' विद्या का प्रयोग कर सवको निद्राधीन कर डाला और फिर तालोद्घाटिनी विद्या से सभी कपाट और ताले खोल दिए।

१२ श्वपाकी—मातगी विद्या। महर्पि कश्यप के अनेक पुत्र थे। मतग ऋपि उनमे सवसे छोटे थे। मतग ने मानसिक व्याधियो की चिकित्सा के लिए एक वैज्ञानिक क्रम आविष्कृत किया। वह 'मातगी विद्या' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (देखें—काश्यप-सहिता मे रेवती कल्पाध्याय-प्राणाचार्य पृष्ठ ४४७ टि० न० ४ मे उद्धृत)। इस विद्या का प्रयोग ग्रहावेश-निवारण के लिए होता था।

१३ शावरी—शवर जाति की या शवर भापा मे निवद्ध विद्या।

१४ द्राविडी-दामिली—तमिल भापा मे निवद्ध विद्या। अथवा तमिल, तेलगु और कन्नड—ये तीन द्राविडी भापाए हैं। उनमें निवद्ध विद्या द्राविडी है।

१५ कालिगी—कलिग देश की भापा मे निवद्ध विद्या।

१६ गौरी—मातगी विद्या।

१७ गाधारी—मातगी विद्या।

गौरी गांधारी

निशीथ चूर्णिकार के अनुसार ये दोनो मातग-विद्याए हैं। इन विद्याओ की साधना लोग-गर्हित मानी जाती थी। ये इतनी कुत्सित होती थी कि दूसरो को वताने मे लज्जा का अनुभव होता था। इच्छित काम पूरा करने मे ये समर्थ होती थी, किन्तु कार्य की संपन्नता के वाद इनसे छुटकारा पाना सहज नही होता था।[2]

कच्छ के पुत्र नमि और महाकच्छ के पुत्र विनमि ने भगवान् ऋपभ से प्रार्थना की—भंते! आपने प्रव्रजित होने से पूर्व सवको सविभाग दिया है, सवको भोग उपलव्ध कराए हैं। हमको आपने कुछ भी नही दिया। आप हमें भी कुछ दें।

नागकुमार देवो का इन्द्र धरण वहां आया हुआ था। उसने उस समय नमि-विनमि की प्रार्थना सुनी। धरणेन्द्र ने कहा—भगवान् ने सव कुछ त्याग दिया है। ये पूर्ण अकिंचन हो गए हैं। वे अव कुछ भी नही देंगे। मैं तुम्हारी भक्ति के फल स्वरूप तुम्हे गंधर्वपन्नगो की अडचालीस हजार विद्याए दे रहा हूं। इनके साथ चार महाविद्याएं भी हैं—गौरी, गान्धारी रोहिणी और प्रज्ञप्ति।[3]

१८ अवपतनी—इस विद्या से अभिमन्त्रित होकर व्यक्ति स्वय नीचे आ जाता है या दूसरो को नीचे उतार देता है।

१९ उत्पतनी—इस विद्या के द्वारा व्यक्ति स्वय ऊपर उठ जाता है और दूसरो को ऊपर उठा देता है। एक मातग अपनी स्त्री का दोहद पूर्ण करने के लिए एक वगीचे मे गया। वहा आम्रवृक्ष थे। उसे वाहर खडे-खडे आम लेने थे, क्योकि अन्दर वह जा नही सकता था। उसने पहले 'अवपतनी' विद्या का प्रयोग कर आम के वृक्ष की शाखाओ को झुका दिया और आम लेने के पश्चात् पुन उन शाखाओ को 'उत्पतनी' विद्या से ऊपर कर दिया।

---

१. वृत्ति, पत्र ९० . तयाऽर्घ्वंतालो तमेवोपशमयति।

२. निशीथ भाष्य गाथा ५१५८ : गोरी-गंधारीया, दुहविण्णप्पा य दुहमोया।
चूर्णि—गोरि-गंधारीओ मातंगविज्जाओ साहणकाले लोग-गरहियत्तणतो दुहविण्णवणाओ, जहिट्ठकामसंपायत्तणओ य दुहमोया।

३. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृष्ठ १६२ : दुवे नमिविणमिणो कच्छमहाकच्छाणं पुत्ता उवट्ठिता, भगवं विन्नवेन्ति—भगवं! अम्हं तुब्मेहि संविभागो ण केणवि वत्युणा कत्तो, स पट्ठे बद्धकवया ओलग्गंति विन्नवेंति य, तातो! तुब्मेहि सव्वेसि भोगा दिन्ना अम्हेऽवि देह, एव तिसज्झं ओलग्गंति, एवं कालो वच्चति, अन्नया धरणो णागकुमारिंदो भगवं वंदओ आगओ, इमेहिं य विन्नवितं, सो ते तह जातमाणे भणति. भो सुणह भगवं चत्तसंगो गतरोसतो सो ससरीरेऽवि णिम्ममत्तो अकिंचणो परमजोगी णिरुद्धासवो कमलपलासणिरुवलेवचित्तो, मा एयं जायह, अहं तु भगवतो भत्तीए मा तुब्मं सामिस्स सेवा अफला भवतुत्तिकाउं पढितसिद्धाइं गंधव्वपन्नगाण अडयालीसं विज्जासहस्साइं देमि, ताण इमाओ चत्तारि महाविज्जाओ, तजहा—गोरी गधारी रोहिणी पन्नत्ती।

२० जृम्भणी—इसके प्रयोग से सभी उपस्थित व्यक्ति उबासी लेने लग जाते है।

२१. स्तम्भनी—इस विद्या के प्रयोग से व्यक्ति स्तभित हो जाता है, हिल-डुल नही सकता। जैसे—वइराडए (वैराट ?) मे अर्जुन ने कौरवो को स्तभित किया था।[1]

२२ श्लेपणी—इस विद्या से आदमी जिस आसन पर बैठा है, उस आसन से उसकी जघा और ऊरू को चिपका दिया जाता है।

२३ आमयकरणी—कुछेक विद्याए ऐसी होती हैं—जिनके प्रयोग से सामनेवाला व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाता है या समूचा गाव या राष्ट्र रोग का शिकार हो जाता है।

२४ विशल्यकरणी—जो शल्य अग मे प्रविष्ट हो जाता है, वह रक्त का अवरोध पैदा करता है और उससे अनेक रोग पैदा हो जाते है। उस शल्य को विद्या के जाप से बाहर निकाला जा सकता है, नष्ट किया जा सकता है और औषधि के द्वारा भी उसे निकाला जा सकता है।[2]

एक कुलीन व्यक्ति था। वह मेधावी सुशील और नम्र था। अचानक उसमे पागलपन आ गया। वह अपने सामनेवाले के मुक्का मारने लगा। सामने खडे व्यक्ति को, फिर चाहे कोई भी क्यो न हो, वह उसे मुक्का मार देता। घर वाले, परिवार वाले, हैरान हो गए। अनेक परीक्षणो के बावजूद भी उसके पागलपन का कोई कारण स्पष्ट नही हुआ। अन्त मे एक डाक्टर ने उससे पूछताछ करते-करते कारण को खोज निकाला। पागलपन से पूर्व वह एक एक्सीडेंट का शिकार हुआ था। उसके अग्रमस्तिष्क पर मोटर के काच का घाव लगा था। डाक्टर ने आपरेशन किया और एक रक्तवाहिनी नली मे से अत्यन्त सूक्ष्म काच के टुकड़े को निकाला। वह पूर्ण स्वस्थ हो गया, पागलपन मिट गया।

२५ प्रकामणी—भूत, पिशाच, डाकिन, आदि को दूर करने वाली विद्या।

२६ अन्तर्धानी—अदृश्य होने की विद्या या अदृश्य होने की गुटिका, अजन आदि द्रव्य। ये गुटिकाए दो प्रकार की होती है। एक प्रकार की गुटिका को मुह मे रखने से आदमी धीरे-धीरे कुछ ही क्षणो मे अदृश्य हो जाता है। पर उसकी परछाई दीखती रहती है। दूसरे प्रकार की गुटिका से परछाई नही दीखती।

वृत्तिकार ने शावरी, द्राविडी और कालिंगी को उस-उस देश मे प्रचलित या उत्पन्न अथवा उस-उस भाषा मे निबद्ध विचित्र फल देने वाली विद्या माना है।[3]

चूर्णिकार ने यहा 'कम्पनी' विद्या का भी उल्लेख किया है। इस विद्या से घर, वृक्ष या व्यक्ति को कपित किया जा सकता है।[4]

दीघनिकाय मे महाशील के प्रसग मे अनेक प्रकार की विद्याओ और क्रियाओ का उल्लेख कर उनसे प्रतिविरत रहने को महाशील माना है। उनमे प्रतिपादित विद्याओ और क्रियाओ की सख्या बहुत हे। सूत्रकृताग के पापश्रुत अध्ययन मे उल्लिखित प्राय सभी शास्त्र और विद्याए वहा प्राप्त है। उनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।[5]

सूत्र १९ :

६९. (सूत्र १९)

व्यक्ति अपने लिए, परिवार या ज्ञातिजनो के लिए तथा अन्य अन्य प्रयोजनो से असद् अनुष्ठान करता है। सूत्रकार पहले चौदह प्रकार के अनुष्ठानो की सूचना देते हैं और फिर वे उसको विस्तार से समझाने का प्रयत्न करते हैं। सूत्र-रचना मे यह भी एक पद्धति रही है कि ग्रथकर्त्ता पहले अपनी बात को सूत्र रूप मे प्रस्तुत करते है और फिर स्वय ही उसकी व्याख्या करते है। चूर्णिकार ने

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३५५ : सा थमणी जहा वइराडए अज्जुणेण कोरवा थभिता।

२ भरतबाहुबली महाकाव्यं १६।७९ ये पातिता रिपुभिरायुधघोरपातैः,
सर्वेऽपि ते भरतराजपुरोधसा द्राक्।
सज्जीकृता नृपतिबाहुबलेर्बलेऽपि,
तद्वच्च चन्द्रयशसा युधि रत्नमन्त्रैः॥

३. वृत्ति, पत्र ६० नवरं शाम्बरीद्राविडीकालिङ्गचस्तद्देशोद्भवास्तद्-भाषानिबद्धा वा चित्रफला।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३५५ जीते कंपति जाए कंपावेति पासादं रुक्खं पुरिसं वा।

५. दीघनिकाय (ना० सं) २।५।५६-६३।

इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है[1]—

१ जैसे वैतालिक (दसवैकालिक) मे विनयसमाधि के चार स्थानो की सूचना के पश्चात् उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है।

२. ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन (उत्क्षिप्तज्ञात) मे पहले सघाटक की सूचना देकर शेष उन्नीस अध्ययनो का कथन करना।

३. दृष्टिवाद मे सूत्रो का कथन कर फिर सारे दृष्टिवाद को विस्तार से कहा गया है।

इसी प्रकार यहा भी सूत्रों की सूचना के पश्चात् उनका विस्तार किया गया है। चूर्णिकार ने विवरण के अन्त मे लिखा है—'उक्ता वृत्ति.।'[2]

७०. अनुगामी का भाव (अणुगामियभावं)

कोई व्यक्ति जा रहा है। दूसरे ने देखा कि उसके पास धन है। उसके मन मे धन को लूटने की भावना जागती है। वह उस पथिक का अनुगामी बन जाता है। वह उसका अनुनय, विनय करता है। वह पथिक भी सोचता है कि मैं अकेला हूं, इसके साथ चलूगा तो अच्छा रहेगा। अब अवसर पाकर वह व्यक्ति एकान्त या अधेरे स्थान मे उस पथिक को डडे आदि से मारता है, तलवार आदि से हाथ-पैरो को काट देता है, मुट्ठी आदि का प्रहार करता है, केश आदि खीचकर उसकी कदर्थना करता है, चाबुक आदि से उसे पीडित करता है अथवा उसके प्राण ले लेता है। वह गला काटने वाला व्यक्ति मोह से मूढ होता है। वह इसी कर्म से अपनी आजीविका चलाता है। वह कृषि आदि कुछ भी व्यवसाय नही करता।[3]

७१. कुत्तो से शिकार करने का भाव (सोवणियंतियभावं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने शौवनिक और अन्तिक—इन दो शब्दो का अर्थ इस प्रकार किया है—जो कुत्तो आदि से शिकार करते हैं, आजीविका चलाते हैं वे शौवनिक कहे जाते हैं। वे गाव के अन्त मे रहते हैं। वे पर्यन्तवासी होते हैं। ग्राम-रचना की व्यवस्था मे उनका स्थान श्वपाकों से भी अन्त मे होता है। ये मनुष्य आदि का वध करते हैं।[4]

चूर्णिकार के अनुसार गोल्लदेश मे पुरुष का वध करनेवाला ब्राह्मण-घातक की तरह निन्दनीय माना जाता है। उसे घर से निकाल दिया जाता है।[5]

वृत्तिकार के अनुसार इसका समस्त अर्थ है—जिसके पास क्रूर कुत्तो का परिग्रह है और जो प्रत्यन्त निवासी होता है या जो प्रत्यन्त निवासी कुत्तो से अपना कार्य चलाता है।[6]

सूत्र २० :

७२. (सूत्र २०)

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रस्तुत सूत्र को पूर्ववर्ती सूत्र से अलग क्यो किया गया ? चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार पूर्ववर्ती सूत्र मे आवर्णित क्रूर क्रियाए आजीविका के निमित्त प्रच्छन्नरूप से की जाती हैं और प्रस्तुत सूत्र मे व्यक्ति नि शक रूप से

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३५६ : सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा एवं एताणि संखेवेण सुत्ताइं वुत्ताइं, एतेसिं इदाणिं सुत्तेण चेव वित्ती भण्णति, जहा वेतालिए, चत्तारि विणयसमाधिट्ठाणा उच्चारेतु पच्छा एक्केक्कस्स विभासा, जहा वा उक्खित्तणाए सघाडेत्ति उच्चारेऊण पदाणि एक्केक्कस्स अज्झयणं वुच्चति, दिट्ठिवाते सुत्ताणि भाणिऊण पच्छा सव्वो चेव दिट्ठिवातो, तेसिं सुत्तपदाणं एतेण चेव वृत्ति भवति।

२. वही, पृष्ठ ३५७।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५४।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६२।

४. (क) चूर्णि, पृ० ३५७।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६३।

५ चूर्णि, पृष्ठ ३५७ : जो पुण पुरिसं मारेति गोल्लविसए ब्राह्मणघातक इव पुरिसघातओवि गरहिज्जति, घरतो य णिगच्छति।

६. वृत्ति, पत्र ६३ . शौवनिकश्चासावान्तिकश्च शौवानिकान्तिकः—क्रूरसारमेयपरिग्रह प्रत्यन्तनिवासी च प्रत्यन्तनिवासीभिर्वा श्वभिश्चरतीति।

सबके समक्ष हिंसा की घोषणा कर जीव-वध करता है। यही दोनो सूत्रो की भिन्नता का कारण है।[1]

दूसरी बात है कि पूर्ववर्ती सूत्र की क्रियाओ मे व्यक्ति बिना किसी अपराध ही सलग्न हो जाता है, किन्तु अगले सूत्रो की क्रियाओ मे व्यक्ति का सकारण कुपित होना बतलाया है।[2]

सूत्र २१ :

७३. निमित्त से (आदाणेणं……)

आदान का अर्थ है—शब्द आदि विषयो का ग्रहण अर्थात् निमित्त। शब्द का आदान—जैसे किसी के आक्रोशपूर्ण या निन्दा-पूर्ण वचनो को सुनकर कुपित हो जाना। रूप का आदान—जैसे किसी बीभत्स रूप को देखकर, अपशकुन का भाव लाकर उस पर कुपित हो जाना। गन्ध और रस का आदान आगे के सूत्रगत वर्णन मे है।[3]

७४. खलिहान देने से (खलदाणेणं)

इसका अर्थ है—खराब या वासी अन्न दान देना या थोडा दान देना।[4] चूर्णिकार ने इसका अर्थ भिक्षा न देना भी किया है।[5]

७५. सुरास्थाल के कारण (सुराथालएणं)

चूर्णिकार के अनुसार कई स्थानो पर मदिरा स्थालक से पी जाती है। जीमनवार या गोष्ठी मे बैठे व्यक्ति को मदिरा की वारी आने पर मदिरा न देने या बीच मे उठा देने से व्यक्ति कुपित हो जाता है। सभी लोग उसकी हसी करते हुए कहते है—यह 'वारविरुद्ध' है।[6]

वृत्तिकार ने स्थालक का अर्थ कोश आदि ऐसा बर्तन किया है जिसमे मदिरा अल्पमात्रा मे समाती है। ऐसे बर्तन मे मदिरा देने पर व्यक्ति कुपित हो जाता है।[7]

सूत्र २२ :

७६. अवयव (घूराओ)

यह देशी शब्द है। वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ है—जघा या खलक (शरीर का अवयव विशेष)।[8]

सूत्र २६ :

७७. विमर्श नहीं करता (नो वितिगिंछइ)

वितिगिच्छा का अर्थ है—विमर्श, मीमासा। कुछ लोग यह मीमासा नही करते कि मेरे इस कृत्य से परभव मे अनिष्ट फल

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५८।
(ख) वृत्ति, पत्र ६५ : अयं चात्र पूर्वस्माद्विशेष—पूर्वत्र वृत्ति प्रतिपादिता प्रच्छन्नं वा प्राणव्यपरोपणं कुर्यात्, इह तु कुतश्चिन्निमित्तात्साक्षाज्जनमध्ये प्राणिव्यापादनप्रतिज्ञां विधायोद्यच्छत इति दर्शयति।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५८ : एते पुण सव्वे अवरद्धकुद्धा वुत्ता, इमे अण्णे विरोधिता वुच्चंति।
(ख) वृत्ति, पत्र ६५।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५८ आदीयत इत्यादानं ग्रहणमित्यर्थ, तत्कस्य केषां वा आदानं? शब्दादीनां विषयाणां, सद्दे ताव आकुट्ठो निन्दितो केणइ पुट्ठो रुट्ठो भवति रूवेसु य वसणा दिट्ठु भिक्खुकावीवि रुस्सति, गंधरसे उदाहरणं सोत्रमेव।
(ख) वृत्ति पत्र ६५।

४ वृत्ति, पत्र ६५ खलस्य—कुथितादिविशिष्टस्य दानं खलस्य वाऽल्पधान्यादेर्दानं खलदानं।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३५८ खलदाणेणं खलभिक्खं तदूण दिण्णं ण दिण्णं वा।

६ चूर्णि, पृष्ठ ३५८ सुरथालगत्ति थालगेण सुरा पिज्जति, तत्थ पडिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो उट्ठवित्तो वा तेण विरुद्धो, जं ते लोग भणति—वारविरुद्धो।

७. वृत्ति, पत्र ६५ सुराया स्थालक—कोशकादि तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपित.।

८. वृत्ति, पत्र ६६ : घूरीया (रा) ओ त्ति—जङ्घाः, खलका वा।

मिलेगा, मेरा यह कृत्य पापानुबंधी है। कुछ व्यक्ति यह विमर्श नही करते कि ऐसी प्रवृत्ति करना इहभव और परभव के लिए दोषप्रद है या नही।[1]

सूत्र ३१ :

७८. उदार (उरालाइं)

उराल का अर्थ है—उत्कृष्ट। जो कामभोग अत्यन्त उत्कृष्ट, मधु, मद्य और मास आदि समग्र सामग्री से युक्त होते हैं, वे उदार कहलाते हैं।[2]

७९. पान (पाणं)

चूर्णिकार ने पान से 'पानी और मद्य'—दोनो का ग्रहण किया है।[3]

८०. सायं-प्रातः (सपुव्वावरं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पूर्वाह्न और अपराह्न मे किया जाने वाला कार्य किया है।[4]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[5]—

१. पूर्वाह्न के कर्त्तव्य और अपराह्न के कर्त्तव्य।

२. पहले किए जाने वाले कार्य और बाद मे किए जाने वाले कार्य, जैसे—पहले स्नान किया जाता है, फिर विलेपन और फिर भोजन आदि।

८१. कुलदेवता की पूजा कर (कयबलिकम्मे)

चूर्णिकार ने बलिकर्म का अर्थ—कुल देवता की पूजा—किया है।[6] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—देवतादि के निमित्त से किया जाने वाला बलिकर्म किया है।[7]

८२. कौतुक (कोउय)

कौतुक का अर्थ है कि दूसरो की नजर न लग जाए इसलिए व्यक्ति पर नमक आदि की अवतारणा कर उस नमक को जला देना।[8] ज्ञाता की वृत्ति मे काला तिलक करने को कौतुक माना है।[9]

८३. मंगल (मंगल)

स्वर्ण, चन्दन, दधि, अक्षत, दूर्वा, उड़द, काच आदि का स्पर्श करना, मस्तक पर लगाना मगल माना जाता है।[10]

ज्ञाता धर्मकथा की वृत्ति मे कौतुक और मगल को प्रायश्चित्त माना है। दु स्वप्न आदि व्याक्षेपो का विघातन करने के लिए ये अवश्य करणीय होते हैं, अत ये प्रायश्चित्त हैं।[11]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३१८।

२. वृत्ति, पत्र ६७ 'उदारान्'—अत्यन्तोद्भटान् समग्रसामग्रीकान् मधुमद्यमांसाद्युपेतान्।

३. चूर्णि, पृष्ठ : ३५९ : पाणं उदगं मज्जं च।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६०।

५ वृत्ति, पत्र ६७ . सर्वमेतद्यथाकालं सपूर्वापरं संपद्यते, सह पूर्वेणपूर्वाण्हकर्त्तव्येनापरेण च अपराण्हकर्तव्येन यदिवा पूर्वं यत् क्रियते स्नानादिकं तथा परं च यत् क्रियते विलेपनभोजनादिकं तेन सह वर्तत इति सपूर्वापरम्।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६० . कयबलिकम्मे—उच्चणियं करेंति कुलदेवतादीणं काउं।

७. वृत्ति, पत्र ६७ . तथा कृतं देवतादिनिमित्तं बलिकर्म येन स तथा।

८. चूर्णि पृष्ठ ३६० आसीव्वमयजोहारो, लोणादीणि च डहंति।

९. ज्ञाताधर्मकथा, वृत्ति पत्र २६।

१०. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३०४ : मंगलाणि सिद्धत्थयाहरयालियादीणि से करेंति, सुवण्णमादीणि च छिवंति।
(ख) वृत्ति, पत्र ६७।

११. ज्ञाताधर्मकथा, वृत्ति पत्र २६।

८४. प्रायश्चित्त (पायच्छित्तं)

बुरे स्वप्नो के प्रतिघात के लिए ब्राह्मण आदि को (वस्त्र आदि) देना प्रायश्चित्त कहलाता है।[1]

८५. मालायुक्त मुकुट (मालामउली)

चूर्णिकार ने मौली, मुकुट और किरीट के भिन्न-भिन्न अर्थ किए है। जो कमल के फूलो से वनाया जाता है वह मौली, जिसके तीन शिखर होते है वह मुकुट और जो चउरासी शिखर वाला होता है वह किरीट कहलाता है।[2]

८६. कमरपट्टा बांध (पडिबद्धसरीरे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—युवा किया है।[3] प्रसग मे इसका अर्थ कमरपट्ट वाधकर—होना चाहिए, क्योकि पहले-पीछे व्यक्ति के अलंकरण की ही वात आ रही है।

८७. भारी कर्म वाला (अइधूए)

जैसे वायु रजकणो को इधर-उधर ले जाती है, वैसे ही जिसके निमित्त से जीव ससार चक्रवाल मे घूमता रहता है वह धूत अर्थात् कर्म है। अनिधूत का अर्थ है—प्रचुर कर्म।[4] चूर्णिकार ने 'धूण' का अर्थ कार्मान्ति किया है।[5]

८८. अति स्वार्थी (अइ आयरक्खे)

जो अपने आपका भरण-पोपण या रक्षण अत्यन्त पापकारी कर्मो से करता है, वह 'अति आत्मरक्ष' कहलाता है। वह अत्यत स्वार्थी होता है।

८९. दक्षिण दिशा में जाने वाला...... कृष्णपाक्षिक (दाहिणगामिए......कण्हपक्खिए)

चूर्णिकार का कथन है कि जो अतिक्रूर कर्म करने वाले होते है, वे दक्षिणाभिमुख होते है।[6]

वृत्तिकार कहते है कि जो व्यक्ति क्रूर कर्म करने वाला होता है, जो साधुओ की निन्दा मे रस लेता है, जो सुपात्रदान का निषेध करता है, वह दक्षिणगामुक होता है अर्थात् दाक्षिणात्य नरक मे, तिर्यञ्च योनियो मे, मनुष्यो मे या देवो मे उत्पन्न होता है। यह माना गया है कि दिशाओ मे दक्षिण दिशा, गतियो मे नरकगति और पक्ष मे कृष्णपक्ष अप्रशस्त होता है।[7]

मनुष्य दो प्रकार के होते है—भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक। जिसका ससारकाल अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितना शेप रहता है वह भवसिद्धिक होता है। भवसिद्धिक शुक्लपाक्षिक और अभवसिद्धिक कृष्णपाक्षिक कहलाते हैं।[8]

सूत्र ३२ :

९०. चाहते हैं (अभिगिज्झंति)

चूर्णिकार ने अभिज्झा, लोभ और प्रार्थना को पर्यायवाची माना है।[9] इस शब्द का अर्थ है—अत्यन्त लोभयुक्त होना।

९१. जो तृष्णा से आतुर है (अभिझंझाउरा)

यहा 'झझा' का अर्थ है—तृष्णा। तृष्णा से आतुर होकर व्यक्ति धन मे अत्यन्त लुब्ध हो जाता है।[10]

---

१. चूर्णि पृष्ठ ३६० : पायच्छित्तं दुस्सुविणगपडिघातणिमित्त धीयाराणं देति।

२ चूर्णि, पृष्ठ ३६० मौली मउडो, सो पुण कमलमुकुलसंवुत्तो मउली वुच्चति, तिहिं सिहरएहिं मउडो वुच्चति, चतुरसीहिं तिरीडं।

३. वृत्ति, पत्र ६७ प्रतिबद्धशरीरो—दृढवयवाकायो युवेत्यर्थ।

४. वृत्ति, पत्र ६८ : धूयते—रेणुवद्वायुना संसारचक्रवाले भ्राम्यते येन तद्धूतं—कर्म, औणादिको नक्प्रत्यय, अतीव—प्रभूतं धतम्—अष्टप्रकारं कर्म यस्य सोऽतिधूत।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३६० अभिधूणे धूयतेऽनेन तासु तासु गतिषु वातांहि इव रेणू, धूणे कम्मंतेत्ति।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६०।

७. वृत्ति, पत्र ६८।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३६०, ३६१।

९. चूर्णि, पृष्ठ ३६१ : अभिज्झा लोभो प्रार्थनेत्यनर्थान्तरं।

१०. वृत्ति, पत्र ६८ झञ्झा—तृष्णा तदातुराः सन्तोऽर्थेष्वत्यर्थं लुभ्यन्ते।

९२. अकेवल—द्वन्द्व सहित (अकेवले)

केवल के अनेक अर्थ हैं। उनमे एक अर्थ है—विशुद्ध। अकेवल का अर्थ है—अशुद्ध।[1] इसका तात्पर्यार्थ है—द्वन्द्व सहित।

९३. शल्यों को नहीं काटने वाला (असल्लगत्तणे)

वृत्तिकार ने इसका मुख्य संस्कृत रूप 'असल्लगत्व' मानकर इसका अर्थ—इन्द्रियो का असंवरण, असंयम किया है। वैकल्पिक रूप मे 'अशल्यगत्व' रूप देकर इसका अर्थ—माया अकरणीय है—इसका अपरिज्ञान—किया है।[2] किन्तु इसका सहज अर्थ है—अशल्य-कर्त्तन—शल्य का कर्त्तन न करने वाला।

सूत्र ३३ :

९४: विकल्प (विभंगे)

जैन आगम साहित्य मे यह शब्द विभाग के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—विशेष विभाग या स्वरूप।[3]

सूत्र ५६ :

९५. तीसरे स्थान मिश्रक का (तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स)

दो सूत्र ५६ और ५७ मिश्र स्थान का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। चूर्णिकार[4] और वृत्तिकार[5] ने इसे अधर्मपक्ष ही माना है। उनका कथन है कि इस मिश्रस्थान मे अधर्म की ही बहुलता होती है, इसलिए इसे अधर्मपक्ष ही मानना चाहिए। यद्यपि मिथ्यादृष्टि वाले मनुष्य प्राणातिपात आदि की निवृत्ति करते हैं, फिर भी मिथ्यादर्शन और अविरति की बहुलता तथा धर्मानुबन्धी दृष्टि का अभाव होने के कारण इसका समावेश अधर्मपक्ष मे ही होता है। जैसे किसी व्यक्ति के पित्त का उभार हो गया। उसे यदि शर्करायुक्त दूध पिलाया जाए तो वह उसके लिए हितकारक नही होगा। जैसे बंजर भूमि में कितनी ही वर्षा क्यो न हो, वह लाभप्रद नहीं होती। इसी प्रकार मिश्रपक्ष भी मिथ्यात्व के प्रभाव से अधर्मपक्ष ही बना रहता है।

किन्तु यह नय की अपेक्षा से विचारणीय है। यदि यह पूर्णत अधर्म पक्ष होता तो मिश्रपक्ष को पृथक् करने की आवश्यकता नही होती। इसका तात्पर्य यह है कि मिश्रपक्षवालो के जीवन मे सदा अविरति नही होती, कुछ विरति भी होती है और अधर्मपक्ष वालो के जीवन मे सर्वथा अविरति होती है।

९६. आरण्यक······(आरण्णिया······)

आरण्यक आदि शब्दो के लिए देखें—२/१४ का टिप्पण।

सूत्र ५८ :

९७. महान् इच्छा वाला (महिच्छा)

इच्छा का अर्थ है—अन्त.करण की प्रवृत्ति। राज्य, वैभव, परिवार आदि के प्रति जिनकी इच्छा प्रबल होती है वे महेच्छ कहलाते है।[6]

९८. महाआरंभी (महारंभा)

आरभ का अर्थ है—प्रवृत्ति। वृत्तिकार ने वाहन, ऊट, गाडी आदि तथा नौका, जलपोत आदि तथा कृषि और पशुओ के

---

१. वृत्ति, पत्र ६८ : न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलम्—अशुद्धमित्यर्थ।

२. वृत्ति, पत्र ६८ : 'रंगे लगे संवरणे' शोभनं लगनं—संवरणं इन्द्रियसंयमरूपं सल्लग तद्भाव सल्लगत्वं न विद्यते सल्लगत्वमस्मिन्नित्य-सल्लगत्वम् इन्द्रियासंवरणरूपमित्यर्थ, यदि वा शल्यवच्छल्यं—मायानुष्ठानमकार्यं तद् गायति—कथयतीति, तच्छल्यगं यत् परिज्ञानं तन्नास्तीत्यशल्यगत्वमिति।

३. वृत्ति, पत्र ६९ विभङ्गो—विभाग. स्वरूपं।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६१।

५. वृत्ति, पत्र ६९।

६. वृत्ति, पत्र ७१।

नपुसकीकरण और पशुपोषक आदि प्रवृत्तियो को महा आरभ वतलाया है ।[1]

९९. महापरिग्रही (महापरिग्गहा)

महान् परिग्रहवाले वे कहलाते है जिनके पास अनेक नौकर-चाकर, हाथी-घोडे, वैल-गाय, भैंस आदि है तथा जिनके पास अनेक मकान, खेत आदि होते हैं ।[2]

१००. अधर्म में अनुरक्त (अधम्मपलज्जणा)

यहा 'र' और 'ल' का ऐक्य मानकर 'अधर्मप्ररक्ता' शब्द का अर्थ—अधर्म के कार्यो मे रक्त रहना किया है ।[3]

१०१. ठगी (उवकंचण)

चूर्णिकार ने 'कुच कुच कौटिल्ये'—धातु के आधार पर इसका अर्थ कुटिलता किया है । कोई व्यक्ति जड़ो को उखाडता है । वहा कोई मानोन्मान का अधिकारी व्यक्ति उसे देख रहा होता है । उखाडने वाला व्यक्ति उसे देखकर सोचता है यह मुझे उखाड़ते हुए देखकर कही कह न दे, या राजा के पास शिकायत न कर दे, इस चिन्तन से वह स्वय छुप जाता है ।[4] यह कुटिलता है, ठगी है ।

१०२. वंचना (वंचना)

चूर्णिकार ने 'वंचू प्रलम्भने' धातु के आधार पर इसका अर्थ वचना करना, ठगना किया है । जैसे—महामात्य अभयकुमार महाराज पद्योत की गणिकाओ द्वारा धर्म के छल से ठगा गया था ।[5]

१०३. माया (माया)

माया का अर्थ है—ठगने की बुद्धि । यह व्यापारियो मे बहुलता से मिलती है ।[6]

१०४. बकवृत्ति (निकृत्ति)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अति उपचार किया है । अति उपचार करना भी दुष्टता का ही लक्षण है ।[7] वृत्तिकार ने बगुले की वृत्ति को निकृति माना है ।[8]

१०५. झूठा तोल-माप (कूट)

वृत्तिकार ने सिक्के, तोल, वाट आदि मे कम-वेसी करने को 'कूट' कहा है । झूठा तोल-माप, खोटा सिक्का आदि का व्यवहार करना 'कूट' है ।[9]

१०६. कपट (कपट)

'कपट' का अर्थ है—दूसरो को ठगने के लिए देश, भाषा और वेश आदि को वदलना । जैसे, मुनि आपाढभूति ने वेश का वार-वार परिवर्तन कर आचार्य, उपाध्याय, सघाटक और स्वय के लिए एक ही घर से चार मोदक प्राप्त कर लिए ।

'कूट-कपट' एक साथ भी प्रयुक्त होते है । इसका सयुक्तार्थ है—झूठा तोल-माप, खोटा सिक्का ।[10]

१०७. साचि-संप्रयोग—असली दिखाकर नकली वस्तु देने (साइसंपओग)

चूर्णिकार के अनुसार न्यून गुण वाले द्रव्यो का अधिक गुणवाले द्रव्यो के साथ मिश्रण करना 'साचि-संप्रयोग' कहलाता है ।

१-२. वृत्ति, पत्र ७१ ।

३. वही, पत्र ७२ ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ वंचु प्रलम्भने, वंचनं जहा अभयो धम्मच्छलेण वचितो पज्जोतस्स संतियाहिं गणिआहिं ।

६. वृत्ति, पत्र ७२ ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ अधिका कृति निकृतिः अत्युपचार इत्यर्थ..........अत्युपचारोऽपि दुष्टलक्षणमेव ।

८ वृत्ति, पत्र ७२ ।

९. वृत्ति, पत्र ७२ कूटं तु—कार्षापणतुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणम् ।

१०. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ : देसभावादिविपर्ययकरणं कपटं, जहा आसाढभूतिणा आयरियउवज्झायसंघाडइल्लगाण अप्पणो य चत्तारि मोदगाणि कालिता, कूडकवडमेवं लोकसिद्धत्वाच्च यथा कूटकार्षापण कूटमाणमिति ।

यह भी ठगी का एक प्रकार है। व्यवहार की भाषा में यह 'मिलावट का दोष' है।

चूर्णिकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

सो होति सातिजोगो दव्वं जं उवहितऽण्णदव्वेसु।
दोसगुणा वयणेसु य अत्थविसंवादणं कुणइ ॥[1]

वृत्तिकार के अनुसार साचि-प्रयोग का मुख्य अर्थ है—उत्कुचन, वंचना, माया आदि का अतिशय प्रयोग करना। उन्होंने वैकल्पिक रूप में चूर्णि का ही अर्थ किया है।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में उत्कंचन, वचन, माया, निकृति, कूट, कपट और साचि-सप्रयोग—ये सात शब्द प्रयुक्त हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार का मानना है कि ये सातों शब्द माया के ही पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे शक्र, पुरंदर आदि इन्द्र के पर्याय-शब्द हैं, वैसे ही ये माया के पर्याय-शब्द हैं। यद्यपि इनमें प्रवृत्ति का कुछ-कुछ भेद रहता है, अत: उन प्रवृत्तियों को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा अभिहित किया है। पर वास्तव मे इन सारी प्रवृत्तियो मे माया का अंश रहता ही है, अत, इन्हें 'माया' कहा जा सकता है।[3]

१०८. दुर्व्रत (दुव्वया)

चूर्णिकार ने इसके आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अन्यतीर्थिक यज्ञ मे दीक्षित होने वालो का शिरोमुंडन करते हैं, अस्नान तथा दर्भशयन का व्रत दिलाते हैं, फिर भी बकरी आदि प्राणियो की हिंसा से उपरत नही होते। यह उनका दुर्व्रत है।[4]

१०९. दुष्प्रत्यानन्द (दुप्पडियाणंदा)

प्रत्यानंद का अर्थ है—प्रत्युपकार, प्रतिपूजा। कुछेक व्यक्ति अभिमान के कारण या कृतघ्नता के वशीभूत होकर अपने उपकारी का प्रत्युपकार नहीं करते। वे दुष्प्रत्यानन्द कहलाते हैं। वे प्रत्युपकार करने मे असमर्थ होकर अपने उपकारी मे दोष निकालने लग जाते हैं।[5]

वृत्तिकार ने भी यही अर्थ मान्य किया है।[6]

११०. वर्णक (वण्णग)

चूर्णिकार ने 'वर्णक' से कुकुम आदि का ग्रहण किया है।[7] वृत्तिकार ने लोध्र आदि जो द्रव्य त्वचा के रंग को सुन्दर बनाते हैं, उनको वर्णक माना है।[8]

१११. वाहन (जुग्ग)

इसका संस्कृत रूप है 'युग्य' और अर्थ है पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली 'पालखी'। इसके चार डंडे लगे रहते हैं, जिन्हें चार आदमी उठाते हैं।[9]

---

१. चूर्णि पृष्ठ ३६२।
२. वृत्ति, पत्र ७२।
३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६३।
(ख) वृत्ति, पत्र ७२।
४. चूर्णि, पृष्ठ ३६३ : दुष्टानि व्रतानि येषां ते भवंति दुव्वातारमा यथा यज्ञदीक्षितानां शिरोमुण्डनं अण्हाणयं दब्भसयणं च एवमादीनि व्रतानि तथापि च छगलादीनि सत्ताणि घातयन्ति।
५. चूर्णि, पृष्ठ ३६३ : दुणदि समृद्धो, तस्यानन्दो भवति कश्चिदन्येन, यस्तु प्रत्यानन्दं करोति प्रतिपूजामीत्यर्थ', स तु गर्वात् कृतघ्नत्वाद्वा नैनं प्रत्यानन्दति दुप्पडियाणंदा भवति, आह हि—

उपकर्तुमशक्तिष्ठा, नरा: पूर्वोपकारिणम्।
दोषमुत्पाद्य गच्छंति, मद्गूनामिव वायसा: ॥

६. वृत्ति, पत्र ७२।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३६३ · वण्णओ कुंकुमादि कसाया य।
८. वृत्ति, पत्र ७३ : इह च वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषापादकं लोध्रादिकं गृह्यते।
९. वृत्ति, पत्र ७३ : युग्यं—पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं।

११२. डोली (गिल्ली)

यह देशी शब्द है। दो व्यक्ति कपडे की झोली मे किसी को उठाकर ले जाते है, वह झोली 'गिल्ली' कहलाती है।[1]

११३. दो खच्चरों की बग्घी (थिल्ली)

वह यान जो दो खच्चरो से चलता है।[2]

११४. स्यन्दमानिका (संदमाणिया)

यह एक विशेष प्रकार की शिविका होती थी जो बडे व्यक्तियो के आवागमन के लिए काम मे ली जाती थी।[3]

११५. चावल, मसूर (कलम-मसूर)

भगवती (६।१३०) तथा पन्नवणा मे 'कल-मसूर' शब्द प्राप्त है। सूत्रकृताग की चूर्णि और टीका मे कलम-मसूर' का प्रयोग हुआ है।[4]

११६. दास""भोगपुरुष (दासे इ वा"""भोगपुरिसे इ वा)

प्रस्तुत प्रसग मे दास आदि छह शब्द प्रयुक्त हैं। उनका अर्थबोध इस प्रकार है—

दास—चूर्णिकार ने दास का अर्थ अदास को दास मानना किया है।[5] वृत्तिकार ने अपनी दासी के पुत्र को दास माना है।[6]

प्रेष्य—जो विभिन्न कार्यों के लिए इधर-उधर भेजा जा सके वह प्रेष्य कहलाता है। वह भी एक प्रकार का वेतनभोगी होता है।[7]

भृतक—पैसे लेकर पानी आदि लाने का काम करने वाला।[8]

भागिक—भागीदार, जो कृषि आदि मे छठे अश की भागीदारी मे सपृक्त होता है वह भागिक कहलाता है।[9]

कर्मकर—वे व्यक्ति जो दूसरो का कार्य कर आजीविका चलाते हैं, राजघरो मे वेठ करते हैं, वे कर्मकर कहलाते हैं।[10]

भोगपुरुष—वे व्यक्ति जो किसी नेता के आश्रित अपना जीवन चलाते हैं।[11]

११७. बेडी से बांधना"" "खोडे में डालना (णियलबंधण"""हडिबंधण)

इस प्रकार के दंडो का प्रचलन मालव देश मे था, ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है।[12]

११८. बंदी बना जेल में डालना (चारगबंधण)

चारक का अर्थ है कारावास, जहा जू-खटमल आदि का उपद्रव होता है।[13]

---

१. वृत्ति, पत्र ७४ : गिल्लि त्ति—पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता झोल्लिका।
२. वृत्ति पत्र ७३ : थिल्लि त्ति वेगसराद्वयविनिर्मितो यानविशेष।
३. वृत्ति, पत्र ७३ : संदमाणिय त्ति—शिबिकाविशेष एव।
४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६४ कलमं मसूरं लूणंतो।
   (ख) वृत्ति, पत्र ७३ . कलममसूरतिल..........।
५. चूर्णि, पृष्ठ ३६४ : दासेत्ति वा अदासो दासवत्।
६. वृत्ति, पत्र ७३ : दास. स्वदासीसुत.।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३६४ तेसु तेसु पेसणेसु णियुज्जंति पसाउल्लगादि।
८. वृत्ति, पत्र ७३ : भृतको—वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी।
९. वही, पत्र ७३ : भागिको य षष्ठांशाविलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते।
१०. चूर्णि, पृष्ठ ३६४ : कम्मकारका जे लोग उवजीवंतित्ति घरकम्मपाणाइवहादीहिं, तेऽवि राउले विट्ठिकारा विज्जंति।
११ वृत्ति, पत्र ७३ नायकाश्रित कश्चिद् भोगपर।
१२ चूर्णि, पृष्ठ ३६४ प्रायेण णिगलबंधणो हडिबंधणादिणा विवरेण करेति, जहा मालवाण।
१३ चूर्णि, पृष्ठ ३६४ जूआमंकुणपिसुआदीहिं जत्थ बद्धो चारिज्जति सो चारओ।

११६. दो जंजीरों से सिकोड़ कर लुढ़काना (णियल-जुयल-संकोडिय-मोडिय)

कुछेक अपराधियों को कारावास मे डालकर दो, तीन या सात साकलों से बांधकर रखा जाता है। उसके हाथों में, पैरों में और गले मे साकल डाल दी जाती है।[1]

१२०. हाथ काटना.... (हत्थछिण्णयं....)

चूर्णिकार ने यहा कुछेक महत्त्वपूर्ण सूचनाए दी है[2]—

- अपहरण करने वालो के कान, नाक, ओठ काट दिए जाते हैं।
- जो गुप्तचर और दूत शत्रुराज्यों मे आते-जाते हैं, उनके कान, नाक और ओठ छेद दिए जाते हैं।
- यदि स्त्रिया यह काम करती हैं तो उनका सिर काट दिया जाता है।
- अधर्म आचरण करने वालो की जीभ तलवार से काट दी जाती है, कधो का हनन कर, वे ब्रह्मसूत्र से काट दिए जाते हैं; जीवित व्यक्ति का हृदय, जीभ आदि निकाल दी जाती है।

१२१. (कुए में) लटकाना (ओलंबिय)

'ओलंबिय' का अर्थ है—लटकाना, पर्वत से नीचे फेंक देना, नदी या तालाब में डुबो देना।[3]

१२२. शूली में पिरोना (सूलाइयं)

अपानमार्ग से शूल लगाकर उसे मुह से निकालना।[4]

१२३. नमक छिड़कना (खारपत्तियं)

इसका अर्थ है—शस्त्र से शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर नमक आदि क्षार पदार्थ शरीर पर छिड़कना।[5]

१२४. जननेन्द्रिय को काटना (सीहपुच्छियगं)

प्राचीन कालीन दंड-पद्धति के अनुसार पारदारिक व्यक्ति की जननेन्द्रिय काट दी जाती थी। उस दंड का नाम 'सिंहपुच्छितक' था।

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संभोग के उपरान्त सिंह और सिंहनी जब अलग होते है तब दोनों ओर से खिंचाव पैदा होता है और सिंह की जननेन्द्रिय भग्न हो जाती है। इस प्रचलित मान्यता के आधार पर जननेन्द्रिय भग्न करने को 'सिंहपुच्छितक' कहा गया है।[6] प्रश्न व्याकरण की वृत्ति मे भी 'जननेन्द्रिय भग्न' को 'सिंहपुच्छनं' माना है।[7]

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कध के पाचवें अध्ययन की निर्युक्ति मे प्रयुक्त 'सीहपुच्छाणि' का अर्थ, वृत्तिकार के अनुसार, पीठ की चमड़ी है।[8]

१२५. अंडकोशों को तोड़कर मुंह में डालना (वसहपुच्छियगं)

प्राचीन काल मे परस्त्रीगामी अपराधी को दड देने का यह भी एक प्रकार था कि उसके अडकोशों को तोड़कर उसी के मुह

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६४ अण्णो पुण चारए छड्डं णिगलेहिं दोहिं तिहिं वा सत्तहिं णिगलिजोएहिं बज्झति, संकोडितमोडितो णाम जो हत्येसु अ पादेसु अ गलए बज्झति, चारए अण्णत्थ वा सो जमलणिगलसकोडितमोडितो।

२ चूर्णि, पृष्ठ ३६४ घोरावीणं कण्णणक्कओट्ठे, चारितदूताणं विरुद्धरज्जसंचारिणां च छिज्जंति, इत्थीणं वा सीस, अहिमराचरियाणं मुखे मज्झे छिज्जंति असिमादीहिं, गच्छओ खधे आहतूण बंभसुत्तएण छिज्जंति, जीवंतस्सेव हियए उप्पाडेंति पुरोहितादि जाव जिब्भा।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३६४, ३६५. ओलंबि कूवे पव्वतणदितडिमाविसु वा ओल्लंविज्जंति।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ सूलाइतओ सूलाए पोइज्जति, अवाणे सूलं छोढुण मुहेण णिक्कालिज्जति।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ सत्येणं कप्पेतु लोणखारादीहिं सिंचिज्जति।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ पारदारिया सीहपुच्छिज्जति, सीहो सीहीए सम ताव लग्गओ अच्छति जाव स्यामिगाणं दोण्हवि कड्ढंताणं छिण्णणेत्ता भवंति।

७. प्रश्नव्याकरण, वृत्ति पत्र १६४ : सिंहपुच्छनं शेफत्रोटनं।

८. वृत्ति, पत्र १२५ : सीहपुच्छाणित्ति पृष्ठीवर्ध्रान्.........।

मे डाल दिया जाता है।[1] उसे इस दण्ड से अपार कष्ट भोगना पडता था और वह जीवन भर के लिए मैथुन-प्रवृत्ति के लिए अयोग्य हो जाता था।

१२६. इसके मांस के ··खिलाएं (कागणिमंसखावियगं)

इसका अर्थ है—अपराधी के शरीर के माम के काकिणी सिक्के जितने छोटे-छोटे टकडे कर उसको खिलाना।[2]

सूत्र ५६ :

१२७. मूर्च्छित···· आसक्त होकर (मूच्छिया ·····अज्झोववण्णा)

मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित और अध्युपपन्न—ये चारो शब्द एकार्थक है। पर्यायभेद के आधार पर इनका अर्थभेद किया जा सकता है, ऐसा वृत्तिकार का कथन है।[3]

१२८. वैर के आयतनों को (वेरायतणाइं)

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—वैर का आयतन अर्थात् कर्म।[4] वृत्ति मे वैर के अनुबध को वैरायतन कहा गया है।[5]

१२६. अनेक बार (उस्सण्णाइं)

इसका तात्पर्य है—एक-एक पापस्थान का अनेक वार आचरण करना। यह चूर्णिकार का अर्थ है।[6]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—आठो कर्मो के सचय को वद्ध, स्पृष्ट, निधत्त और निकाचन—इन अवस्थाओ मे व्यवस्थित करना।[7]

१३०. प्रचुर मात्रा में किए गए (संभारकडेण)

चूर्णिकार ने सभार का अर्थ—भारी, प्रचुर किया है।[8] वृत्तिकार के अनुसार सभार का तात्पर्य है सचित, ढेर।[9]

देखे—७।१४ मे 'त्रससभारकृत' का टिप्पण।

१३१. कर्मवहुल·· 'वैरवहुल (वज्जबहुले ·वेरवहुले)

प्रस्तुत प्रसग मे चार शब्द प्रयुक्त हुए है—वर्ज्य (वज्र), धूत, पक और वैर। चूर्णिकार ने इसका कोई विशेष अर्थ नही किया है। उन्होने वर्ज्य, पाप और वैर से सवधित एक गाथा का सामान्य-सा उल्लेखमात्र किया है। सभव है वर्ज्य, पाप और वैर एकार्थक हो।[10]

वृत्तिकार ने इनके अर्थ-भेद की सूचना दी है[11]—

वज्र—वज्र की भाति होने के कारण यह वध्यमान कर्म का वाचक है।

धूत—यह प्राक्वद्धकर्म का द्योतक है।

पक—यह पाप का वाचक है। जो कीचड की भाति होता है, वह पक अर्थात् कर्म।

वैर—वैर का अनुवन्ध।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ पारदारिया' ···· 'एवं कस्सइ पुत्तगा छेत्तु अप्पणए मुहे छिज्जति।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ कागिणिमंस कागणिमेत्ताइ से साइं मंसाइं कप्पेतु खाविज्जति।

३ वृत्ति, पत्र ७३, ७४ : मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्ना एते च शक्रपुरन्दरादिवत्पर्याया कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येया।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ वेरायतणाइं कम्मं चेव।

५. वृत्ति, पत्र ७४ वैरायतनानि वैरानुवन्धान्।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६५ उस्सण्णंति अणेकसो एक्केक्क पावायतणं जहादिट्ठ हिंसादि आयरति।

७. वृत्ति, पत्र ७४ : कर्माणि वद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय।

८ चूर्णि, पृष्ठ ३६५ संभारो णाम गुरुगत्तणं।

६. वृत्ति, पत्र ७४।

१०. चूर्णि, पृष्ठ ३६५।

११. वृत्ति, पत्र ७४ : वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्वहुल तत्प्रचुरो वध्यमानककर्मगुरुरित्यर्थ तथा धूयत इति धूतं—प्राग्वद्धं कर्म तत्प्रचुर, पुनः सामान्येनाह—पङ्कयतीति पङ्क—पापं तद्वहुल, तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह—वैरवहुलो—वैरानुवन्धप्रचुरः।

सूत्र ६० :

१३२. निरन्तर अन्धकार से तमोमय (णिच्चंधयारतमसा)

चूर्णि मे इसकी व्याख्या विस्तार से प्राप्त है। उन नरकों मे उतना सघन अंधकार है कि वहां सूनी आंखों से भी कुछ दिखाई नहीं देता। अंधा न होने पर भी आदमी वहां अंधा हो जाता है। जैसे भौंहरे या भीतर के कमरे मे सघन अंधकार होता है, वैसे ही वहां अंधकार व्याप्त रहता है। जैसे आकाश मे बादल छाए हों, मध्यरात्रि का समय हो, उस समय जितना सघन अंधकार होता है, वैसा अंधकार वहां व्याप्त रहता है।[1]

१३३. कृष्ण (कापोत) अग्नि वर्ण की आभा वाले (कण्ण-अगणिवण्णाभा)

वहां के नैरयिक काली अग्नि के वर्णवाले हैं। लोहे को पिघलाते समय या उसे गर्म करते समय काली अग्नि-ज्वाला निकलती है। वे नैरयिक इस कृष्ण वर्ण वाले होते हैं।[2]

१३४ कर्कश स्पर्श से युक्त (कक्खडफासा)

जो उष्णवेदनावाले होते हैं, उनका स्पर्श कर्कश होता है।[3]

वृत्तिकार के अनुसार उन नैरयिकों का स्पर्श वज्र-कण्टक से भी अधिक कठोर होता है।[4]

सूत्र ६५ :

१३५. (सूत्र ६५)

औपपातिक (सूत्र १७) मे चार प्रकार के प्रतिबंधों की चर्चा है। वे चार प्रकार हैं—

(१) द्रव्य-प्रतिबन्ध—इसके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

(२) क्षेत्र-प्रतिबन्ध—इसके सात भेद हैं—क्षेत्र, ग्राम, नगर, अरण्य, खेत, खलिहान, गृह और आंगन।

(३) काल-प्रतिबन्ध—इसके अनेक भेद हैं—समय, आवलिका आदि से दीर्घकाल तक।

(४) भाव-प्रतिबन्ध—इसके छह भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य।

वृत्तिकार ने वाचनान्तर के आधार पर चार भिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों का उल्लेखकर उनका अर्थबोध इस प्रकार दिया है[5]—

(१) अंडज—हंस आदि अथवा अंडक—मयूर के अंडे अथवा क्रीडा मयूर आदि।

(२) पोतज—हाथी आदि अथवा पोतक—शिशु।

पोतज के स्थान पर 'बोंडज' पाठान्तर भी मिलता है। इसके आधार पर वृत्तिकार ने 'अंडज' का अर्थ रेशमी वस्त्र और 'बोंडज' का अर्थ सूती वस्त्र किया है।

(३) अवगृहीत—परोसने के लिए उठाया हुआ भक्तपान। अथवा अवग्रहिक—वसति, पीठ, फलक, आदि अथवा औपग्रहिक (विशेष अवस्था मे लिए जाने वाले) दण्डक आदि उपधि।

(४) प्रगृहीत—भोजन के लिए उठाया हुआ कौर अथवा औघिक उपधि—सामान्य उपकरण।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६५।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३६६ : किण्हअगणि लोहे धम्ममाणे कालिया अग्गिजाला णिन्ति तारिसो तेहिं वण्णो।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३६६ : फासा य उसिणवेदणाणं कक्खडफासा।

४. वृत्ति, पत्र ७५ : कर्कशः कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्पर्शो येषां ते।

५. औपपातिक वृत्ति, पृष्ठ ६६ : वाचनान्तरे पुनः तं जहा इत्यत परं गमान्तं यावदिदं पठ्यते—'अंडए इ वा' अण्डजो—हंसादि, अण्डकं वा—मयूराण्डकादि. क्रीडादिमयूरादिहेतुरिति वा प्रतिबन्ध स्यात्, सप्तम्येकवचनान्तं चेदं व्याख्येयम्, इकारस्तु प्राकृतप्रभव, 'पोयए इ वा' पोतजो—हस्त्यादि पोतको वा शिशुरिति वा प्रतिबन्ध स्यात्, 'अंटजे इ वा बोंडजे इ वा', इत्यत्र पाठान्तरे अण्टजं—वस्त्रं कोशिकारकीटाण्डकप्रभवं बोण्डजं—कर्पासीफलप्रभवं वस्त्रमेव, 'उग्गहिए इ वा' अवगृहीतं—परिवेषणार्थमुत्पाटितं भक्तपानं, 'पग्गहिए वा' प्रगृहीतं भोजनार्थमुत्पाटितं तदेव, अथवा अवग्रहिकं—अवग्रहोऽस्यास्तीत्यवग्रहिकं—वसतिपीठफलकादिकं औपग्रहिकं वा दण्डकादिकमुपधिजातं प्रगृहीतं तु प्रकर्षेण गृहीतत्वादौघिकमिति।

वस्तुत ये सारे अर्थ बौद्धिक अधिक है। इनमे प्रतिवद्धता के द्योतक अर्थ कम है। वास्तव मे इनकी अर्थ-परपरा अन्य थी, जो टीकाकाल मे विस्मृत हो गई। परन्तु सस्कृत कोशो मे कुछेक के अर्थ आज भी उपलब्ध है। उनकी अर्थ-मीमासा इस प्रकार है—

पोतज—इसके अनेक अर्थो मे एक अर्थ है—क्षेत्र (खुली जमीन) या मकान की नीव। इसके आधार पर यह क्षेत्र और वसति का प्रतिवन्धक है।[1] इसका एक अर्थ है—वस्त्र। इसलिए यह वस्त्र के प्रतिवध का भी वाचक हो सकता है।[2]

(२) अवगृहीत—अवग्रह का एक अर्थ है—सासारिक वन्धन। यह भाव प्रतिवन्ध का वाचक है।[3]

(३) प्रगृहीत—प्रग्रह के अनेक अर्थ है—उपहार मे प्राप्त वस्तु, सग्रह-सन्निधि, मित्र आदि। अत यह सुहृद्-मित्र अथवा सन्निधि—सचय का प्रतिवन्धक है।[4]

आगम ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर प्रतिवद्धता का निषेध प्राप्त है। मुनि वह होता है जो कही भी प्रतिवद्ध नही होता। वह अप्रतिवद्धविहारी होता है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिवन्ध के प्रकारो का निर्देश है।

सूत्रकृताग की चूर्णि मे इनकी कोई व्याख्या नही है। वृत्तिकार ने साधुगुणो के लिए केवल औपपातिक सूत्र का निर्देश मात्र किया है।[5]

सूत्र ६६ :

१३६. (सूत्र ६६)

प्रस्तुत सूत्र के प्रारम्भ मे अनगारो की यात्रामात्रावृत्ति के सन्दर्भ मे चतुर्थभक्त यावत् षण्मासिक तपस्या का उल्लेख है। तत्पश्चात् उत्क्षिप्तचरक · सर्वगात्रप्रतिकर्मविप्रयुक्त—इन छयालीस साधु-गुणो का प्रतिपादन है। इन गुणो से उनके आहार, भिक्षाविधि तथा शरीर के प्रति अनासक्ति का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत होता है। वास्तव मे ये सव उन मुनियो की विविध अभिग्रह-विधियो, सोने-वैठने की मुद्राओ तथा देहाध्यास से मुक्त होने की विविध साधनाओ के वोधक है।

स्थानाग के विभिन्न आलापको मे इनका उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत सूत्र से उन आलापकगत साधु-गुणो मे कुछ शब्दगत भिन्नता भी है।

देखे—ठाण ५।३६-४२ तथा टिप्पण पृष्ठ ६१६।

सूत्र ६८ :

१३७. एक भवावतारी (एगच्चाए)

चूर्णिकार ने अर्चा का अर्थ 'शरीर'[6] और वृत्तिकार ने शरीर या भव किया है।[7] यहा 'भव' का अर्थ ही सगत है।

सूत्र ६९ :

१३८. कल्याणकारी गति वाले, कल्याणकारी स्थिति वाले (गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा)

गतिकल्याण—चूर्णिकार के अनुसार जो अनुत्तरोपपातिक देवलोक मे अथवा वैमानिक देवलोक मे उत्पन्न होते है तथा जो इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिशद्, लोकपाल, परिषद्, आत्मरक्षक, प्रकीर्णक आदि रूप मे उत्पन्न होते है, वे गति-कल्याणक कहे जाते है।[8]

---

१. आप्टे, संस्कृत इग्लिश डिक्शनरी . पोतः—The site or foundation of a house

२. वही,—A garment, cloth.

३. वही, अवग्रहः—The bonds or fetters of worldly existence.

४. वही, प्रग्रह —(1) The gains in the form of gifts to courtiers
(2) Hoarding, collecting
(3) A Compassion

५. वृत्ति, पत्र ७७ 'औपपातिकमाचारागसवंधि प्रथममुपागं तत्र साधुगुणाः प्रवन्धेन व्यावर्ण्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमित्यतिदेश · " ।

६ चूर्णि, पृष्ठ ३६६ अर्चयन्ति तामिच्यर्चा—शरीरं।

७. वृत्ति, पत्र ७७ एके पुनरेकयाऽर्चया—एकेन शरीरेणैकस्माद्वा भवात्।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३६६, ३६७ ' गतिकल्लाणा कल्लाणगती अणुत्तरोववाइएसु वेमाणिएसु वा, इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशलोकपालपरिषदात्मरक्षप्रकीर्णकेषु न त्वाभियोग्यकिल्विषिककान्दर्पिकेषु।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[१]—

० गति—देवलोक आदि शुभगति से युक्त।

० गति—प्रशस्त विहायोगतिरूप शीघ्रगमन से शोभित।

स्थितिकल्याण—उत्कृष्ट या मध्यम स्थिति वाले (देव) स्थिति-कल्याण कहे जाते हैं।[२]

१३९. कल्याणकारी भविष्य वाले (आगमेसिभद्दया)

चूर्णि और वृत्ति मे इसका भिन्न अर्थ किया गया है। चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—आगामी भव मे सिद्ध होना।[३]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—आगामी भव मे मनुष्य जन्म की सपदा को प्राप्त करना।[४]

इसी सदर्भ मे ७३वें सूत्र मे चूर्णिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वे एक भव मे सिद्ध होने योग्य चारित्र (यथाख्यात चारित्र) को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते है। उत्कृष्टत' वे आठ भव मे सिद्ध हो ही जाते हैं।[५]

सूत्र ७१ :

१४०. (सूत्र ७१)

चूर्णिकार का कथन है कि यह मिश्रपक्ष का विकल्प भी अन्तत. धर्मपक्ष के अन्तर्गत ही आ जाता है, क्योकि इसमे धर्मपक्ष की बहुलता है और अधर्मपक्ष की न्यूनता। उन्होने इस बात को कुछ दृष्टान्तो मे समर्थित किया है—

१. जैसे नदी मे अनेक लोग स्नान करते है, कई शुचि लेते हैं, कई मुह-हाथ आदि धोते हैं। नदी मे गाय-भैस आदि पशु गोबर करते है, मूत्र विसर्जित करते है। फिर भी वह पानी गंदा नही होता क्योकि उसकी प्रचुरता है। वह सदा स्वच्छ बना रहता है।

२. जैसे थोडे गरम पानी मे यदि अधिक ठडा पानी मिला दिया जाता है तो वह भी ठडा हो जाता है।

३ जैसे श्रावको के बहुत सयम से थोडा असयम नष्ट हो जाता है।[६]

वृत्तिकार का भी यही अभिमत है। उन्होने भिन्न दृष्टान्त दिए हैं[७]—

० जैसे बहुत सारे गुणो मे एक दोप दिखाई नही देता।

० जैसे प्रचुर चद्रिका मे थोडा सा कलक दिखाई नही देता।

० जैसे प्रचुर पानी मे पडा हुआ मिट्टी का खड पानी को गदा नही कर सकता।

इसी प्रकार धर्म की प्रचुरता के कारण यह मिश्रपक्ष भी धर्मपक्ष मे ही अवतरित होता है।

किन्तु यह सापेक्ष दृष्टिकोण है। विरति और अविरति—दोनो के कारण मिश्रपक्ष बनता है, इसलिए केवल विरतिपक्ष मे नही रखा जा सकता। सापेक्षता के आधार पर ही इसका प्रतिपादन किया जा सकता है।

सूत्र ७२ :

१४१. श्रमणोपासक (समणोवासगा)

श्रमणोपासक का अर्थ है—श्रमणो की उपासना-सेवा करने वाला।

चूर्णि मे इसका अर्थ—तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रमणो की उपासना करने वाला किया है।[८]

---

१ वृत्ति, पत्र ७८ : गत्या —देवलोकरूपया कल्याणाः—शोभना, गत्या वा—शीघ्ररूपया प्रशस्तविहायोगतिरूपया वा कल्याणाः।

२ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६७ : ट्ठितिकल्लाणेत्ति उक्कोसिया ट्ठिती अजहण्ण मणुक्कोसा वा।

(ख) वृत्ति, पत्र ७८ : स्थित्या उत्कृष्टमध्यमया कल्याणास्ते भवन्ति।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३६७ आगमेसिभद्देति आगमेसे भवग्रहणे सिज्झति।

४. वृत्ति, पत्र ७८ तथाऽऽगामिनि काले भद्रकाः शोभनमनुष्यभवरूपसपदुपपेताः।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३७० : आगमेसिभद्दा एगगब्भवसधीया चरित्त प्राप्य सिध्यन्ति, उक्कोसेण वा अट्ठभवग्गहणाणि गतु सिज्झति।

६ चूर्णि, पृष्ठ ३६७ : धम्मो बहुओ अधम्मो थोवे त्तिकाउ, तेण अधम्ममीसओवि एस पक्खो अततोधम्मपक्खे चेव णिवडिति को दिट्ठंतो? जहा नदीए ···खविज्जति।

७. वृत्ति, पत्र ७९ : एतच्च यद्यपि·······धार्मिकपक्ष एवायम्।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३६७ उपासंति तत्त्वज्ञानार्थमित्युपासकाः (समणोवासगा)।

इस सूत्र के प्रारम्भ मे अभिगत, उपलब्ध और कुशल—ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। चूर्णिकार का कथन है कि ये तीनो शब्द ज्ञानार्थक हैं, किन्तु भिन्नरूप शब्दों द्वारा कराया जाने वाला ज्ञान मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न करता है। इसलिए भिन्न शब्दो का प्रयोग किया गया है।[1]

१४२. सत्य के प्रति स्वयं निश्चल (असहेज्जा)

जैसे वायु के झोको से पताका आदि चलित हो जाते है, किन्तु मेरु पर्वत चलायमान नही होता, वैसे ही कुछ श्रमणोपासक ऐसे होते हैं जो अपने श्रद्धान से कभी विचलित नही होते।[2]

औपपातिक सूत्र की वृत्ति मे इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—कोई व्यक्ति उस श्रमणोपासक को सम्यक्त्व से विचलित करना चाहे, तो कभी वह सत्य से विचलित नही होता। वह अपने सामर्थ्य से उसके प्रति सुस्थिर रहता है। वह दूसरे व्यक्ति के सहयोग की अपेक्षा नही रखता।[3]

१४३. प्रेमानुराग से अनुरक्त अस्थि-मज्जा वाले (अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता)

जो रोग त्वचा से लेकर मज्जा तक फैल जाता है, उसकी चिकित्सा कठिनाई से होती है। उसी प्रकार जिन लोगो मे धर्म का अनुराग मज्जा तक चला जाता है, उनको कोई भी व्यक्ति धर्म से विचलित नही कर सकता।[4]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहा एक दृष्टान्त का उल्लेख किया है। राजगृह नगर मे एक परिव्राजक रहता था। वह विद्या, मत्र और औषधियो—विभिन्न प्रकार की जडी-बूटियो का ज्ञाता था। इनके प्रयोग से वह शक्ति-सपन्न था। वह नगर मे घूमता और जिस किसी सुन्दर स्त्री को देखता, विद्यावल से उसका अपहरण कर लेता। यह क्रम कुछ दिनो तक चलता रहा। वह अपहृत सभी स्त्रियो को एक गुफा मे एकत्रित कर देता। इस घटना से सारे नगर मे हा-हाकार मच गया। कुछेक सभ्रान्त नागरिक एकत्रित होकर राजा के पास गए। उन्होने राजा से निवेदन किया—राजन्! प्रतिदिन नगर मे चोरिया हो रही है। धन के साथ-साथ वह चोर सुन्दरतम स्त्री का भी अपहरण कर लेता है। जो स्त्री उसे पसन्द नही आती, उसे मात्र वह छोडता है। वह कौन है इसका पता नही लग रहा है। आप कृपा करे और इसकी खोज करें।' राजा बोला—'आप सब विश्वस्त रहे। मैं उस दुष्ट को अवश्य खोज निकालूगा। यदि मैं पाच या छह दिनो के भीतर उस चोर को नही पकड पाऊगा तो अपने आप को अग्नि मे भस्मसात् कर दूगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है।'

सारे नागरिक राजा की प्रतिज्ञा को सुनकर अवाक् रह गए। वे आश्वस्त हो, राजा को प्रणाम कर चले गए।

राजा ने विशेष आरक्षको को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। राजा स्वय अकेला हाथ मे तलवार ले, चोर की खोज करने निकला। चार दिन बीत गए। चोर नही मिला। पाचवें दिन की रात्रि मे जब परिव्राजक भोजन, ताम्बूल, गन्ध, माला आदि पूजा की सामग्री लेकर जा रहा था, तब राजा को कुछ सन्देह हुआ। वह उसके पीछे-पीछे चला। वह परिव्राजक एक उद्यान मे गया। वहां एक विशाल वृक्ष के कोटर मे प्रवेश कर वह गुफा मे गया। राजा भी उसके पीछे-पीछे चला गया। वहा सारी अपहृत स्त्रिया थी। राजा ने तत्काल उस परिव्राजक पर तलवार का प्रहार किया। परिव्राजक मर गया।

राजा सारा एकत्रित धन और स्त्रियो को लेकर बाहर आया और जिस-जिसका वह था उसे दे दिया। स्त्रिया भी सौप दी गईं। वहा एक स्त्री ने राजा के साथ अपने पति के पास जाने से इन्कार कर दिया। परिव्राजक ने उसे अनेक औषधियो से भावित कर रखा था। उन औषधियो का प्रभाव उसकी मज्जा तक पहुच चुका था। राजा ने उस विद्या के अनुभवी व्यक्तियो से परामर्श किया। उन्होने कहा—यदि इस स्त्री को उस परिव्राजक की हड्डियो को पीस कर दूध के साथ पिलाया जाए, तो परिव्राजक के प्रति जो इसकी आसक्ति है, वह टूट सकती है, अन्यथा नही।

पारिवारिक लोगो ने वैसा ही किया। ज्यो-ज्यो अस्थिया दूध के साथ इसके पेट मे पहुची, उसका आग्रह कम होता गया। स्नेह का अनुबन्ध मिटता गया। सारी अस्थियो को पी जाने पर स्नेह का अनुबन्ध पूर्णरूप से मिट गया। अब अपने मूल पति के प्रति उसका अनुराग बढ गया।

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३६७ अधिगतजीवाजीवा अभिगमउवलभकुशलादय शब्दाः ज्ञानार्थाः अन्यान्येन त्वभिधानेनाभिधीयमान बोधं मानसप्रसादमुत्पादयति।

२ चूर्णि पृष्ठ ३६७ : असहेज्जा असंहरणिज्जा, जहा वातेहिं मेरु, न तु जहा वातप्पडागाणि सक्कति विप्परिणावेतु।

३ औपपातिक, वृत्ति, पत्र २८८।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ अट्ठियाइंपि भावेतु जाव मिंजत्ति मज्जा वुच्चति, जस्स रोगेण तयं आदिकाउं जाव मज्जा भाविता सो दुक्खि-किच्छो भवति एवं ते।

जैसे अत्यन्त भावित होने के कारण वह स्त्री अपने मूल पति को नही चाहती थी, वैसे ही जो श्रावक निर्ग्रन्थ शासन के प्रति अत्यन्त भावित हो जाता है, उसे मोडा नही जा सकता ।[1]

चूर्णि मे यही कथा कुछेक शब्दान्तरो के साथ उपलब्ध है ।[2]

कोई व्यक्ति निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति इतना श्रद्धाशील होता है, उसके पास आकर दूसरा व्यक्ति उसको जैन शासन से विमुख करने के लिए कहता है—इस जैन शासन मे तुझे क्या मिला ? तूने क्या देखा ? तव वह कहता है—हे आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, परम अर्थ है, शेष सारे अनर्थ है । तीन सौ तिरेसठ मत वाले भी उसे जब अपने मत की विशेषता वतलाते है, तव भी वह उन्हे यही कहता है—हे आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, परम अर्थ है, शेष अनर्थ है ।[3]

१४४. आगल को ऊंचा और दरवाजे को खुला रखने वाले (उसियफलिहा अवंगुयदुवारा)

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे अनुरक्त श्रावक अपने घरो के द्वार की आगल को ऊपर कर किवाड सदा खुला रखते हैं । यह चूर्णिकार का अर्थ है । चूर्णिकार ने यहा एक प्रश्न उपस्थित किया है कि किवाडो को खुला रखने का कारण क्या है ? वे समाधान की भाषा मे कहते है कि जैन श्रमणो की यह मर्यादा है कि वे बन्द किवाड को खोल नही सकते और खुले किवाडो को बन्द नही कर सकते । दसवैकालिक सूत्र का कथन है—'कवाड णो पणोलेज्जा' (५।१।१८) ।

दूसरी वात है घर मे वार-वार आने-जाने वाले लोग किवाड को खोलते हैं या वद करते हैं तो उससे जीवो की विराधना होती है ।

अत. श्रावक आगलो को ऊचीकर अपने घर के मुख्य द्वार को तथा कोठे आदि के किंवाड को सदा खुला रखते हैं ।[4]

वृत्तिकार ने 'ऊसिय फलिहा' का सर्वथा भिन्न अर्थ किया है । उनके अनुसार इसका अर्थ है—उन श्रमणोपासको का अन्त - करण स्फटिक की तरह उच्छ्रित है, स्वच्छ है । निर्ग्रन्थ दर्शन की प्राप्ति से उनका मन सन्तुष्ट है ।[5] यह अर्थ प्रसगोपात्त नही लगता ।

१४५. अन्तःपुर…… (चियत्तंतेउर……)

यहा 'चियत्त' का अर्थ है अभिमत । धनी लोगो के घर मे अन्त पुर की व्यवस्था होती है । सामान्य घरो मे वह नही होती । वह श्रमणोपासक इतना विश्वस्त होता है कि सामान्य घरो तथा अन्त पुर मे भी उसका प्रवेश विना रोक-टोक हो सकता है ।[6]

१४६. शीलव्रत……आत्मा को भावित करते हुए (सीलव्वय…भावेमाणा)

यहा चूर्णिकार ने श्रावक-धर्म की समग्रता की ओर सकेत किया है ।[7] श्रावक-धर्म मे शील, अणुव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास आदि की आराधना होती है—

शील—चार शिक्षाव्रत

व्रत—पाच अणुव्रत

गुण—तीन गुणव्रत

विरमण—शब्द आदि इन्द्रिय-विषयो का यथाशक्ति परित्याग ।

प्रत्याख्यान—नमस्कार सहिता आदि का स्वीकार ।

पौषध—शरीर-सस्कार वर्जन तथा ब्रह्मचर्य का स्वीकार ।

---

१. वृत्ति, पत्र ७९-८० ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ ।

३. वही, पृष्ठ ३६८ ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६८,३६९ किं कारणं पिहितुब्भिण्णे कवाडेत्ति ? ण वट्टइ उग्घाडेतु उग्घाडे कवाडे वा पेल्लेतु, उक्तं च—'कवाडं णो पणोलेज्जा' पविसंतो णियंतो अ लोगो मा णिच्चं सवरादिणा थिरादि विराहेहित्ति ते णिच्चमेव फलिहं उस्साएत्तु अग्गदारं कोट्ठगपमुहे अ कवाडं विराहेतु अब्भगुयदारं अच्छंति ।

५. वृत्ति, पत्र ८० : उच्छ्रितानि स्फटिकानीव—स्फटिकानि अन्त.करणानि येषां ते तथा, एतदुक्तं भवति—मौनीन्द्रदर्शनावाप्तौ सत्यां परितुष्टमानसः ।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६९ ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३६९ इदाणिं सव्वो सावगधम्मो समाणिज्जति……आहारपरिच्चाओ उववासो ।

उपवास—त्रिविध आहार का परित्याग ।

इसमे श्रावक की धर्माराधना की समग्र विधि आ जाती है ।

१४७. (सूत्र ७२)

चूर्णिकार ने इस समग्र सूत्र मे कार्य-कारणभाव की योजना की है—श्रावक अभिगतजीवाजीव यावत् बन्धमोक्ष में कुशलक्षेम होते हैं, इसलिए वे असहाय होते है । वे असहाय होते है, इसलिए वे देव आदि के द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनतिक्रमणीय होते हैं । इस प्रकार समग्र सूत्र मे इन पदो की योजना ज्ञातव्य है ।[1]

वृत्तिकार ने भी इस प्रकार की योजना की है ।[2]

सूत्र ७३ :

१४८. आबाधा (आबाहा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ बुढापा या रोग किया है ।[3]

१४९. आलोचना और प्रतिक्रमण कर (आलोइय पडिक्कंता)

चूर्णिकार ने बताया है कि श्रावक समाधि-मृत्यु के अवसर पर साधु के पास आलोचना और प्रतिक्रमण करते है । तत्पश्चात् साधु का वेश स्वीकार कर, दर्भ के बिछौने मे स्थित हो, सब प्रकार की आशसाओ से विप्रमुक्त बन समाधि की अवस्था मे रहते है ।[4]

सूत्र ७५ :

१५०. आरंभस्थान (आरंभट्ठाणे)

आरभ, असयम और अविरति—एकार्थक है ।[5]

सूत्र ७७ :

१५१. आदिकर्त्ता (आइगरा)

उस समय धर्म-प्रवर्तक के लिए आदिकर, तीर्थंकर आदि शब्द प्रयोग मे लाए जाते थे । चूर्णिकार ने कपिल आदि को तीर्थंकर कहा है । तीर्थ का अर्थ है—प्रवचन । दर्शन का आदि-प्रवचनकार तीर्थंकर कहलाता था ।[6]

१५२. मंडलि बनाकर (मंडलिबंधं)

वृत्ताकार बैठना मंडलिबध कहलाता है । जब दोनो भुजाए शरीर से सटी हुई हो और हाथ के अग्रभाग विपरीत दिशा मे एक दूसरी भुजा को पकडे हुए हो, इस मुद्रा मे बैठने का नाम है 'मडलिबन्ध' मे बैठना ।[7]

१५३. पात्र को (पाइं)

इसका अर्थ है—लोहे की या तावे की पतले तल वाली कुडी । इसमे अगारे डालते ही नीचे का तल अग्निमय हो जाता है ।[8]

---

१. चूर्णि पृष्ठ ३६९,३७० ।

२. वृत्ति, पत्र ८० ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३७० अत्यर्थं बाधा आबाधा जरा रोगो वा ।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७० : साधुसमीवे वा आलोइयपडिक्कंता साधुलिंगं घेत्तु संथारसमणा दब्भसंथारगता सव्वासंसविप्पमुक्का ।
 (ख) वृत्ति, पत्र ८० ।

५ चूर्णि, पृष्ठ ३७० : आरंभो असंजमो अविरति वा एगट्ठा……

६ चूर्णि, पृष्ठ ३७१,३७२ आदि तीर्थंकरा कपिलादय ……'एतेसिं तित्थगराणं ।……चूर्णि पृष्ठ ३७३ . एव ताव तित्थगरा…… स्वसमयसिद्धचा च स्वतीर्थंकराणां ।

७ चूर्णि, पृष्ठ ३७२ जहा दोण्णि बाहाओ आकुचिताओ, अग्गहत्थेहिं मेल्लिताओ यथा भवति, लोए अ वट्टं मंडलंति वुच्चति ।

८. चूर्णि, पृष्ठ ३७३ . पतति तस्यामिति पात्री—कुभिया लोहमयी ताम्रमयी वा, सा छुभंतेहिं चेव अंगारेहिं तलिणत्तणेण अग्गितुल्लतला भवति ।

१५४. अग्निस्तंभनी विद्या का (अग्गिथंभणियं)

अग्नि का स्तभन दो प्रकार से किया जाता है[1]—

१. अग्नि-स्तभन विद्या के द्वारा।

२. सूर्य मत्र के द्वारा।

१५५. यह प्रमाण है (एस पमाणे)

यहा प्रमाण का अर्थ है—साक्षी।[2] उसने प्रावादुको से कहा—जैसे तुम जलते हुए अगारों से भरे पात्र को हाथ मे उठाना नही चाहते, क्योकि उससे तुम्हे दु ख होता है और दु ख तुम्हे प्रिय नही है, वैसे ही दूसरे जीवो को भी दु.ख प्रिय नही है। इस तथ्य के साक्षी तुम स्वय हो।

वृत्तिकार ने प्रमाण का अर्थ युक्ति किया है।[3]

१५६. यह समवसरण है (एस समोसरणे)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सम्यक् अवसरण—समान अनुभव।[4]

वृत्तिकार ने धर्म विचार को समवसरण माना है।[5]

सूत्र ७८ :

१५७. संसाररूपी अरण्य में (संसारकंतारं)

जो अरण्य-प्रदेश निर्जल, भयानक और त्राण-रहित होता है, वह कातार कहलाता है।[6]

१५८. (ते णो सिज्झिस्संति·······करिस्संति)

वृत्तिकार के अनुसार इन पदो से ज्ञानातिशय का अभाव, सुखातिशय का अभाव और उपायातिशय का अभाव प्रदर्शित किया गया है।[7]

सूत्र ८१ :

१५९. (सूत्र ८१)

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त शब्दो का चूर्णि और वृत्ति के अनुसार अर्थ इस प्रकार है[8]—

१. आत्मार्थी—आत्मवान्—जो आत्मा की रक्षा करता है।
जो आत्मा के लिए ही सब कुछ करता है।
जो दूसरो को दोपो से बचाता है।

२. आत्महित—इहलोक और परलोक मे आत्महित करने वाला।

३ आत्मगुप्त—दूसरो को विश्वास दिलाने के लिए नही किन्तु स्वत सयम मे प्रवृत्त होने वाला।

४ आत्मयोगी—जिसका मन कुशल मे प्रवृत्त होता है, जो सदा धर्मध्यान मे अवस्थित रहता है।
जो स्वय सयम-योग मे अवस्थित रहता है, दूसरो को विश्वास दिलाने के लिए नही।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३७३ अग्गिथंभणविज्जाए आदिच्चमंतेहिं अग्गी थभिज्जइ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३७३ : पमाणमिति तुज्झेव पमाणं, साक्षिण इत्यर्थ·।

३. वृत्ति, पत्र ८४ · प्रमाणं············युक्ति।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३७४ : सव्वेसिं जीवाणं एत्थ सुहदुक्खे तुल्ले सम्यक् अवसरणमिति तुल्योऽर्थ·।

५. वृत्ति, पत्र ८४ तदेतत् समवसरणं—स एव धर्मविचार।

६. वृत्ति, पत्र ८४ निर्जलः सभयस्त्राणरहितोऽरण्यप्रदेश· कान्तार इति।

७. वृत्ति, पत्र ८५।

८. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७४, ३७५।
(ख) वृत्ति, पत्र ८५, ८६।

५ आत्मपराक्रम—आत्मा के पुरुषार्थ मे विश्वास करने वाला—आत्मकर्तृत्ववादी । इससे प्रकृतिवादी, कालवादी, स्वभाववादी आदि का निरसन हो जाता है। आत्म-पराक्रम की स्वीकृति से—'सर्वभावा. तथाभावा' का निरसन हो जाता है। कुछ लोग मानते हैं—'ईश्वरात् सप्रवर्त्तेत, निवर्त्तेत तथेश्वरात् ।

सर्वभावास्तथाभावाः पुरुष स्थास्नुर्न विद्यते ॥

६. आत्मरक्षित—पाप से आत्मा की रक्षा करने वाला।

७ आत्मानुकपी—असत् कर्म के फल स्वरूप दु खो को भोगने वाले व्यक्ति को देखकर जिसकी आत्मा कपित हो जाती है वह आत्मानुकपी होता है।

जो दूसरे पर और अपने आप पर अनुकपा करता है, वह वास्तव मे अपने पर ही अनुकपा करता है। वृत्तिकार के अनुसार जो व्यक्ति अपनी आत्मा को असत् अनुष्ठान से हटाकर सद् अनुष्ठान मे लगाता है, वह आत्मानुकपी होता है।

८ आत्मनिस्फेटक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा आत्मा को ससार से निकालने वाला।

तइयं अज्झयणं

आहारपरिण्णा

तीसरा अध्ययन

आहारपरिज्ञा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'आहारपरिज्ञा' है। यह द्विपद नाम है। इसमे दो पद है—आहार और परिज्ञा।[1]

प्रत्येक सासारिक प्राणी आहर के आधार पर जीता है, इसलिए जीवन और आहार—इन दोनो का घनिष्ठ सबंध है। जहा से जीवन का प्रारभ होता है, उसका आहार के साथ सबध जुड़ा रहता है।

शरीर आहार के बिना नही चलता। धर्म की उपासना शरीर के बिना नही होती। अत' धर्म की आराधना के लिए शरीर का पोषण भी करना होता है। सभी प्राणी आहार करते हैं। स्थावर प्राणी भी आहार करते है और त्रस प्राणी भी आहार करते है। ऐसा एक भी प्राणी नही है जो बिना आहार लिए प्राण-सधारण कर सके। जीवो के छह निकाय हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। ये सब अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार आहार लेते है। नारक और देव भी आहार लेते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन मे आहार और योनि—दोनों पर संयुक्त विचार किया गया है।

'आहार' पद का निक्षेप पाच प्रकार का किया है—नाम आहार, स्थापना आहार, द्रव्य आहार, क्षेत्र आहार और भाव आहार। द्रव्य आहार के तीन प्रकार है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त द्रव्य आहार के छह प्रकार है[2]—

१ पृथ्वीकाय आहार—लवण आदि का आहार।

२. अप्काय आहार—पानी का सेवन।

३. तेजस्काय आहार—अग्नि में उत्पन्न चूहे अग्नि का आहार करते हैं। मनुष्य आदि प्रज्वलित अग्नि को नही खाते, किन्तु लोम आहार के रूप मे उसका आहार करते ही हैं।[3]

४ वायुकाय आहार—लोम आहार के रूप मे वायु का सेवन।

५ वनस्पतिकाय आहार—कन्द-मूल आदि का आहार।

६. त्रसकाय आहार—हिंस्र पशु जीवित प्राणी का आहार करते हैं।

इसी प्रकार अचित्त और मिश्र द्रव्य आहार ज्ञातव्य है।

क्षेत्र आहार—जिस क्षेत्र का जो आहार होता है, वह क्षेत्र आहार है। जैसे चावल दक्षिणवासियो का आहार है, बाजरा थली प्रदेश का आहार है और मक्का मेवाड का आहार है।

भाव आहार—सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यो के जो वर्ण, गध, रस आदि हैं, उन्हे अपनी बुद्धि से पृथक्-पृथक् कर, उनका (वर्ण आदि का) आहरण करना भाव आहार है। आहार जिह्वेन्द्रिय का विषय है। आहार के मुख्य रस हैं—तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल और मधुर।[4]

रात्रिभोजन के प्रसग मे भाव की दृष्टि से तिक्त, मधुर आदि का ग्रहण किया जाता है। भोजन कुछ कोमल और स्वच्छ होना चाहिए। वे चावल अच्छे होते है जो कोमल हो, जिनसे वाफ निकलती हो। ठडे चावल प्रशस्त नही होते। पानी ठडा ही प्रशस्त होता है। कहा है—'शैत्यमपा प्रधानो गुण'। यह द्रव्याश्रित भाव-आहार का वर्णन है।[5]

आहारक प्राणी की अपेक्षा से भाव आहार तीन प्रकार का होता है—ओज आहार, लोम आहार और प्रक्षेप आहार।

---

१. वृत्ति, पत्र ८३ आहारपरिज्ञेति द्विपदं नाम।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३७६।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३७६ तेउकाओ सचित्तो आहारो इट्टगपागादिसु, महंतेसु अ अग्गिट्ठाणेसु अ अग्गिमूसगा संमुच्छंति, ते तं चेव सचित्तं अग्गिमाहारेंति सेसा मणूसादयो ण तरति जलमाणं सचित्तं अग्गिमाहारेतु ......लोमाहारो पुण तेसिं होति हेमते सीतेवि तावेंताणं।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३७६ : तेसिं चेव सचित्ताचित्तमीसगाणं दव्वाणं जे वण्णाइणो ते बुद्धीए वीसु २ काऊण आहारिज्जमाणो भावाहारो भवति, तत्थवि कडुकसायबिलमधुररसादि जिब्भिंदियविसयोत्तिकाऊण प्रायेण घेप्पति।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३७६।

१. ओज आहार

ओज का अर्थ है—शरीर। जो शरीर से आहार लिया जाता है, उसे ओज आहार कहते हैं। जब तक जीव तैजस और कार्मण शरीर से आहरण करता है, तब तक वह अपर्याप्तक अवस्था मे होता है और वह ओज आहार करता है।[1]

जीव अपने उत्पत्ति-क्षेत्र मे जाकर तैजस और कार्मण शरीर से पहले आहार ग्रहण करता है। उसके बाद औदारिकमिश्र या वैक्रियमिश्र शरीर से आहार ग्रहण करता है, जब तक कि उपयुक्त शरीर की निष्पत्ति नही हो जाती। जब जीव के औदारिक या वैक्रिय शरीर की निष्पत्ति हो जाती है तब वह औदारिक शरीर से या वैक्रिय शरीर से आहार करता है।[2]

कुछ आचार्यो का मत है कि जीव औदारिक आदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्तक हो जाने पर भी जब तक वह इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास भाषा और मन पर्याप्ति से पर्याप्तक नही हो जाता तब तक वह शरीर से आहार करता है, यह भी ओज आहार ही है।[3]

ओज आहार लेने वाले सभी जीव अपर्याप्तक होते हैं, क्योंकि उनके इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्तिया अभी नही होती। शरीर पर्याप्ति का निर्माण आहार पर्याप्ति के होने पर ही होता है।[4]

२. लोम आहार

चूर्णिकार ने त्वचा और स्पर्श से आहार लेना लोम आहार माना है।[5] जैसे—गर्मी से उत्तप्त प्राणी छाया मे जाता है और छाया के शीतल पुद्‌गलो को समस्त शरीर के रोमकूपो से ग्रहण करता है तथा शीतल वायु से अपने को आश्वस्त करता है। पखे से हवा लेता है, स्नान करता हुआ पानी के शीतल पुद्‌गलो को रोमकूपो से ग्रहण करता है—यह सारा लोम आहार है। हेमन्त, शीतऋतु मे अग्नि तापने वाले सचित्त अग्नि जीवो का लोम आहार करते है। शीत से कम्पायमान अर्द्धमृत मनुष्य भी अग्नि के ताप से स्वस्थ हो जाता है। पर्याप्तियो के पूर्ण हो जाने पर गर्भ मे भी लोम आहार होता है। वायु आदि के स्पर्श से होने वाला यह लोम आहार निरन्तर होता रहता है, किन्तु यह इन चर्म-चक्षुओ से दिखाई नही देता। यह प्राय प्रति समय होने वाला आहार है। अन्तराल गति मे यह नही होता।[6]

यह दो प्रकार का होता है[7]—

१ अनाभोगनिर्वर्तित।

२ आभोगनिर्वर्तित

वृत्तिकार के अनुसार शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद बाह्य त्वचा और लोम (रोम) से आहार लेना लोम आहार है।[8]

३. प्रक्षेप आहार

यह कवल आहार है। कवल के प्रक्षेप से यह निष्पन्न होता है। इसका सबध क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से है।

स्थानाग मे आहार-सज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बतलाए हैं[9]—

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३७७ : ओजत्ति सरीरं ओजाहारा—सरीराहारा……ओयाहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जत्तगा उच्यन्ते।

२ वृत्ति, पत्र ८७।

३ वही, पत्र ८७-८८ . केचिद् व्याचक्षते—औदारिकादिशरीरपर्याप्तया पर्याप्तकोऽपीन्द्रियानापानभाषामनःपर्याप्तिभिरपर्याप्तक शरीरेणाहारयन् ओजाहार इति गृह्यते।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७७।
(ख) वृत्ति, पत्र ८७।

५ चूर्णि, पृष्ठ ३७७ . तयाइ फासेण लोमआहारो।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३७७ . जं उण्हाभितत्तो छायं गंतूण छायापोग्गलेहिं आसासति सव्वगातलोमकूवाणुपविट्ठेहिं आसासति शीतवातेण वागादीयउक्खेणगादीवातेण वा आससति ण्हायंतो वा, एवमादि लोमाहारोत्ति, गब्भेवि लोमाहारो चेव जेण पक्खेवाहार इध आहारिज्जतो आहारो तेन चक्षुष्मता अन्येन वा ण दीसति लोमाहारः लोप इव लोपः अदर्शन-मित्यर्थ जे अदीसतां चोरा हरंति ते लोमाहारा वुच्चंति, एसो पुण लोमाहारो णिच्चमेव भवति।

७ वही, पृष्ठ ३७७ : अनाभोगणिव्वत्तितो आभोगणिव्वत्तितो वा।

८ वृत्ति, पत्र ८७ . लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा लोमभिराहारो लोमाहारः।

९. ठाणं ४।५७९ चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जति, त जहा—ओमकोट्ठताए, छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतीए, तदट्ठोवओगेणं।

१ पेट के खाली हो जाने से ।

२. क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से ।

३. आहार की बात सुनने से उत्पन्न मति से ।

४. आहार के विषय मे सतत चिन्तन करते रहने से ।

प्रक्षेप आहार इन चारो से सबधित होता है । यह निरतर नही होता, कभी होता है, कभी नही होता । उत्तरकुरु, देवकुरु के निवासी तीन-तीन दिन के अन्तर से प्रक्षेप आहार करते है । मख्येयवर्षायुष्क वाले प्राणी भी निरन्तर प्रक्षेप आहार नही करते । उनके भी स्पर्श से निरन्तर आहार होता है । एक इन्द्रिय वाले जीवो, नारको तथा देवो के प्रक्षेप आहार नही होता । एक इन्द्रिय वाले जीव पर्याप्तिक होकर स्पर्शन इन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करते हैं । उनके लोम आहार होता है । देवता द्वारा मन से कल्पित शुभ पुद्गल समूचे शरीर से आहार रूप मे परिणत होते हैं और इसी प्रकार नारको के वे अशुभ पुद्गल समूचे शरीर से आहार रूप मे परिणत होते हैं ।[1] शेष सारे ससारी प्राणी, जो औदारिक शरीर से युक्त हैं, जिनके जिह्वेन्द्रिय है, वे सब प्रक्षेप आहार करते हैं । वे प्रक्षेप आहार के बिना जी नही सकते ।

कुछ आचार्य इन तीन प्रकार के आहारो की भिन्न व्याख्या करते है[2]—

१ प्रक्षेप आहार—जो आहार जिह्वा से ग्रहण कर स्थूल शरीर मे प्रक्षिप्त किया जाता है, वह प्रक्षेप आहार है ।

२. ओज आहार—जो आहार घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण कर धातुओ के रूप मे परिणत किया जाता है, वह ओज आहार है ।

३ लोम आहार—जो केवल स्पर्शन इन्द्रिय से ग्रहण कर धातुओ के रूप मे परिणत किया जाता है, वह लोम आहार है ।

इसी प्रकार चूर्णिकार और वृत्तिकार ने क्षेत्र आहार और काल आहार के विषय मे सैद्धातिक जानकारी देते हुए विस्तार से लिखा है । वृत्तिकार ने काल आहार के प्रसग मे केवली के कवल आहार होता है या नही, इसकी विस्तृत मीमासा की है ।[3]

आहार और योनि

प्रस्तुत अध्ययन मे आहार और योनि के आधार पर वनस्पति के बारह प्रकार निर्दिष्ट किए हैं—

१ पृथ्वीयोनिक वृक्ष

२. वृक्षयोनिक अध्यारोह वृक्ष

३. उदकयोनिक वृक्ष

४. उदकयोनिक अध्यारोह वृक्ष

५ पृथ्वीयोनिक तृण

६ उदकयोनिक तृण

७ पृथ्वीयोनिक औषधि

८ उदकयोनिक औषधि

९ पृथ्वीयोनिक हरित

१० उदकयोनिक हरित

११ पृथ्वीयोनिक कुहण

१२ उदकयोनिक कुहण

---

१ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७७-३७८ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८८ ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७८ एकेत्वाचार्या एतदेव त्रिविधं आहारं अन्यथा ब्रुवते, तं जहा—पक्खेवाहार ओयाहारः लोमाहार इति त्रयः जिह्वेन्द्रियेन लभ्यते स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते सो पक्खेवाहारो, यो घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातो परिणाम्यते ओजाहारो, य. स्पर्शेनोपलभ्यते धातो परिणाम्यते स लोमाहारः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८८ ।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७८ ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८९-९१ ।

इन प्रत्येक के चार-चार आलापक है ।

पृथ्वीयोनिक वृक्ष

पहला आलापक—वनस्पतिया पृथ्वी आश्रित होती हैं ।

दूसरा आलापक—वे अप्काय आदि के शरीर का आहरण करती हैं ।

तीसरा आलापक—बडे होने पर उन आहृत शरीरो को अचित्त और विध्वस्त कर आत्मसात् कर लेती हैं ।

चौथा आलापक—पृथ्वीयोनिक वनस्पति के अन्यान्य अवयव नानावर्ण, नानागध वाले होते हैं ।

वृक्षयोनिक अध्यारोह वृक्ष

पृथ्वीयोनिक वृक्षो के अवयव के रूप मे जो उत्पन्न होते है तथा उस वृक्ष के मूल आरंभक जीव का उपचय करते है वे वृक्षयोनिक कहलाते हैं । अथवा वे जो उन वृक्षो के मूल, कन्द आदि दस अवयवो मे उत्पन्न होते हैं, वे वृक्षयोनिक अध्यारोह वृक्ष कहलाते हैं । जैसे वल्लीवृक्ष, कामवृक्ष आदि ।[1]

इनके चार आलापक इस प्रकार है—

१. वृक्षयोनिक वृक्षो मे दूसरे अध्यारोह वृक्ष उत्पन्न होते है ।

२. वे स्वयोनिभूत वनस्पति के शरीर का आहार करते है । तथा पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु के शरीर का आहार करते हैं ।

३. उन आहृत शरीरो को अचित्त और विध्वस्त कर आत्मसात् करते हैं और अपने शरीर के अवयव रूप मे उन्हे व्यवस्थापित करते हैं ।

४ उन अध्यारोह वृक्षो के अन्यान्य शरीर नाना रूप, रस, गध और स्पर्श वाले होते हैं । (सूत्र ६-९)

पृथ्वीयोनिक तृण (सूत्र १०-१३)

इनके चार आलापक ये हैं :—

१ अनेक प्रकार के तृण नाना प्रकार की पृथ्वीयोनियो से उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी के शरीर का आहार करते है ।

२ पृथ्वीयोनिक तृणो मे उत्पन्न होकर तृण शरीर का आहार करते हैं ।

३. तृणयोनिक तृणो मे उत्पन्न होकर तृणयोनिक तृण के शरीर का आहार करते हैं ।

४. तृणयोनिक तृणो के अवयव—मूल, कन्द आदि के रूप मे उत्पन्न होते हैं और तृण शरीर का आहार करते हैं ।

इसी प्रकार पृथ्वीयोनिक औषधि (सूत्र १४-१७) और पृथ्वीयोनिक हरित (सूत्र १८-२१) के भी चार-चार आलापक हैं । पृथ्वीयोनिक कुहण का एक ही आलापक है, क्योकि तद्योनिक जीवो का दूसरी योनियो मे अभाव है ।

इसी प्रकार सूत्रकार ने उदकयोनिक वृक्ष, उदकयोनिक तृण, उदकयोनिक औषधि और उदकयोनिक हरित—इनके चार-चार आलापक (कुल वीस आलापक) तथा उदकयोनिक कुहण का एक आलापक प्रस्तुत किया है ।[2] (सूत्र २३-४२)

वृत्तिकार का कथन है कि उदकयोनिक उदकाकृति वाली वनस्पतिया अवक, पनक, शैवाल आदि के चार प्रथम विकल्प ही होते हैं, शेष नही होते । क्योकि उनमे अध्यारोह आदि का सभव नही है ।[3]

वृत्तिकार ने वनस्पति के तीन विकल्प दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किए है —

१ पृथ्वीयोनिक वृक्ष

२. वृक्षयोनिक वृक्ष

३. वृक्षयोनिक मूल, कंद कादि ।

इसी प्रकार—

१ वृक्षयोनिक अध्यारोह

२. अध्यारोहयोनिक अध्यारोह

३ अध्यारोहयोनिक मूल, कन्द आदि ।

इसी प्रकार तृण, औषधि, हरित के तथा उदकयोनिक वृक्षो के विकल्प भी स्वीकृत है ।

---

१. वृत्ति, पत्र ९७ ।

२. आलापक विषयक ऊहापोह के लिए देखें—अंगसुत्ताणि १, पृष्ठ ४०४ ।

३. वृत्ति, पत्र ९८ ।

वनस्पति की तीन योनिया हैं—

१. पृथ्वीयोनिक वनस्पति

२ उदकयोनिक वनस्पति

३. वनस्पतियोनिक वनस्पति

१. पृथ्वीयोनिक वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति का उपादानभूत अपना वीज होता है। उसी के आधार पर उसकी उत्पत्ति होती है। किन्तु कुछेक वनस्पतियो की पृथ्वी ही वीज बन जाती है और वह उन वनस्पतियो की उत्पति का कारण होती है। जैसे शैवाल, जवाल आदि का उत्पत्ति-वीज पानी होता है, वैसे ही इन वनस्पतियो का उत्पत्ति-वीज पृथ्वी होती है। उत्पादक वीज के आधार पर वह पृथ्वीयोनिक वनस्पति कहलाती है। वह पृथ्वीयोनिक ही नही होती, उसकी स्थितिवाली भी होती है। वे जीव पृथ्वी मे ही बढते हैं। वे वनस्पति की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्मो से प्रेरित होकर वनस्पतिकाय से आकर फिर उसी वनस्पति मे उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी नाना प्रकार की होती है। अनुकूल पृथ्वीयोनि मे वे जीव वनस्पति के रूप मे उत्पन्न होकर बढते है। वे पृथ्वी को विना पीडा पहुंचाए, उसी का आहार करते हैं। पृथ्वी की स्निग्धता ही उनका आहार होता है। बडे होने पर वे जीव पृथ्वी को कुछ वाधा उत्पन्न कर सकते हैं। वे जीव केवल पृथ्वी के शरीर का ही आहार नही लेते, वे पानी (भूमीगत या आकाशीय) के शरीर का, तेजस्काय के शरीर—भस्म आदि के रूप मे परिवर्तित, का तथा वायु के शरीर का भी आहार करते हैं। वे श्वासोच्छ्वास लेते है, यह वायु के शरीर का आहरण है। इतना ही नही, वे जीव त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर का अवष्टभन कर, उनका आहार करते हैं। उत्पद्यमान वनस्पति के जीव अपनी त्वचा—स्पर्श से आहरण करते हैं, अपने शरीर के रूप मे परिणत करते है और उसके अनुरूप बन जाते हैं।

२. उदकयोनिक वनस्पति

कुछ वनस्पतिया पानी मे ही उत्पन्न होती है। वे उदकयोनिक कहलाती है। वे उदक के स्नेह का मुख्य रूप से आहरण करती है और उसी मे बढती है। यद्यपि वे वनस्पति नामकर्म के उदय से वहा उत्पन्न होती हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति का मूलवीज उदक होने के कारण उदकयोनिक कहलाती है। अवक, पनक, शैवाल, कलम्बु, हड आदि उदयोनिक वनस्पतिया हैं।

३ वनस्पतियोनिक वनस्पति

वृक्ष का मूल जीव एक होता है। उसके अवयव के जीव भिन्न-भिन्न होते है। वृक्ष के मूल अवयव दस है—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज। इनमे भिन्न-भिन्न जीव उत्पन्न होते है। ये सब वनस्पतियोनिक वनस्पति जीव है।

त्रसकाय के प्रकरण मे मनुष्य, जलचर, स्थलचर और खेचर के आहार पदो के छह आलापक (सूत्र ७९-८१) हैं।

प्रश्न होता है कि षड्जीवनिकायो मे वनस्पति पाचवा जीवनिकाय है। प्रस्तुत प्रसंग मे उसका वर्णन पहले कर फिर पृथ्वीकाय आदि का वर्णन किया गया है। यह व्यत्यय क्यो ?

चूर्णिकार और वृत्तिकार का कथन है कि पाच स्थावर जीवनिकायो मे वनस्पति ही एक ऐसा जीवनिकाय है जिसका चैतन्य अन्य स्थावर जीवनिकायो से स्पष्टतर है। लोग भी इसकी चेतनता को स्वीकार करते है, इसलिए इसका वर्णन सहज स्वीकार्य हो जाता है। शेष चार एकेन्द्रिय काय के प्रति श्रद्धा होना दुष्कर होता है इसलिए उनका वर्णन पश्चात् किया गया है।[1]

जीवो की उत्पत्ति की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। किस परिस्थिति मे, किस निमित्त को पाकर जीव किस प्रकार जन्म लेता है, इसकी अत्यन्त सूक्ष्म जानकारी प्रस्तुत अध्ययन मे प्राप्त है। जीवविज्ञान के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिए इसमे प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इस जगत् की विचित्रता मे जीवो का नानात्व एक आश्चर्य है। इस आश्चर्य का समाधान इसमे खोजा जा सकता है।

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८४ · एते वणस्सइकाईया, लोगोवि संपडिवज्जति जीवंति जेण सुहपण्णवणिज्जत्तिकाऊण पढमं भणिता, सेसा एगिंदिया पुढविकाईयादयो चत्तारि दुसद्दहणिज्जत्तिकाऊण पच्छा वुच्चंति।

(ख) वृत्ति, पत्र ९८।

तइयं अज्झयणं : तीसरा अध्ययन

आहारपरिण्णा : आहारपरिज्ञा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु आहारपरिण्णा णामज्झयणे। तस्स णं अयमट्ठे, इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा सव्वओ सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया ॥	श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं—इह खलु आहारपरिज्ञा नामाध्ययनम् । तस्य अयमर्थ , इह खलु प्राचीन वा प्रतीचीनं वा उदीचीन वा दक्षिणं वा सर्वत सर्वस्मिन् च लोके चत्वार' बीजकाया एवमाख्यायन्ते, तद् यथा—अग्रबीजा मूलबीजा पर्वबीजा स्कन्धबीजा ॥	१ आयुष्मान् ! मैंने सुना, उन भगवान् ने ऐसा कहा—आहारपरिज्ञा[1] नामका अध्ययन है। उसका यह अर्थ है, यहा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओ मे सर्वत , समूचे लोक मे चार बीजकाय[2] इस प्रकार कहे जाते हैं, जैसे—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज और स्कन्धबीज।
२. तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति।	तेषाञ्च यथाबीजेन यथावकाशेन इहैकके सत्त्वा. पृथ्वीयोनिका पृथ्वीसभवा पृथ्वीअवक्रमा' तद्योनिका' तत्सभवा तदवक्रमा कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा नानाविधयोनिकासु पृथ्वीपु रूक्षत्वेन विवर्तन्ते।	२ उनमे से कुछ जीव अपने-अपने बीज के अनुसार,[3] अपने-अपने स्थान के अनुसार[4] पृथ्वी-योनिक, पृथ्वी मे उत्पन्न, पृथ्वी मे लब्धजन्म,[5] उस योनि वाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म,[6] कर्माधीन[7] [कर्म के अनुसार जिस स्वरूप को उपलब्ध होना है उसके अनुकूल गर्भाधान वाले], कर्म के कारण[8] उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, नानाविध योनिवाली पृथ्वियो पर नाना वृक्षो के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।
ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?], णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थ तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं सतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।	ते जीवा तासा नानाविधयोनिकाना पृथ्वीना स्नेह आहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेजशरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीरम्]। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीरं पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।	वे जीव (पृथ्वीयोनिक वृक्ष) उन नानाविध योनिवाली पृथ्वियो के स्नेह (रस या शरीर-सार) का आहार करते है[9]—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त (निर्जीव) करते है। वे उस परिविध्वस्त [पूर्व जीवमुक्त] शरीर का,[10] जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका,[11] जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका,[12] जो आत्मसात् कर चुका,[13] उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेंसि पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अपरेऽपि च तेषा पृथ्वीयोनिकाना रूक्षाणा शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम् ।

और भी उन पृथ्वीयोनिक वृक्षो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक वृक्ष के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

३. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. रूक्षयोनिकाः रूक्षसंभवा. रूक्षावक्रमा तद्योनिकाः तत्संभवा तदवक्रमा कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा पृथ्वीयोनिकेषु रूक्षेषु रूक्षत्वेन विवर्तन्ते।

३ एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव वृक्षयोनिक, वृक्ष मे उत्पन्न, वृक्ष मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले, पृथ्वीयोनिक वृक्षो मे वृक्ष के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेंसि पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?], णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषा पृथ्वीयोनिकाना रूक्षाणां स्नेहं आहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं], नानाविधाना त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृत, त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त (निर्जीव) करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेंसि रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अपरेऽपि च तेषा रूक्षयोनिकाना रूक्षाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम् ।

और भी उन वृक्षयोनिक वृक्षो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीरपुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक वृक्षो मे वृक्ष के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. रूक्षयोनिका. रूक्षसंभवा.

४. एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव वृक्षयोनिक, वृक्ष मे उत्पन्न, वृक्ष मे लब्धजन्म, उस

रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति।

रूक्षावक्रमा तद्योनिका तत्संभवा तदवक्रमा कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा रूक्षयोनिकेषु रूक्षेषु रूक्षत्वेन विवर्तन्ते।

योनिवाले उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, वृक्षयोनिक वृक्ष मे वृक्ष के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं त सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषा रूक्षयोनिकाना रूक्षाणा स्नेह आहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीर], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मितया आहरन्ति]।

वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेपा रूक्षयोनिकाना रूक्षाणा शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन वृक्षयोनिक वृक्षो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से वृक्षयोनिक वृक्षो मे वृक्ष के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

५. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. रूक्षयोनिका रूक्षसंभवा रूक्षावक्रमा तद्योनिका. तत्सभवा तदवक्रमा कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा रूक्षयोनिकेपु रूक्षेपु मूलतया कन्दतया स्कन्धतया त्वक्तया सालतया प्रवालतया पत्रतया पुष्पतया फलतया बीजतया विवर्तन्ते।

५ एक ओर जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव वृक्षयोनिक, वृक्ष मे उत्पन्न, वृक्ष मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, वृक्षयोनिक वृक्षो मे मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहा-

ते जीवा तेषा रूक्षयोनिकाना रूक्षाणा स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा

वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्नि-

रेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

अ हरन्ति पृथ्वीशरीरं, अप्शरीरं, तेज.शरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीर], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

शरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं पत्ताणं पुप्फाणं फलाणं बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा रूक्षयोनिकाना मूलाना कन्दाना स्कन्धाना त्वचा सालाना प्रवालाना पत्राणा पुष्पाणा फलाना बीजाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन वृक्षयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीजो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान मे सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो मे विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से वृक्षयोनिक वृक्षो मे मूल, कन्द आदि के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा रूक्षयोनिका रूक्षसभवा रूक्षावक्रमा, तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा रूक्षयोनिकेषु रूक्षेषु अध्यारोहत्वेन विवर्तन्ते।

६ एक और पूर्व आख्यात है—कुछ जीव वृक्षयोनिक, वृक्ष मे उत्पन्न, वृक्ष मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, वृक्षयोनिक वृक्षो पर उत्पन्न होने वाले वृक्ष के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं

ते जीवा तेषा रूक्षयोनिकाना रूक्षाणा स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर, तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीर], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्तं कुर्वन्ति।

वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के

तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्व-प्पणत्ताए आहारेंति ?]।

परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृत विपरिणतं सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं रुक्ख-जोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा णाणा-गंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणा-विहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा रूक्षयोनिकाना अध्यारोहाणा शरीराणि नाना-वर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसस्थि-तानि नानाविधशरीरपुद्‌गल-विकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन वृक्षयोनिक अध्यारोहो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासथान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्‌गलो से विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से वृक्षयोनिक अध्यारोह के रूप मे उपपन्न होते हैं— ऐसा कहा गया है।

७. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा अज्झा-रोहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति।

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा अध्यारोहयोनिका अध्या-रोहसंभवा अध्यारोहावक्रमा, तद्‌योनिका तत्सभवा. तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्राव-क्रमा रूक्षयोनिकेषु अध्यारोहेषु अध्यारोहतया विवर्तन्ते।

७. एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव अध्यारोह-योनिक (वृक्ष पर उत्पन्न वृक्षयोनिक), अध्यारोह-सभव, अध्यारोह मे लब्धजन्म, उस योनि वाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, वृक्ष-योनिक अध्यारोहो मे अध्यारोह के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

ते जीवा तेसिं रुक्खजोणि-याणं अज्झारोहाणं सिणेह-माहारेंति—ते जीवा आहा-रेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वण-स्सइसरीर [तसपाण-सरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिवि-द्धत्थं तं सरीर पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्व-प्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषां रूक्षयोनिकाना अध्यारोहाणा स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्-शरीरं, तेज शरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं] नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृत सत् (सर्वात्मतया आहरन्ति]

वे जीव उन वृक्षयोनिक अध्यारोहो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रसप्राण-शरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य तेसिं अज्झा-रोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा णाणा-गंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणा-विहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं।

अपरेऽपि च तेषा अध्यारोहयोनि-कानां अध्यारोहाणा शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नाना-रसानि नानास्पर्शानि नाना-सस्थानसस्थितानि नानाविध-शरीरपुद्‌गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्या-तम्।

और भी उन अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्‌गलो से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से अध्यारोहयोनिक अध्यारोह के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐस कहा गया है।

८. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा अज्झारोहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा अध्यारोहयोनिका अध्यारोहसभवा' अध्यारोहावक्रमा., तद्योनिका. तत्संभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. अध्यारोहयोनिकेषु अध्यारोहेषु अध्यारोहतया विवर्तन्ते।

८ एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव अध्यारोहयोनिक, अध्यारोहसभव, अध्यारोह मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो मे अध्यारोह के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषा अध्यारोहयोनिकाना अध्यारोहाणा स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेज शरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर, (त्रस प्राणशरीर) का आहार करते है और नानाप्रकार के त्रसस्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां अध्यारोहयोनिकाना अध्यारोहाणा शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से अध्यारोहयोनिक अध्यरोहो मे अध्यारोहो के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

९. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा अज्झारोहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवाल-

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा अध्यारोहयोनिका. अध्यारोहसभवा अध्यारोहावक्रमा तद्योनिका. तत्सभवा. तदवक्रमा., कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. अध्यारोहयोनिकेषु अध्यारोहेषु मूलतया कन्दतया स्कन्धतया त्वक्तया सालतया प्रवाल-

९ एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव अध्यारोहयोनिक, अध्यारोहसभव, अध्यारोह मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो मे मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल

त्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति।

तया पत्रतया पुष्पतया फलतया वीजतया विवर्तन्ते।

और वीज के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषा अध्यारोहयोनिकाना अध्यारोहाणा स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीर], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत, त्वचाहृत विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रस-प्राणशरीर) का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं पत्ताणं पुप्फाणं फलाणं बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा अध्यारोहयोनिकाना मूलाना कदाना स्कन्धाना त्वचा सालाना प्रवालाना पत्राणा पुष्पाणा फलाना वीजाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन अध्यारोहयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीजो के शरीर नानावर्ण नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से अध्यारोहयोनिक अध्यारोहो मे अध्यारोहो के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

१०. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति।

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा पृथ्वीयोनिका पृथ्वीसभवा पृथ्वी-अवक्रमा, तद्योनिका तत्संभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा नानाविधयोनिकासु पृथ्वीषु तृणतया विवर्तन्ते।

१० एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव पृथ्वीयोनिक पृथ्वी मे उत्पन्न, पृथ्वी मे लब्धजन्म, उस योनिवाले उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, नानाविधयोनिकपृथ्वी मे तृण के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं

ते जीवा तासा नानाविधयोनिकाना पृथ्वीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर, तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीरं],

वे जीव उन नानाविधयोनिक पृथ्वी के स्नेह का का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर, (त्रसप्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है।

वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

से उस परिविध्वस्त (पूर्ण जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं तणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां पृथ्वीयोनिकानां तृणानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकुर्वितानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन पृथ्वीयोनिक तृणों के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक तृण के रूप में उत्पन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

११. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता तणजोणिया तणसंभवा तणवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैके सत्त्वाः तृणयोनिकाः तृणसंभवाः तृणावक्रमाः, तद्योनिकाः तत्संभवाः तदवक्रमाः, कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः पृथ्वीयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते।

११. एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव तृणयोनिक तृण में उत्पन्न, तृण में मध्यजन्म, उस योनिवाले, उस योनि में उत्पन्न, उस योनि में मध्यजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले, पृथ्वीयोनिक तृणों में तृण के रूप में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं तणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]॥

ते जीवा तेषां पृथ्वीयोनिकानां तृणानां स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं], नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक तृणों के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर, (त्रस-प्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्ण जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं तणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा

अपरेऽपि च तेषां पृथ्वीयोनिकानां तृणानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि

और भी उन पृथ्वीयोनिक तृणों के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से

णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक तृणो मे तृण के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

१२ अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता तणजोणिया तणसंभवा तणवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति।

अथापर पुराख्यातम्– इहैकके सत्त्वा तृणयोनिका तृणसभवा तृणावक्रमा, तद्योनिका· तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा· तृणयोनिकेषु तृणेषु तृणतया विवर्तन्ते।

१२ एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव तृणयोनिक, तृण मे उत्पन्न, तृण मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, तृणयोनिक तृणो मे तृण के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं तणजोणियाणं तणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?] ॥

ते जीवा तेपा तृणयोनिकाना तृणाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर, तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीर [त्रसप्राणशरीर], नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणतं सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन तृणयोनिक तृणो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर, [त्रस-प्राणशरीर] का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त [पूर्व जीवमुक्त] शरीर का, जो पहले [अपनी उत्पत्ति के समय] आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का [सर्वात्मना आहरण करते है]।

अवरे वि य णं तेसिं तणजोणियाणं तणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अपरेऽपि च तेपा तृणयोनिकाना तृणाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन तृणयोनिक तृणो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से तृणयोनिक तृणो मे तृण के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

१३. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता तणजोणिया तणसंभवा तणवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवकम्मा तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा तृणयोनिका तृणसभवा तृणावक्रमा, तद्योनिका तद्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा तृणयोनिकेषु तृणेषु मूलतया कन्दतया स्कन्धतया त्वक्तया

१३ एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव तृणयोनिक तृण मे उत्पन्न, तृण मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, तृणयोनिक तृणो मे मूल, कन्द, स्कन्ध,

सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति।

शालतया प्रवालतया पत्रतया पुष्पतया फलतया बीजतया विवर्तन्ते।

त्वक्, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज के रूप में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं तणजोणियाणं तणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवाः तेषां तृणयोनिकानां तृणानां स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं], नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वगाहृतं विपरिणतं सारूपीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन तृणयोनिक तृणों के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर [त्रस-प्राणशरीर] का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त [पूर्व जीवमुक्त] शरीर का, जो पहले [अपनी उत्पत्ति के समय] आहृत कर चुका, जो त्वचा से आहृत कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का [सर्वात्मना आहरण करते हैं]।

अवरे वि य णं तेसिं तणजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाण सालाणं पवालाणं पत्ताणं पुप्फाणं फलाणं बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां तृणयोनिकानां मूलानां कन्दानां स्कन्धानां त्वचां शालानां प्रवालानां पत्राणां पुष्पाणां फलानां बीजानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन तृणयोनिक तृणों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाखा, प्रवाल, पुष्प, फल और बीजों के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गल से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से तृणयोनिक तृणों में मूल, कन्द आदि के रूप में उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

१४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु ओसहित्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वाः पृथ्वीयोनिकाः पृथ्वीसंभवाः पृथ्वी-अवक्रमाः, तद्योनिकाः तत्संभवाः तदवक्रमाः, कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः नानाविधयोनिकासु पृथ्वीषु औषधितया विवर्तन्ते।

१४. एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव पृथ्वीयोनिक पृथ्वी में उत्पन्न, पृथ्वी में लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि में उत्पन्न, उस योनि में लब्ध-जन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले, नानाविधयोनिक पृथ्वी में औषधि के रूप में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं

ते जीवाः तासां नानाविधयोनिकानां पृथ्वीनां स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेजःशरीरं वायुशरीरं

वे जीव उन नानाविधयोनिक पृथ्वी के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर [त्रस-प्राणशरीर] का आहार करते हैं और नाना प्रकार के

तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाण-सरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं]। नानाविधानां त्रसस्थावराणा प्रणाना शरीर अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तासिं पुढविजोणियाणं ओसहीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तासां पृथ्वीयोनिकाना औषधीना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन पृथ्वीयोनिक औषधियो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव वनस्पति नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक औषधिरूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

१५. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता ओसहिजोणिया ओसहिसंभवा ओसहिवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा, पुढविजोणियासु ओसहीसु ओसहित्ताए विउट्टंति।

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा औषधियोनिका औषधिसंभवा औषधि-अवक्रमा, तद्योनिका तत्संभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा, पृथ्वीयोनिकासु औषधिषु औषधितया विवर्तन्ते।

१५. एक और जो पूर्व आख्यात है—कुछ जीव औषधियोनिक, औषधि मे उत्पन्न, औषधि मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले पृथ्वीयोनिक औषधियो मे औषधि के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तासिं पुढविजोणियाण ओसहीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं [तसपाणसरीरं ?]। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तासा पृथ्वीयोनिकाना औषधीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीरं, तेज.शरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीरं [त्रसप्राणशरीरं]। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृतं त्वचाहृत विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक औषधियो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव उन पृथ्वीशरीर, जलशरीर अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर (त्रस-प्राणशरीर) का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तासिं पुढविजोणियाणं ओसहीण सरीरा

अपरेऽपि च तासा पृथ्वीयोनिकाना औपधीना शरीराणि नाना-

और भी उन पृथ्वीयोनिक औषधियो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नाना-

दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए, एत्थ णं मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति।

यथा—एकखुराणा द्विखुराणां गंडीपदाना सनखपदानाम्। तेषा च यथाबीजेन यथावकाशेन स्त्रिय पुरुषस्य च कर्मकृताया योनौ, अत्र मैथुनप्रत्ययिको नाम संयोग समुत्पद्यते। तौ द्वावपि स्नेहं संचिनुत'। तत्र जीवा स्त्रीतया पुरुषतया नपुसकतया विवर्तन्ते।

सनखपद। उनके अपने-अपने बीज (शुक्र और शोणित) के अनुसार, अपने-अपने स्थान के अनुसार, स्त्री और पुरुष की कर्म-समर्थ योनि मे मैथुनप्रत्ययिक नामवाला सयोग उत्पन्न होता है। वे दोनो (स्त्री-पुरुष) स्नेह का सचय करते है—पुरुष का शुक्र और नारी का ओज—दोनो दूध और जल की भाति एकमेक हो जाते है। उस स्नेह मे (उत्पन्न होने वाले) जीव स्त्री, पुरुष या नपुसक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं तदुभय-संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति। तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहारेति, तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति। अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारिय तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवा: मातु. ओज' पितु' शुक्र तदुभयसंसृष्टं कलुषं किल्विषं तत्प्रथमतया आहारं आहरन्ति। तत. पश्चात् यत् सा माता नानाविधा रसवती आहारं आहरति, तत एकदेशेन ओज आहरन्ति। अनुपूर्वेण वृद्धा परिपाकं अनुप्रपन्ना तत' कायात् अभिनिवर्तमाना. स्त्री' वा एकदा जनयन्ति, पुरुषं वा एकदा जनयन्ति, नपुसक वा एकदा जनयन्ति। ते जीवा. दहरा. सन्त. मातुः क्षीर सर्पिराहरन्ति, अनुपूर्वेण वृद्धा' वनस्पतिकायं त्रसस्थावराश्च प्राणान्—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं, अप्शरीरं तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरम्। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणाना शरीर अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव (सर्व प्रथम) माता के ओज और पिता के शुक्र – दोनो से ससृष्ट, कलुष, किल्विष आहार लेते है। तत्पश्चात् माता जो नानाप्रकार के पदार्थों का आहार करती है, उसका वे गर्भस्थ जीव एक देश से (रसहरणी नाडी के द्वारा) सार खींच लेते है। वे क्रमश बढते हैं और गर्भ का परिपाक होने पर, माता के शरीर से बाहर आते है। वे कभी स्त्री के रूप मे कभी पुरुष के रूप मे और कभी नपुसक के रूप मे, उत्पन्न होते हैं। वे जीव नवजात शिशु की अवस्था मे माता के दूध और घी का आहार करते हैं। वे क्रमश बडे होकर वनस्पतिकाय और त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाण सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा, णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया।

अपरेऽपि च तेषा नानाविधाना चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां एकखुराणा द्विखुराणा गंडीपदानां सनखपदाना शरीराणि नानावर्णानि नानागंधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसस्थितानि नानाविध-

और भी उन नानाप्रकार के चतुष्पद स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक एकखुर, द्विखुर, गडीपद और सनखपदो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव तिर्यञ्च

ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

शरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम् ।

नामकर्म के उदय से एकखुर आदि के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है ।

७९. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदिय - तिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए, एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति । तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति ।

अथापरं पुराख्यातम्—नानाविधाना उरपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाना तद् यथा—अहीनां अजगराणा आशालिकाना महोरगाणाम् । तेपा च यथावीजेन यथावकाशेन स्त्रियः पुरुपस्य कर्मकृताया योनौ, अत्र मैथुनप्रत्ययिको नाम सयोग समुत्पद्यते। तौ द्वावपि स्नेह संचिनुतः। तत्र जीवाः स्त्रीतया पुरुपतया नपुसकतया विवर्तन्ते ।

७९. एक और जो कहा गया है—नानाप्रकार के उरपरिसर्प- स्थलचरपचेन्द्रिय - तिर्यञ्चयोनिक जीव होते है[५५]—सर्प, अजगर, आसालिक और महोरग । उनके अपने-अपने वीज (शुक्र और शोणित) के अनुसार, अपने-अपने स्थान के अनुसार स्त्री और पुरुप की कर्म-समर्थ योनि मे मैथुनप्रत्ययिक नामवाला सयोग उत्पन्न होता है। वे दोनो (स्त्री-पुरुप) स्नेह का सचय करते है—पुरुप का शुक्र और नारी का ओज—दोनो दूध और जल की भाति एकमेक हो जाते हैं। उस स्नेह मे (उत्पन्न होने वाले) जीव स्त्री, पुरुप या नपुसक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है ।

ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं तदुभय-संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति। तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहारेति, तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति। अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा, तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति। से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवाः मातुः ओजः पितुः शुक्र तदुभयसंसृष्टं कलुपं किल्विप तत्प्रथमतया आहारं आहरन्ति। तत पश्चात् यत् सा माता नानाविधा रसवतीः आहारं आहरति, तत. एकदेशेन ओज आहरन्ति। अनुपूर्वेण वृद्धा. परिपाकं अनुप्रपन्ना., तत कायात् अभिनिवर्तमानाः अड वा एकदा जनयन्ति, पोतं वा एकदा जनयन्ति। अथ अडे उद्भिद्यमाने स्त्री वा एकदा जनयन्ति, पुरुष वा एकदा जनयन्ति, नपुसक वा एकदा जनयन्ति। ते जीवा. दहराः सन्त वायुकाय आहरन्ति, अनुपूर्वेण वृद्धा वनस्पतिकायं त्रस-स्थावराश्च प्राणान्—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीरं पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव (सर्व प्रथम) माता के ओज और पिता के शुक्र—दोनो से ससृष्ट, कलुप, किल्विप आहार लेते है। तत्पश्चात् माता जो नानाप्रकार के पदार्थो का आहार करती है, उसका वे गर्भस्थ जीव एक देश से (रसहरणी नाडी के द्वारा) सार खीच लेते हैं। वे क्रमश बढते है और गर्भ का परिपाक होने पर, माता के शरीर से बाहर आते हैं। वे कभी अडे के रूप मे, कभी पोत (बच्चे) के रूप मे उत्पन्न होते है। वह अडा फूटने पर कभी स्त्री के रूप मे, कभी पुरुप के रूप मे और कभी नपुसक के रूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव नवजात शिशु की अवस्था मे वायुकाय का आहार करते है। वे क्रमश बडे होकर वनस्पतिकाय और त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना-प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करने है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिंदिय - तिरिक्खजोणियाणं अहीणं अगराणं आसालियाणं महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां नानाविधाना उरपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकाना अहीना अजगराणा आशालिकानां महोरगाणां शरीराणि नानावर्णानि नानागधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका: भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन नानाप्रकार के उरपरिसर्प-स्थलचर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक सर्प, अजगर आसालिक और महारगो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव तिर्यञ्च नामकर्म के उदय से सर्प आदि के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया हे।

८०. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलचरपंचिंदिय - तिरिक्खजोणियाणं, तं जहा— गोहाणं णउलाणं सेहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खाराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मूसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जाहाणं चाउप्पाइयाणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए, एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ वि सिणेहं सचिणंति। तत्थ ण जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति।

अथापर पुराख्यातम्—नानाविधाना भुजपरिसर्प-स्थलचर-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाना, तद् यथा—गोधाना नकुलाना सेधाना सरटाना शल्याना 'सरवाणा' 'खाराणा' गृहोलिकाना विसंभराणा मूषकाणा मंगूसाना 'पयलाइयाणं' विडालिकाना जाहकाना चतुष्पादिकानाम्। तेषा च यथावीजेन यथावकाशेन स्त्रिय. पुरुषस्य च कर्मकृतायां योनौ, अत्र मैथुनप्रत्ययिको नाम सयोग. समुत्पद्यते। तौ द्वावपि स्नेहं सचिनुत। तत्र जीवा स्त्रीतया पुरुषतया नपुसकतया विवर्तन्ते।

८० एक और जो कहा गया है—नानाप्रकार के भुजपरिसर्प-स्थलचर-पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक चतुष्पादिक जीव होते है, जैसे[१४]—गोह, नेवला, मेहा, गिरगिट, साही, 'सरव', 'खार', छिपकली, छछुन्दरी, चूहा, मगूस, 'पयलाइय' विडाली, साही। उनके अपने-अपने वीज (शुक्र और शोणित) के अनुसार, अपने-अपने स्थान के अनुसार, स्त्री और पुरुष की कर्म-समर्थ योनि मे मैथुन-प्रत्ययिक नामवाला सयोग उत्पन्न होता है। वे दोनो (स्त्री-पुरुष) स्नेह का सचय करते है—पुरुष का शुक्र और नारी का ओज—दोनो दूध और जल की भाति एकमेक हो जाते है। उस स्नेह मे (उत्पन्न होने वाले) जीव, स्त्री, पुरुष या नपुसक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं तदुभय-संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति। तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहारेति, तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति। अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा, तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति। से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहा-

ते जीवा मातु ओज पितु. शुक्रं तदुभयसंसृष्टं कलुषं किल्विषं तत्प्रथमतया आहारं आहरन्ति। तत. पश्चात् यत् सा माता नानाविधा रसवती आहारं आहरति, तत एकदेशेन ओज आहरन्ति। अनुपूर्वेण वृद्धा परिपाक अनुप्रपन्ना', तत कायात् अभिनिवर्तमाना. अड वा एकदा जनयन्ति, पोत वा एकदा जनयन्ति। अथ अडे उद्भिद्यमाने स्त्री वा एकदा जनयन्ति, पुरुष वा एकदा जनयन्ति, नपुसक वा एकदा जनयन्ति। ते जीवा. दहरा सन्त.

वे जीव सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के शुक्र—दोनो से ससृष्ट, कलुप, किल्विप, आहार लेते हैं। तत्पश्चात् माता जो नानाप्रकार के पदार्थों का आहार करती है, उसका वे गर्भस्थ जीव एक देश से (रसहरणी नाडी के द्वारा) सार खीच लेते है। वे क्रमश वढते हैं और गर्भ का परिपाक होने पर, माता के शरीर मे बाहर आते हैं। वे कभी अडे के रूप मे, कभी पोत (वच्चे) के रूप मे उत्पन्न होते है। वह अडा फूटने पर कभी स्त्री के रूप मे, कभी पुरुष के रूप मे और कभी नपुसक के रूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव नवजात शिशु की अवस्था मे वायुकाय का आहार करते हैं। वे क्रमश वड़े होकर वनस्पतिकाय और त्रस-

रेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइ-कायं तसथावरे य पाणे—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाण तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परि-विद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं[सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

वायुस्नेहमाहरन्ति, अनुपूर्वेण वृद्धा. वनस्पतिकाय त्रसस्था-वरांश्च प्राणान्—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज·शरीरं वायुशरीरं वनस्पति-शरीरं त्रसप्राणशरीरं। नाना-विधाना त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

स्थावर प्राणियो का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा मे आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलचरपंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं गोहाणं णउलाणं सेहाणं सरडाणं सल्लाणं सरवाणं खाराणं घरकोइलियाणं विस्संभ-राणं मूसगाणं पयलाइयाणं विरा-लियाणं जाहाणं चाउप्पाइयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणा-संठाणसंठिया णाणाविहसरीर-पोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा नानाविधानां भुजपरिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां गोधाना नकुलाना सेधाना सरटाना शल्याना सरवाणा खाराणा गृहोलिकाना विसभराणा मूषकाना मगूसाना 'पयलाइयाणं' विरालिकाना जाहकाना चतुष्पादिकाना शरीराणि नाना-वर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थान-संस्थितानि नानाविधशरीर-पुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका: भवन्तीति आख्यात-तम्।

और भी उन नानाप्रकार के चतुष्पादिक भुजपरिसर्प-स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक गोह, नकुल, सेहा, गिरगिट, माही, 'मरव', 'खार', छिपकली, छछुन्दरी चूहा, मगूस, 'पयलाइय,' विडाली और साही के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासथान मे सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव तिर्यञ्च नामकर्म के उदय से गोह आदि के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

८१. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं। तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणिए, एत्थ णं मेहुणवत्तियाए णामं संजोगे समुप्पज्जइ। ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति। तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—नाना-विधाना खेचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनिकाना, तद् यथा—चर्म-पक्षिणा रोमपक्षिणा समुद्ग-पक्षिणा विततपक्षिणाम्। तेषा च यथावीजेन यथावकाशेन स्त्रिय. पुरुषस्य च कर्मकृताया योनौ अत्र मैथुनप्रत्ययिको नाम सयोग· समुत्पद्यते। तौ द्वावपि स्नेहं संचिनुत। तत्र जीवा. स्त्रीतया पुरुषतया नपुसकतया विवर्तन्ते।

८१ एक और जो कहा है—नानाप्रकार के खेचर पचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव होते हैं', जैसे—चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गपक्षी और विततपक्षी। उनके अपने-अपने वीज (शुक्र और शोणित) के अनुसार, अपने-अपने स्थान के अनुसार स्त्री और पुरुष की कर्म-समर्थ योनि मे मैथुनप्रत्ययिक नामवाला सयोग उत्पन्न होता है। वे दोनो (स्त्री-पुरुष) स्नेह का सचय करते है—पुरुष का शुक्र और नारी का ओज—दोनो दूध और जल की भाति एकमेक हो जाते है। उस स्नेह मे (उत्पन्न होने वाले) जीव स्त्री, पुरुष या नपुसक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।'

ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं तदुभय-संसट्ठं कलुसं किब्बिसं

ते जीवा. मातु· ओज पितु शुक्रं तदुभयसंसृष्ट कलुषं किल्विष

वे जीव सर्वप्रथम माता के ओज और पिता के शुक्र—दोनो से ससृष्ट, कलुष,

तप्पढमयाए आहारमाहारेंति। तओ पच्छा जं से माया णाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहारेति, तओ एगदेसेणं ओयमाहारेंति। अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवण्णा, तओ कायाओ अभिणिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति, पोयं वेगया जणयंति। से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति, पुरिसं वेगया जणयंति, णपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा माउगायसिणेहमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं-वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

तत्प्रथमतया आहारं आहरन्ति। तत. पश्चात् यत् सा माता नानाविधा रसवती आहार आहरति, तत एकदेशेन ओज आहरन्ति। अनुपूर्वेण वृद्धा परिपाक अनुप्रपन्ना, तत कायात् अभिनिवर्तमाना अड वा एकदा जनयन्ति, पोत वा एकदा जनयन्ति। अथ अडे उद्भिद्यमाने स्त्री वा एकदा जनयन्ति, पुरुष वा एकदा जनयन्ति, नपुसक वा एकदा जनयन्ति। ते जीवा दहरा सन्त मातु गात्रस्नेह आहरन्ति, अनुपूर्वेण वृद्धा वनस्पतिकाय त्रसस्थावरांश्च प्राणान्—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

किल्विप आहार लेते हैं। तत्पश्चात् माता जो नानाप्रकार के पदार्थों का आहार करती है, उसका वे गर्भस्थ जीव एक देश से (रसहरणी नाडी के द्वारा) सार खीच लेते है। वे क्रमश बढते हैं और गर्भ का परिपाक होने पर, माता के शरीर से बाहर आते है। वे कभी अडे के रूप मे, कभी पोत (बच्चे) के रूप मे उत्पन्न होते है। वह अडा फूटने पर कभी स्त्री के रूप मे, कभी पुरुप के रूप मे और कभी नपुसक के रूप मे उत्पन्न होते है। वे जीव नवजात शिशु की अवस्था मे माता के गात्र-स्नेह का आहार करते हैं। वे क्रमश बडे होकर वनस्पतिकाय और त्रस-स्थावर प्राणियो का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य ण तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीण विततपक्खीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा नानाविधाना खेचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाना चर्मपक्षिणा रोमपक्षिणा समुद्गपक्षिणां विततपक्षिणा शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन नानाप्रकार के खेचरपचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गपक्षी और विततपक्षी—इनके शरीर नानावर्ण नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव तिर्यञ्च नामकर्म के उदय से चर्मपक्षी आदि के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

८२. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा नानाविधयोनिका. नानाविधसभवा. नानाविधावक्रमा, तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा, नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरेषु

८२ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नानाप्रकार से उत्पन्न, नानाप्रकार से लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के

वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति ।

सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा अनुस्यूततया विवर्तन्ते ।

सचित्त अथवा अचित्त शरीरों के आश्रय में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवाः तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते हैं और नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानां अनुस्यूतकानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावर-योनिक तथा त्रस-स्थावर प्राणियों के आश्रय में स्थित जीवों के[१७] शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नाना संस्थान से संस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से विकलेन्द्रिय के रूप में उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

८३. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाण य सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा दुरूवसंभवत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधसंभवाः नानाविधावक्रमाः, तद्योनिकाः तत्संभवाः तदवक्रमाः, कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः नानाविधानां मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानां च शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा 'दुरूव'संभवतया विवर्तन्ते।

८३. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नाना प्रकार से उत्पन्न, नाना प्रकार से लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि में उत्पन्न, उस योनि में लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले नानाप्रकार के मनुष्य तथा तिर्यञ्चयोनिक (प्राणियों) के सचित्त अथवा अचित्त मल, मूत्र आदि में उत्पन्न होकर अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।[१८]

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाण य सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परि-

ते जीवाः तेषां नानाविधानां मनुष्याणां तिर्यक्योनिकानां च स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परि-

वे जीव उन नानाविध मनुष्यों तथा तिर्यञ्चयोनिक (प्राणियों) के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो

विद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं[सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

विध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं मणुस्स-तिरिक्खजोणियाणं दुरूवसंभवाण सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणा-संठाणसंठिया णाणाविहसरीर-पोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा मनुष्यतिर्यक्-योनिकाना 'दुरूव'संभवाना शरीराणि नानावर्णानि नाना-गधानि नानारसानि नाना-स्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थि-तानि नानाविधशरीरपुद्गल-विकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन मनुष्य तथा तिर्यञ्चयोनिक (प्राणियो) के मल, मूत्र मे उत्पन्न होने वाले जीवो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से मनुष्य और तिर्यञ्च के मल, मूत्र मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

८४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणा-विहसंभवा णाणाविहवक्कम्मा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ-वक्कमा णाणाविहाणं तसथा-वराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा खुरदुगत्ताए विउट्टंति।
ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परि-विद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं[सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नाना-विधसंभवा नानाविधावक्रमा, तद्योनिका तत्संभवा तदव-क्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा 'खुर-दुगत्ताए' विवर्तन्ते।
ते जीवा तेषा नानाविधाना त्रस-स्थावराणा प्राणाना स्नेहमाह-रन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वी-शरीर अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर त्रस-प्राणशरीर। नानाविधाना त्रस-स्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीरं पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

८४. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नाना-विधयोनिक, नानाप्रकार से उत्पन्न, नाना प्रकार से लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होनेवाले नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के सचित्त अथवा अचित्त शरीरो मे चर्मकीट के रूप मे[१] अपने अस्तित्व को धारण करते है।

वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं तसथावर-जोणियाणं खुरदुगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा त्रसस्थावरयोनि-काना 'खुरदुगाण' शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नाना-रसानि नानास्पर्शानि नाना-सस्थानसंस्थितानि नानाविध-शरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक चर्मकीटो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नाना-स्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से चर्मकीट के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया ह।

८५. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा [उदगत्ताए विउट्टंति?]। तं सरीरगं वायसंसिद्धं वायसंगहियं वायपरिगयं उड्ढंवाएसु उड्ढंभागी भवइ, अहेवाएसु अहेभागी भवइ, तिरियंवाएसु तिरियभागी भवइ, त जहा—उस्सा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा नानाविधयोनिका नानाविधसंभवा. नानाविधावक्रमा, तद्योनिका. तत्संभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा [उदकतया विवर्तन्ते]। तत् शरीरकं वातससिद्ध वातसंगृहोत वातपरिगत ऊर्ध्ववातेषु ऊर्ध्वभागी भवति, अधोवातेषु अधोभागी भवति, तिर्यक्वातेषु तिर्यक्भागी भवति, तद् यथा—'उस्सा' हिमक. महिका करक हरतनुक. शुद्धोदकम्।

८५. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नानाप्रकार से उत्पन्न, नाना प्रकार मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के सचित्त अथवा अचित्त शरीरो मे (उदक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं)। वह शरीर वायु से निष्पन्न, वायु से सगृहीत और वायु से परिगत होता है। वह ऊर्ध्ववात मे ऊर्ध्वभागी, अधोवात मे अधोभागी और तिर्यग्वात मे तिर्यग्भागी होता है, जैसे—ओस, हिम, महिका, करक, हरतनुक और शुद्धोदक।"

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवा: तेषा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणानां शरीर अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उस्साणं हिमगाणं महिगाणं करगाणं हरतणुगाणं सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकाना 'उस्साण' हिमकाना महिकाना करकानां हरतनुकाना शुद्धोदकाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन नानाविध त्रस-स्थावरयोनिक ओस, हिम, महिका, करक, हरतनुक और शुद्धोदक के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से ओस आदि के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

८६. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा उदकयोनिका. उदक-

८६ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव उदकयोनिक, उदक मे उत्पन्न, उदक मे लब्धजन्म,

उदगवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति ।

संभवा उदकावक्रमा., तद्योनिकाः तत्सभवा तदवक्रमा , कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. त्रस-स्थावरयोनिकेषु उदकेषु उदकतया विवर्तन्ते ।

उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले त्रस-स्थावरयोनिक उदको मे उदक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं ।

ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं । णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति । परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?] ।

ते जीवा तेषां त्रसस्थावरयोनिकाना उदकाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं । नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति । परिविध्वस्तं तत् शरीर पूर्वाहृतं त्वचाहृत विपरिणत सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति] ।

वे जीव उन त्रस-स्थावरयोनिक उदको के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वी-शरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायु-शरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और नाना-प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है) ।

अवरे वि य णं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अपरेऽपि च तेषा त्रसस्थावरयोनिकाना उदकाना शरीराणि नानावर्णानि नानागधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि । ते जीवाः कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम् ।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक उदको के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना-प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है । वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रस-स्थावरयोनिक उदको मे उदक के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है ।

८७. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा उदगवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति ।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा उदकयोनिका उदकसभवा. उदकावक्रमा., तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमाः, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. उदकयोनिकेषु उदकेषु उदकतया विवर्तन्ते ।

८७ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव उदकयोनिक, उदक मे उत्पन्न, उदक मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले उदकयोनिक उदको मे उदक के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है ।

ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं । णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं

ते जीवा. तेषा उदकयोनिकाना उदकाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज.शरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा

वे जीव उन उदकयोनिक उदक के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पति-शरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परि-विध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो

सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा मे आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां उदकयोनिकाना उदकाना शरीराणि नानावर्णानि नानागंधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन उदकयोनिक, उदको के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से उदकयोनिक उदको मे उदक के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

८८. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा उदगवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. उदकयोनिका उदकसभवा उदकावक्रमा, तद्योनिका तत्संभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा: उदकयोनिकेषु उदकेषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते।

८८ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव उदकयोनिक, उदक मे उत्पन्न, उदक मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होनेवाले उदकयोनिक उदको मे त्रसप्राणी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीर अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा. तेषा उदकयोनिकाना उदकाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीरं तेज शरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणानां शरीर अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन उदकयोनिक उदको के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा उदकयोनिकाना त्रसप्राणाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन उदकयोनिक त्रसप्राणियो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान मे सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से उदकयोनिक उदको मे त्रसप्राणी के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

८९. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणा-

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा नानाविधयोनिका:

८९. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नानाप्रकार से उत्पन्न, नाना

विहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति।

नानाविधसभवा. नानाविधावक्रमा, तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा अग्निकायतया विवर्तन्ते।

प्रकार से लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के सचित्त अथवा अचित्त शरीरो मे अग्निकाय के रूप मे[१२] अपने अस्तित्व को धारण करते है।

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

ते जीवा तेषा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीर पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषा त्रसस्थावरयोनिकाना अग्नीना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्नियो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रसस्थावर प्राणियो के शरीर मे अग्निकाय के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

९०. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अगणिजोणिया अगणिसंभवा अगणिवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा तसथावरजोणिएसु अगणीसु अगणिकायत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा अग्नियोनिका अग्निसभवा अग्नि-अवक्रमा, तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः त्रसस्थावरयोनिकेषु अग्निषु अग्निकायतया विवर्तन्ते।

९० एक और जो कहा गया है—कुछ जीव अग्नियोनिक, अग्नि मे उत्पन्न, अग्नि मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले त्रसस्थावरयोनिक अग्नि मे अग्निकाय के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाण

ते जीवा तेषा त्रसस्थावरयोनिकाना अग्नीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर तेज.शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा

वे जीव उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्नियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो

सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणत सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं।।

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकाना अग्नीना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्नियों के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रस-स्थावर योनिक अग्नि में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

९१. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अगणिजोणिया अगणिसंभवा अगणिवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा अगणिजोणिएसु अगणीसु अगणिकायत्ताए विउट्टंति।
ते जीवा तेसिं अगणिजोणियाणं अगणीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा अग्नियोनिकाः अग्निसंभवा. अग्नि-अवक्रमाः, तद्योनिका. तत्सभवाः तदवक्रमा., कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. अग्नियोनिकेषु अग्निषु अग्निकायतया विवर्तन्ते।
ते जीवा. तेषा अग्नियोनिकाना अग्नीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

९१. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव अग्नियोनिक, अग्नि में उत्पन्न, अग्नि में लब्धजन्म उस योनि वाले, उस योनि में उत्पन्न, उस योनि में लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले अग्नियोनिक अग्नियों में अग्निकाय के रूप में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।
वे जीव उन अग्नियोनिक अग्नियों के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं अगणिजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं।।

अपरेऽपि च तेषा अग्नियोनिकाना अग्नीना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन अग्नियोनिक अग्नियों के शरीर नानावर्ण, नानागंध नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित, और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से अग्नियोनिक अग्नियों में अग्निकाय के रूप में उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है।

९२. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अगणिजोणिया अगणि-

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. अग्नियोनिका. अग्नि-

९२. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव अग्नियोनिक, अग्नि में उत्पन्न, अग्नि में लब्धजन्म,

संभवा अगणिवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा अगणिजोणिएसु अगणीसु तसपाणत्ताए विउट्टंति ।

ते जीवा तेसिं अगणिजोणियाणं अगणीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं । णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति । परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?] ।

अवरे वि य णं तेसिं अगणिजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया । ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

६३. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति ।

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं ।

संभवा. अग्नि-अवक्रमा., तद्योनिका. तत्संभवा तदवक्रमा., कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. अग्नियोनिकेषु अग्निषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते ।

ते जीवा तेषा अग्नियोनिकानां अग्नीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीरं तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीर । नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति । परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति] ।

अपरेऽपि च तेषा अग्नियोनिकाना त्रसप्राणाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि । ते जीवा. कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम् ।

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा' नानाविधयोनिका. नानाविधसंभवा नानाविधावक्रमा, तद्योनिका' तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा वायुकायतया विवर्तन्ते ।

ते जीवा तेपा नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीर । नानाविधानां त्रस-

उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले अग्नियोनिक अग्नियो मे त्रस-प्राणी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है ।

वे जीव उन अग्नियोनिक अग्नियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते है और नाना-प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है । वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है) ।

और भी उन अग्नियोनिक त्रसप्राणियो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है । वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से अग्नियोनिक अग्नियो मे त्रसप्राणी के रूप मे उपपन्न होते है—ऐसा कहा गया है ।

६३ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नाना प्रकार से उत्पन्न, नाना प्रकार से लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के सचित्त अथवा अचित्त शरीरो मे वायुकाय के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं ।

वे जीव उन नानाविध त्रस-स्थावर प्राणियो के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं । वे

णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं[सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

स्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्ममात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेंसि तसथावरजोणियाणं वाऊणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानां वायूनां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक वायुओ के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर मे वायुकाय के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता वाउजोणिया वाउसंभवा वाउवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा तसथावरजोणिएसु वाऊसु वाउकायत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा. वायुयोनिका वायुसंभवा वायु-अवक्रमा., तद्योनिका. तत्संभवा: तदवक्रमा, कर्मोपगा: कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा त्रसस्थावरयोनिकेषु वायुषु वायुकायतया विवर्तन्ते।

६४. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव वायुयोनिक, वायु मे उत्पन्न, वायु मे लव्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लव्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले त्रस-स्थावरयोनिक वायुओ मे वायुकाय के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेंसि तसथावरजोणियाणं वाऊणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवा. तेषा त्रसस्थावरयोनिकाना वायूना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज शरीरं वायुशरीर वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधानां त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन त्रस-स्थावरयोनिक वायुओ के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्ममात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेंसि तसथावरजोणियाणं वाऊणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकाना वायूनां शरीराणि नानावर्णानि नानागधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा. कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन त्रस-स्थावरयोनिक वायुओ के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो मे विरचित होते हैं—वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रस-स्थावरयोनिक वायुओ मे वायुकाय के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६५. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता वाउजोणिया वाउसंभवा वाउवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा वाउजोणिएसु वाऊसु वाउकायत्ताए विउट्टंति।

ते जीवा तेसिं वाउजोणियाणं वाऊणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

अवरे वि य णं तेसिं वाउजोणियाणं वाऊण सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं।

६६. अहावरं पुरक्खाय—इहेगइया सत्ता वाउजोणिया वाउसंभवा वाउवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा वाउजोणिएसु वाऊसु तसपाणत्ताए विउट्टंति।

ते जीवा तेसिं वाउजोणियाणं वाऊणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा वायुयोनिका. वायुसंभवा वायु-अवक्रमा, तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा, कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा वायुयोनिकेषु वायुषु वायुकायतया विवर्तन्ते।

ते जीवा तेषा वायुयोनिकाना वायूना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीर वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीर। नानाविधानां त्रसस्थावराणा प्राणानां शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृत विपरिणत सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

अपरेऽपि च तेषा वायुयोनिकाना वायूनां शरीराणि नानावर्णानि नानागधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा वायुयोनिका वायुसभवा वायु-अवक्रमा, तद्योनिका. तत्सभवा तदवक्रमा कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. वायुयोनिकेषु वायुषु त्रस-प्राणतया विवर्तन्ते।

ते जीवा. तेषा वायुयोनिकाना वायूना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा. आहरन्ति पृथ्वीशरीर अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीर। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना

---

६५ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव वायुयोनिक, वायु मे उत्पन्न, वायु मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होनेवाले, वायुयोनिक वायुओ मे वायुकाय के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

वे जीव उन वायुयोनिक वायुओ के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और नानाप्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते है)।

और भी उन वायुओ के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से वायुयोनिक वायुओ मे वायुकाय के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६६ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव वायुयोनिक, वायु मे उत्पन्न, वायु मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले वायुयोनिक वायुओ मे त्रसप्राणी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

वे जीव उन वायुयोनिक वायुओ के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते है और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का,

सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं वाउजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तेषां वायुयोनिकानां त्रसप्राणानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नकाः भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन वायुयोनिक त्रस-प्राणियों के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से वायुयोनिक वायुओं में त्रसप्राणी के रूप में उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६७. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वाः नानाविधयोनिकाः नानाविधसंभवाः नानाविधावक्रमाः, तद्योनिकाः तत्संभवाः तदवक्रमाः, कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरेषु सचित्तेषु वा अचित्तेषु वा पृथ्वीतया शर्करातया वालुकातया यावत् सूरकान्ततया विवर्तन्ते।

६७. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव नानाविधयोनिक, नानाप्रकार से उत्पन्न, नानाप्रकार में लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि में उत्पन्न, उस योनि में लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त अथवा अचित्त शरीरों में पृथ्वी के रूप में, शर्करा के रूप में, वालुका के रूप में यावत् सूर्यकान्त के रूप में अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवाः तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां स्नेहमाहरन्ति—ते जीवाः आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं, तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरम्। नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन नानाविध त्रसस्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते है—वे जीव पृथ्वी-शरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना-प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप में परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तासिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं सक्कराणं वालुयाणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया

अपरेऽपि च तेषां त्रसस्थावरयोनिकानां पृथ्वीनां शर्कराणां वालुकानां यावत् सूरकान्तानां शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि

और भी उन त्रसस्थावरयोनिक पृथ्वी, शर्करा, वालुका, यावत् सूर्यकान्त के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान से संस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलों से विरचित होते हैं। वे

णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा: कर्मोपपन्नका. भवन्तीति आख्यातम्।

जीव स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वी आदि के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६८. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा तसथावरजोणियासु पुढवीसु पुढवित्ताए विउट्टंति।

ते जीवा तासिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

अवरे वि य णं तासिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा: पृथ्वीयोनिका: पृथ्वीसंभवा. पृथ्वी-अवक्रमा', तद्योनिका: तत्सभवा. तदवक्रमा, कर्मोपगा. कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा. त्रसस्थावरयोनिकासु पृथ्वीषु पृथ्वीतया विवर्तन्ते।

ते जीवा. तासा त्रसस्थावरयोनिकाना पृथ्वीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीर तेज शरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीर त्रसप्राणशरीरम्। नानाविधाना त्रसस्थावराणा प्राणाना शरीर अचित्त कुर्वन्ति। परिविध्वस्त तत् शरीर पूर्वाहृत त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृत सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

अपरेऽपि च तासा त्रसस्थावरयोनिकाना पृथ्वीना शरीराणि नानावर्णानि नानागंधानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवा कर्मोपपन्नका: भवन्तीति आख्यातम्।

६८ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी मे उत्पन्न, पृथ्वी मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले त्रसस्थावरयोनिक पृथ्वियो मे पृथ्वी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

वे जीव उन त्रसस्थावरयोनिक पृथ्वियो के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रस-प्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते है। वे उस परिविध्वस्त [पूर्व जीवमुक्त] शरीर का, जो पहले [अपनी उत्पत्ति के समय] आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का [सर्वात्मना आहरण करते हैं]।

और भी उन त्रसस्थावरयोनिक पृथ्वियो के शरीर नानावर्ण, नानागध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नानाप्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते है। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से त्रसस्थावरयोनिक पृथ्वियो मे पृथ्वी के रूप उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है।

६६. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणियासु पुढवीसु पुढवित्ताए विउट्टंति।

ते जीवा तासिं पुढविजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं

अथापर पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वा पृथ्वीयोनिका पृथ्वीसभवा पृथ्वी-अवक्रमा., तद्योनिका तत्सभवा तदवक्रमा., कर्मोपगा कर्मनिदानेन तत्रावक्रमा पृथ्वीयोनिकासु पृथ्वीपु पृथ्वीतया विवर्तन्ते।

ते जीवा तासां पृथ्वीयोनिकाना पृथ्वीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवा: आहरन्ति पृथ्वीशरीरं

६६ एक और जो कहा गया है—कुछ जीव पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी मे उत्पन्न, पृथ्वी मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले, पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो मे पृथ्वी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते है।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो के स्नेह का आहार करते हैं—वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पति-

आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति ?]।

अप्शरीरं तेजःशरीरं वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधानां त्रसस्थावराणा प्राणानां शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

शरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तासिं पुढविजोणियाणं पुढवीणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया। ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं॥

अपरेऽपि च तासा पृथ्वीयोनिकाना पृथ्वीना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासंस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गलविकृतानि। ते जीवाः कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम्।

और भी उन पृथ्वीयोनिक, पृथ्वियो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासंस्थान मे संस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो मे पृथ्वी के रूप मे उपपन्न होते ऐसा कहा गया है।

१००. अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा, तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा, कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणिएसु पुढवीसु तसपाणत्ताए विउट्टंति।

अथापरं पुराख्यातम्—इहैकके सत्त्वाः पृथ्वीयोनिकाः पृथ्वीसंभवाः पृथ्वी-अवक्रमाः, तद्योनिकाः तत्संभवाः तदवक्रमा, कर्मोपगाः कर्मनिदानेन तत्रावक्रमाः पृथ्वीयोनिकासु पृथ्वीषु त्रसप्राणतया विवर्तन्ते।

१००. एक और जो कहा गया है—कुछ जीव पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी मे उत्पन्न, पृथ्वी मे लब्धजन्म, उस योनिवाले, उस योनि मे उत्पन्न, उस योनि मे लब्धजन्म, कर्माधीन, कर्म के कारण उस स्थान मे उत्पन्न होने वाले पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो में त्रसप्राणी के रूप मे अपने अस्तित्व को धारण करते हैं।

ते जीवा तासिं पुढविजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति—ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं तसपाणसरीरं। णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति। परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं [सव्वप्पणत्ताए आहारेंति?]।

ते जीवाः तासां पृथ्वीयोनिकाना पृथ्वीना स्नेहमाहरन्ति—ते जीवाः आहरन्ति पृथ्वीशरीरं अप्शरीरं तेजःशरीर वायुशरीरं वनस्पतिशरीरं त्रसप्राणशरीरं। नानाविधाना त्रसस्थावराणां प्राणाना शरीरं अचित्तं कुर्वन्ति। परिविध्वस्तं तत् शरीरं पूर्वाहृतं त्वचाहृतं विपरिणतं सारूप्यीकृतं सत् [सर्वात्मतया आहरन्ति]।

वे जीव उन पृथ्वीयोनिक पृथ्वियो के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वीशरीर, जलशरीर, अग्निशरीर, वायुशरीर, वनस्पतिशरीर तथा त्रसप्राणशरीर का आहार करते हैं और नाना-प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियो के शरीर को अचित्त करते हैं। वे उस परिविध्वस्त (पूर्व जीवमुक्त) शरीर का, जो पहले (अपनी उत्पत्ति के समय) आहरण कर चुका, जो त्वचा से आहरण कर चुका, जो अपने शरीर के रूप मे परिणत कर चुका, जो आत्मसात् कर चुका, उस शरीर का (सर्वात्मना आहरण करते हैं)।

अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया।

अपरेऽपि च तेषां पृथ्वीयोनिकाना त्रसप्राणाना शरीराणि नानावर्णानि नानागन्धानि नानारसानि नानास्पर्शानि नानासस्थानसंस्थितानि नानाविधशरीरपुद्गल-

और भी उन पृथ्वीयोनिक त्रस-प्राणियो के शरीर नानावर्ण, नानागंध, नानारस, नानास्पर्श, नानासस्थान से सस्थित और नाना प्रकार के शरीर-पुद्गलो से विरचित होते हैं। वे जीव त्रस नामकर्म के उदय से पृथ्वी-

ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंति त्ति मक्खायं ॥

विकृतानि । ते जीवाः कर्मोपपन्नका भवन्तीति आख्यातम् ।

योनिक पृथ्वियो मे त्रसप्राणी के रूप मे उपपन्न होते हैं—ऐसा कहा गया है ।

१०१. अहावरं पुरक्खायं—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा, सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवक्कमा, सरीराहारा कम्मोवगा कम्मणियाणा कम्मगइया कम्मठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति ॥

अथापरं पुराख्यातम्—सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा सर्वे सत्त्वा नानाविधयोनिका नानाविधसंभवा. नानाविधावक्रमा., शरीरयोनिका शरीरसंभवा शरीरावक्रमा, शरीराहारा कर्मोपगा. कर्मनिदाना कर्मगतिका कर्मस्थितिका. कर्मणा चैव विपर्यासमुपयन्ति ।

१०१ एक और जो कहा गया है—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नानाविधयोनिक, नाना रूपो मे उत्पन्न, नानारूपो मे लब्धजन्म, शरीरयोनिक, शरीर मे उत्पन्न, शरीर मे लब्धजन्म, शरीर का आहार करने वाले, कर्माधीन, कर्म से बद्ध, कर्म से विविध गतियो मे जाने वाले, कर्म से न्यूनाधिक स्थिति (आयु-मर्यादा) वाले और कर्मो से ही विपर्यास को प्राप्त होते हैं ।

१०२. सेवमायाणह सेवमायाणित्ता आहारगुत्ते समिए सहिए सया जए ।

—त्ति बेमि ॥

तदेवमाजानीत तदेवमाज्ञाय आहारगुप्त समित. सहित सदा यतः ।

—इति ब्रवीमि ।

१०२. ऐसा जाने और ऐसा जानकर आहार मे गुप्त, सम्यक् प्रवृत्त, ज्ञान आदि से सहित और सदा सयत रहे ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

अध्ययन ३ : टिप्पण

सूत्र १ :

१. आहारपरिज्ञा (आहारपरिण्णा)

आहार का अर्थ है—बाहर से आहरण करना—लेना। आहार के दो प्रकार हैं—द्रव्य आहार और भाव आहार। जिसमें सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का आहरण होता है, वह द्रव्य आहार है। भाव आहार के दो प्रकार हैं—द्रव्याश्रित भाव आहार और कर्मभावाश्रित भाव आहार। प्रत्येक जीव वेदनीय कर्म के उदय से आहार करता है। स्थानांग सूत्र में आहारसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण बतलाए हैं। उनमें एक है क्षुधावेदनीय कर्म का उदय।

भाव आहार के तीन प्रकार हैं—

ओज आहार—शरीर से लिया जाने वाला आहार।

लोम आहार—त्वचा और स्पर्श से लिया जाने वाला आहार।

प्रक्षेप आहार—कवल आहार। यह कभी होता है कभी नहीं होता।

> एक इन्द्रियवाले जीवों (स्थावर जीवों), नारकीय जीवों और देवताओं के प्रक्षेप आहार नहीं होता। शेष इन्द्रियवाले जीव, जो औदारिक शरीर वाले हैं तथा जिह्वा-इन्द्रिय से युक्त हैं, उनके प्रक्षेप आहार होता है।[1]

कुछ आचार्य इन तीन प्रकार के आहार की भिन्न व्याख्या करते हैं[2]—

प्रक्षेप आहार—जो जिह्वा इन्द्रिय से प्राप्त कर स्थूल शरीर में प्रक्षिप्त किया जाता है।

ओज आहार—जो घ्राण, चक्षु और कर्ण से गृहीत कर धातु रूप में परिणत किया जाता है।

लोम आहार—जो स्पर्श से गृहीत कर धातुरूप में परिणत किया जाता है।

२. बीजकाय (बीजकाय)

बीज का अर्थ है—उत्पत्ति का मूल हेतु। यह भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्र में चार प्रकार के बीजकाय का निरूपण है—

अग्रबीज—ऐसी वनस्पतियां जिनका बीज अग्रभाग में रहता है या जिनका अग्रभाग ही उत्पत्ति का मूल हेतु होता है, जैसे—ताड़, आम्र, शाली, कोरण्टक आदि।

मूलबीज—जिनकी जड़ें उत्पत्ति में हेतुभूत बनती हैं, जैसे—आर्द्रक आदि।

पर्वबीज—जिनके पर्व—पोरवे बीज के रूप में काम करते हैं, जैसे—इक्षु आदि।

स्कंधबीज—जिनके स्कन्ध बीज रूप में काम आते हैं, जैसे—शल्लकी आदि।

आचार्य नागार्जुन ने वनस्पतिकाय की बीज अवक्रान्ति के पांच प्रकार बतलाए हैं—

१. अग्रबीज २. मूलबीज ३. पर्वबीज ४. स्कंधबीज ५. बीजरुह।[3]

बौद्ध साहित्य में मूलबीज, स्कंधबीज, फलबीज (फलुबीज), अग्रबीज और बीजबीज—ये पांच विभाग प्राप्त हैं।[4]

कुछेक एकेन्द्रिय जीवों (वनस्पति के) के बीज सम्मूर्च्छिम होते हैं, जैसे—दग्ध वनस्थली में अनेक प्रकार के हरित उत्पन्न हो

---

१. चूर्णि पृष्ठ ३७६-३७८।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३७८ : एके त्वाचार्या एतदेव त्रिविधं आहारं अन्यथा ब्रुवते, तं जहा—पक्खेवाहार ओयाहार, लोमाहार इति त्रय, जिह्वेन्द्रियेन लभ्यते स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते सो पक्खेवाहारो, यो घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातोः परिणाम्यते ओजाहारो, यः स्पर्शेनोपलभ्यते धातो परिणाम्यते स लोमाहार।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३७९ : नागार्जुनीयास्तु वणस्सइकाइयाणं पंचविहा बीजवक्कंती एवमाहिज्जइ तं जहा—अग्गमूलपोरखंधबीयरुहा....।

४. दीघनिकाय I, १।२।११।

जाते है, नए तालाबो मे कमलिनिया उग जाती है, कई पुराने तालाबो मे पहले कोई वनस्पति नही होती, फिर उसमे उत्पन्न हो जाती है।[1]

सूत्र २ :

३. अपने-अपने बीज के अनुसार (अहाबीएणं)

जिस वनस्पति का जो उत्पत्ति का कारण है, वह यथावीज कहलाता है, जैसे शाली के अकुर का शाली बीज ही मूलकारण है।[2]

४. अपने-अपने स्थान के अनुसार (अहावगासेण)

चूर्णिकार ने इसका मूल अर्थ—उत्पत्ति स्थान किया है। विकल्प मे वे भूमि, जल, काल, आकाश और बीज के सयोग को यथावकाश कहते है। जैसे—परिमार्जित खेत मे, वर्षा ऋतु मे चावल के बीज से चावल होते है। पत्थर पर चावल नही उगाए जाते या उगाने पर भी नही उगते। इसी प्रकार पानी, हवा, आकाश, काल और बीज का सयोग होने पर ही वनस्पति की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नही।[3]

५. पृथ्वी में लब्ध-जन्म (पुढविवक्कमा)

कोई श्यामल पृथिवीकाय का जीव पृथिवीकाय के शरीर को छोडकर उसी देश मे, अपने शरीर मे अथवा उसके पार्श्ववर्ती अथवा अन्य पृथिवीकाय मे वृक्षरूप मे उत्पन्न होता है। इस प्रकार कायान्तर-सक्रमण होता है। कोई जीव किसी दूसरे देश से आकर स्वकाय मे ही उत्पन्न होता है और कोई परकाय मे उत्पन्न होता है।।[4]

६. उस योनिवाले...... .....उस योनि मे लब्धजन्म (तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा)

'युक् मिश्रणे' धातु से योनि शब्द व्युत्पन्न होता है। इसका तात्पर्यार्थ है—उत्पत्ति-स्थल जहा दो के मिश्रण से उत्पत्ति होती है। चूर्णिकार ने इसके चार एकार्थक दिए है—उत्पत्ति, आधार, प्रसूति और योनि।[5]

'तद्योनिक' आदि शब्द इस बात के द्योतक है कि जिसकी जो योनि होती है, वह वही उत्पन्न होता है, अन्यत्र नही। जैसे कहा जाता है कि पाषाण से स्वर्ण पैदा होता है, किन्तु यह सर्व विदित है कि सभी पाषाणो से स्वर्ण पैदा नही होता। इसका तात्पर्य है कि यद्यपि स्वर्ण की योनि पाषण है, पर सभी पाषाण स्वर्ण की योनि नही है। इसी प्रकार वनस्पति की योनि पृथ्वीकाय है, पर सारी पृथ्वीकाय से वनस्पति उत्पन्न नही होती। ऊपरभूमि और पाषाण भी पृथ्वीकाय है, पर ऊषरभूमि और पाषाण वनस्पति की योनि नही है। 'तद्योनिक' शब्द से इन सबका परिहार हो जाता है। वनस्पति उसी पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होती है जो उसकी योनि बनने मे सक्षम है।[6]

७. कर्माधीन (कम्मोवगा)

इसका अर्थ हे—कर्म के वशवर्ती। प्रत्येक जीव का सचरण कर्म के कारण होता हे। वनस्पति के जीव उस प्रकार के कर्म से

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७९ ' "छट्ठावि एगेंदिया समुच्छिमा बीया जायंते, जहा उद्दावणे दड्ढे समाणे णाणाविधाणि हरिताणि संमुच्छति, पउमीणीओ वा नवए तालाए संमुच्छंति, पुराणे वि कत्थवि पुव्व ण होतु पच्छा समुच्छति।

(ख) वृत्ति, पत्र ९५।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७९ यद् यस्य बीजं तत्र तदेव प्रसूयते यथा शालिबीजे शाल्यङ्कुरो जायते न कोद्रवादय।

(ख) वृत्ति, पत्र ९५।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३७९।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३८० : कोई सामलपुढविकाईए पुरेक्खडो पुढविकायसरीरं विप्पजहाय तमि चेव देशे सशरीरे अण्णेसु वा तत्सनिकृष्ट-पुढविक्कायिएसु रुक्खत्ताए विउट्टति, तत्थ कायांतरसंकमे क्रमो घेप्पति, अण्णो पुण देशातरातो सकायातो वा परकायातो वा आगम्म रुक्खत्ताए वक्कमति।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३७९ उत्पत्तिः आधार प्रसूतिर्योनिरित्यर्थः, यु (युक् ?) मिश्रणे, यौतीति योनिः मिश्रभावमापद्यन्ते इत्यर्थः।

६. वही, पृष्ठ ३८० तज्जोणिया तस्सभवा तव्वक्कमत्ति त चेव जोणियमिति, जहा जा जस्स जोणी सो तम्मि चेव सभवति, णण्णत्थ यथा पाषाणात् सुवर्णं जायते, न सर्वस्मात् पाषाणात् जायते इति, एव पुढविजोणिओ''''य ण सव्वाओ पुढवीओ जायते, कथं पुण भूमीय उस्सरिल्ले पत्थरोवरि वा णो जायते ?

प्रेरित होकर उन्ही वनस्पतियो मे उसी भूमि पर जाकर पैदा होते हैं । यह सब कर्म के अधीन होता है । बीज कही दूसरी जगह बोया जाए और वनस्पति कही दूसरी जगह उगे, ऐसा नही होता—

कुसुमपुरोप्ते बीजे मथुरायां नाङ्कुर. समुद्भवति ।
यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥

पाटलीपुत्र मे बोए हुए बीज का अकुर मथुरा मे नही हो सकता । जहां बीज होगा, वही अंकुर उत्पन्न होगा ।

चन्द्रमा का प्रतिविम्ब वही होता है जहा वह दिखाई देता है । दर्पण मे मुख का प्रतिबिम्ब भी वही होता है जहा वह दिखाई देता है । इसी प्रकार जहा जिसकी जो योनि होती है, वह वही उत्पन्न होता है ।[1]

८. कर्म के कारण (कम्मणियाणेणं)

निदान का अर्थ है—हेतु, कारण । वायु के रोग मे वायु-प्रधान पदार्थ कारण बनते है और पित्त या कफ के रोग मे पित्तकारक और कफकारक पदार्थ कारण बनते हैं । बिना कारण के कोई व्याधि उत्पन्न नही होती । शरीर की उत्पत्ति मे कर्म मूल कारण है ।[2]

९. पृथ्वियो के स्नेह का आहार करते हैं (पुढवीणं सिणेह माहारेंति)

सिणेह—स्नेह का अर्थ है—शरीर का सार । पृथ्वीयोनि मे उत्पन्न होने वाले वृक्ष पृथ्वी की स्निग्धता का आहार करते हैं । वे पृथ्वी शरीर का आहार करते हुए पृथ्वी को पीडा उत्पन्न नही करते । यदि असमान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श हो तो कदाचित् पीडा हो भी सकती है । जैसे अण्डे से उत्पन्न होने वाले जीव माता की ऊष्मा से बढते हुए गर्भस्थ अवस्था मे माता के पेट मे ही आहार करते हुए माता को अति पीडा नही देते, इसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीव पृथ्वी की स्निग्धता (स्नेह) का आहार करते हुए उत्पत्ति के समय तक उसको अति पीडित नही करता, एकान्ततः उसको विनष्ट नही करता । जैसे नीम वृक्ष का कोई अवयव आम के अवयवो मे प्रविष्ट होकर न उसे दूषित करता है और न नीम को कोई पीडा पहुचाता है । समानरूप से बडा होने पर वह वनस्पति कायिक जीव कुछ बाधा उत्पन्न कर भी सकता है ।

इसी प्रकार वे जीव भूमिगत बहते हुए या स्थिर आकाशगत पानी का आहार करते हैं, अग्नि के भस्म का आहार करते हैं और जडो की परस्पर ससक्ति से वनस्पति का भी आहार करते हैं ।[3]

१०. परिविध्वस्त शरीर का (परिविद्धत्थं तं सरीरं)

इसका अर्थ है—पूर्ववर्ती जीव द्वारा त्यक्त शरीर । एक जीव उसी शरीर का आहार करता है जो शरीर पूर्ववर्ती जीव द्वारा त्यक्त होता है । जब तक त्यक्त नही होता तब तक दूसरा उसे अपने शरीर के रूप मे परिणत नही कर सकता ।[4]

११. जो त्वचा से आहरण कर चुका (तयाहारियं)

त्वचा से आहरण करने का अर्थ है—स्पर्शन इन्द्रिय से ग्रहण करना । एकेन्द्रिय जीव स्पर्शन इन्द्रिय से ही आहरण करते हैं । जिन जीवो के जिह्वा है, रसन इन्द्रिय है, वे भी पहले स्पर्शन इन्द्रिय से ग्रहण कर फिर जिह्वेन्द्रिय से चखते हैं, क्योकि जीभ स्पर्श को ग्रहण करती है । अग्नि अनास्वादनीय है, फिर भी वह (जीभ) उससे स्पृष्ट होकर जल जाती है । इस प्रकार दात, होठ, तालु आदि भी स्पर्श का ज्ञान करते हैं, किन्तु कुछ भी आस्वाद नही करते ।[5]

१२. जो अपने शरीर के रूप मे परिणत हो चुका (विपरिणयं)

वृक्ष के जीव जिस पृथ्वीकाय आदि का आहार करते हैं, वे अपने स्वरूप (पृथ्वीकाय आदि के रूप) को छोड़कर उस वृक्ष के

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३७९, ३८० ।
   (ख) वृत्ति, पत्र ९५ ।
२. चूर्णि, पृष्ठ ३८१ ।
३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८१ :
   (ख) वृत्ति, पत्र ९५ ।
४ चूर्णि पृष्ठ ३८२ ।
५. चूर्णि, पृष्ठ ३८२ : जे एगिंदिया एते तयाए चेव आहारेंति फासिंदिएणेत्यर्थ , जेसिंपि जिब्भिंदियमत्थि तेसिंपि पुव्वं फासिंदिएण स्पृशित्वा पश्चात्, जिह्वेन्द्रियमप्यस्ति ? उच्यते, यस्मात् जिह्वा स्पर्शं गृह्णाति, अग्निना अनास्वादनीयेन स्पृष्टा दह्यते, एवमन्यदपि दन्तौष्ठतालवादि स्पर्शं वेत्ति, न च तत्र किञ्चिदन्यदास्वादयति ।

रूप मे परिणत हो जाते हैं ।[1]

१३. जो आत्मसात् कर चुका (सारूवीकडं)

जीव मे यह विशेषता होती है कि वह अपने आहार का सात्मीकरण कर लेता है, अपने समान वना लेता है । वृक्ष के जीव भी जिनका आहार करते है, उन्हे वृक्ष के रूप मे बदल देते हैं । इसे 'सारूप्यीकरण' कहा जाता है ।[2]

सूत्र २२ :

१४. (सूत्र २२)

प्रत्येकशरीरी वादर वनस्पतिकाय के वारह भेद हैं । उनमे वारहवा भेद है—कुहण[3] ।

प्रस्तुत सूत्र मे कुहण के दस प्रकार वतलाए है—आय, काय, कुहण, कदुक, उव्वेहलिय, निव्वेहलिय, सछत्र, छत्रक, वासाणिय और कूर ।

प्रज्ञापना मे भी दस प्रकार निर्दिष्ट है—आय, काय, कुहण, कुणक्क, दव्वहलिय, सफा, सज्झा, छत्त, वसीण, हिताकुर ।[4]

प्रज्ञापना के वृत्तिकार का कथन है कि वनस्पतियो के ये भेद-प्रभेद उनके स्वरूप-बोध से जानने चाहिए । कुछ वनस्पतियो की पहचान उन-उन देशो से होती है, जहा वे उत्पन्न होती है ।[5]

'कुहन' आदि वनस्पति के ये सभी प्रकार अनन्तजीव वाले होते है । कुदग (कुणक्क) नाम की कुहन वनस्पति किसी एक देश-विशेष मे अनन्त जीवात्मक और किसी एक देश-विशेष मे असख्येय जीवात्मक उत्पन्न होती है ।[6]

कुहण के ये दस प्रकार राजस्थानी भाषा मे भूफोडा कहे जा सकते है । प्रज्ञापना के वृत्तिकार ने इन्हे 'कुहणा. भूमिस्फोटाभिधाना ''' माना है ।[7]

सूत्र ७५ :

१५. (सूत्र ७५)

जलरुह वनस्पति के अन्तर्गत प्रज्ञापना पद १ सूत्र २३ मे ये ही सारे नाम गिनाए हैं । ये सब जलीय वनस्पतिया है ।

सूत्र ७६ :

१६. (सूत्र ७६)

यहा से त्रसकाय का प्रकरण प्रारम्भ होता है । त्रसकाय के चार भेद है—देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य । सूत्रकार ने 'मनुष्य' के सवन्ध मे जानकारी दी है । इसकी यथार्थता को सूचित करते हुए चूर्णिकार और वृत्तिकार ने कुछ तथ्य प्रगट किए है[8]—

नैरयिक सर्वथा परोक्ष है । वे केवल अनुमानग्राह्य है । उनके आहार की अवधि भी आनुमानिक ही है । उनका आहार भी एकान्तत अशुभ पुद्गलो से निर्वर्तित होता है । उनके प्रक्षेप आहार नही होता । वे ओज आहार करते हैं ।

देवता भी वर्तमान मे प्राय आनुमानिक हैं । उनका आहार एकान्तत शुभ पुद्गलो से निर्वर्तित है । उनके भी प्रक्षेप आहार नही होता । वे ओज आहार करते है, मनोभक्षी होते है । वह आहार दो प्रकार का होता है—

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३८२ ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३८२ सारूविकडंति समानरूविकडं वृक्षत्वेन परिणामितमित्यर्थः ।

३. प्रज्ञापना, पद १ सूत्र २२ ।

४. वही, पद १ सूत्र २३ ।

५. वही, पद १ सूत्र २३, वृत्ति पत्र ३३ . एते गुच्छादि भेदा प्राय : स्वरूपत एव प्रतीता : केचिद् देशविशेषादवगन्तव्याः ।

६. वही, पद १, सूत्र २३, वृत्ति पत्र ३७, ३८ एते कुहनादिवनस्पतिविशेषा लोकतः प्रत्येतव्या । एते चानन्तजीवात्मकाः, नवरं कदुवके भजना, स हि कोऽपि देशविशेषादनन्त —अनन्तजीवात्मको भवति, कोऽप्यसख्येयजीवात्मक इति ।

७ प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र ३१ ।

८. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८४ ।
(ख) वृत्ति, पत्र ९९ ।

१ आभोगकृत— जघन्यत. एक दिन के अन्तराल से और उत्कृष्टत. तेतीस हजार वर्ष से एक वार।

२. अनाभोगकृत—क्षण-क्षण मे होने वाला।

१७. अपने-अपने बीज के अनुसार (अहाबीएणं)

स्त्री का शोणित और पुरुष का शुक्र—यह मनुष्य की उत्पत्ति मे वीज होता है। जव शुक्र अधिक होता है तव पुरुष, शोणित अधिक होता है तव स्त्री और दोनो समान होते है तव नपुसक की उत्पत्ति होती है।[1]

१८. अपने-अपने स्थान के अनुसार (अहावगासेण)

अवकाश का अर्थ है—माता का उदर, कुक्षी आदि। उसमे वामकुक्षि स्त्री की, दक्षिणकुक्षि पुरुष की और उभयाश्रितकुक्षि नपुसक की उत्पत्ति की हेतु होती है। यथावकाश से अविध्वस्त योनि का ग्रहण किया गया है। योनि और वीज के आधार पर चार विकल्प होते है.—

१. अविध्वस्त योनि और अविध्वस्त वीज।

२. अविध्वस्त योनि और विध्वस्त वीज।

३ विध्वस्त योनि और अविध्वस्त वीज।

४. विध्वस्त योनि और विध्वस्त वीज।

पहला विकल्प—अविध्वस्त योनि और अविध्वस्त बीज ही जीवोत्पत्ति का कारण वनती है। शेप कारण नही वनते।[2]

१९. कर्म-समर्थ योनि में (कम्मकडाए जोणिए)

इसका अर्थ है वह योनि जो सन्तान उत्पत्ति के लिए समर्थ है। दूसरे शब्दो मे अविध्वस्त योनि कर्मकर हो सकती है। योनि-विध्वस अवस्था-सापेक्ष होता है। कहा है—'पचपचाशिका नारी, सप्तसप्ततिक पुमान्'—स्त्री पचपन वर्ष के पश्चात् और पुरुष सतहत्तर वर्ष के पश्चात् सन्तानोत्पत्ति के लिए अयोग्य हो जाता है।[3]

२०. मैथुन प्रत्ययिक (मेहुणवत्तियाए)

कामक्रीडा के अनेक प्रकार है—आलिगन, चुवन, पीडन, दशन आदि। ये सब गर्भ की उत्पत्ति मे कारण नही वनते। मैथुन भी कामक्रीडा का ही एक प्रकार है। वह गर्भ की उत्पत्ति मे कारण वनता है।[4]

२१. वे दोनों (स्त्री-पुरुष) स्नेह का संचय करते हैं (ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति)

चूर्णिकार ने स्नेह का अर्थ—'अन्योन्यगात्रसस्पर्श —स्त्री-पुरुप के शरीर का पारस्परिक सस्पर्श—किया है।[5] इसका तात्पर्य है कि स्त्री-पुरुष के योग से माता के शोणित और पिता के शुक्र का योनि मे सिचन होता है। जव पुरुष का स्नेह—वीर्य नारी के उदर मे प्रविष्ट होकर नारी के ओज—रज के साथ योग करता है तव वह स्नेह एक दूसरे के साथ घुलमिलकर घोल वन जाता है। शुक्र और शोणित का यह घोल वारह मुहूर्त्तकाल तक अविध्वस्त योनि वाला होता है, पश्चात् उसकी योनि विध्वस्त हो जाती है। तात्पर्य है कि उस अविध्वस्त अवस्था मे कोई भी जीव अपने कर्म के अनुसार स्त्री, पुरुप या नपुसक के रूप मे वहा उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नही।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र ९९।

२ चूर्णि, पृष्ठ ३८५ : अथावकासेत्ति जोणि गहिता अविद्धत्था। एत्थ चउभंगो···· ·······।

३ चूर्णि, पृष्ठ ३८५ : कम्मं करोति इति कम्मंकरा, कर्मसमर्था वा कम्मकडा, अविद्धत्था इत्यर्थः, विध्वंस्यते तु पंचपचाशिका नारी सप्तसप्ततिकः पुमान्।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३८५।

५. चूर्णि पृष्ठ ३८५ . सिणेहो नाम अन्योन्यगात्रसंस्पर्शः।

६ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८५ · स यदा पुरुषस्नेह शुक्रान्तो नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह सयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्णं संचिणति गृह्णातीत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, पत्र ९९ ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति, विध्वस्ते तु योनि पञ्चपञ्चाशिका (यदा) नारी सप्तसप्ततिक पुमान् इति, तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतः तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति। तत्र च जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य स्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुन्नपुसक-भावेन····समुत्पद्यन्ते।

सूत्र ७७ :

२२. जलचर (जलचराणं)

जलचरो के लिए शैत्य ही आहार होता है, अथवा जिस स्त्री जलचरी के साथ पुरुष जलचर का सहवास होता है, वह स्नेह ही आहार बनता है। वे जीव जब बडे होते है तब पानी उनका स्नेह होता है। जलचर प्राणी मा के ओज से ही अप्काय का आहार करते हैं, प्रक्षेपण से नही। उसी आहार से वे पुष्ट होते है, बढते है।[1]

पानी मे त्रस और स्थावर प्राणी होते है। परन्तु मत्स्य मत्स्य को ही खाते हैं। प्रसिद्ध श्लोक है—

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम, अस्ति मत्स्यस्तिमिंगिलं ।
तिमिंतिमिंगिलोप्यस्ति, तिमिंगिलगिलो राघव ! ॥[2]

वे जलचर जीव कर्दममृत्तिका खाते है, प्यास लगने पर पानी पीते हैं। भूख होने पर जल से सने मत्स्य को ही निगल जाते है। हवा को चाटते है।[3]

२३. मच्छ······सुंसुमार (मच्छाणं······सुंसुमाराणं)

प्रज्ञापना मे मत्स्य आदि पाचो जातियो के अनेक नाम गिनाए हैं।[4] इन सभी की पहचान आज दुर्लभ है। कुछ नाम ये है—

१ मत्स्य—श्लक्ष्ण मत्स्य, जुगमत्स्य, रोहितमत्स्य, गागर, हलीसागर, तिमितिर्मिगिल (ये अपनी जाति के मत्स्यो को खाकर जीते है।), तदुलमत्स्य आदि-आदि।

२ कच्छप—ये दो प्रकार के होते है—अस्थिकच्छप—हड्डिबहुल कछुए। मासकच्छप—मासबहुल कछुए।

३ गाह—इसके पाच प्रकार हैं—दिली, वेढग, मुद्धय, पुलय और सीमागार।

४ मगर—ये दो प्रकार के है—सोडमगर और मट्ठमगर।

५ सुसुमार (शिशुमार)—ये एक ही प्रकार के होते है। प्रज्ञापना की वृत्ति मे इसको शिशुमार [प्रा० सुसुमार] माना है।[5] इस नामकरण से प्रतीत होता है कि ये अपने शिशुओ का भक्षण कर जीते है।

सूत्र ७८ :

२४. चतुष्पद······(चउप्पय·······)

चतुष्पाद स्थलचरो के चार प्रकार हैं—

१ एक खुरवाले—अश्व, खच्चर, घोटक, गधा आदि एक खुरवाले है। ये जहा भी पैर रखते है वहा एक खुर का ही चिह्न होता है।

२ दो खुरवाले—ऊट, गवय, भैस, वराह, हरिण आदि दो खुरवाले प्राणी है। प्रतिचरण मे दो खुरो के चिह्न होते है।

३ गडीपद—हाथी, गेडा आदि गडीपद वाले कहलाते है। स्वर्णकार की अहीरन की तरह पदचिह्न वाले गडीपद होते है।[6]

४ सनखपद—जिनके पैरो मे दीर्घ नख हो, वे सनखपद प्राणी है। जैसे—सिंह, बाघ, सियाल, बिडाल, कुत्ता आदि।

सूत्र ७९ :

२५. उरपरिसर्प······(उरपरिसप्प·····)

उरपरिसर्प स्थलचर पचेन्द्रिय जीवो की चार प्रमुख जातिया है—सर्प, अजगर, आशालिक और महोरग।

१ सर्प—ये दो प्रकार के होते है—फण सहित और फण रहित। फण वाले सर्पो के सात प्रकार है—

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३८६।
२. वही, पृष्ठ ३८६।
३. वही पृष्ठ ३८६ ते जीवा पुढविकाईय कद्दममट्टियं खायति आउ तिसिता य पिबति, खुधिया मच्छ पाणिउल्ल गस्सति अगणी उदगादि वातपि लिहति।
४. प्रज्ञापना, पद १ सूत्र ३३।
५. प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र ४४।
६. प्रज्ञापना, वृत्ति पत्र, ४५ गण्डीव सुवर्णकाराधिकरणीस्थानमिव पदं येषां ते गण्डीपदा—हस्त्यादय।

(क) आशीविष—वे सर्प जिनकी दाढाओ मे विष होता है।
(ख) दृष्टिविष—वे सर्प जिनकी दृष्टि मे विष होता है।
(ग) उग्रविष—वे सर्प जिनका विष बहुत तीव्र होता है।
(घ) भोगविष—वे सर्प जिनके समूचे शरीर मे विष होता है।
(ङ) त्वग्विष—वे सर्प जिनकी चमडी मे विष होता है।
(च) लालाविष—वे सर्प जिनकी लाला मे विष होता है।
(छ) नि:श्वासविष—वे सर्प जिनके नि:श्वास मे विष होता है।

ये सारे कृष्ण वर्ण वाले सर्पों की विभिन्न जातिया हैं। फण रहित सर्प भी अनेक प्रकार के होते हैं और वे सविष और निर्विष दोनो प्रकार के होते है।

२. अजगर—ये सब एक ही जाति—आकार के होते हैं। इनमे कोई अवान्तर भेद नही होता।

३. आशालिक—ये गर्भज नही होते, सम्मूर्च्छनज होते है। ये ढाई द्वीप के अन्तर्गत मनुष्य क्षेत्र मे होते हैं, बाहर नही होते। ये भूमि के अन्दर पैदा होते हैं और उसको विदीर्ण कर बाहर आते है। ये उत्पत्ति के समय बहुत छोटे और बढ़ते-बढते बहुत विशालकाय हो जाते हैं।

४. महोरग—ये भूमि पर उत्पन्न होते हैं, भूमि पर चलते है और पानी मे भी उसी प्रकार चल-फिर लेते हैं। ये विशेष प्रकार के भूमिचर प्राणी है। ये एक ही प्रकार के नही होते। इनकी लम्बाई-चौडाई मे बहुत अन्तर होता है। ये बाह्यवर्ती द्वीप-समुद्रो मे होते हैं, यहा नही होते। ये पानी मे उत्पन्न नही होते, पर्वतीय भूमि आदि पर उत्पन्न होते हैं।[1]

सूत्रकार के अनुसार ये चारो अंडज भी हैं और पोतज भी हैं। ये अंडे से भी उत्पन्न होते हैं और बच्चे के रूप मे भी उत्पन्न होते हैं।

सूत्र ८० :

२६. (सूत्र ८०)

प्रस्तुत सूत्र मे स्थलचर भुजपरिसर्प जीवो के चौदह नाम गिनाए है। जो भुजाओ (हाथो) के बलपर जमीन पर रेंगकर चलते है, वे भुजपरिसर्प कहलाते है। इनकी अनेक जातिया है। प्रत्येक जाति मे अनेक उपजातिया होती हैं। उनमे अनेक प्रकार के जीव होते हैं। प्रस्तुत नामो की सामान्य पहचान इस प्रकार है—

(१) गोधा—गोह
(२) नकुल—नेवला
(३) सेह (देशी)—साही जाति का एक जानवर
(४) सरड—गिरगिट
(५) शल्य—साही, बिल्ली के आकार का जानवर, जिसके शरीर मे नुकीले काटे होते है।
(६) सरव—(?)
(७) खार—(?)
(८) गृहोलिका—छिपकली
(९) विसभर—छछुन्दरी
(१०) मूसग—चूहा
(११) मगूस—नेवले की एक जाति
(१२) पयलाइय (देशी)—भुजपरिसर्प की एक जाति
(१३) विरालिय (विडालिय)—विडाली
(१४) जाहक—एक प्रकार का विलाव।

---

१. प्रज्ञापना वृत्ति पत्र ४६-४८।

प्रज्ञापना (पद १, सूत्र ३५) मे भुजपरिसर्पों के निम्न नाम मिलते है—

'नउला नेहा सरडा सल्ला सरंठा सारा खोरा घरोइला ।
विस्संभरा मूसा मंगुसा पयलाइया छीरविरालिया ॥'

वृत्तिकार ने लिखा है—जो नाम अप्रतीत है उनकी पहचान लोकप्रचलन से करनी चाहिए ।[1]

सूत्र ८१ :

२७. खेचर……(खहचर……)

खेचर प्राणियो के सबध मे यहा चार प्रकार के पक्षियो का उल्लेख हुआ है—

१. चर्मपक्षी—जिन पक्षियो की पाखें चर्ममय हो, वे पक्षी चर्मपक्षी कहलाते हे । चमगीदड, वल्गुली, भारडपक्षी, चकोर, सामुद्रिक काक आदि इसके भेद है । ये पोतज होते है ।

२. लोमपक्षी—जिन पक्षियो की पाखे रोएं से बनी हो, वे पक्षी लोमपक्षी कहलाते है । ढक, कंक, हस, राजहस, कलहस, बगुले, बलाका, क्रौंच, सारस, मयूर, तित्तिर आदि लोमपक्षियो के भेद हैं ।

३ समुद्गपक्षी—ये एक ही प्रकार के होते हैं । ये यहा नही होते । ये बाह्यद्वीप-समुद्र के प्रदेश मे पाए जाते है । सभव है ये पक्षी किसी झिल्ली से आवृत होने के कारण समुद्ग कहलाए हो ।

४ विततपक्षी—ये एक ही प्रकार के होते है । ये भी बाह्य द्वीप-समुद्रो मे ही पाए जाते है, यहा नही होते । ये अपनी विशाल पांखो के कारण विततपक्षी कहलाते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र मे इन्हे अडज और पोतज—दोनो माना है । इसका फलित है कि ये गर्भज ही है । किन्तु प्रज्ञापना (पद १ सूत्र ३५) मे इनकी उत्पत्ति के आधार पर इनके दो मुख्य भेद किए है—सम्मूर्च्छिम और गर्भज । जो सम्मूर्च्छिम होते है वे नपुसक ही होते है और जो गर्भज होते है वे स्त्री, पुरुष और नपुसक—तीनो हो सकते है ।

सूत्र ८२ :

२८. त्रस-स्थावर प्राणियों के आश्रय में स्थित जीवों के (अणुसूयगाणं)

जो शरीर के आश्रय मे उत्पन्न होते है वे 'अनुस्यूत' कहलाते हैं ।[2] ये विकलेन्द्रिय जीव सजीव मनुष्य के शरीर मे, उसकी निश्रा मे जू, लीख आदि के रूप मे उत्पन्न होते है । खटमल आदि जीव मनुष्य शरीर के उपजीवी होते है । वे मनुष्य शरीर के आश्रय से पर्यंक आदि मे उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार मनुष्य आदि जीवो के निर्जीव शरीरो मे और विकलेन्द्रिय जीवो के निर्जीव शरीरो मे जो कृमि आदि के रूप मे उत्पन्न होते है, वे सब 'अनुस्यूत' कहलाते है । इसी प्रकार उल्का मे सजीव मूषक उत्पन्न होते है । उनके रेसो से वस्त्र बनाए जाते है, जिनकी धुलाई अग्नि से होती है । जहा अग्नि होती है, वहां वायु अवश्यभावी है । इसलिए वायुकाय के निश्रा मे भी जीव उत्पन्न होते है । वर्षा ऋतु मे पृथ्वी की ऊष्मा से पृथ्वी का आश्रयण कर 'कल्लुग' आदि दो इन्द्रियो वाले जीव तथा तीन इन्द्रिय वाले जीव—कुन्थु, पिपीलिका आदि और चार इन्द्रिय वाले पतंगा, टिड्डी आदि उत्पन्न होते हैं । पानी मे पूतरक आदि तथा वनस्पतिकाय मे पनक, भ्रमर आदि पैदा होते है ।[3]

सूत्र ८३ :

२९. मल-मूत्र आदि में……(दुरूवसंभवत्ताए)

मूत्र, मल, उल्टी आदि मे जीव उत्पन्न होते है । वे मल-मूत्र के बाहर निकलने पर या न निकलने पर भी उत्पद्यमान या उत्पन्न होकर अपने योनिभूत मल-मूत्र का आहार करते है । वे दुरूप इसलिए कहलाते है कि उनका उत्पत्ति-स्थान मल-मूत्र आदि है और उनकी आकृति भी विरूप होती है ।

मनुष्य के उदर मे कृमि पैदा होते है और बाहर निकले मनुष्यो के मल-मूत्र मे भी कृमि पैदा होते है । पशुओ के मृत कलेवरो

---

१. प्रज्ञापना वृत्ति, पत्र ४८, ४९ : ये भुजपरिसर्पविशेषा अप्रतीतास्ते लोकतोऽवसेया ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८७ अणुसूयंता णाम शरीरमनुसृत्य जायन्ते ।
(ख) वृत्ति, पत्र १०२ ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३८७ ।

मे तथा उनके सजीव पेट मे तथा उनके गोबर आदि मे भी कृमि पैदा होते है।[1] दुरुव देशी शब्द है।

सूत्र ८४ :

३०. चर्मकीट के रूप में······ (खुरदुगाणं)

यह कहा जाता है कि गाय, भैंस आदि की चमडी मे सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते है। वे उनका मास और चमडी खाते है। खाते हुए वे चमडी मे सूक्ष्म छेद करते रहते है। उनमे से रक्त बहता है और उसी रक्त का वे जीव आहार करते है।[2]

तत्काल मृत गाय आदि के कलेवर मे त्रस जीवो की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार स्थावर वनस्पति मे भी वे सम्मूर्च्छिम होते है।[3]

सूत्र ८५ :

३१. (सूत्र ८५)

अप्काय का उपादान कारण है—वायु। चूर्णिकार ने बताया है कि तमालवृक्ष की वायु मे बादल सम्मूर्च्छित होते हैं।[4] अप्काय तीन प्रकार का होता है—

१. ऊर्ध्वभागी—ऊर्ध्वगत वायु के द्वारा बादलो मे चढने वाला पानी। आकाश की वायु के वशीभूत होकर वह जल आकाश मे सम्मूर्च्छित हो जाता है।

२. अधोभागी—अधोवायु के वशीभूत होकर अधोभूमी मे बहने वाला जल।

३ तिर्यग्भागी—तिर्यग्वायु के कारण तिर्यग्भागी जल।

वह भारी होने के कारण वायु को भी उत्पन्न करता है।

इसका तात्पर्य यह है कि अप्काय की योनि वायु है। जहा-जहा जैसे-जैसे उसकी परिणति होती है वैसे-वैसे वायु का कार्यभूत जल भी पैदा हो जाता है। वायु कारण है और जल उसका कार्य।[5]

सूत्र ८६ :

३२. अग्निकाय के रूप में (अगणिकायत्ताए)

अग्नि की उत्पत्ति अनेक कारणो से होती है। वह सजीव और निर्जीव—दोनो कारणो मे उत्पन्न होती है। जब हाथी आपस मे लडते है तब उनके दातो के सघर्षण से अग्नि पैदा होती है। जब भैंसे आपस मे लडते है तब उनके सीगो के सघट्टन से चिनगारिया उछलती है। इसी प्रकार निर्जीव हड्डियो के परस्पर संघर्षण से भी अग्नि निकलती है। परस्पर दो अरणि की लकडियो को रगडने या

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८७ दुरुवा णाम मुत्तपुरिसादी सरीरावयवा, तत्थ······किमिगा संमुच्छति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १०२ तथा तत्संभवेषु मूत्रपुरीषवान्तादिषु अपरे जन्तवो दुष्टं विरूपं रूपं येषा कृम्यादीनां ते दुरूपास्तत्संभवत्वेन—तद्भावेनोत्पद्यन्ते, ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गतेऽनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूतमाहारयन्ति।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८१ . खुरुदुगा णाम जीवंताण चेव गोमहिसादीणं चम्मस्स अंतो संमुच्छति, पच्छा ते खायंतो २ चम्मं भोत्तूण उट्ठंति, पच्छा ते तेणेव मुहेण लोहितं णीहरंति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १०३ :

३. चूर्णि, पृष्ठ ३८१ अचित्तेसुवि एते गवादिसरीरेसु समुच्छंति, अभिनवमडेसु थावराणवि रुक्खाण संमुच्छंति।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३८८ वाउजोणिओ आउक्काईओ, उक्त हि ··· तमालस्य वातेण गब्भा संमुच्छति, वातसंगहिता सचिट्ठंति, संमुच्छिमा पुण सत्ता आउक्काइयत्ताए परिणमन्तीत्यर्थ.।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८८।
   (ख) वृत्ति, पत्र १०३, १०४।

पत्थरो के सघर्पण से भी अग्नि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय आदि जीवो के शरीर से भी अग्नि की उत्पत्ति मानी गई है।[1]

सूत्र ६७ :

३३. (तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सूरकंतत्ताए विउट्टंति)

इस सदर्भ मे चूर्णिकार और वृत्तिकार ने कुछेक जानकारिया प्रस्तुत की है—

- साप के मस्तक मे मणी (पृथ्वीकाय) होती है।
- हाथी के गडस्थल मे मोती (पृथ्वीकाय) होते है।
- सांप के मस्तक मे तथा मछलियो के पेट मे मोती होते है।
- मनुष्य के मूत्र मे शर्करा होती है।
- स्थावरकाय हरित वनस्पति (हसपर्वक) मे मोती होते है।
- नमक की खानो मे लकडी आदि भी नमक रूप मे परिणत हो जाती है।
- अग्नि बुझाने पर लकडी पर नमक आ जाता है।[2]
- शुक्ति आदि मे मोती उत्पन्न होते है।
- वास मे मोती होते है।
- ऊपर भूमि मे नमक होता है।[3]

---

१ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८८ : सचित्तेसु अचित्तेसु आसन्नेसु ताव हत्थीणं जुज्झंताणं दंतखडखडासु अगणि संमुच्छति, महिसाण य जुज्झंताणं सिंगेसु अग्गी संमुच्छति, अचेतणाणऽत्थि अट्ठिगाणवि, एवं वेइंदियाणवि, तहा ण अट्ठिएसु जहा संभवति भाणितव्वं, थावराणं अचेतणाणं पत्थराणं आगासे, आगासे आवडंताणं अग्गी संमुच्छति, अचेतणाणं उत्तराधरारणिजोएण अग्गी संमुच्छति।

(ख) वृत्ति, पत्र १०४, १०५।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३८९ सप्पाणं मत्थए मणी जायति हत्थीणवि मुत्तिया, मत्थएसु सप्पाण य मच्छाण य उदरेसु, मणुस्साणवि मुत्तसक्कराओ, अचित्ताणं पुणारेणमो कलेवरे छगणगादीणि लोणत्ताए परिणमति, थावराण सचित्तेसु हंसपव्वगेसु मोत्तियाओ जायति, अचित्ताणवि लवणागरादिसु कट्ठमादि लोणत्ताए परिणमति, अगणी-विद्धत्थानिंगालादीणि लोणीहोंति।

(ख) वृत्ति, पत्र १०५।

३. वृत्ति, पत्र १०५ : विकलेन्द्रियेष्वपि शुक्त्यादिपु मौक्तिकानि स्थावरेष्वपि वेण्वादिपु तान्येवेति, एवमचित्तेवूपरादिपु लवणभावेनो-त्पद्यन्ते।

चउत्थं अज्झयणं
पच्चक्खाणकिरिया

चौथा अध्ययन
प्रत्याख्यानक्रिया

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन मे प्रत्याख्यान विषयक ऊहापोह है, इसलिए इसका नाम 'प्रत्याख्यानक्रिया' रखा गया है। अठारह पापो के प्रत्याख्यान करने या न करने से क्या-क्या लाभ और हानिया है, उनका विवेक इसमे है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से यह समझाया गया है कि अप्रत्याख्यान पाप-कर्मबन्ध का मूल है और प्रत्याख्यान कर्ममुक्ति का मार्ग है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—विरति और अप्रत्याख्यान का अर्थ है—अविरति। अविरति आश्रव है। यह कर्मागमन का द्वार है। जब तक यह द्वार खुला है तब तक कर्म आते रहते हैं। विरति से यह द्वार बन्द हो जाता है और फिर कर्म नही आते।

प्रत्याख्यान के दो मुख्य भेद है—द्रव्य प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान। द्रव्य प्रत्याख्यान मे द्रव्यो—पदार्थो के उपभोग का त्याग होता है। मुनि सभी सचित्त द्रव्यो के उपभोग का परित्याग यावज्जीवन के लिए करता है। श्रावक भी यावज्जीवन के लिए सचित्त पानी का या कन्द-मूल, फल आदि वनस्पति का प्रत्याख्यान करता है। कोई यावज्जीवन के लिए अचित्त मद्य-मास आदि का परित्याग करता है और कोई यावज्जीवन के लिए विगय का प्रत्याख्यान करता है। यदि कोई सभी विगयों का प्रत्याख्यान नही कर सकता, वह महाविगयो का प्रत्याख्यान करता है।[1] द्रव्य से प्रत्याख्यान करना—जैसे, रजोहरण को हाथ मे लेकर प्रत्याख्यान करना। द्रव्य के लिए प्रत्याख्यान करना, और अनुपयुक्त अवस्था मे प्रत्याख्यान करना—ये सब द्रव्य प्रत्याख्यान है।

अप्रत्याख्यानी आत्मा के कर्मबन्ध होता है, ससार और दु ख की वृद्धि होती है।

प्रश्न होता है कि पापकर्म-बन्ध उसी के होना चाहिए जिसके मन, वचन और काया स्पष्ट है—जो मन से चिन्तन कर सकता है, वचन से बोल सकता है और शरीर से स-सकल्प प्रवृत्ति कर सकता है। जो प्राणी मन से कुशल या अकुशल का चिन्तन नही करता, वाणी से कुछ नही बोलता और काया से स्थाणु की तरह निश्चेष्ट रहता है, उसके कर्म-बन्ध कैसे होगा ? यदि उनके कर्म-बन्ध माना जाए तो मुक्त आत्माओ के भी कर्म-बन्ध होने का प्रसग आ जाएगा। एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवो के कर्मबन्ध का प्रसग ही नही आता क्योकि उनमे घात करने का मन, वचन और काया नही है।

उत्तर मे कहा गया कि कर्मबध का मूल कारण व्यक्त या अव्यक्त मन, वचन, काया नही है। उसका मूल कारण है—अप्रत्याख्यान—अविरति। एकेन्द्रिय आदि जीव भी अठारह पापो से अनिवृत्त है, उनके पाचो आश्रव द्वार खुले है। इनसे कर्म-बन्ध क्यो नही होगा ? प्रवृत्तिरूप कर्मबन्ध न भी हो पर अनिवृत्तिरूप कर्मबन्ध तो होगा ही।

बौद्ध अविज्ञानोपचित और अस्वप्नान्तिक कर्मचय नही मानते। जैन कहते है—अविरति के कारण स्वप्न मे भी कर्म का बन्ध होता है।

कर्मबन्ध का हेतु है—योग—प्रवृत्ति। योग तीन है—मन, वचन और काया। जो जीव इनके द्वारा प्रवृत्त नही है, उनके कर्मबध कैसे होगा ? आकाश अमनस्क है और निश्चेष्ट है, उसके कर्मबध नही होता। इसी प्रकार जो जीव अमनस्क और निश्चेष्ट है, उनके कर्म-बध कैसे होगा ?

जीवनिकाय छह है। इन जीवो के प्रति उन एकेन्द्रिय आदि अमनस्क या समनस्क जीवो मे प्रत्याख्यानात्मक अवधकचित्त उत्पन्न ही नही होता। वैसा अवधकचित्त उत्पन्न न होने के कारण वे अविरत है। जो अविरत है उनके कर्मबन्ध होगा। उनका चित्त निरन्तर अठारह पापो के प्रति अव्यक्तरूप से प्रशठ बना रहता है, इसलिए उनके कर्मबध होता है। जैसे कोई किसी की हत्या करना चाहता है। वह अवसर की प्रतीक्षा करता है। जब तक उपयुक्त अवसर नही आता, वह अन्यान्य कार्यो मे सलग्न रहता है। वह उस समय वध के प्रति अस्पष्ट विज्ञान वाला होता है, फिर भी उसका चित्त निरन्तर हत्या के प्रति अभिमुख या प्रशठ होता है। वह उस उपेक्षा के क्षणो मे या अवसर की प्रतीक्षा करने के क्षणो मे अवैरी नही हो जाता। वध्य-वधक सबधी अवसर की अपेक्षा से चार भग इस प्रकार बनते है —

१ वधक के लिए अवसर, वध्य के लिए अनवसर।

२. वधक के लिए अनवसर, वध्य के लिए अवसर।

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ३८९-३९०।

३. दोनो के लिए अनवसर।

४. दोनो के लिए अवसर।

जो वधक अवसर का प्रतीक्षा कर रहा है, वह वध्य का मित्र है या अमित्र ? वह अमित्र है। जैसे वह वधक अवसर की प्रतीक्षा के क्षणो मे वध्य की कोई हानि नही करता फिर भी वह उसका अमित्र है, वैसे ही जो अविरत है उसमे अठारह पापो के आचरण की योग्यता होती है, इसलिए वह उन पापो के दोषो का भागी बनता है।

प्रश्न—जिसको न देखा, न सुना, न जाना, उसके प्रति हिंसा का चित्त कैसे हो सकता है ? अमित्र भाव कैसे हो सकता है ? इसलिए सर्व विषयक प्रत्याख्यान उपयुक्त नही है।

उत्तर—यह ठीक है कि देश और काल की दूरी के कारण सबके लिए वधकचित्त उत्पन्न नही होता, किन्तु अविरति—प्रत्याख्यान की अविद्यमानता मे वह जीव उन प्राणियो के प्रति वैर से मुक्त हो गया, ऐसा नही माना जा सकता।

आचार्य ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए सज्ञी और असंज्ञी का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

इसी प्रसग मे 'सव्वजोणिया जीवा'—यह सिद्धान्त बहुत उभर कर प्रतिपादित हुआ है। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि जीव सर्वयोनिक नही होते। पुरुष सदा पुरुष ही रहता है और पशु सदा पशु ही रहते हैं। पुरुष मरकर पुन. पुरुष होता है और पशु मर कर पुन पशु होता है। सज्ञी जीव सदा सज्ञी ही बने रहते है और असंज्ञी जीव सदा असंज्ञी ही बने रहते हैं। जैन मान्यता है कि जन्म की ऐसी प्रतिबद्धता नही है। पशु मनुष्य बन सकता है और मनुष्य पशु बन सकता है। त्रसकाय के जीव स्थावर मे सक्रमण कर सकते है और स्थावर जीव त्रसकाय मे उत्पन्न हो सकते हैं। सज्ञी असज्ञी हो सकता है और असंज्ञी संज्ञी हो सकता है। प्रत्येक जीव मे 'सर्वयोनिक' योग्यता होती है। जन्म अपने-अपने कर्म के अनुसार होता है। जैसे भव्यत्व और अभव्यत्व कर्मायत्त न होने के कारण व्यवस्था-नियम से प्रतिबद्ध है, वैसे जन्म किसी व्यवस्था—नियम से प्रतिबद्ध नही है, वह कर्मायत्त है।[1]

उपसहार मे सूत्रकार कहते हैं—जो पापकर्म का प्रत्याख्यान कर देता है, उसके पापकर्म का बन्धन हो होता। जैसे षड्जीवनिकाय कर्म-बन्ध के हेतु बनते हैं वैसे ही वे मोक्ष के हेतु भी बनते है। प्रत्याख्यान रहित व्यक्ति के लिए वे कर्म-बन्ध के हेतु हैं और प्रत्याख्यानयुक्त व्यक्ति के लिए वे मोक्ष के हेतु हैं। जो सभी आस्रवों से विरत है, वह सावद्य क्रियाओ के अभाव में अक्रिय होता है। जो अक्रिय होता है वह अहिंसक होता है। वह सवृत और एकान्त पडित होता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे इन्द्रिय जगत् से हटकर इन्द्रियातीत चेतना के आधार पर कर्म के बन्ध और अबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि के अनुसार मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्ति के बिना पापकर्म का बध नही माना जाता। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार पापकर्म के बध का एक कारण अविरति है। उससे निरन्तर वह बध होता रहता हैं। दुष्प्रवृत्ति उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। वह कभी-कभी होती है, निरन्तर नहीं होती। इसलिए साधक को अविरतचित्त को बदलने की दिशा मे उपक्रम करना चाहिए। उसके बदलने पर दुष्प्रवृत्ति सहज निरुद्ध होने लग जाती है। यह मूलग्राही दृष्टिकोण साधना के क्षेत्र मे बहुत रहस्यपूर्ण है।

---

१. वृत्ति, पत्र ११६।

चउत्थं अज्झयणं : चौथा अध्ययन

पच्चक्खाणकिरिया : प्रत्याख्यानक्रिया

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पच्चक्खाणकिरियाणामज्झयणे। तस्स णं अयमट्ठे—आया अपच्चक्खाणी यावि भवइ। आया अकिरियाकुसले यावि भवइ। आया मिच्छासंठिए यावि भवइ। आया एगंतदंडे यावि भवइ। आया एगंतबाले यावि भवइ। आया एगंतसुत्ते यावि भवइ। आया अवियार-मण-वयण-काय-वक्के यावि भवइ। आया अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ।	श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एव आख्यातम्—इह खलु प्रत्याख्यानक्रियानामाध्ययनम्। तस्याय अर्थ—आत्मा अप्रत्याख्यानी चापि भवति। आत्मा अक्रियाकुशलश्चापि भवति। आत्मा मिथ्यासस्थितश्चापि भवति। आत्मा एकान्तदण्डश्चापि भवति। आत्मा एकान्तवालश्चापि भवति। आत्मा एकान्तसुप्तश्चापि भवति। आत्मा अविचारमनोवचनकायवाक्य-श्चापि भवति। आत्मा अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चापि। भवति।	१. सुना है मैंने आयुष्मान्! उन भगवान् ने ऐसा कहा—प्रस्तुत आगम मे[1] 'प्रत्याख्यान-क्रिया' नामका अध्ययन है। उसका यह अर्थ है—आत्मा अप्रत्याख्यानी[2] भी होता है। आत्मा अक्रियाकुशल[3] भी होता है। आत्मा मिथ्या-सस्थित[4] भी होता है। आत्मा एकान्त-दड[5] (हिंसक) भी होता है। आत्मा एकान्त-वाल[6] भी होता है। आत्मा एकान्तसुप्त[7] भी होता है। आत्मा मन, वचन, शरीर और वाक्य के विचार[8] (प्रवृत्ति) से रहित भी होता है। आत्मा अप्रतिहत-अप्रत्याख्यात[9]-पापकर्मवाला भी होता है।
एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते। से बाले अवियार-मण-वयण-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥	एष खलु भगवता आख्यातः असयत. अविरत. अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियः असवृत एकान्तदण्ड एकान्तवाल एकान्त-सुप्तः। स वाल. अविचारमनोवचनकायवाक्य स्वप्नमपि न पश्यति, पाप च तस्य कर्म क्रियते।	भगवान् ने ऐसी आत्मा को असयत, अविरत, अप्रतिहत-अप्रत्याख्यात-पापकर्मवाला, सक्रिय, असवृत, एकान्तदड, एकान्तवाल और एकान्तसुप्त वतलाया। वह वाल मन-वचन-काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) नही करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, फिर भी उसके पापकर्म का वन्ध होता है।[10]
२. तत्थ चोयए पण्णवगं एवं वयासी—असंतएणं मणेणं पावएणं, असतियाए वईए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियार-मण-वयण-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे णो कज्जइ।	तत्र चोदक प्रज्ञापक एव अवादित्—असता मनसा पापकेन, असत्या वाचा पापिकया, असता कायेन पापकेन, अघ्नत अमनस्कस्य अविचारमनोवचनकाय-वाक्यस्य स्वप्नमपि अपश्यत पाप कर्म नो क्रियते।	२ पृच्छक प्रज्ञापक से इस प्रकार कहता है[11]—जव पापकारी मन नही है, पापकारी वाणी नही है, पापकारी काया नही है, किसी का वध नही करता, (वध करने का) मन भी नही है, मन-वचन-काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) भी नही करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, उसके पापकर्म का वन्ध नही होता।
कस्स णं तं हेउं ?	कस्य तद् हेतो ?	प्रज्ञापक ने कहा—इसका हेतु क्या है ?

चोयए एवं ब्रवीति—अण्णयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अण्णयरीए वईए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अण्णयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, हणंतस्स समणक्खस्स सवियार-मण-वयण-काय-वक्कस्स सुविणमवि पासओ—एवंगुण-जातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ।

पुणरवि चोयए एवं ब्रवीति—तत्थणं जेते एवमाहंसु—असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वईए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियार-मण-वयण-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ—[तत्थ णं जे ते एवमाहंसु] मिच्छं ते एवमाहंसु॥

चोदकः एवं ब्रवीति—अन्यतरेण मनसा पापकेन मनःप्रत्ययं पाप कर्म क्रियते, अन्यतरया वाचा पापिकया वाक्प्रत्ययं पाप कर्म क्रियते, अन्यतरेण कायेन पापकेन कायप्रत्यय पापं कर्म क्रियते, घ्नतः समनस्कस्य सविचारमनो-वचनकायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यतः—एवं गुणजातीयस्य पाप कर्म क्रियते।

पुनरपि चोदकः एव ब्रवीति—तत्र ये एते एवमाहुः—असता मनसा पापकेन, असत्या वाचा पापिकया, असता कायेन पापकेन, अघ्नतः अमनस्कस्य अविचार-मनोवचनकायवाक्यस्य स्वप्न-मपि अपश्यतः पाप कर्म क्रियते—[तत्र ये एते एवमाहुः] मिथ्या ते एवमाहुः।

पृच्छक इस प्रकार कहता है—किसी पाप-कारी मन से मनोहेतुक पापकर्म का बन्ध होता है, किसी पापकारी वाणी से वचनहेतुक पापकर्म का बन्ध होता है, किसी पापकारी काया से कायहेतुक पापकर्म का बन्ध होता है, वध करता है, वध करने का मन होता है, मन-वचन-काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) करता है, (हिंसा का) स्वप्न भी देखता है—इस प्रकार के गुण वाले प्राणी के पापकर्म का बन्ध होता है।

पुन पृच्छक इस प्रकार कहता है—जो ये ऐसा कहते है—जब पापकारी मन नही है, पापकारी वाणी नही है, पापकारी काया नही है, किसी का वध नही करता, (वध करने का) मन भी नही है, मन-वचन-काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) भी नही करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, उसके पापकर्म का बन्ध होता है—(जो ये ऐसा कहते है) वे ऐसा मिथ्या कहते हैं।

३. तत्थ पण्णवए चोयगं एवं वयासी—जं मए पुव्वं वुत्तं असंतएणं मणेणं पावएणं, असंतियाए वईए पावियाए, असंतएणं काएणं पावएणं, अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियार-मण-वयण-काय-वक्कस्स सुविण-मवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ—तं सम्मं।

तत्र प्रज्ञापकः चोदकं एवं अवा-दीत्—यत् मया पूर्वं उक्तं असता मनसा पापकेन, असत्या वाचा पापिकया असता कायेन पापकेन, अघ्नत अमनस्कस्य अविचार-मनो-वचन-कायवाक्यस्य स्वप्न-मपि अपश्यतः पापं कर्म क्रियते—तत् सम्यक्।

३. प्रज्ञापक ने पृच्छक से ऐसा कहा—जो मैंने पहले कहा कि जब पापकारी मन नही है, पाप-कारी वाणी नही है, पापकारी काया नही है, किसी का वध नही करता, (वध करने का) मन भी नही है, मन-वचन-काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) भी नही करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, उसके पापकर्म का बन्ध होता है—वह सम्यक् है।

कस्स णं तं हेउं ?

आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइ-काइया तसकाइया। इच्चेतेहिं छहिं जीवणिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे, णिच्चं पसढ-विओवात-चित्तदंडे, तं जहा—'पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे माणे मायाए लोहे

कस्य तद् हेतोः ?

आचार्य आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः हेतवः प्रज्ञप्ताः—तद् यथा—पृथ्वीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायु-कायिकाः वनस्पतिकायिकाः त्रसकायिकाः। इत्येतेषु षड्सु जीवनिकायेषु आत्मा अप्रति-हतप्रत्याख्यातपापकर्मा, नित्यं प्रशठव्यवपातचित्तदण्डः, तद् यथा—प्राणातिपाते मृषावादे अदत्ता-दाने मैथुने परिग्रहे क्रोधे माने

पृच्छक ने कहा—इसका हेतु क्या है ?

आचार्य ने कहा—भगवान् ने षड्जीव-निकाय को (पापकर्म के बन्ध का) हेतु बत-लाया है—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। आत्मा इन छह जीवनिकायों के प्रति अप्रतिहत-अप्रत्याख्यात-पापकर्मवाला, सदा प्रशठ (विप्रिय और गूढ आचारवाला) तथा हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदण्डवाला होता है, जैसे—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेयस्, द्वेष, कलह, अभ्या-

पेज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे पेसुण्णे परपरिवाए अरइरईए मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले ॥

मायाया लोभे प्रेयसि दोषे कलहे अभ्याख्याने पैशुन्ये परपरिवादे अरतिरत्यां मायामृषा मिथ्यादर्शनशल्ये ।

ख्यान, पैशून्य, परपरिवाद, अरति-रति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शनशल्य मे (चित्तदण्ड-वाला होता है ।)

४. आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठंते पण्णत्ते—से जहाणामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामित्ति पहारेमाणे। से किं णु हु णाम से वहए तस्स वा गाहावइस्स तस्स वा गाहावइपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडे भवइ ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे ?
चोयए—हंता भवइ।

आचार्य आह—तत्र खलु भगवता वधक. दृष्टान्त प्रज्ञप्त —तद् यथानाम वधक स्याद् गृहपते. वा गृहपतिपुत्रस्य वा राज्ञ वा राजपुरुषस्य वा क्षणं निदाय प्रवेक्ष्यामि क्षणं लब्ध्वा हनिष्यामीति प्रधारयन् ।
अथ किं न खलु नाम स वधक तस्य वा गृहपते. तस्य वा गृहपते. तस्य वा गृहपतिपुत्रस्य तस्य वा राज्ञ तस्य वा राजपुरुषस्य क्षणं निदाय प्रवेक्ष्यामि क्षण लब्ध्वा हनिष्यामि इति प्रधारयन् दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत मिथ्यासस्थित नित्य प्रशठव्यवपातचित्तदण्डो भवति ? एवं व्यागृण्वन् समतया व्यागृणीयात् ?
चोदक —हन्ता भवति ।

४. आचार्य ने कहा—इस प्रसग मे भगवान् द्वारा वधक का दृष्टान्त प्रज्ञप्त है—जैसे कोई वधक सकल्प करता है कि मैं अवसर पाकर गृहपति, गृहपतिपुत्र, राजा या राज-पुरुष के (घर मे) प्रवेश करूगा और अवसर पाकर वध करूगा ।

उस गृहपति, गृहपतिपुत्र, राजा या राज-पुरुष के घर मे अवसर पाकर प्रवेश करूगा और अवसर पाकर वध करूगा—ऐसा सकल्प करने वाला वधक क्या दिन या रात, सोते या जागते, उनका अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित[14] (बुरे विचार वाला), सदाप्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदडवाला होता है ?[15] क्या ऐसा व्याकरण (कथन) सम्यक् व्याकरण है ?

पृच्छक ने कहा—हा, यह सम्यक् व्याकरण है ।

५. आचार्य आह—जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स तस्स वा गाहावइपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामित्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडे, एवामेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडे, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

आचार्य आह—यथा स वधक तस्य वा गृहपते तस्य वा गृहपतिपुत्रस्य तस्य वा राज्ञ तस्य वा राजपुरुषस्य क्षणं निदाय प्रवेक्ष्यामि क्षण लब्ध्वा हनिष्यामीति प्रधारयन् दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत. मिथ्यासस्थित नित्य प्रशठव्यवपातचित्तदण्ड , एवमेव बालोऽपि सर्वेषा प्राणाना सर्वेषा भूताना सर्वेषां जीवाना सर्वेषा सत्त्वाना दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत मिथ्यासस्थित नित्य प्रशठव्यवपातचित्तदण्ड., तद् यथा—प्राणातिपाते यावन् मिथ्यादर्शनशल्ये ।

आचार्य ने कहा—जैसे वह वधक उस गृहपति, गृहपतिपुत्र, राजा या राजपुरुष के घर मे अवसर पाकर प्रवेश करूगा और अवसर पाकर वध करूगा—ऐसा सकल्प करता है और दिन या रात, सोते या जागते, उनका अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदण्डवाला होता है, इसी प्रकार बाल (असयत) सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्वो के प्रति दिन या रात, सोते या जागते, अमित्रभूत, मिथ्या-सस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्त-दडवाला होता है, जैसे प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य मे (चित्तदण्डवाला होता है) ।

एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंत-दंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवइ ।

एष खलु भगवता आख्यात. असंयत' अविरत: अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रिय' असंवृत. एकान्तदण्ड. एकान्तबाल' एकान्तसुप्त. चापि भवति ।

भगवान् ने ऐसे प्राणी को असयत, अविरत, अप्रतिहत अप्रत्याख्यात-पापकर्मवाला, सक्रिय, असवृत, एकान्तदण्ड, एकान्तबाल,और एकान्त-सुप्त बतलाया है ।

से बाले अवियारमण-वयण-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥

स बाल. अविचारमनोवचनकाय-वाक्य' स्वप्नमपि न पश्यति, पाप च तस्य कर्म क्रियते ।

वह बाल मन, वचन, काय और वाक्य का कोई विचार नही करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, फिर भी उसके पाप-कर्म का बन्ध होता है ।"

६. जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स तस्स वा गाहावइपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेय चित्तं समादाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाण वा अमित्तभूए मिच्छासंठिए णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडे भवइ, एवामेव बाले सव्वेसि पाणाण सव्वेसि भूयाणं सव्वेसि जीवाणं सव्वेसि सत्ताणं पत्तेय पत्तेय चित्तं समादाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छासठिए णिच्च पसढ-विओवाय-चित्तदंडे भवइ ॥

यथा स वधक. तस्य वा गृहपते तस्य वा गृहपतिपुत्रस्य तस्य वा राज्ञ तस्य वा राजपुरुपस्य प्रत्येकं प्रत्येक चित्त समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत' मिथ्यासस्थित नित्य प्रशठव्यवपातचित्तदण्डो भवति, एवमेव बाल सर्वेपा प्राणाना सर्वेपा भूताना सर्वेपा जीवाना सर्वेपा सत्त्वाना प्रत्येकं प्रत्येक चित्त समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत' मिथ्यासस्थित. नित्यं प्रशठव्यवपातचित्तदण्डो भवति ।

६. जैसे वह वधक उस गृहपति, गृहपतिपुत्र, राजा या राजपुरुष मे से प्रत्येक के प्रति वधकचित्त उत्पन्न कर दिन या रात, सोते या जागते, अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदण्डवाला होता है, इसी प्रकार बाल (असयत) प्राणी भी सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्वो मे से प्रत्येक के प्रति वधकचित्त उत्पन्न कर दिन या रात, सोते या जागते, अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदण्डवाला होता है ।"

७. णो इणट्ठे समट्ठे—इह खलु बहवे पाणा, जे इमेण सरीर-समुस्सएणं णो दिट्ठा वा सुया वा णाभिमया वा विण्णाया वा, जेसिं णो पत्तेय पत्तेय चित्तं समादाय दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूए मिच्छा-सठिए णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडे, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥

नो अयमर्थ समर्थ.—इह खलु बहव प्राणा, ये अनेन शरीर-समुच्छ्रयेण नो दृष्टा' वा श्रुता वा नाभिमता वा विज्ञाता वा, येषा नो प्रत्येक प्रत्येक चित्त समादाय दिवा वा रात्रौ वा सुप्तो वा जाग्रद् वा अमित्रभूत' मिथ्या-सस्थित नित्य प्रशठव्यवपात-चित्तदण्ड, तद् यथा—प्राणाति-पाते यावन् मिथ्यादर्शनशल्ये ।

७. (पृच्छक ने कहा) यह अर्थ ठीक नही है—क्योकि इस ससार मे बहुत सारे ऐसे प्राणी हैं, जो इस शरीर-समुच्छ्रय" से दृष्ट नही है, जिनके विषय मे कुछ सुना नही है, जो अभिमत या विज्ञात नही हैं, जिनमे से प्रत्येक के प्रति वधकचित्त उत्पन्न कर, दिन या रात सोते या जागते, अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदडवाला हो, जैसे—प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य मे (चित्तदण्डवाला हो) ।

८. आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं जहा—सण्णिदिट्ठंते य असण्णिदिट्ठंते य ॥

आचार्य आह—तत्र खलु भगवता द्वौ दृष्टान्तौ प्रज्ञप्तौ, तद् यथा—सज्ञिदृष्टान्तश्च असज्ञि-दृष्टान्तश्च ।

८ आचार्य ने कहा—इस प्रसग मे भगवान् द्वारा दो दृष्टान्त प्रज्ञप्त है, जैसे—सज्ञिदृष्टान्त और असज्ञिदृष्टान्त ।

९. से किं तं सण्णिदिट्ठंते ?

अथ किं स सज्ञिदृष्टान्त. ?

९. वह" सज्ञिदृष्टान्त क्या है ?

सण्णिदिट्ठंते—जे इमे सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा। एतेसि णं छज्जीवणिकाए पडुच्च [पइण्णं कुज्जा ?] ॥

संज्ञिदृष्टान्त—ये इमे सज्ञिपञ्चेन्द्रिया पर्याप्तका। एतेषा षड्जीवनिकायान् प्रतीत्य [प्रतिज्ञा कुर्यात् ?]।

सज्ञिदृष्टान्त—जो ये सज्ञी (समनस्क) पचेन्द्रिय छहो पर्याप्तियो से पर्याप्त प्राणी हैं [1] इनके छह जीवनिकायो की दृष्टि से (यह प्रतिज्ञा होती है, अथवा ये इस प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं)।

१०. से एगइओ पुढविकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं पुढविकाएण किच्चं करेमि वि कारवेमि वि। णो चेव णं से एवं भवइ—इमेण वा इमेण वा। से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। से य तओ पुढविकायाओ असंजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ ॥

स एकक पृथ्वीकायेन कृत्य करोत्यपि कारयत्यपि। तस्य एव भवति—एव खलु अह पृथ्वीकायेन कृत्य करोम्यपि कारयाम्यपि। नो चैव तस्य एव भवति—अनेन वा अनेन वा। स च तेन पृथ्वीकायेन कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि। स च तत पृथ्वीकायात् असयतअविरतअप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चापि भवति।

१० कोई पृथ्वीकाय मे कृत्य करता भी है और करवाता भी है, उसका ऐसा (सकल्प) होता है—मैं पृथ्वीकाय मे कृत्य करता भी हू और करवाता भी हूं। उसके ऐसा नहीं होता कि मैं अमुक पृथ्वीकाय से कृत्य करू अथवा अमुक पृथ्वीकाय से कृत्य करू। वह उस पृथ्वीकाय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, इसलिए वह उस पृथ्वीकाय से असयत, अविरत, अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाला भी होता है।

११. से एगइओ आउकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। तस्स णं एव भवइ—एवं खलु अहं आउकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि। णो चेव णं से एवं भवइ—इमेण वा इमेण वा। से य तेणं आउकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। से य तओ आउकायाओ असंजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ ॥

स एकक अप्कायेन कृत्य करोत्यपि कारयत्यपि। तस्य एव भवति—एव खलु अहं अप्कायेन कृत्य करोम्यपि कारयाम्यपि। नो चैव तस्य एव भवति—अनेन वा अनेन वा। स च तेन अप्कायेन कृत्य करोत्यपि कारयत्यपि। स च तत. अप्कायात् असयतअविरतअप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चापि भवति।

११. कोई अप्काय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, उसका ऐसा (सकल्प) होता है—मैं अप्काय से कृत्य करता भी हूं और करवाता भी हूं। उसके ऐसा नही होता कि मैं अमुक अप्काय से कृत्य करू अथवा अमुक अप्काय से कृत्य करू। वह उस अप्काय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, इसलिए वह उस अप्काय से असयत, अविरत, अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाला भी होता है।

१२. से एगइओ तेउकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं तेउकाएणं किच्च करेमि वि कारवेमि वि। णो चेव णं से एवं भवइ—इमेण वा इमेण वा। से य तेणं तेउकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। से य तओ तेउकायाओ असजय-अविरय-अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे यावि भवइ ॥

स एकक. तेजस्कायेन कृत्य करोत्यपि कारयत्यपि। तस्य एव भवति—एव खलु अह तेजस्कायेन कृत्यं करोम्यपि कारयाम्यपि। नो चैव तस्य एव भवति—अनेन वा अनेन वा। स च तेन तेजस्कायेन कृत्य कोरोत्यपि कारयत्यपि। स च तत तेजस्कायात् असयतअविरतअप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा चापि भवति।

१२ कोई तेजस्काय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, उसका ऐसा (सकल्प) होता है—मैं तेजस्काय से कृत्य करता भी हूं और करवाता भी हू। उसके ऐसा नही होता कि मैं अमुक तेजस्काय से कृत्य करू अथवा अमुक तेजस्काय से कृत्य करू। वह उस तेजस्काय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, इसलिए वह उस तेजस्काय से असयत, अविरत, अप्रतिहत, और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाला भी होता है।

१३. से एगइओ वाउकाएणं किच्चं करेइ वि कारवेइ वि। तस्स णं

स एकक वायुकायेन कृत्यं करोत्यपि कारयत्यपि। तस्य एव

१३. कोई वायुकाय से कृत्य करता भी है और करवाता भी है, उसका ऐसा (सकल्प) होना

असंजय - अविरय - अप्पडिहय - पच्चक्खाय-पावकम्मे, तं जहा— पाणाइवाए जाव मिच्छादंसण-सल्ले ।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तद् यथा—प्राणातिपाते यावन् मिथ्यादर्शनशल्ये ।

अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्म वाला होता है, जैसे—प्राणातिपात से असयत, अविरत, अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्म वाला होता है, वैसे ही मृपावाद यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य से भी असयत, अविरत, अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाला होता है ।

एस खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सुविणमवि ण पस्सइ पावे य से कम्मे कज्जइ ।

एप खलु भगवता आख्यात. असयत. अविरत अप्रतिहतप्रत्या-ख्यातपापकर्मा स्वप्नमपि न पश्यति, पाप च तस्य कर्म क्रियते ।

भगवान् ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात पापकर्मवाला कहा है। वह (हिंसा का) स्वप्न भी नही देखता, फिर भी उसके पापकर्म का वन्ध होता है ।

—से तं सण्णिदिट्ठंते ।।

स एप संज्ञिदृष्टान्त ।

यह सज्ञिदृष्टान्त है ।

१७. से किं तं असण्णिदिट्ठंते ?

अथ किं स असज्ञिदृष्टान्त ?

१७ वह असंज्ञिदृष्टान्त क्या है ?

असण्णिदिट्ठंते—जे इमे असण्णिणो पाणा, तं जहा— पुढविकाइया आउकाइया तेउ-काइया वाउकाइया वणस्सइ-काइया छट्ठा वेगइया तसा पाणा । जेसिं णो तक्का इ वा सण्णा इ वा पण्णा इ वा मणे इ वा वई इ वा सयं वा करणाए, अण्णेहिं वा कारवेत्तए, करेंतं वा समणु-जाणित्तए, ते वि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ता वा जागरमाणा वा अमित्तभूया मिच्छासंठिया णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडा, तं जहा—पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

असज्ञिदृष्टान्त —ये इमे असज्ञिन प्राणा, तद् यथा—पृथ्वीकायिका अप्कायिका तेजस्कायिका वायु-कायिका वनस्पतिकायिका षष्ठा वा एकके त्रसा प्राणा. । येपा नो तर्क इति वा, सज्ञा इति वा, प्रज्ञा इति वा, मन इति वा, वाग् इति वा, स्वय वा कर्तुं, अन्यै वा कारयितु, कुर्वन्त वा समनुज्ञातु, तेऽपि वाला सर्वेषा प्राणाना सर्वेषा भूताना सर्वेपा जीवाना सर्वेपा सत्त्वाना दिवा वा रात्रौ वा सुप्ता वा जाग्रत वा अमित्रभूता. मिथ्यासस्थिता नित्य प्रशठव्यवपातचित्तदण्डा, तद् यथा—प्राणातिपाते यावन् मिथ्यादर्शनशल्ये ।

असज्ञि-दृष्टान्त—जो ये असज्ञी[११] प्राणी होते है, जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और छठे हैं त्रसप्राणी। जिनके तर्क, सज्ञा, प्रज्ञा, मन[१२] और वाणी[१३] नही होती, स्वय करने के लिए, दूसरो के द्वारा करवाने के लिए और करनेवाले का अनुमोदन करने के लिए। वे वाल प्राणी भी सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्वो के प्रति दिन या रात, सोते या जागते, अमित्रभूत, मिथ्यासस्थित, सदा प्रशठ और हिंसा मे प्रवृत्त चित्तदडवाले होते है, जैसे—प्राणातिपात यावत् मिथ्या-दर्शनशल्य मे (चित्तदडवाले होते हैं) ।

इच्चेवं जाणे णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए, ते दुक्खण-सोयण जूरण-तिप्पण-पिट्टण- परितप्पण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अप्पडि-विरया भवंति ।

इत्येव जानीयाद् नो चैव मन नो चैव वाग् प्राणाना भूताना जीवाना सत्त्वाना दु खनाय शोच-नाय खेदनाय तेपनाय पिट्टनाय परितापनाय, ते दु खन-शोचन-खेदन-तेपन-पिट्टन-परितापन-वध-वन्ध-परिक्लेशात् अप्रतिविरता भवन्ति ।

इस प्रकार जानो। (उन असज्ञिप्राणियो के) न मन होता है, न वाणी होती है प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो को दु खी करने के लिए, शोकाकुल करने के लिए, खिन्न करने के लिए, रुलाने के लिए, पीटने के लिए, परितप्त करने लिए, (फिर भी) वे दु.ख, शोक, खेद, अश्रु-विमोचन, पीडा, परिताप, वध, वन्ध और परिक्लेश से विरत नही होते ।

इति खलु ते असण्णिणो वि संता अहोणिसं पाणाइवाए उवक्खाइ-

इति खलु ते असज्ञिनोऽपि सन्त अहर्निश प्राणातिपाते उपाख्या-

इस प्रकार वे असज्ञी होते हुए भी रात-दिन हिंसा करने वाले कहलाते है यावत्

ज्जंति जाव अहोणिसं मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति ॥

यन्ते यावद् अहर्निशं मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते ।

मिथ्यादर्शनशल्य में प्रवृत्त कहलाते हैं।

१८. सव्वजोणिया वि खलु सत्ता—सण्णिणो हुच्चा असण्णिणो होंति, असण्णिणो हुच्चा सण्णिणो होंति, होच्चा सण्णी अदुवा असण्णी। तत्थ से अविविचित्ता अविधूणित्ता असमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति, सण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति, सण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति ॥

सर्वयोनिकाः अपि खलु सत्त्वा —संज्ञिनो भूत्वा असंज्ञिनो भवन्ति, असंज्ञिनो भूत्वा संज्ञिनो भवन्ति, भूत्वा संज्ञी अथवा असंज्ञी। तत्र ते अविविच्य अविधूय असमुच्छिद्य अननुताप्य असंज्ञिकायाद् वा संज्ञिकायं संक्रामन्ति, संज्ञिकायाद् वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति, संज्ञिकायाद् वा संज्ञिकायं संक्रामन्ति, असंज्ञिकायाद् वा असंज्ञिकायं संक्रामन्ति ।

१८. प्राणी सर्वयोनिक भी होते हैं—वे संज्ञी होकर असंज्ञी हो जाते हैं और असंज्ञी होकर संज्ञी हो जाते हैं, संज्ञी हो या असंज्ञी। वे उनका (पूर्वार्जित कर्मों को) पृथक् नहीं कर पाते, प्रकम्पित नहीं कर पाते, उच्छिन्न नहीं कर पाते, अनुताप नहीं कर पाते, (तब तक) असंज्ञिकाय से संज्ञिकाय में संक्रमण करते हैं, संज्ञिकाय से असंज्ञिकाय में संक्रमण करते हैं, संज्ञिकाय से संज्ञिकाय में संक्रमण करते हैं और असंज्ञिकाय से असंज्ञिकाय में संक्रमण करते हैं।”

१९. जे एए सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा णिच्चं पसढ-विओवाय-चित्तदंडा, तं जहा—पाणाइवायाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥

ये एते संज्ञिनो वा असंज्ञिनो वा सर्वे ते मिथ्याचाराः नित्यं प्रशठव्यवपातचित्तदण्डाः, तद् यथा—प्राणातिपाते यावत् मिथ्यादर्शनशल्ये ।

१९. जो ये संज्ञी या असंज्ञी प्राणी हैं वे सब मिथ्या आचार वाले, सदा प्रशठ और हिंसा में प्रवृत्त चित्तदण्डवाले होते हैं, जैसे प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में (चित्तदण्डवाले होते हैं)।”

२०. एवं खलु भगवया अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते ।
से बाले अवियार-वयण-काय-वक्के सुविणमवि ण पासइ, पावे य से कम्मे कज्जइ ॥

एवं खलु भगवता आख्यातः असंयतः अविरतः अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रियः असंवृतः एकान्तदण्डः एकान्तबालः एकान्तसुप्तः ।
स बालः अविचारमनोवचनकायवाक्यः स्वप्नमपि न पश्यति, पापं च तस्य कर्म क्रियते ।

२०. भगवान् ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, अप्रतिहत-अप्रत्याख्यात-पापकर्मवाला, सक्रिय, असंवृत, एकान्तदण्ड, एकान्तबाल और एकान्तसुप्त कहा है।

वह बाल, मन, वचन, काय और वाक्य का कोई विचार (प्रवृत्ति) नहीं करता, (हिंसा का) स्वप्न भी नहीं देखता, फिर भी उसके पापकर्म का बन्ध होता है।

२१. चोयगः—से किं कुव्वं ? किं कारवं ? कहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे भवइ ?
आचार्य आह—तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—पुढवीकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया। से जहाणामए मम अस्सातं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवा-

चोदकः—स किं कुर्वन् ? किं कारयन् ? कथं संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति ?
आचार्यः आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः हेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—पृथ्वीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पतिकायिकाः त्रसकायिकाः। अथ यथानाम मम असातं दण्डेन वा

२१. पृच्छक (ने पूछा)—वह क्या करता हुआ, क्या करवाता हुआ और कैसे संयत, विरत, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मवाला होता है ?

आचार्य ने कहा—भगवान् ने षड्जीवनिकाय को (पापकर्म के अबन्ध का) हेतु बतलाया है—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। जैसे मेरे लिए यह अप्रिय होता है, (यदि कोई मुझे) डंडे, हड्डी, मुट्ठी तथा ढेले या कपाल से पीटे, मारे

लेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उवद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि—इच्चेवं जाण।

अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमानस्य वा हन्यमानस्य वा तर्ज्यमानस्य वा ताड्यमानस्य वा परिताप्यमानस्य वा क्लाम्यमानस्य वा उद्द्राव्यमानस्य वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारक दुःखं भय प्रतिसवेदयामि—इत्येव जानीहि।

तर्जना और ताडना दे, परितप्त और क्लान्त करे, प्राण से वियोजित करे, यहा तक कि रोम उखाडने मात्र से भी मैं हिंसाकारक दुःख और भय का प्रतिसवेदन करता हू, ऐसा तुम जानो।

सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा परिताविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उवद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारग दुक्ख भयं पडिसवेदेंति—एवं णच्चा सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णिइए सासए समेच्च लोग खेत्तण्णेहिं पवेइए॥

सर्वे प्राणा सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा सर्वे सत्त्वा दण्डेन वा अस्थ्ना वा मुष्टिना वा लेष्टुना वा कपालेन वा आकुट्यमाना वा हन्यमाना वा तर्ज्यमाना वा ताड्यमाना वा परिताप्यमाना वा क्लाम्यमाना वा उद्द्राव्यमाना वा यावद् रोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकारक दुःख भय प्रतिसवेदयन्ति—एवं ज्ञात्वा सर्वे प्राणा सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवा सर्वे सत्त्वा न हन्तव्या. न आज्ञापयितव्या न परिगृहीतव्या न परितापयितव्या न उद्द्रावयितव्या। एष धर्म ध्रुव नित्य शाश्वत समेत्य लोक क्षेत्रज्ञैः प्रवेदित।

सव प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को डडे से, हड्डी से, मुट्ठी से तथा ढेले या कपाल से कोई पीटे, मारे, तर्जना और ताडना दे, परितप्त और क्लान्त करे, प्राण से वियोजित करे तव, यहा तक कि रोम उखाडनेमात्र से भी, वे हिंसाकारक दुःख और भय का प्रतिसवेदन करते हैं। (आत्म-तुला से) ऐसा जानकर किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को न मारे, न अधीन वनाए, न दास वनाए, न परिताप दे और न प्राण से वियोजित करे। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। जीवलोक को जानकर आत्मज्ञ तीर्थंकरो ने इसका प्रतिपादन किया है।[२७]

२२. एव से भिक्खू विरए पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ॥

एव स भिक्षु विरत प्राणातिपाताद् यावन् मिथ्यादर्शनशल्यात्।

२२ इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरत रहे।

२३. से भिक्खू णो दतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमण, णो धूवणेत्तं पिआइए॥

स भिक्षु नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जन, नो वमन, नो धूमनेत्रमपि आपिवेत्।

२३ वह भिक्षु दतौन से दातो का प्रक्षालन न करे, (आखो मे) अजन न आजे, वमन न करे और धूम्रनलिका से धूम्रपान न करे।

२४. से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसंते परिणिव्वुडे॥

स भिक्षु अक्रिय अलूषक अक्रोध अमान अमाय अलोभ उपशान्त परिनिर्वृत।

२४. वह भिक्षु अक्रिय, अहिंसक, अक्रोधी, अमानी, अमायी, अलोभी, उपशात और परिनिर्वृत होता है।

२५. एस खलु भगवया अक्खाए संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए यावि भवइ।

—त्ति बेमि॥

एष खलु भगवता आख्यात सयत-विरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा अक्रिय सवृत एकान्तपडित चापि भवति।

इति ब्रवीमि।

२५ भगवान् ने ऐसे भिक्षु को सयत, विरत, प्रतिहतप्रत्याख्यात-पापकर्मवाला, अक्रिय, सवृत और एकान्तपडित भी कहा है।

—ऐसा मैं कहता हू।

चौथा अध्ययन : टिप्पण

सूत्र १ :

१. प्रस्तुत आगम मे (इह)

चूर्णिकार ने[1] 'इह' शब्द से प्रस्तुत अध्ययन का ग्रहण किया है और वृत्तिकार ने[2] इसके दो अर्थ किए हैं—निर्ग्रन्थ प्रवचन मे अथवा सूत्रकृताग सूत्र मे।

२. आत्मा अप्रत्याख्यानी (आया अपच्चक्खाणी)

आत्मा अनादिकाल से पाच आस्रव-द्वारो मे अनुरक्त है। वे पाच आस्रव हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इसलिए स्वभाव से वह अप्रत्याख्यानी होता है। किसी निमित्त से या आस्रव-द्वारो के क्षीण होने से वह प्रत्याख्यानी भी होता है।

वृत्तिकार का अभिमत है कि यहा 'आत्मा' शब्द का ग्रहण जैनेतर दर्शनो का निरसन करने के लिए किया गया है। जैसे—

साख्य दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप है—अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर। वह तृण को मोडने मे भी असमर्थ होता है। अकिञ्चित्कर होने के कारण उसमे प्रत्याख्यान क्रिया नही हो सकती।

बौद्ध अनादि आत्मा को नही मानते। वे सस्कार ज्ञान को मानते हैं। वह भी क्षणिक है। उसकी कोई स्थिति नही होती। इसलिए प्रत्याख्यान का वहां प्रश्न ही नही उठता।

इसी प्रकार अन्यान्य दर्शनो मे भी प्रत्याख्यान क्रिया का होना सिद्ध नही होता।[3]

चूर्णिकार का कथन है कि प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान मे आत्मा का ही सबन्ध है। वही यह कर सकता है। अजीव घट, पट आदि प्रत्याख्यान नही कर सकते। जिस आत्मा ने पूर्ण सावद्य योग का प्रत्याख्यान कर दिया, वह पूर्ण प्रत्याख्यानी होता है। उससे कर्म आश्रव नही होता, किन्तु जो अप्रत्याख्यान शेष रहा है उससे तत् तत् निमित्तक कर्माश्रव होता है। इसलिए आत्मा प्रत्याख्यानी भी होता है और अप्रत्याख्यानी भी होता है।[4]

३. अक्रियाकुशल (अकिरियाकुसले)

चूर्णिकार के अनुसार क्रिया का अर्थ है—क्रियमाण कर्म। अक्रिया—अशोभन क्रिया।[5]

दूसरा अर्थ है—क्रिया को न जानने वाला।[6]

वृत्तिकार ने 'सद् अनुष्ठान' को क्रिया माना है। जो आत्मा असद् अनुष्ठान मे कुशल होता है, वह अक्रिया-कुशल कहलाता है।[7]

४. मिथ्या-संस्थित (मिच्छासंठिए)

मिथ्या प्रतिपत्ति (विश्वास) या मिथ्या अध्यवसाय को मिथ्या सस्थिति कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे इसे तत्त्व मे अतत्त्व का अभिनिवेश भी कहा जाता है। धर्म, साधु, सत्य, पात्र आदि मे भी मिथ्या अभिनिवेश होता है। यह दर्शन के प्रति होने वाली मिथ्या सस्थिति है। इसी प्रकार आचार की मिथ्या सस्थिति है—अनाचार। ऋजुता की मिथ्या सस्थिति है—माया। असज्ञी मे होने वाली मूढता

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३९० · इह खलु एतस्याध्ययनस्य ·

२. वृत्ति, पत्र १०७ : इह अस्मिन् प्रवचने सूत्रकृताङ्गे वा।

३. वृत्ति, पत्र १०७।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३९०, ३९१।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३९१ · क्रियमाणं कर्म्म क्रिया भवति, तद्विपरीता तु अशोभना क्रिया अक्रिया भवति।

६. वही, पृष्ठ ३९१ : अथवा न क्रियाकुशल अक्रियाकुशल : अजानक इत्यर्थः।

७. वृत्ति, पत्र १०७ . सदनुष्ठानं क्रिया तस्यां कुशल क्रियाकुशल । तत्प्रतिषेधादक्रियाकुशलोऽप्यात्मा भवति।

भी मिथ्या संस्थिति है।[1]

वृत्तिकार ने मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय मे प्रवर्त्तमान आत्मा को मिथ्या संस्थित माना है।[2]

५. एकान्तदण्ड (एगंतदंडे)

जो हर प्राणी की हिंसा करता है, दडित करता है वह एकान्तदड कहलाता है। उसके लिए माता-पिता का भी विमर्श नही होता।[3]

६. एकान्तबाल (एगंतबाले)

जो इष्ट-अनिष्ट, प्राप्त-अप्राप्त—दोनो प्रकार के विषयो के प्रति आसक्त रहता है अथवा जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से अनभिज्ञ होता है, वह बाल कहलाता है। मूढ, बाल—ये एकार्थक हैं।[4]

७. एकान्तसुप्त (एगंतसुत्ते)

जैसे पहली गहरी नीद मे सोए हुए व्यक्ति मे अत्यन्त निकट के शब्द, रूप आदि विषयो के प्रति मति नही होती वैसे ही कुछ व्यक्ति एकान्त सुप्त होते हैं जो हित और अहित को नही जानते हुए हिंसा आदि मे प्रवृत्त होते है।[5]

८. (अवियारमण-वय-काय-वक्के)

जिसके मन, वचन और काया की सक्रियता होती है, वह सविचार मनोवचनकायवाक्य होता है। जैसे—

मनोविचार—यह सोचना चाहिए, यह नही सोचना चाहिए।

वाग्‌विचार—यह न बोलना चाहिए, यह नही बोलना चाहिए।

काय विचार—यह करना चाहिए, यह नही करना चाहिए।

जो व्यक्ति कुशल या अकुशल कुछ भी मन से नही सोचता, वचन से कुछ नही बोलता और काया से स्थाणु की भाति निश्चेष्ट रहता है वह 'अविचार मन-वाग्-काय-वाक्य' होता है। उसके भी कर्म का बन्ध होता है तो जो सविचार-मन-वाग्-काय-वाक्य होता है, उसका तो कहना ही क्या।[6]

प्रस्तुत प्रयोग मे 'वचन' के साथ 'वाक्य' का प्रयोग पुनरुक्त है। इसके समाधान मे कहा है कि वाणी का व्यापार प्रचुरता से होता है। उसके द्वारा ही दूसरा व्यक्ति प्रवृत्त और निवृत्त होता है, इसलिए 'वाक्य' शब्द का पुनरुक्त प्रयोग किया गया है।[7]

९. अप्रतिहत अप्रत्याख्यात (अप्पडिहय-पच्चक्खाय)

चूर्णिकार ने प्रतिहत और प्रत्याख्यान को एकार्थक मानकर उनका अर्थ प्रतिषिद्ध या निवारित किया है।[8]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६१ : मिथ्याप्रतिपत्ति—मिथ्याध्यवसायः मिच्छासंस्थितिरित्यर्थ, तत्ते अतत्ताभिनिवेशः, सो मिच्छासंठिती एव धम्मंसाधुसत्यपात्रादिष्वपि योज्या, एवं तावद् दर्शनं प्रति मिथ्यासंस्थितिरुक्ता, आचारं प्रति अनाचारो आचारत्तण भावेति, मायी उज्जुत्तणं भावेति......।

२. वृत्ति, पत्र १०७।

३ (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६१ : एगंतदंडेत्ति न कस्यचिदपि दण्डं न पातयति पितुरपि कतो तस्य मरिसेति।
(ख) वृत्ति, पत्र १०७।

४ चूर्णि, पृष्ठ ३६१ . एगंतबालोत्ति णिच्चमेव इट्ठेसु विसएसु अणिट्ठेसु संपत्तेसु असंपत्तेसु दोहिवि आलगिज्जइ बाल., कार्याकार्यानभिज्ञत्वाद्वा, मूढो बालः इत्यनर्थान्तरं।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६१ : यथाऽऽद्यस्वापसुप्त : शब्दादीनां विषयाणां सन्निकृष्टानां मत्युपप्रदो न भवति, एवं सो हिताहितकार्यानभिज्ञत्वात् हिंसादिसु कम्मंसु प्रवर्त्तते।
(ख) वृत्ति, पत्र १०८।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६१।

७. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३६१ पुनर्वाक्यग्रहणं पुनरुक्तं, उच्यते—एककालं कदाचिद् वा युगपत् योगित्वात् एवं सूक्तं भवति।
(ख) वृत्ति पत्र १०८ तत्र वाग्ग्रहणेनैव वाक्यस्य गतार्थत्वाद्यत्पुनर्वाक्यग्रहणं करोति तदेव ज्ञापयति—इह वाग्व्यापारस्य प्रचुरतया प्राधान्यं, प्रायशस्तत्प्रवृत्त्यैव प्रतिषेधविधानयोरन्येषां प्रवर्त्तनं भवति।

८. चूर्णि पृष्ठ ३६२ पडिहतं पच्चक्खात पडिसेधितं निवारितमित्यर्थः।

वृत्तिकार ने प्रतिहत का अर्थ —प्रतिस्खलित और प्रत्याख्यान का अर्थ विरति आदि के स्वीकार द्वारा निराकृत किया है।[1]

१०. स्वप्न भी........होता है (सुविणमवि...........कज्जइ)

कुछ दार्शनिक (बौद्ध आदि) मानते हैं कि स्वप्न के मध्य होने वाली कुशल-अकुशल क्रियाओ से कर्म का चय नही होता। क्योकि उस अवस्था मे प्राणी अव्यक्त विज्ञान वाला होता है। उस क्रिया के निष्पादन मे न उसका चित्त है और न उसका अध्यवसाय है।

जैन कहते हैं, प्रत्येक प्राणी मे सोते-जागते अविरति का प्रवाह निरन्तर चालू रहता है। वह एक आश्रव है, कर्म के आगमन का द्वार है। उससे निरन्तर कर्म-बन्ध होता रहता है। स्वप्न मे भी व्यक्ति को अविरति नही छोटती। इसलिए व्यक्ति उस अव्यक्त अवस्था मे भी कर्मों का चय करता है।[2]

सूत्र २-३ :

११. (सूत्र २-३)

शिष्य ने पूछा—जब मन, वाणी और शरीर पाप मे प्रवृत्त नही होते, जब किसी भी सत्त्व की हिंसा नही होती तब पापकर्म का बध नही होता। जो जीव अमनस्क होता है, जिसकी मन, वचन और काया की कोई प्रवृत्ति नही होती, जो स्वप्न भी नही देखता उसके पापकर्म का बंध नही होता। अव्यक्त विज्ञान होने के कारण पापकर्म-बध का कोई हेतु वहा विद्यमान नही है।

पापकर्म का बध तब होता है जब मन, वचन या शरीर पापकारी क्रिया मे प्रवृत्त होता है। मन, वचन या शरीर से प्राणातिपात आदि अठारह पापो मे प्रवृत्त होने पर पापकर्म का बध होता है।

इसका तात्पर्य है कि जो हिंसा करता है, जो समनस्क है, जो मन, वचन और काया मे प्रवृत्ति करता है, जो स्वप्न देखता है, जो इस प्रकार स्पष्ट विज्ञान वाला है, उसके पापकर्म का बध होता है।

एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीवों के पाप कर्म का बध नही होता, क्योकि उनमे हिंसा का अध्यवसाय (मन), हिंसा का वचन और हिंसा की प्रवृत्ति नही होती।

यदि इन क्रियाओ के बिना भी कर्म-बध माना जाए तो फिर मुक्त आत्माओ के भी कर्मबध होगा। यह किसी को इष्ट नही है। आकाश के किसी कर्म का बध नही होता, क्योकि वह अमनस्क और निश्चेष्ट है। अत अस्वप्नान्तिक और अविज्ञोपचित कर्म का बध नही होता। यह बौद्धो का पक्ष है।[3]

इसके प्रत्युत्तर मे आचार्य ने कहा—षड्जीवनिकाय कर्मबध के कारण बनते है। जो व्यक्ति इनकी हिंसा का प्रतिबध नही करता, प्रत्याख्यान नही करता, वह निरतर अठारह पापो के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा प्रवृत्त होता रहता है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव भी इसके अपवाद नही हैं। उनमे भी पाचों आश्रवो की विद्यमानता है, वे अठारह पापो से अनिवृत्त हैं, इसलिए स्वप्न आदि की अवस्था मे भी वे कर्मों के बधक होते हैं।[4]

१२. प्रशठ (पसढं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—सतत, निरतर किया है।[5]

वृत्तिकार ने 'प्रसढ' छाया देकर अर्थ अत्यन्त शठ किया है।[6] इसका तात्पर्यार्थ है—गूढ आचारवाला।

१३. हिंसा में प्रवृत्त (विओवात)

इसकी व्युत्पत्ति करते हुए चूर्णिकार ने कहा है—अतिपात शब्द मे 'अति' का लोप कर 'अति के स्थान पर 'ओ' करने पर 'ओवात' शब्द बनता है। 'वि' उपसर्ग लगने पर 'विओवात' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है विविध रूप से 'अतिपात'।[7]

---

१. वृत्ति, पत्र १०८ : प्रतिहतं—प्रतिस्खलितं प्रत्याख्यातं—निराकृतं विरतिप्रतिप्रत्यया।
२. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ : केसिं स्वप्नान्तिकं कर्म चयं न गच्छतीति, अस्माकं तु स्वप्नान्तिक कर्म्म अविरतप्रत्ययाद् बध्यते।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३६२, ३६३, ४२८।
४. वही, पृष्ठ ३६२।
५. चूर्णि, पृष्ठ ३६२ · भृशं शठं प्रशठं, सततं निरन्तरमित्यर्थः।
६. वृत्ति, पत्र ११० : प्रकर्षेण शठः प्रशठः।
७. चूर्णि, पृष्ठ ३६३।

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'व्यतिपात' देकर इसका अर्थ प्राण-व्यवरोपण किया है।[1] किन्तु 'व्यवपात' से 'विओवात' रूप की निष्पत्ति हो सकती है।

सूत्र ४ :

१४. मिथ्या-संस्थित (मिच्छासंठिए)

कोई व्यक्ति पूर्व उपचार के कारण या व्यवहार निभाने के लिए मित्र के आने पर उठने, आसन देने का विनय करता है, उसमे विश्वास उत्पन्न करता है, किन्तु वह भी असद् भावोपचार ही है, क्योकि अन्तर्-व्रण की भाति उसका अन्तर् भी सदा दुष्ट होता है। असद् भावोपचार के कारण वह व्यक्ति 'मिथ्या सस्थित' होता है।[2]

वृत्तिकार ने यहा उदाई नृप को मारने वाले की कथा का संकेत दिया है।[3]

१५. (णिच्च पसढविओवायचित्तदंडे)

उस व्यक्ति का चित्त निरन्तर हिंसा मे प्रवृत्त रहता है। वह अपने वैरी को मार देने पर भी उपशान्त नही होता। जैसे वीरण स्तम्व (एक सुगधित घास) का मूल परस्पर मे गथा होने के कारण सहज ही उखाडा नही जा सकता, वैसे ही उस व्यक्ति का वैरजनित वध-परिणाम सहज उन्मूलित नही होता। जैसे परशुराम अपने पिता के वधक कार्तवीर्य को मारकर भी उपशान्त नही हुआ और सात वार पृथ्वी पर सारे क्षत्रियो को मौत के घाट उतार डाला, पृथ्वी को नि क्षत्रिय कर डाला।

कहा है—'अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान्।
अधिकां कुरुतेऽरियतनां, द्विषतां मूलमशेषमुद्धरेत्॥'[4]

सूत्र ५ :

१६. (सूत्र ५)

मनुष्य के व्यक्तित्व के दो स्तर है—वाहरी व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व। वाहरी व्यक्तित्व की पहचान मन, वचन और काया से होती है। आन्तरिक व्यक्तित्व की पहचान आस्रव-चित्त से होती है। उसके अठारह प्रकार निर्दिष्ट है।[5] प्रस्तुत चर्चा व्यक्तित्व के इन दो स्तरो के आधार पर की गई है। मानसिक, वाचिक और कायिक व्यक्तित्व मौन और निष्क्रिय है, फिर भी पाप कर्म का वध होता है। इसका फलित है कि कर्मवध का मूलस्रोत आन्तरिक व्यक्तित्व मे विद्यमान है। मन ही वध और मोक्ष का हेतु है—यह सिद्धान्त जैन दर्शन को मान्य नही है। मन की प्रवृत्ति न होने पर भी पाप कर्म का वध होता रहता है। इस सिद्धान्त ने आन्तरिक चेतना को कर्मवध का उपादान मानकर वाहरी व्यक्तित्व की सीमा को पार कर आन्तरिक व्यक्तित्व तक पहुचने का द्वार उद्घाटित कर दिया।

सूत्र ६ :

१७. (सूत्र ६)

प्रस्तुत छह (१-६) सूत्रो मे न्याय के पाच अवयवो—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन—का उल्लेख करते हुए वृत्तिकार ने उनका विवरण प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—[6]

प्रतिज्ञा वचन—आया पच्चक्खाणी यावि भवइ····से····पावे य से कम्मे कज्जई। (सूत्र १)
हेतु वचन—तत्थ खलु भगवया छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता····मिच्छादसणसल्ले। (सूत्र ३)
दृष्टान्त वचन—तत्थ खलु भगवया वहए दिट्ठते पण्णत्ते····खण लद्धूण वहिस्सामित्ति पहारेमाणे। (सूत्र ४)
दृष्टान्त में हेतु की सिद्धि—से किं णु हु····हंता भवइ। (सूत्र ४)

---

१. वृत्ति, पत्र ११०।
२. चूर्णि, पृष्ठ ३६४
३. वृत्ति, पत्र १११।
४. चूर्णि, पृष्ठ ३६४।
५. देखें—प्रस्तुत अध्ययन का तीसरा सूत्र।
६. वृत्ति, पत्र ११२।

उपनय वचन—जहा से वहए····णिच्च पसढ-विओवाय-चित्तदंडे। (सूत्र ५)
हेतु का पक्ष धर्मत्व—एवामेव वाले····पावे य से कम्मे कज्जइ। (सूत्र ५)
निगमन—जहा से वहए····णिच्चं-पसढ-विओवाय-चित्तदडे भवइ। (सूत्र ६)
प्रतिज्ञा—अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात क्रिया वाली आत्मा पापानुवधी होती है।
हेतु—सदा छह् जीवनिकायो मे वह व्यतिपात चित्तवाला होता है, इसलिए।
दृष्टान्त—राजा आदि को मारने वाला।
उपनय—जैसे यह मारनेवाला व्यक्ति वध-परिणाम से अनिवृत्त होने पर वध्य के लिए अमित्रभूत होता है वैसे ही विरति के अभाव मे आत्मा सभी जीवो के अतिपात के अध्यवसाय वाला होता है।
निगमन—आत्मा ऐसा है, इसलिए वह पापानुवधी है।

चूर्णिकार ने भी इन पाचो अवयवो का नामोल्लेख सक्षिप्त विवरण के साथ किया है। इतना विस्तार उसमे नही है।[1]

सूत्र ७ :

१८. शरीर-समुच्छ्रय (सरीर समुस्सएणं)

चूर्णिकार के अनुसार समुच्छ्रय का अर्थ है—अधिष्ठान। शरीर पाचो इन्द्रियो और मन का अधिष्ठान है।[2]

कुछेक प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे अपने शरीर-समुच्छ्रय से दृष्ट नही होते।

सस्कृत कोश मे समुच्छ्रय का अर्थ है—ऊचाई।[3]

सूत्र ६—१७ :

१६. (सूत्र ६-१७)

वृत्तिकार ने ईहा, अपोह विमर्श रूप सज्ञा से युक्त प्राणी को सज्ञी कहा है।[4] नदी सूत्र के अनुसार तीन प्रकार की सज्ञाए होती हैं—हेतुवादोपदेशिकी, दीर्घकालिकी और दृष्टिवादोपदेशिकी।[5] प्रस्तुत प्रकरण मे दीर्घकालिकी सज्ञा, जिससे ईहा, उपोह आदि होता है, विवक्षित है।

असज्ञी मे तर्क, सज्ञा, प्रज्ञा और मन नही होता।[6] सज्ञी अथवा समनस्क जीव हिंसा करता है और यह जानता है कि मैं हिंसा कर रहा हूं या करा रहा हू। असज्ञी अथवा अमनस्क जीव भी प्राणातिपात आदि पाप-स्थानो मे प्रवृत्त होते हैं, पर मन के अभाव मे वे यह सोच नही पाते कि हम हिंसा कर रहे है या करवा रहे हैं। मानसिक विकास हो या न हो हिसा का मूल स्रोत—आस्रव प्रत्येक जीव मे होता है, इसलिए प्रत्येक जीव हिंसा आदि पापस्थानो से तब तक जुडा रहता है जब तक कि आन्तरिक स्रोत का निरोध नही कर लेता, अविरति का प्रत्याख्यान कर विरत नही हो जाता।

समनस्क जीव मे मन होता है और अमनस्क जीव मे मन नही होता, इसलिए इन दोनो मे तीव्र और मन्द अध्यवसाय का अन्तर रहता है। अमनस्क प्राणी की चेतना प्रसुप्त, मत्त और मुच्छित मनुष्य की चेतना जैसी होती है और समनस्क प्राणी की चेतना जागृत मनुष्य की चेतना जैसी होती है। फिर भी कर्मबंध का हेतु दोनो मे समानरूप से विद्यमान है। मनुष्य मे वाच्य और अवाच्य का विवेक होता है। असज्ञी मे यह नही होता। मनुष्य मे यह मेरा है, यह पराया है—इस प्रकार की विचारणा होती है। असज्ञी मे ऐसी विचारणा नही होती। पर हिंसा, असत्य और अदत्तादान की अव्यक्त प्रवृत्ति उनमे रहती है। उनमे मैथुन व्यक्त होता है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३९५।
२ चूर्णि, पृष्ठ ३९५ : इमेण समुस्सएण शरीरं चक्षुरादीणं इन्द्रियाणां मनसश्चाधिष्ठानं····।
३. अभिधान चिन्तामणि कोश ६।६७।
४. वृत्ति, पत्र ११४ : ईहापोहविमर्शरूपा संज्ञा विद्यन्ते येषां ते संज्ञिनः।
५. नंदी, सूत्र ६१।
६. देखें—प्रस्तुत अध्ययन का सत्रहवां सूत्र।

आहार्य द्रव्यो के प्रति परिग्रह भी होता है। मद क्रोध भी होता है। मंद अहकार आदि भी होते हैं। अनभिगृहीत मिथ्यात्व भी होता है।[१]

२०. पर्याप्तियों से पर्याप्त प्राणी हैं (पज्जत्तगा)

चूर्णिकार ने पाच पर्याप्तियों[२] तथा वृत्तिकार ने छहो पर्याप्तितो तथा करणपर्याप्ति से युक्त प्राणी को पर्याप्तक माना है।[३]

२१. असंज्ञी (असण्णि)

पाच स्थावर काय, विकलेन्द्रिय त्रस, सम्मूच्छिम पञ्चेन्द्रिय—ये सब असज्ञी प्राणी हैं। नरक और देवलोक मे जो जीव सम्मूर्च्छनज होते है वे भी अपर्याप्तक और असज्ञी होते हैं।[४] इनमे तर्कणा, प्रज्ञा या सज्ञा नही होती।[५]

तर्कणा—तर्क, मीमांसा, विमर्श—इन तीनो को चूर्णिकार ने एकार्थक माना है।[६] मन्द-मन्द प्रकाश के होने पर और उचित दूरी होने पर संज्ञी प्राणी मे यह तर्कणा होती है कि यह ठूठ है या मनुष्य। असज्ञी मे यह तर्कणा नही होती।

प्रज्ञा—यह ऐसा ही है—इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को तथा अव्यभिचारी—निश्चित ज्ञान को प्रज्ञा कहा जाता है।

सज्ञा—पूर्वदृष्ट वस्तु की आलोचना करना सज्ञा है।[७] तत्त्वार्थ वृत्ति मे सज्ञा का अर्थ प्रत्यभिज्ञा किया गया है।[८]

२२. मन (मणे)

चूर्णिकार ने मन का अर्थ मनन किया है।[९] उसका तात्पर्य है—मति। तत्त्वार्थ मे 'मति' का यही अर्थ है।[१०]

२३. वाणी (वई)

असज्ञी जीवो के प्रथम पाच प्रकार—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय मे वाक् नही होती, किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा समूर्च्छनज पचेन्द्रिय मे वाक् होती है। पर समुच्चयदृष्टि से यहा कहा गया है कि असज्ञी जीवो मे वाक् नही होती। चूर्णिकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवो के जिह्वेन्द्रिय तथा गलरन्ध्र होता है फिर भी उनमे मैं हिंसा करता हू या करवाता हूं—इस प्रकार की अध्यवसायपूर्विका वाक् नही होती। इसलिए उन्हे 'अवाक्' ही कहा गया है।[११]

सूत्र १८ :

२४. सर्वयोनिक भी (सव्वजोणिया वि)

यह शब्द एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर सकेत करता है। जैन परम्परा यह मानती है कि प्रत्येक प्राणी मे यह निश्चित

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ : एतेऽवि असासता अव्यक्ति चिकिचिकिशब्दं करेमाणा मुसावातातो न विरता भवंति, अप्येवं संज्ञीनां वाच्यावाच्यविशेषोऽस्ति, तेषां तु तदभावात् सर्वमेव मिच्छा भवति, अदत्तमपि तेषामिदमस्मदीयं परकियमिति विचारणाऽसम्भवात् अदत्तादानं सर्वं स्तेयं भवति, यद्यपि किंचिकाष्ठाहारकादि ममीकुर्वन्तो तथापि तत्तेषां केन दत्तमित्यवत्तादान भवति, मैथुनमपि पक्षिकादीनि नपुसकं वेदं वेदयंति आहार्येषु च द्रव्येषु परिग्रह क्रोधोऽप्येषां, न तु तीव्र., जाव मायामोसोत्ति विभासा, मिच्छत्तं अणभिगहितं।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३६६ . पंचहिंवि पज्जत्तीहिं पज्जत्तगा।

३. वृत्ति, पत्र ११४ षड्भिरपि पर्याप्तिभि. पर्याप्ता""""पञ्चेन्द्रिया., करणपर्याप्त्या पर्याप्तका.।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४०० : जे संमुच्छिमेहिंतो उववज्जंति णेरइयदेवेसु तेऽवि जाव अपज्जत्तगा ताव असण्णी चेव।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ : जेंसि णत्थि तक्काइ वा जाव वईति।

६. वही, पृष्ठ ३६८ : तर्को मीमांसा विमर्श इत्यनर्थान्तरं।

७. (क) वही, पृष्ठ ३६८।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११५।

८. तत्त्वार्थ वृत्ति।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ : मननं मनः मतिरित्यर्थ।

१०. तत्त्वार्थ वृत्ति, पत्र ५८।

११. चूर्णि, पृष्ठ ३६८ : वयतीति वाक् जिह्वेन्द्रियगलविलास्तित्वाद्यपि, वाग् विद्यते द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां तथाप्येषां पापं हिंसादि करोमि कारयामि चेत्यध्यवसायपूर्विका न वाक् अवागेव मन्तव्या।

सभावना है कि वह किमी योनि मे जन्म लेने का कर्म कर सकता है। जन्म किसी तरह से प्रतिवद्ध नही है। ऐसा नही होता कि जो मनुष्य है वह मरकर भी सदा मनुष्य ही वनेगा या जो पशु है, तिर्यञ्च योनिक जीव है, वे मरकर सदा उसी योनि मे जन्म लेंगे अथवा देव सदा देव ही रहेगे और नारक सदा नरकावासो मे ही जन्मते रहेगे। मनुष्य कभी पशु बन सकता है, देव और नारक भी बन सकता है। इसी प्रकार देव कभी मनुष्य, कभी नारक और कभी पशु की योनि मे भी जा मकता है। प्रत्येक प्राणी 'सर्वयोनिक' ही होता है।

कुछेक दार्शनिक मानते हैं कि पुरुप पुरुपरूप मे ही जन्म लेता है और पशु पशुरूप मे ही। इसी प्रकार मंज्ञी प्राणी सज्ञी ही होगे और असज्ञी प्राणी अमज्ञी ही होगे।

उन दार्शनिको के मत का निरसन करने के लिए इम शब्द—'मर्वयोनिक' का प्रयोग किया गया है।

प्रश्न होता है कि क्या मज्ञी जीव असज्ञी का कर्मबंध पहले जन्म मे ही कर लेते हैं या नही ? या असज्ञी जीव संज्ञी का कर्मवध पहले जन्म मे ही कर लेते है या नही ?

इमके उत्तर मे 'सर्वयोनिक' का प्रयोग किया गया है। सभी प्राणी 'सर्वयोनिक'—सभी योनि वाले होते हैं। योनिया अनेक प्रकार की हैं—मवृत, विवृत, मवृत-विवृत, शीत, ऊष्ण, शीतोष्ण, सचित्त, अचित्त, मचित्त-अचित्त तथा नरकयोनि, तिर्यञ्चयोनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि।

एक जन्म की अपेक्षा से जव तक जीव पूरी पर्याप्तिया नही वाध लेता तव तक वह असज्ञी होता है और मन' पर्याप्ति के वध जाने पर वह सज्ञी हो जाता है। अन्य जन्मो की अपेक्षा से एकेन्द्रिय आदि सभी प्रकार के जीव अन्य-अन्य योनियो में—मनुष्य, पशु, देव, नरक मे जन्म ले मकते हैं। कुछ मंज्ञी होकर पश्चात् अमज्ञी वन जाते हैं और कुछ असज्ञी होकर सज्ञी वन जाते हैं। सारी योनिया कर्म-प्रतिवद्ध होती हैं, इसलिए एक योनि मे दूसरी योनि मे जन्म लेना असभव नही है।

मज्ञी और अमज्ञी होना नैमित्तिक है, नैसर्गिक नही है। ज्ञानावरण कर्म का उदय होता है तव जीव असज्ञी वन जाता है और जव उसका क्षयोपशम होता है तव मज्ञी वन जाता है। जैसे निद्रा का उदय होने पर जागृत पुरुप सो जाता है और निद्रा का क्षय होने पर वह प्रतिवुद्ध हो जाता है और प्रतिवुद्ध मनुष्य फिर सो जाता है। जैसे नीद और जागृति नैमित्तिक है वैसे ही सज्ञित्व और असज्ञित्व नैमित्तिक है। यह जीवो का निमर्ग नही है। इसलिए उनका परस्पर सक्रमण होना विरोधी नही है।[1]

'मव्वजोणिया वि'—इसमे प्रयुक्त 'अपि' शब्द इस वात का भी द्योतक है कि कुछ प्राणी कभी-कभी जिस योनि मे मरते हैं, उसी योनि मे पुन उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मनुष्यरूप मे मरकर पुन मनुष्य और तिर्यञ्च रूप मे मरकर पुन· तिर्यञ्च हो जाते हैं।

२५. (सूत्र १८)

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने चतुर्भंगी का प्रतिपादन किया है—

१ असज्ञीकाय से सज्ञीकाय मे संक्रमण करना।

२, सज्ञीकाय से असज्ञीकाय मे सक्रमण करना।

३ संज्ञीकाय मे संज्ञीकाय मे सक्रमण करना।

४ असज्ञीकाय से असज्ञीकाय मे सक्रमण करना।

इस चतुर्भंगी से भी जीवो की 'सर्वयोनिकता' सिद्ध होती है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यह भी कहा है कि जव नारको के कर्म कुछ अविशिष्ट रह जाते हैं (सावशेपकर्माण) तव वे नरक से निकल कर तिर्यञ्च योनि मे जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जव देव अपने कर्मो का प्राय भोग कर चुकते हैं (कुछ शेप रह जाते हैं) तव वे वहा से च्युत होकर शुभस्थानो मे ही उत्पन्न होते हैं।[3]

प्रस्तुत सूत्र मे चार अवस्थाओ के द्योतक चार शब्द प्रयुक्त हुए हैं। एक प्राणी वर्तमान जन्म से दूसरे जन्म मे सक्रमण करता है, उसके चार हेतु इन चार शब्दो मे निर्दिष्ट है। उनकी व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है[4]—

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३९९, ४००।
(ख) वृत्ति, पत्र ११६, ११७।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४०० एवं संज्ञित्वं जीवानां नैमित्तिकं न निसर्गिकमिति बोद्धव्यं यस्माच्चैषां कायानां न निसर्गो संज्ञित्वमसंज्ञित्वं वा तस्मादन्योऽन्यसंक्रमत्वमविरुद्धं।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४००।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४००।

(१) अविविक्त—बधे हुए कर्म प्राणी से पृथक् नही होते, इसलिए उसे जन्मान्तर मे सक्रमण करना होता है। कुछ कर्मो का पृथक्करण हो जाता है फिर भी उनका समग्रतया विशोधन नही होता, इसलिए उन अवशिष्ट कर्मो के द्वारा प्रस्तुत जन्म से उद्वर्तन कर उनके अनुरूप स्थान मे उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे—नैरयिक अपने कर्म के अनुरूप तिर्यञ्च गति मे और देवता मनुष्य गति मे।

(२) अविधूत—जैसे वस्त्र को झटक कर धोया जाता है, इसी प्रकार कर्मो को प्रकपित कर देने पर भी वे शेप रह जाते है, इसलिए जीव को पुनर्जन्म लेना होता है।

(३) असमुच्छिन्न—कर्मो का समग्रतया उच्छेद नही होता, इसलिए पुनर्जन्म प्राप्त होता है।

(४) अननुतप्त—हिंसा आदि प्रवृत्तियो से कर्म का उपचय कर अनुताप नही किया जाता, उनके वध का शिथिलीकरण नही किया जाता, उस स्थिति मे वे प्रगाढ होकर अपना विपाक देते है। फलस्वरूप जन्मान्तर मे सक्रमण होता है।

एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाने का प्रधान हेतु है—कर्म। उसकी परम्परा चालू रहती है। पूर्वाजित कर्म सर्वथा क्षीण नही होते और नए कर्म वधते रहते है। इसलिए उनके अनुरूप सज्ञित्व और असज्ञित्व भी उपलव्ध होता रहता है।

चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप मे[1] तथा वृत्तिकार ने मुख्य रूप मे इन चारो शव्दो को एकार्थक और वैकल्पिकरूप मे इनको अवस्था विशेष का द्योतक माना है।[2]

सूत्र १९ :

२६. (सूत्र १९)

सूत्रकार का प्रतिपादन है कि जीव चाहे सज्ञी हो या असज्ञी, पहले सज्ञी होकर वाद मे असज्ञी हो या पहले असज्ञी होकर वाद मे सज्ञी हो, किसी भी योनि मे क्यो न हो, उन सवके कर्मवन्ध होता है। क्योकि वे सव अप्रत्याख्यानी है और वे सव जीवो के प्रति व्यतिपात चित्तवाले होते हैं। इस प्रकार वे सभी अठारह पापो मे प्रवर्तमान रहते हैं। ये पाप-द्वार कर्मवध के मूल हैं।

यदि कोई यह तर्क करे कि उनमे अशुभयोग की प्रवृत्ति नही होती फिर पापकर्म का वध कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि उनमे विरति का अभाव है और वह न होने के कारण उन जीवो मे उन पाप कर्मो के निष्पादन की योग्यता है, इसलिए कर्मवन्ध होता है।

सूत्र २१ :

२७. (सूत्र २१)

प्रश्नकर्त्ता अप्रत्याख्यानी के कर्मवध होने की वात को सुनकर तथा उसके फल-विपाक से भयभीत होकर आचार्य से पूछता है कि प्राणी सयत, विरत, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा कैसे होता है? किस प्रकार के व्रत, तपस्या, धर्म, नियम, शील, सयम का पालन करना पडता है?

तव आचार्य उसे पड्जीवनिकाय के प्रति प्रयुक्त हिंसा का स्पष्ट वोध कराते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि सयम की पृष्ठभूमि मे पड्जीवनिकाय हेतुभूत है। जैसे अप्रत्याख्यानी के लिए पड्जीवनिकाय ससार-भ्रमण का हेतु वनता है वैसे ही प्रत्याख्यानी के लिए वह मोक्ष का हेतु वनता है। कहा भी है—

'जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे।
गणणाईया लोगा दोण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला॥'

—जितने हेतु भव—जन्म-मरण के हैं, उतने ही हेतु मोक्ष के है। दोनो तुल्य हैं।

आचार्य इस प्रसंग मे आत्मौपम्य की वात कहते हैं और 'आयतुले पयासु' का स्पष्ट दिशा-निर्देश करते हैं।

इसमे धर्म के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त हैं—ध्रुव, नित्य और शाश्वत।

ध्रुव—अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर स्वभाव वाला।

नित्य—परिणामिनित्य होने पर भी अपने स्वरूप को स्थिर रखने वाला।

शाश्वत—सूर्य की भांति सदा रहने वाला, दूसरो द्वारा अवितर्कित, युक्तिसगत।[3]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४०० : अहवा सव्वाणि एगट्ठियाणि।

२. वृत्ति पत्र ११७ : चत्वारोऽप्येकार्थिका अवस्थाविशेषं वाऽऽश्रित्य भेदेन व्याख्यातव्या.।

३. वृत्ति, पत्र ११७।

पंचमं अज्झयणं

आयारसुयं

पांचवां अध्ययन

आचारश्रुत

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन मे आचार का वर्णन है, इसलिए इसका नाम 'आचारश्रुत' है। निर्युक्तिकार ने इसका दूसरा नाम 'अनगारश्रुत' बतलाया है।[1] वृत्तिकार ने भी मतान्तर का उल्लेख कर इसकी पुष्टि की है।[2] इसमे अनाचार को जानने का निर्देश है, इसलिए इसे 'अनाचारश्रुत' भी कहा जा सकता है।[3]

निर्युक्तिकार के अनुसार आचार और श्रुत की जानकारी पहले दी जा चुकी है।[4] चूर्णिकार ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—आचार के निक्षेप की जानकारी दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन 'क्षुल्लिकाचार कथा' मे और श्रुत के निक्षेपो की जानकारी उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन 'विनयश्रुत' म उपलब्ध है।[5]

इस अध्ययन का दार्शनिक फलित यह है कि एकान्तवाद मिथ्या है, अव्यवहार्य है, अनेकान्तवाद सम्यग् है, व्यवहार्य है। जो दार्शनिक लोक को एकान्तत शाश्वत या अशाश्वत, शास्ता (प्रवर्त्तक) को एकान्तत नित्य या अनित्य, प्राणी को एकान्तत कमवद्ध या कर्ममुक्त, एकान्तत सदृश या विसदृश मानते हैं, वे मिथ्या प्रवाद करते है।

अनेकान्तवाद के अनुसार व्यवहार इस प्रकार घटित होगा—

- लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी।
- भव्य प्राणी मुक्त भी होगे और मुक्त नही भी होगे।
- प्राणी कर्म-वद्ध भी हैं और कर्म-वद्ध नही भी हैं।
- प्राणी सदृश भी हैं और प्राणी विसदृश भी हैं।
- छोटे-वड़े प्राणी को मारने से कर्म-वन्ध सदृश भी होता है और विसदृश भी।
- आधाकर्म का उपभोग करने से कर्म-वन्ध होता भी है और नही भी होता।
- पाचो शरीर एक भी हैं और भिन्न भी हैं।
- सर्वत्र शक्ति है भी और सर्वत्र शक्ति नही भी है।

सूत्रकार ने सतरह श्लोको (१२-२८) मे सतरह प्रतिपक्षी युगलो का कथन किया है। ये सव सम्यक्त्व की पृष्ठभूमी वनते है, इसलिए इनके अस्तित्व को स्वीकार करने और नास्तित्व को स्वीकार न करने का परामर्श देते है। इन युगलो से उस समय की दार्शनिक मान्यताओ का भी वोध होता है। कुछ दार्शनिक जीव, धर्म, वन्ध, पुण्य, देवता, स्वर्ग आदि को स्वीकार करते थे और कुछ इनको नकारते थे। जैन दर्शन इन सवके अस्तित्व को स्वीकार करता है।

अतिम तीन पद्यो (३०-३२) मे मुनि के लिए वाणी-विवेक के विन्दु निर्दिष्ट है—

- यह सपूर्ण है, यह अक्षत—नित्य है, क्षणिक है, केवल दु खात्मक है—ऐसा न कहे।
- प्राणी वध्य है या अवध्य—ऐसा न वोले।
- दान देने वाले को (दान देते समय) पुण्य होता है, पाप होता है या पुण्य नही होता, पाप नही होता—ऐसा न वोले।

इस प्रकार इस अध्ययन मे व्यावहारिक अनाचारो का कथन न कर, सैद्धान्तिक अनाचार—एकान्तवाद का सेवन न करने के लिए परामर्श दिया गया है। यह दर्शन—दृष्टि और वचन का अनाचार हे। अनेकान्त है दर्शन और स्याद्वाद हे वाणी का आचार।

यहा आचार शब्द का प्रयोग दर्शन-आचार और वाक्-आचार के अर्थ मे हुआ है। दशवैकालिक के सातवे अध्ययन मे वाक्-आचार के सन्दर्भ मे 'विणय' शब्द का प्रयोग मिलता है।[6]

---

१. निर्युक्ति गाथा, १८३ ·········तो अणगारसुयंति य होई नामं तु एयस्स।
२. वृत्ति, पत्र ११६ : केषाञ्चिन्मतेनैतस्याध्ययनस्य अनगारश्रुतमित्येतन्नाम भवतीति।
३. चूर्णि, पृष्ठ ४०२ : अनाचार इह वर्ण्यते इत्यतो अनाचारश्रुतं।
४. निर्युक्ति गाथा, १८२ : आयारसुयं भणियं······।
५. चूर्णि, पृष्ठ ४०२ आयारस्स जहा खुड्डियाचारए, सुत्तस्स जहा विणयसुत्ते।
६. दसवेआलियं ७/१·········दोण्हं तु विणयं सिक्खे।

पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्ययन

आयारसुयं : आचारश्रुत

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. आदाय बंभचेरं च आसुपण्णे इमं वइं। अस्सि धम्मे अणायारं णायरेज्ज कयाइ वि ॥	आदाय ब्रह्मचर्यं च, आशुप्रज्ञ इमां वाचम् । अस्मिन् धर्मे अनाचारं, नाचरेत् कदाचिदपि ॥	१. आशुप्रज्ञ[१] पुरुष ब्रह्मचर्य[२] और इस वचन को स्वीकार कर इस धर्म मे कभी भी अनाचार का[३] आचरण न करे—वाणी के आचार का अतिक्रमण न करे।
२. अणादीयं परिण्णाय अणवदग्गं ति वा पुणो। सासयमसासए वा इइ दिट्ठि ण धारए॥	अनादिकं परिज्ञाय, अनवदग्र इति वा पुन. । शाश्वतं अशाश्वतं वा, इति दृष्टिं न धारयेत् ॥	२. इस (जगत्) को अनादि-अनन्त या सादि-सान्त (बतलाया जाता है)—ऐसा जानकर यह शाश्वत है या अशाश्वत है—ऐसी दृष्टि को धारण न करे।[४]
३. एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं विजाणए॥	एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्या, व्यवहारो न विद्यते । एताभ्या द्वाभ्यां स्थानाभ्या, अनाचारं विजानीयात् ॥	३. इन दोनो स्थानो से व्यवहार घटित नही होता।[५] इन दोनो स्थानो से अनाचार होता है—ऐसा जाने।[६]
४. समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो सव्वे पाणा अणेलिसा। गंठिगा वा भविस्सति, सासयं ति व णो वए॥	समुच्छेत्स्यन्ति शास्तार, सर्वे प्राणा अनीदृशा· । ग्रन्थिका वा भविष्यन्ति, शाश्वत इति वा नो वदेत् ॥	४ शास्ता उच्छिन्न होगे। सब प्राणी (एक दूसरे से) अनीदृश हैं। सब प्राणी ग्रन्थिक (कर्मबद्ध) होगे अथवा शास्ता शाश्वत होगे, सब प्राणी सदृश या कर्ममुक्त होगे—ऐसा न बोले।[७]
५. एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं विजाणए।	एताभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्या व्यवहारो न विद्यते। एताभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्या, अनाचारं विजानीयात् ॥	५. इन दोनो स्थानो से व्यवहार घटित नही होता। इन दोनो स्थानो से अनाचार होता है—ऐसा जाने।
६. जे केइ खुड्डुगा पाणा अदुवा संति महालया। सरिसं तेहिं वेरं ति असरिसं ति य णो वए॥	ये केचिद् क्षुद्रका. प्राणा, अथवा सन्ति महालाया । सदृश तेषा वैरमिति, असदृश इति च नो वदेत् ॥	६ जो कोई छोटे प्राणी हैं अथवा बडे प्राणी हैं (उन्हे मारने पर) कर्म का बन्ध सदृश होता है या असदृश होता है—ऐसा न बोले।
७. एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायार विजाणए॥	एताभ्यां द्वाभ्या स्थानाभ्या, व्यवहारो न विद्यते। एताभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्या, अनाचारं विजानीयात् ॥	७ इन दोनो स्थानो से व्यवहार घटित नही होता। इन दोनो स्थानो से अनाचार होता है—ऐसा जाने।[८]

८. अहाकम्माणि भुंजंति
अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्ते त्ति जाणिज्जा
अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥

आधाकर्माणि भुञ्जते,
अन्योन्यस्य कर्मणा ।
उपलिप्तान् इति जानीयाद्,
अनुपलिप्तान् इति वा पुनः ॥

८. मुनि आधाकर्म[1] आहार खाते हैं (सब आधाकर्म आहार खानेवाले और मुनि के लिए आधाकर्म आहार बनाकर देनेवाले गृहस्थ) परस्पर एक दूसरे को[2] कर्म से उपलिप्त होते हैं या नहीं होते, ऐसा न कहे ।

९. एएहिं दोहिं ठाणेहिं
ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं
अणायारं विजाणए ॥

एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां,
व्यवहारो न विद्यते ।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्याम्
अनाचारं विजानीयात् ।

९. इन दोनों स्थानों से व्यवहार घटित नहीं होता । इन दोनों स्थानों से अनाचार होता है—ऐसा जाने ।

१०. जमिदं ओरालमाहारं
कम्मगं च तमेव य ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि
णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥

यदिदं औदारं आहारं,
कार्मकं च तदेव च ।
सर्वत्र वीर्यमस्ति,
नास्ति सर्वत्र वीर्यम् ।

१०. ये जो औदारिक, आहारक और कर्म शरीर हैं (ये सब अभिन्न हैं या भिन्न हैं ऐसा न कहे) । सर्वत्र शक्ति है अथवा सर्वत्र शक्ति नहीं है (ऐसा न कहे) ।[3]

११. एएहिं दोहिं ठाणेहिं
ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं
अणायारं विजाणए ॥

एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां,
व्यवहारो न विद्यते ।
एताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्याम्
अनाचारं विजानीयात् ॥

११. इन दोनों स्थानों से व्यवहार घटित नहीं होता । इन दोनों स्थानों से अनाचार होता है—ऐसा जाने ।

१२. णत्थि लोए अलोए वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति लोकः अलोको वा,
नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति लोकः अलोको वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

१२. लोक अथवा अलोक नहीं है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । लोक अथवा अलोक है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

१३. णत्थि जीवा अजीवा वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

न सन्ति जीवा अजीवा वा,
नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
सन्ति जीवा अजीवा वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

१३. जीव अथवा अजीव नहीं है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । जीव अथवा अजीव है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

१४. णत्थि धम्मे अधम्मे वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति धर्मः अधर्मो वा,
नैव संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति धर्मः अधर्मो वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

१४. धर्म अथवा अधर्म नहीं है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । धर्म अथवा अधर्म है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

१५. णत्थि बंधे व मोक्खे वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति बन्धो वा मोक्षो वा,
नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति बन्धो वा मोक्षो वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

१५. बन्ध अथवा मोक्ष नहीं है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । बन्ध अथवा मोक्ष है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

१६. णत्थि पुण्णे व पावे वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति पुण्यं वा पापं वा,
नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति पुण्यं वा पापं वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

१६. पुण्य अथवा पाप नहीं है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । पुण्य अथवा पाप है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

१७. णत्थि आसवे संवरे वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति आस्रवः संवरो वा,
नैवं सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति आस्रवः सवरो वा,
एव सज्ञा निवेशयेत्॥

१७. आस्रव अथवा संवर नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। आस्रव अथवा सवर है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

१८. णत्थि वेयणा णिज्जरा वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा
एव सण्णं णिवेसए॥

नास्ति वेदना निर्जरा वा,
नैव सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति वेदना निर्जरा वा,
एव संज्ञा निवेशयेत्॥

१८ वेदना अथवा निर्जरा नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। वेदना अथवा निर्जरा है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

१९. णत्थि किरिया अकिरिया वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति क्रिया अक्रिया वा,
नैव संज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति क्रिया अक्रिया वा,
एव संज्ञा निवेशयेत्॥

१९ क्रिया अथवा अक्रिया नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। क्रिया अथवा अक्रिया है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२०. णत्थि कोहे व माणे वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति क्रोधो वा मानो वा,
नैव संज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति क्रोधो वा मानो वा,
एवं सज्ञा निवेशयेत्॥

२०. क्रोध अथवा मान नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। क्रोध अथवा मान है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२१. णत्थि माया व लोभे वा
णेव सण्णं णिवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति माया वा लोभो वा,
नैव सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति माया वा लोभो वा,
एव सज्ञा निवेशयेत्॥

२१ माया अथवा लोभ नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। माया अथवा लोभ है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२२. णत्थि पेज्जे व दोसे वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति प्रेयान् वा दोषो वा,
नैव सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति प्रेयान् वा दोषो वा,
एव सज्ञा निवेशयेत्॥

२२ राग अथवा द्वेष नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। राग अथवा द्वेष है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२३. णत्थि चाउरंते संसारे
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति चातुरन्त ससारः,
नैव सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति चातुरन्त ससार,
एवं सज्ञा निवेशयेत्॥

२३ चातुरन्त ससार नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। चातुरन्त ससार है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२४. णत्थि देवो व देवी वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति देवो वा देवी वा,
नैवं सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति देवो वा देवी वा,
एव सज्ञा निवेशयेत्॥

२४ देव अथवा देवी नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। देव अथवा देवी है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२५. णत्थि सिद्धी असिद्धी वा
णेवं सण्णं णिवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा
एवं सण्णं णिवेसए॥

नास्ति सिद्धि असिद्धि वा,
नैव सज्ञा निवेशयेत्।
अस्ति सिद्धि असिद्धि वा,
एवं सज्ञा निवेशयेत्॥

२५ सिद्धि अथवा असिद्धि नही है—ऐसी सज्ञा निर्मित न करे। सिद्धि अथवा असिद्धि है—ऐसी सज्ञा निर्मित करे।

२६. णत्थि सिद्धी णियं ठाणं
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि सिद्धी णियं ठाणं
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति सिद्धिः नियतं स्थानं,
नैवं संज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति सिद्धिः नियतं स्थानं,
एवं संज्ञा निवेशयेत् ॥

२६ सिद्धि नियत स्थान नही है, ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । सिद्धि नियत स्थान है, ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

२७. णत्थि साहू असाहू वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि साहू असाहू वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति साधुः असाधुः वा,
नैवं संज्ञां निवेशयेत् ।
अस्ति साधुः असाधुः वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

२८. साधु अथवा असाधु नही है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । साधु अथवा असाधु है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।

२८. णत्थि कल्लाणे पावे वा
णेवं सण्णं णिवेसए ।
अत्थि कल्लाणे पावे वा
एवं सण्णं णिवेसए ॥

नास्ति कल्याणं पापं वा,
नैवं संज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति कल्याणं पापं वा,
एवं संज्ञां निवेशयेत् ॥

२८. कल्याण अथवा पाप नही है—ऐसी संज्ञा निर्मित न करे । कल्याण अथवा पाप है—ऐसी संज्ञा निर्मित करे ।[12]

२९. कल्लाणे पावए वा वि
ववहारो ण विज्जइ ।
जं वेरं तं ण जाणंति
समणा बालपंडिया ॥

कल्याणं पापकं वाऽपि,
व्यवहारो न विद्यते ।
यद् वैरं तन्न जानन्ति,
श्रमणाः बालपण्डिता ॥

२९ एकान्तत कल्याण और पाप[13] कहने से व्यवहार घटित नही होता । (एकान्तत कल्याण या पाप का सिद्धान्त या कथन) जो वैर (कर्म) उत्पन्न करता है उसे पडितमानी अज्ञानी श्रमण नही जानते ।

३०. असेसं अक्खयं वावि
सव्वं दुक्खे ति वा पुणो ।
वज्झा पाणा अवज्झ त्ति
इति वायं ण णीसिरे ॥

अशेषं अक्षतं वापि,
सर्वं दुःखमिति वा पुनः ।
वध्याः प्राणाः अवध्याः इति,
इति वाचं न निसृजेत् ॥

३०. यह अशेष है, अक्षत है, सब दुःख है,[14] (सिंह आदि हिंसक) प्राणी वध्य हैं अथवा अवध्य[15]—ऐसा न बोले ।

३१. दीसंति णिहुअप्पाणो
भिक्खुणो साहुजीविणो ।
एए मिच्छोवजीवित्ति
इति दिट्ठिं ण धारए ॥

दृश्यन्ते निभृतात्मानः,
भिक्षवः साधुजीविनः ।
एते मिथ्योपजीविनः,
इति दृष्टिं न धारयेत् ॥

३१ संयत आत्मावाले साधुजीवी भिक्षु दिखाई देते हैं । फिर भी ये मिथ्याजीवी हैं—ऐसी दृष्टि धारण न करे ।[16]

३२. दक्खिणाए पडिलंभो
अत्थि वा णत्थि वा पुणो ।
ण वियागरेज्ज मेहावी,
संतिमग्गं च बूहए ॥

दक्षिणाया प्रतिलम्भः,
अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।
न व्यागृणीयात् मेधावी,
शान्तिमार्गं च बृंहयेत् ॥

३२ दक्षिणा देने से प्रतिलभ (दाता को पुण्य) होता है अथवा नही होता है, मेधावी ऐसा न कहे, शान्तिमार्ग की वृद्धि करे ।[17]

३३. इच्चेएहिं ठाणेहिं
जिणे दिट्ठेहिं संजए ।
धारयंते उ अप्पाणं
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥

इत्येतेषु स्थानेषु,
जिनैः दृष्टेषु संयतः ।
धारयंस्तु आत्मानं,
आमोक्षाय परिव्रजेत् ।

३३ संयमी पुरुष तीर्थंकरो द्वारा दृष्ट इन स्थानो मे आत्मा को धारण करता हुआ मोक्ष होने तक परिव्रजन करे ।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

अध्ययन ५ : टिप्पण

श्लोक १ :

१. आशुप्रज्ञ (आसुपण्णे)

चूर्णिकार ने इस शब्द से तीर्थंकर का ग्रहण किया है, क्योंकि आगे के दो शब्द 'इय वइ' इस बात के द्योतक है कि तीर्थंकर निश्चित ही धर्मोपदेश करते हैं। केवली धर्मोपदेश करते भी है और नही भी। इसलिए यहा तीर्थंकर का ग्रहण ही उचित है।[1]

वृत्तिकार ने पटुप्रज्ञ, सद्-असद् विवेक से युक्त व्यक्ति को आशुप्रज्ञ माना है। वैकल्पिक रूप मे सर्वज्ञ को आशुप्रज्ञ कहा है।[2]

२. ब्रह्मचर्य (बंभचेरं)

ब्रह्मचर्य के अनेक अर्थ हैं। चूर्णिकार ने आचार, आचरण, सवर, सयम और ब्रह्मचर्य को एकार्थक माना है।[3] वृत्तिकार के अनुसार जिस प्रवचन मे सत्य, तप, प्राणीदया, इन्द्रिय-निरोध के अनुष्ठान हैं, उस निर्ग्रन्थ प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।[4] ब्रह्मचर्य का एक अर्थ गुरुकुलवास भी होता है।[5]

३. अनाचार का (अणायारं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ अकर्त्तव्य[6] और वृत्तिकार ने सावद्य अनुष्ठान किया है।[7] किन्तु प्रकरण की दृष्टि से इसका अर्थ 'एकान्तदृष्टि' होना चाहिए। जो एकान्तदृष्टि से सोचा जाता है या कहा जाता है, वह तत्त्व के प्रति अनाचार है, मिथ्याकथन है। वृत्तिकार ने दूसरे श्लोक मे प्रयुक्त 'अणवदग' शब्द की व्याख्या मे कहा है—एकनयदृष्ट्याऽवधारणात्मकप्रत्ययमनाचारम्।[8]

श्लोक २ :

४. (श्लोक २)

प्रस्तुत श्लोक मे जगत् की नित्यता या अनित्यता के विषय मे ऊहापोह है। कुछ दार्शनिक शाश्वतवादी हैं और कुछ अशाश्वत-वादी। साख्यदर्शन के अनुसार द्रव्य अनादि और अनन्त है। बौद्ध दर्शन के अनुसार द्रव्य सादि और सान्त है—उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। ये दोनो दृष्टिया—ऐकान्तिक शाश्वतवाद और ऐकान्तिक अशाश्वतवाद—दोषपूर्ण हैं। इसलिए तीसरी दृष्टि के अवलबन का यहा निर्देश दिया गया है। वह है—शाश्वत-अशाश्वतवाद।

श्लोक ३ :

५. व्यवहार घटित नहीं होता (ववहारो ण विज्जइ)

कारण सर्वदा नित्य नही है। कार्य भी सर्वदा नित्य नही है। कार्य का भी एकान्तत: प्रक्षय नही होता। इस दृष्टि से यह जगत् 'ऐसा नही था'—ऐसी बात नही है। इस आधार पर व्यवहार स्वय प्रवृत्त है। इसका किसी ने प्रवर्त्तन नही किया है। किसी

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४०३ : आसु प्रज्ञा यस्य भवति स आसुप्रज्ञो, केवली तीर्थंकर एव तस्य वक्तव्यव्यापार 'तीर्थप्रवर्त्तनफलं यत्प्रोक्तं० अन्ये तु केवलिनो धर्मोपदेशं प्रति भजनीयाः।

२. वृत्ति, पत्र ११९ : आशुप्रज्ञ. पटुप्रज्ञ सदसद्विवेकज्ञ'''' ''''यदिवाऽऽशुप्रज्ञः सर्वज्ञ:।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४०३ : आचारोत्ति वाऽऽचरणंति वा संवरोत्ति वा संजमोत्ति वा बंभचेरंति वा एगट्ठं।

४. वृत्ति, पत्र ११९ : ब्रह्मचर्य—सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोधलक्षणम्।

५. सूयगडो १, १/७२, पृष्ठ ६७, टिप्पण नं० १३३।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४०३ : अनाचारः अकर्त्तव्यमित्यर्थं।

७. वृत्ति, पत्र ११९ : अनाचरं—सावद्यानुष्ठानरूपम्।

८. वृत्ति, पत्र १२०।

व्यक्ति को व्यवहार का प्रवर्त्तक मानने पर अनवस्थादोष घटित होता है।

यह जगत् व्यवहारशून्य नहीं है। व्यवहार के द्वारा प्रतिवस्तु मे अवस्थित अस्तित्व का दर्शन या व्यवहरण किया जाता है।[1] व्यवहार भेदात्मक या विभागात्मक दृष्टिकोण है। उसके द्वारा वस्तु की व्यवस्था होती है अथवा प्रत्येक वस्तु मे विद्यमान विशेषता या भेद को समझा जा सकता है। एकान्त शाश्वतवाद और एकान्त अशाश्वतवाद के द्वारा प्रसिद्ध व्यवहारो की व्याख्या नही की जा सकती। इसे स्पष्ट करने के लिए चूर्णिकार ने सम्मतितर्क की गाथा (१।१८) का उल्लेख किया है।[2] आचार्य सिद्धसेन ने बतलाया है कि एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवाद मे संसार, सुख-दुःख का सबंध, बध और मोक्ष—ये सब घटित नही होते। इसलिए एकान्तवाद मे व्यवहार का प्रवर्तन नहीं हो सकता।[3]

६. अनाचार होता है—ऐसा जानें (अणायारं विजाणए)

चूर्णिकार ने इस प्रसंग में 'अनाचार' का अर्थ सम्यग्दर्शन की विराधना किया है। उसके अभाव में ज्ञान-चारित्र का अभाव अपने आप हो जाता है।[4] अनाचार का अर्थ—आचार की अप्रयोजनीयता हो सकता है। एकान्त नित्यवाद के अनुसार आत्मा अपरिणामी होता है। आचार एक परिणमन, पर्याय या परिवर्तन है। अपरिणामी आत्मा के साथ उसकी सगति नही बैठती। एकान्त अनित्यवाद के अनुसार आत्मा क्षणभगुर है—प्रत्येक क्षण मे नष्ट होता है, उत्पन्न होता है, इसलिए उसमें अतीत के साथ अनुसधानात्मक प्रवृत्ति, भविष्यकालीन इच्छा, प्रयत्न आदि घटित नही हो सकता। इस दृष्टि से एकान्तवाद में आचार असंगत हो जाता है।

श्लोक ४ :

७. (श्लोक ४)

प्रस्तुत श्लोक मे तीन बातें कही गई हैं—

१. सभी शास्ता—तीर्थंकर या धर्म प्रवर्तक उच्छिन्न हो जाएगे, सिद्धि को प्राप्त हो जाएगे या शाश्वत रहेंगे।

२. सभी प्राणी विसदृश हैं या सदृश है।

३. सभी प्राणी ग्रन्थियुक्त (कर्मबद्ध) हैं या ग्रन्थिमुक्त हैं। इस प्रकार एकान्तवाद अयुक्तियुक्त होता है।

जो यह कहते हैं कि सिद्धो की उच्छित्ति हो जाएगी, यह अयुक्त है, क्योंकि सिद्ध शाश्वत हैं, उनके क्षय का हेतुभूत कर्म कोई है ही नहीं।

यदि यह कहा जाए कि यह कथन भवस्थ केवली की अपेक्षा से है तो वह भी युक्तियुक्त नही है। क्योंकि केवली अनन्तकाल में हुए हैं और होते रहेंगे। प्रवाह की अपेक्षा से उनका अभाव सिद्ध नही होता।

यह कहना कि नए जीव का उत्पाद नही होता और सारे भव्यजीव मुक्त हो जाएंगे तो फिर जगत् भव्यजीव-शून्य हो जाएगा।

---

१. सन्मतितर्कप्रकरण, भाग २ पृष्ठ ३१०।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४०३, ४०४।

३. सन्मति-प्रकरण. प्रथम काण्ड, गाथा—१७-२१।

णय दव्वट्ठियपक्खे संसारे णेव पज्जवणयस्स।
सासयवियत्तिवायी जम्हा उच्छेअवाईया॥
सुख-दुक्ख सम्पओगो ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि।
एगंतुच्छेयम्मि य सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं॥
कम्मं जोगनिमित्तं वज्झइ बन्ध-ट्ठिई कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंध-ट्ठिइकारणं णत्थि॥
बंधम्मि अपूरन्ते संसारमओघदंसणं मोज्झं।
बन्धं व विणा मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य॥
तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठि सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥

४. चूर्णि, पृष्ठ ४०४ : अणाचारं विजाणएहि सम्यग्दर्शनविराधनेत्यर्थः, तदभावे प्रागेव ज्ञानचारित्रयोरप्यभाव स्यात्।

यह भी उपयुक्त नही है, क्योकि आगम मे भविष्यत्काल की तरह भव्य जीवो की सख्या भी अनन्त बताई है। अनन्त का कभी अन्त नही होता। दूसरी बात यह है कि जो मोक्ष जाते है वे भव्य जीव ही होते है, किन्तु सभी भव्य जीव अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेते है, ऐसा नियम नही है। इसके तीन कारण हैं—

१. उनकी सख्या की अनन्तता।

२ मोक्षगमन की सामग्री की अप्राप्ति।

३. योग्यता का अभाव।

वे सब शाश्वत ही है ऐसा भी नही है। भवस्थ केवली शास्ता ही उसी जन्म मे सिद्धि जाते हैं इसलिए तथा प्रवाह की अपेक्षा से वे कथचिद् शाश्वत है, कथचिद् वे अशाश्वत हैं।

जीव सदृश ही है या असदृश ही हैं—यह एकान्तवाद भी मिथ्या है। क्योकि अपने-अपने कर्मो की विचित्रता के कारण जीव नाना गतिवाले, नाना प्रकार के छोटे-बडे शरीर वाले, अगोपाग वाले होते हैं। वे सब सदृश नही होते। इसलिए वे विसदृश भी है। आत्मा की चिन्मयता, अमूर्त्तता आदि की दृष्टि से सदृश भी हैं। अत वे समान और असमान दोनो है।

कुछेक जीव अपने पराक्रम से ग्रन्थि का भेदकर गुणस्थानो का आरोहण कर लेते है। वे भिन्न-ग्रन्थिक हो जाते है। कुछेक जीव ग्रन्थि को भेदने योग्य अध्यवसायो के अभाव मे ग्रन्थि का छेदन नही कर सकते। वे ग्रन्थिक-सत्त्व बने रहते हैं। अत प्राणी भिन्नग्रन्थिक और अभिन्नग्रन्थिक—दोनो है।

एकान्तवाद मिथ्या है। यह अनाचार है।

आगमो का यह कथन है कि अतीत की अनन्त उत्सर्पिणियो और अवसर्पिणियो मे भव्यो का अनन्तवा भाग ही सिद्ध हुआ है, मुक्ति को प्राप्त हुआ है। यह सुनकर प्रश्नकर्त्ता ने प्रश्न उपस्थित किया कि यदि इतना आनन्त्य है तो फिर यहा उनके क्षय की बात कैसे प्राप्त हुई ?

इस प्रश्न के उत्तर मे युक्ति देते हुए वृत्तिकार कहते है कि मुक्ति और ससार—दोनो सबधी शब्द है। ससार के बिना मुक्ति नही होती और मुक्ति के बिना ससार नही होता। अत सभी भव्यो का उच्छेद मान लेने पर मुक्ति का भी उच्छेद स्वत प्राप्त हो जाएगा। इसलिए इनके पक्ष मे एकान्तवाद अनाचार है।

चूर्णिकार के अनुसार श्लोक २-५ मे क्या मानना चाहिए और क्या कहना चाहिए का स्पष्ट विवेक है। इस विवेक को भुला देना 'दर्शन' का अतिचार है।

वृत्तिकार ने भी यही माना है।[1]

श्लोक ६-७ :

८. (श्लोक ६-७)

संसार मे छोटे और बडे दोनो प्रकार के प्राणी हैं। कुथु आदि बहुत छोटे शरीर वाले प्राणी हैं और हाथी आदि बहुत बडे शरीर वाले प्राणी है। इस विषय मे प्रश्न पूछा जाता है कि छोटे और बड़े जीवो को मारने मे कर्म-बध समान होगा या भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा ?

इस विषय मे इस प्रकार का निर्देश है कि अहिंसा की समीक्षा करने वाला अवक्तव्यवाद का प्रयोग करे। चूर्णिकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—यदि छोटे और बडे—दोनो प्रकार के जीवो के वध मे कर्मबध एक जैसा बतलाया जाए तो बडे जीवो की हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और यदि भिन्न प्रकार का बतलाया जाए तो छोटे जीवो की हिंसा करने मे उन्मुक्तता का समर्थन होता है। इसलिए इस विषय मे समान या असमान कर्मबध कहना धर्मसकट है। कोई भी समझदार व्यक्ति जानबूझकर धर्मसकट मे नही फसना चाहता। इस प्रसग मे चूर्णिकार ने दूष्यगणिक्षमाश्रमण के शिष्य भट्टियाचार्य का मत उद्धृत किया है। उनका अभिमत है कि जिस प्रकार बौद्ध दार्शनिक आत्मा नित्य है या अनित्य—यह पूछे जाने पर अवचनीयवाद या अव्याकृत का प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार कर्मबंध एक प्रकार का होता है या भिन्न प्रकार का, यह पूछे जाने पर अहिंसा की समीक्षा करने वाले को अवक्तव्य का प्रयोग करना चाहिए।[2]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४०४-४०५।
   (ख) वृत्ति, पत्र १२०-१२२।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४०५।

वृत्तिकार का अभिमत है कि वध्यप्राणी के आधार पर यदि कर्म-बंध होता है तब तो छोटे प्राणी के वध से थोड़ा कर्म-बंध और बड़े प्राणी के वध से ज्यादा कर्म-बंध होगा। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। कर्म-बंध का संबंध वध्य प्राणी से ही नहीं है, उसका संबंध वध करने वाले के अध्यवसाय से भी है। इस आधार पर यदि कोई प्राणी तीव्र अध्यवसायों से छोटे प्राणी का भी वध करता है तो वह महान् कर्मों का बंध करता है और यदि मंद अध्यवसाय से, अकाम रहता हुआ बड़े प्राणी का भी वध करता है तो उसके अल्पकर्मों का बंध होता है।

वध्य के छोटे-बड़े के आधार पर ही कर्म का बन्ध नहीं होता, किन्तु कर्मबंध में वधक का तीव्र या मन्द अध्यवसाय हेतु बनता है। जानते हुए या अनजान में विपुल शक्ति या अल्प शक्ति के साथ जो वध किया जाता है—ये भी कर्मबन्ध में कारणभूत बनते हैं। इसलिए कर्मबन्ध की विचारणा में वध्य और वधक—दोनों पर विचार करना अपेक्षित है।

एक तर्क है कि जीव सब समान हैं। जीव चाहे छोटा हो या बड़ा—सबमें आत्मप्रदेशों की तुल्यता है, समानता है। इसलिए उनके वध में समान कर्म-बन्ध होना चाहिए।

इसके उत्तर में वृत्तिकार ने कहा है ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है। आत्मा अमर है। वह कभी नहीं मरता। उसकी हिंसा नहीं की जा सकती। हिंसा का जहां कथन होता है वहां प्राणियों की इन्द्रियों का हनन, श्वासोच्छ्वास का हनन ही विवक्षित होता है। कहा भी है—

> 'पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनि:श्वासमथान्यदायु ।
> प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥'

इसलिए कर्मबन्ध में अध्यवसाय ही मुख्य कारण है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि डाक्टर किसी रोगी का आपरेशन करता है, उसकी भावना है रोगी को रोगमुक्त करना। पर अकस्मात् रोगी का प्राणान्त हो जाता है या रोगी आपरेशन काल में कष्ट का अनुभव करता है। इसमें डाक्टर प्राण के व्यपरोपण या कष्ट-प्रदान के कारण कर्मबन्ध का भागी नहीं बनता। क्योंकि उसका अध्यवसाय क्लिष्ट नहीं है।

एक व्यक्ति रज्जु को सर्प मान कर उसके टुकड़े-टुकड़े करता है तो भी वह हिंसा के कर्मबन्ध का भागी होता है। क्योंकि उसका अध्यवसाय क्लिष्ट है, हिंसा से संपृक्त है। इसलिए कर्मबन्ध की प्रक्रिया में अध्यवसायों की तीव्रता, मंदता या मध्यस्थता बहुत बड़ा कारण बनती है। इस प्रसंग में तन्दुल मत्स्य का उदाहरण ज्ञातव्य है।[1]

श्लोक ८ :

९. आधाकर्म (अहाकम्माणि)

आधाकर्म आहार के विषय में व्याख्या-साहित्य में दो परम्पराएं उपलब्ध हैं। एक परम्परा का आशय यह है कि सामान्य स्थिति में आधाकर्म वर्जनीय है किन्तु विशेष स्थिति में वह ग्राह्य भी है। दूसरी परम्परा आधाकर्म आहार को आपवादिक स्थिति में भी वर्जनीय मानती है। चूर्णि और वृत्ति में प्रथम परम्परानुसारी व्याख्या उपलब्ध है।

चूर्णिकार के अनुसार आधाकर्म आहार करने से कर्म का उपलेप होता है, ऐसा कहने में तीन कठिनाइयां हैं—

१. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अतिक्रमण होता है, उनकी निरपेक्षता आती है, जब कि प्रत्येक आचरण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सापेक्षता से करणीय और अकरणीय बनता है।

२ साधु सर्वथा उपेक्षित हो जाते हैं। हर स्थिति में ये परित्यक्त हो जाते हैं।

३. यदि आधाकर्म आहार देने वाला भी अल्प आयुष्य कर्म का बन्ध करता है तो फिर मुझे वैसा आहार देने से क्या प्रयोजन—यह सोचकर गृहस्थ विशेष परिस्थिति में भी वैसा देना नहीं चाहता।

आधाकर्म आहार करने से कर्म का उपलेप नहीं होता, यह कहने में भी दो कठिनाइयां हैं—

१. आधाकर्म आहार देने वाला जीव का वध करता है, वह परित्यक्त हो जाता है।

२. जो प्राणी मारे जाते हैं, वे भी परित्यक्त हो जाते हैं।[2]

वृत्तिकार का दृष्टिकोण भी प्राय: चूर्णिकार जैसा ही है। उन्होंने स्पष्ट भाषा में लिखा है कि शास्त्र-निर्देश के अनुसार शुद्ध है यह जानकर आधाकर्म आहार करने वाला कर्म से लिप्त नहीं होता, इसलिए 'एकान्तत: उपलिप्त होता है'—यह अवक्तव्य है। शास्त्रीय

---

१. वृत्ति, पत्र १२२।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४०६।

निर्देश के विना आहार की आसक्ति के कारण आधाकर्म आहार करने वाले के कर्म-वन्ध होता है इसलिए 'कर्म का उपलेप नही होता'— यह भी अवक्तव्य है। शास्त्रीय निर्देश के अनुसार यह कहना उचित होता है—आधाकर्म आहार करने से कर्मवन्ध होता भी है और कर्म-वन्ध नही भी होता। क्योकि शुद्ध और कल्प्य आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र, औषधि आदि भी अकल्प्य हो जाते है और अकल्प्य भी कल्प्य वन जाते हैं।

यदि आधाकर्म आहार के उपभोग से एकान्तत कर्मवन्ध माना जाए तो आहार के अभाव मे अनेक अनर्थ आपादित हो सकते है। जैसे—भूख से पीडित मुनि ईर्यापथ का सम्यग् परिपालन नही कर सकता, अत चलने-फिरने मे प्राणियो की हिंसा होती है। भूख के कारण वह मूर्च्छित होकर भूमी पर गिर सकता है। अकाल मे मृत्यु भी प्राप्त कर सकता है। उस अवस्था मे आर्त्तध्यान के वशीभूत होकर वह तिर्यग् गति का आयुष्य वाध सकता है। कहा भी जाता है कि सर्वत्र सयम की रक्षा करनी चाहिए, किन्तु सयम से आत्मा की रक्षा करना श्रेष्ठ है। इसलिए आधाकर्म के उपभोग से सयम की रक्षा होती है और कर्मवन्ध भी नही होता।

यह भी सही है कि आधाकर्म आहार की निष्पत्ति मे षड्जीवनिकाय का वध होता है और वह कर्मवन्ध का कारण है, अत एकान्तत कर्मवन्ध होता है या कर्मवन्ध नही होता—ऐसा कहना अवक्तव्य है।[1]

आचार्य भिक्षु और श्रीमद् जयाचार्य ने आपवादिक स्थिति मे भी आधाकर्म आहार को विहित नही माना है। उन्होने प्रस्तुत श्लोको की व्याख्या शुद्ध व्यवहार नय के आधार पर की है। उनका मन्तव्य है—शुद्ध व्यवहार से निर्दोप जानकर आधाकर्म आहार लेने वाला मुनि पापकर्म से लिप्त नही होता। इसी प्रकार अपनी दृष्टि से निर्दोष जानकर आधाकर्म देने वाला गृहस्थ पापकर्म से लिप्त नही होता। अतः उपलिप्त होता ही है—ऐसा नही कहना चाहिए। जानवूझकर आधाकर्म आहार देने वाला और लेने वाला कर्म से लिप्त होता है, इसलिए उपलिप्त नही होता—यह भी नही कहना चाहिए।[2] भगवती (७।१६५) मे यह मत समर्थित है।

१०. परस्पर एक दूसरे के (अण्णमण्णे)

चूर्णिकार ने 'अन्योन्य' शब्द मे विद्यमान एक 'अन्य' शब्द का अर्थ 'असयत' और दूसरे 'अन्य' शब्द का अर्थ 'सयत' किया है।[3] चर्चनीय विषय यह है कि कोई गृहस्थ किसी साधु के लिए भोजन वनाता है, उस क्रिया से वह गृहस्थ कर्म से लिप्त होता है या नहीं? सूत्रकार का मन्तव्य है कि कर्म का उपलेप होता है, यह भी अवक्तव्य है और उसका उपलेप नही होता, यह भी अवक्तव्य है। चूर्णिकार ने इन दोनो अवक्तव्यो का स्पष्टीकरण दिया है।[4]

श्लोक १० :

११. (श्लोक १०)

जैन तत्त्वविद्या मे पाच शरीर माने गए है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। चूर्णि के अनुसार औदारिक शरीर सवके प्रत्यक्ष है। आहारक शरीर कुछ लोगो के प्रत्यक्ष होता है और वैक्रिय शरीर भी प्रत्यक्ष है। तैजस और कार्मण—ये दो शरीर प्रत्यक्ष-ज्ञानी के प्रत्यक्ष होते है।[5] कार्मण—कर्म-शरीर कारण है और औदारिक शरीर कार्य है। प्रश्न होता है कि क्या ये दोनो एक है या भिन्न हैं? ततु और पट मे कार्य-कारण सवन्ध है, फिर भी वे अभिन्न देश मे रहते है। विम्व और प्रतिविम्व मे भी कार्य-कारण संवन्ध है किन्तु वे भिन्न देश मे रहते है। उत्तर मे कहा गया, इन दोनो (औदारिक और कार्मण) मे एकत्व भी है। कर्म-शरीर को छोडकर औदारिक शरीर कही नही होता, इसलिए ये दोनो एक है। कर्म-शरीर सूक्ष्म, अचाक्षुप और निरुपभोग होता है, जब कि औदारिक शरीर स्थूल, चाक्षुप और सोपभोग होता है। इस प्रकार दोनो भिन्न है। अत इन दोनो की सर्वथा एकता और सर्वथा भिन्नता—दोनो वक्तव्य नही है। उनकी एकता और अनेकता सापेक्षदृष्टि से वक्तव्य है।[6]

कार्य-कारणवाद की चर्चा मे दो प्रमुख वाद उपलब्ध है—सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण मे कार्य विद्यमान रहता है और असत्-कार्यवाद के अनुसार कारण मे कार्य होता नही। ये दोनो एकान्तवाद है। यदि कारण मे कार्य विद्-

---

१. वृत्ति पत्र, १२३।

२. भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५०।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४०६ अन्योऽन्य इति वीप्सा, अन्य इति संयत तस्मादन्य संयतस्येत्यसंयतः।

४. देखें—आधाकर्म का टिप्पण संख्या ६।

५ चूर्णि, पृष्ठ ४०६ : इदमिति सव्वेलोके प्रत्यक्ष आहारकमपि केषांचित्प्रत्यक्षमेव, वैक्रियमपि प्रत्यक्षमेव, तैजसकार्मणे प्रत्यक्षज्ञानिनां प्रत्यक्षे।

६. चूर्णि पृष्ठ ४०६-४०७।

मान ही होता है तो फिर मृत्पिंड मे घट के कार्य उपलब्ध होने चाहिए। वे नही होते, इसीलिए एकान्तत: सत्कार्यवाद भी वाञ्छनीय नही है। यदि मृत्पिंड मे घट सर्वथा असत् हो तो उसमे घट निष्पन्न नही हो सकता, इसलिए एकान्तत: असत्कार्यवाद भी वाञ्छनीय नही है। दोनो सापेक्षदृष्टि से वक्तव्य हैं।[1]

सामर्थ्य-सीमा के सिद्धान्त के अनुसार भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। कर्त्ता का सामर्थ्य सब कार्य करने मे होता है, यह भी नही कहा जा सकता और कर्त्ता मे कार्य करने का सामर्थ्य नही होता, ऐसा भी नही कहा जा सकता। अभ्यास के द्वारा कार्य करने का सामर्थ्य पैदा हो जाता है और उसके बिना सामान्य कार्य का निष्पादन भी नही किया जा सकता। सामर्थ्य की एक सीमा है—शिक्षा या अभ्यास। कुछ कार्य मनुष्य की शक्ति से सर्वथा परे होते हैं। वे शिक्षा या अभ्यास के द्वारा भी नही किए जा सकते।[2] स्थानाग सूत्र मे उनकी ओर इगित किया गया है।[3] इसलिए वीर्य की व्याख्या भी सापेक्षदृष्टि से ही की जा सकती है।

श्लोक १२-२८ :

१२. (श्लोक १२-२८)

इन सतरह श्लोकों मे सतरह प्रतिपक्षी युगलो का कथन है। इनका संज्ञान सम्यक्त्व की पृष्ठभूमी बनता है, इसलिए सूत्रकार इनके अस्तित्व को स्वीकार करने का परामर्श देते हैं। इन द्वन्द्वो के कथन का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि भगवान् महावीरकालीन अनेक दर्शन इन द्वन्द्वो को स्वीकृति नही देते थे। कुछ दर्शन पुण्य-पाप को मानते थे, कुछ नही। कुछ दर्शन सिद्धि को स्वीकार करते थे, कुछ केवल स्वर्ग को ही मानते थे। कुछ देवी-देवता के अस्तित्व मे विश्वास करते थे, कुछ नही। इन सबका निरसन करने के लिए सूत्रकार ने उन सभी द्वन्द्वो को स्वीकृति देने की बात कही है। वे द्वन्द्व ये हैं :—

१ लोक-अलोक
२. जीव-अजीव
३. धर्म-अधर्म
४ बन्ध-मोक्ष
५. पुण्य-पाप
६. आश्रव-संवर
७. वेदना-निर्जरा
८. क्रिया-अक्रिया
९. क्रोध-मान
१०. माया-लोभ
११. प्रेम-द्वेष
१२. चतुर्गतिक संसार-अचतुर्गतिक ससार
१३ देव-देवी
१४ सिद्धि-असिद्धि
१५. सिद्धिगति-असिद्धिगति
१६. साधु-असाधु
१७. कल्याण-पाप

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इन सबको स्याद्वाद के आधार पर सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है।[4]

अस्तिवाद और नास्तिवाद—चिन्तन की ये दो धाराए बहुत प्राचीन हैं। भगवान् महावीर से पहले ही ये दोनो अस्तित्व मे थी।[5] अस्तित्ववाद के मूल तत्त्व हैं—लोकवाद, जीववाद (आत्मवाद), धर्मवाद, बन्ध-मोक्षवाद, पुण्य-पापवाद, आश्रव-सवरवाद, वेदना-निर्जरावाद, क्रिया-अक्रियावाद, कषायवाद, ससारवाद (पुनर्जन्मवाद), देववाद, सिद्धि-असिद्धिवाद, साधु-असाधुवाद और कल्याण-पापवाद। लोकवाद जगत् के अस्तित्व का प्रतिपादन है। लोक और अलोक दोनो सापेक्ष है। जहा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय,

---

१. वृत्ति पत्र १२३, १२४।
२. चूर्णि पृष्ठ ४०७।
३. ठाणं ६।५ : छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाण णत्थि इड्ढीति वा जुतीति वा जसेति वा बलेति वा वीरएति वा पुरिसक्कार-परक्कमेति वा, त जहा—(१) जीवं वा अजीवं करणताए, (२) अजीव वा जीवं करणताए, (४) एगसमए णं वा दो भासाओ भासित्तए, (४) सयं कडं वा कम्मं वेदेमि, (५) परमाणुपोग्गलं वा छिंदित्तए वा भिंदित्तए वा अगणिकाएणं वा समोदहित्तए, (६) बहिता वा लोगंता गमणताए।
४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४०७-४०९।
(ख) वृत्ति, पत्र १२५-१३२।
५. आयारो ८।५ अदुवा वायाओ विउंजति—अत्थि लोए णत्थि लोए, धुवे लोए अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिते लोए, अपज्जवसिते लोए, सुकडेत्ति वा, दुक्कडेत्ति वा, कल्लाणेत्ति वा, पावेत्ति वा, साहुत्ति वा असाहुत्ति वा सिद्धीति वा, असिद्धीति वा, णिरएत्ति वा, अणिरएत्ति वा।

आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पाचो होते है वह लोक और जहा केवल आकाश होता है, वह अलोक ।

छब्बीसवे श्लोक मे 'अत्थि सिद्धी णिय ठाण—ऐसा पाठ है । उत्तराध्ययन २३।८१ मे 'अत्थि एग धुव ठाण' ऐसा पाठ है । 'नियत' और 'ध्रुव'—ये दोनो शब्द एकार्थक हैं ।

तुलना के लिए देखे—नेतं ठाण विज्जति—दीघनिकाय I,—१।५।१३१-१४३ ।

श्लोक २९ :

१३. कल्याण और पाप (कल्लाणे पावगे)

एकान्त कल्याण और एकान्त पाप से व्यवहार प्रवृत्त नही होता । चूर्णिकार ने यहा कर्मशास्त्रीय चर्चा प्रस्तुत की है । सूक्ष्म-सापरायिक वन्ध करने वाला आयुष्य और मोह को छोडकर शेप छह कर्म-प्रकृतियो का वन्ध करता हुआ ज्ञानावरणीय और अन्तराय का भी वध करता है । इसके प्राय शुभ प्रकृतियो का वन्ध होता है, फिर भी एकान्त कल्याणकारी कर्म का वन्ध नही होता । वेदना की दृष्टि से अनुत्तरोपपातिक स्वर्ग के देव सुख-वेदन करते हैं, पर साथ-साथ ज्ञानावरणीय आदि का अशुभ वेदन भी करते हैं । मनुष्यो मे तीर्थंकर भी सर्दी-गर्मी आदि अशुभ का वेदन करते है । क्षीणकपाय पुरुप अशुभ कर्म का व-धन नही करता, फिर भी अशुभ नाम, गोत्र और असात वेदनीय का अनुभव करता है । इसलिए एकान्तत कल्याण को स्वीकार नही करना चाहिए ।

इस प्रकार एकान्तत पाप भी स्वीकरणीय नही है । परम कृष्णलेश्या मे प्रवर्तमान एकान्तपापी मिथ्यादृष्टि का अत्यन्त क्लिष्ट परिणाम होता है । फिर भी उसके कदाचित् सातावेदनीय का तथा उच्चगोत्र, शुभनाम का उदय होता है । नियमत वह पाच इन्द्रियो से युक्त तथा उत्तम सहनन वाला भी होता है । अत. एकान्तत पाप भी व्यवहार्य नही होता । एकान्तवाद मे व्यवहार घटित नही होता । ऐकान्तिक व्यवहार से वैर (कर्म) का प्रसव होता है ।[1]

श्लोक ३० :

१४. अशेष है, अक्षत है, सब दुःख है (असेसं अक्खयं ······सव्वं दुक्खे)

चूर्णिकार ने अशेप, कृत्स्न, सपूर्ण और सर्व को एकार्थक वतलाया है ।[2]

अशेप—पूरा गाव आ गया, पूरा काम कर लिया'—इस प्रकार एकान्तत सर्ववाद का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योकि पूर्ण कुछ भी नही होता, कुछ न कुछ शेप रह जाता है । गाव जीव और अजीव का समुदाय होता है, वह पूर्ण कैसे आएगा ? कहा जाता है, जो भोजन वना वह सारा का सारा खा लिया । पर सारा कैसे खाया जा सकता है ? कोई न कोई चीज वच ही जाती है और यदि वह न वचे तो गध तो रह ही जाती है । वह भी तो एक द्रव्य है ।[3]

अक्षय—कृतद्रव्य अक्षय नही होता । इसलिए 'खूव खाओ', 'यह अखूट द्रव्य है,' 'खूब दो,' 'यह कभी क्षीण नही होता'—इस प्रकार का प्रयोग नही करना चाहिए ।[4]

सर्वदु ख—जैन दर्शन दु खकारी दर्शन नही है । 'सव दु ख ही दु ख है'—यह एकान्तवादी दृष्टिकोण है । अनेकान्त के अनुसार दु खवाद और सुखवाद—दोनो मान्य हैं । इस ससार मे न कोरा दु ख है और न कोरा सुख है । कभी दु ख होता है, कभी सुख होता है । इसलिए 'सर्वं दु खम्'—यह अवक्तव्य है ।[5]

१५. वध्य····अवध्य (वज्झा अवज्झ त्ति)

अहिंसा के क्षेत्र मे कुछ समस्याए होती हैं । जीवन का व्यवहार वहुत जटिल है, इसलिए अहिंसक को कही वक्तव्य और अवक्तव्य, कही वचन और कही मौन का सहारा लेना पडता है । सव समस्याओ को एक ही प्रकार से समाहित नही किया जा सकता । 'प्राणी वध्य है' अहिंसक को ऐसा नही कहना चाहिए । किन्तु किसी समस्या के संदर्भ मे यह अवध्य है—यह कहना भी

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ४१० ।

२ चूर्णि, पृष्ठ ४११ . अशेषं कृत्स्नं सम्पूर्णं सर्वमित्यनर्थान्तरं ।

३. वही, पृष्ठ ४११ ।

४ वही, पृष्ठ ४११ न हि कृतकानां द्रव्यानां अक्षतता विद्यते । तेण ण सव्व मक्खयं वत्तव्व ।

५ वही, पृष्ठ ४११ ।

व्यवहार संगत नहीं होता, इसलिए उसे मौन रहना होता है। कोई व्यक्ति सिंह आदि हिंस्र पशुओं को मारने का विचार कर मुनि के पास आता है और पूछता है—मैं इन्हें मारूं या न मारूं ? 'उन्हें मारो'—ऐसा कहा ही नहीं जा सकता और ये हिंस्र पशु अनेक मनुष्यों को मार रहे हैं, उपद्रव कर रहे हैं, इसलिए 'मत मारो'—यह कहना भी व्यवहार-संगत नहीं होता। इस अवस्था में अहिंसक के लिए मौन रहना ही श्रेय होता है।[1]

शीलाकाचार्य ने वध्य और अवध्य कहने के प्रसंग में मौन रहने का कारण इस प्रकार बतलाया है—चोर, पारदारिक आदि वध्य हैं—यह कहने से हिंसा आदि कर्म का अनुमोदन होता है और 'अवध्य' कहने पर चोरी आदि का अनुमोदन होता है, इसलिए अहिंसक ऐसे प्रसंग में मौन रहे। इसी प्रकार सिंह, बाघ, बिल्ली आदि हिंस्र जंतुओं को मारते हुए देख मध्यस्थता का अवलम्बन ले।[2]

इस विषय में आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है कि 'जीव अवध्य है'—यह उपदेश जीवों को मारने के लिए—हिंसा से बचाने के लिए दिया गया है, किन्तु राग-द्वेष का अनुमोदन होता हो वैसे प्रसंगों में 'जीव अवध्य' है—यह न कहना अहिंसा की मर्यादा है।[3]

श्लोक ३१ :

१६. (श्लोक ३१)

प्रस्तुत श्लोक में अन्तःकरण की शुद्धि के निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है। सामान्यतः व्यक्ति अपने से इतर दर्शनावलंबी को विशुद्ध मानने के लिए तैयार नहीं होता। अनेकान्त का दर्शन है—अपने शास्त्रों के अनुसार साधु-जीवन जीने वाले, सद् अनुष्ठानों का समाचरण करने वाले और जो युगान्तरमात्र दृष्टि पालन करने वाले, पानी को छानकर पीने वाले, मौन का आचरण करने वाले, नग्न रहने वाले, एकान्त में ध्यान करने वाले, भिक्षा मात्र से जीवन निर्वाह करने वाले, साधु जीवी, किसी के उपरोध पर नहीं जीने वाले, क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होते हैं, कुतूहल तथा अट्टहास का वर्जन करने वाले होते हैं, उनको मिथ्याजीवी कहना वाणी का असंयम है। वे सन्यासी चाहे स्वयूथिक हों या अन्ययूथिक, उनके विषय में, ये बेचारे बाल तपस्वी हैं, सब कुछ मिथ्या आचरण और लोक-विरुद्ध व्यवहार करते हैं—ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि ऐसा कहा जाता है तो जनता भी कहने लग जाती है—ये साधु गुणद्वेषी हैं, ये अकारण ही दूसरों पर रोष करते हैं, इनके कषाय उपशान्त नहीं हैं। यथार्थ में देखा जाए तो इतर धर्मावलंबी वैसे साधु भी ग्रैवेयक देवलोक तक के आयुष्य का बन्ध कर लेते हैं, तो फिर एकान्ततः यह कैसे कहा जा सकता है कि ये निरर्थक ही क्लेश कर रहे हैं।[4]

चूर्णिकार ने जिस प्रकार की चर्या का वर्णन किया है, उससे आजीवक श्रमणों की ओर ध्यान आकर्षित होता है। किन्तु औपपातिक (१५८ सूत्र) में आजीवक श्रमणों की मरणोपरांत उत्पत्ति अच्युतकल्प (बारहवें देवलोक) तक बतलाई है। यहां ग्रैवेयक स्वर्ग तक की उत्पत्ति बतलाई गई है। औपपातिक के अनुसार इसका संबन्ध सात निन्हववादियों के साथ है।

श्लोक ३२ :

१७. (श्लोक ३२)

प्रस्तुत श्लोक का आशय प्रथम श्रुतस्कंध ११।१६-२१ में आया हुआ है। 'दक्षिणा (दान) देने से दाता को प्रतिलाभ—पुण्य होता है या नहीं होता'—ऐसे पूछने पर मुनि अस्ति-नास्ति दोनों न कहे, किन्तु मौन रहे। चूर्णिकार ने इस विषय को स्पष्ट

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४११ : वज्झं पाणाति मणसावि ण सम्मत किमुत वक्तु ? कम्मुणा वा कर्तुं अतो न वक्ति वध्याः प्राणिनः, अथ अवज्झा, कथं न वाच्यं ? नन्वेतदपि लोकविरुद्धमेव, कथ ? अहिंसक स्वयं न च वक्ष्यति अवध्या प्राणा इति, उच्यते, सत्यमेतद् स्वयं क्रियते तदन्यस्याप्यपदिश्यते, किंतु यदि कश्चित् सिंहमृगमार्जारादीक्षुद्रजन्तुजिघांसु ब्रूयात्-भो साधो ! किमेतान् क्षुद्रजतून् घातयामि उत मुचामीति, तत्र न वक्तव्यं मुच मुचेति, ते हि मुक्ता अनेकानां घाताय भविष्यन्ति, एवं चौरमच्छवद्धवंधादयो न वक्तव्या मुच घातयेति वा।

२. वृत्ति, पत्र १३३, १३४ : वध्याश्चौरपरदारिकादयोऽवध्या वा तत्कर्मानुमतिप्रसङ्गादित्येवंभूतां वाचं स्वानुष्ठानपरायणः साधु परव्यापारनिरपेक्षो न निसृजेत्, तथा हि सिंहव्याघ्रमार्जारादीन्परसत्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमवलम्बयेत्।

३. भ्रमविध्वंसन,-अनुकंपाधिकार, बोल छह।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४१२।

करते हुए लिखा है—पात्र को श्रद्धापूर्वक इष्ट या अनिष्ट वस्तु का दान देने पर महान् फल होता है। अपात्र को दिया हुआ इष्ट या अनिष्ट वस्तु का दान वध के लिए होता है। फिर भी अहिंसक को अस्ति-नास्ति—दोनो प्रकार के वचन से बचना चाहिए। नास्ति (प्रतिलाभ नही होता) कहने पर अन्तराय का दोप लगता है और अस्ति (प्रतिलाभ होता है) कहने पर अधिकरण—हिंसा का अनुमोदन होता है। इसलिए ऐसे प्रमग मे पुण्य होता है या पुण्य नही होता—दोनो अवक्तव्य हैं। सिद्धान्त-निरूपण के समय जो जैसा हे, वैसा स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु वर्तमान काल मे दान देने के प्रसग पर मुनि मौन रहे, शातिमार्ग का अवलवन ले, इस प्रकार का व्यवहार करे जिससे प्रश्नकर्त्ता भी उपशान्त हो जाए और शासन की अनुपालना भी हो जाए।[1]

वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक की दो व्याख्याए की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार गृहस्थ से दान की प्राप्ति होती है या नही होती, मेधावी मुनि ऐसा न कहे।

दूसरी व्याख्या के अनुसार स्वतीर्थिक अथवा अन्यतीर्थिक भिक्षु को दान या ग्रहण के प्रति जो लाभ होता है उसमे भी ऐकान्तिक भापा न वोले। दान का निपेध करने पर अन्तराय की सभावना होती हे और भिक्षु के मन मे विपरीत भावना उत्पन्न हो सकती है। दान का अनुमोदन करने पर हिंसा का प्रसग होता है। इसलिए अस्ति-नास्ति—दोनो उसके लिए अवक्तव्य है। वह विधि और निपेध को छोडकर निरवद्य वचन वोले।[2]

स्तवककार ने लिखा है कि गृहस्थ दे रहा है और भिक्षु ले रहा है उस वर्तमान की स्थिति मे नास्ति-अस्ति या गुण-दोप न कहे। गुण वतलाने से असयम का अनुमोदन होता है और दोप वतलाने से वृत्ति का छेद होता है। इसलिए मुनि को इन दोनो से वचना चाहिए।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४१२, ४१३।
२. वृत्ति, पत्र १३४।

छट्ठं अज्झयणं

अद्दइज्जं

छठा अध्ययन

आर्द्रकीय

आमुख

मगध जनपद मे वसन्तपुर[1] नामक गाव था। वहा सामायिक नाम का कुटुम्बी रहता था। पति-पत्नी दोनो के मन मे वैराग्य के अकुर फूटे और दोनो ने आचार्य धर्मघोष के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। वह सामायिक चरित्रनिष्ठ होकर सविग्न मुनियो के साथ विहरण करने लगा और उसकी पत्नी-साध्वी साध्वियो के साथ विहरण करने लगी। दिन बीते। वर्ष बीते। ग्रामनुग्राम विहरण करते हुए वह मुनि एक नगर मे आया। उसने अपनी साध्वी पत्नी को भिक्षाचर्या करते हुए देखा। पूर्वभुक्त क्रीडाओ की स्मृति हो आई और वह उसमे अनुरक्त हो गया। उसने अपनी बात अपने साथी मुनि से कही। उसने प्रवर्तिनी के समक्ष अपने साथी का अभिप्राय स्पष्ट किया। प्रवर्तिनी ने साध्वी को बुला भेजा और कहा—'तुम्हारा गृहस्थावस्था का पति तुम्हारे मे अनुरक्त हुआ है और वह तुम्हे पुन पत्नी के रूप मे प्राप्त करना चाहता है।' साध्वी ने यह सुनकर प्रवर्तिनी से कहा—'इस स्थिति मे मैं अकेली किसी अन्य देश मे नही जा सकती। यह वहा भी मेरा पीछा नही छोड़ेगा। इसलिए मेरे लिए यह स्वर्णिम अवसर है कि मैं अपने व्रतो को भग करने के बदले अनशनपूर्वक अपने प्राण त्याग दू।' प्रवर्तिनी ने आज्ञा दे दी। अनशनपूर्वक उसने शरीर का त्याग कर दिया। मर कर वह देवलोक मे उत्पन्न हुई।

मुनि ने सारा वृत्तान्त सुना। उसने सोचा—साध्वी ने व्रतभग के भय से अनशनपूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया है। मेरा तो व्रतभग (मानसिक रूप से) हो ही चुका है। मुझे भी अनशन कर लेना चाहिए। यह सोचकर वह मुनि आचार्य के पास आया। उनकी अनुज्ञा ले उसने भी अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण किया और वह देवगति मे जा देवरूप मे उत्पन्न हुआ।

उस देवलोक से च्युत होकर वह अनार्य देश के आर्द्रकपुर नगर के राजा आर्द्रक की रानी धारणी के घर पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम आर्द्रक रखा। उस कुल की यह परम्परा थी कि वहा उत्पन्न होने वाले सभी 'आर्द्रक' ही कहलाते थे।

वह साध्वी जो मरकर देव हुई थी, वहा से च्युत होकर वसन्तपुर नगर के एक सेठ के घर पुत्री के रूप मे उत्पन्न हुई।

वह आर्द्रककुमार यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक बार महाराजा आर्द्रक ने महाराजा श्रेणिक से मित्रस्नेह व्यक्त करने के लिए अपने 'महत्तम' के साथ विशिष्ट उपहार भेजे। कुमार आर्द्रक को इसका पता चला। उसने उस महत्तम को पूछा—'ये सारे बहुमूल्य उपहार कहा भेजे जा रहे है?' उसने कहा—'आपके पिता के परम मित्र हैं आर्यदेश के मगधाधिपति महाराज श्रेणिक। उनको ये सारे उपहार भेजे जा रहे है।' कुमार आर्द्रक ने पूछा—'क्या उनके कोई योग्य राजकुमार है?' महत्तम ने कहा—'है।' कुमार बोला—'ये उपहार तुम मेरी ओर से राजकुमार को भेंट करना और उसे कहना कि राजकुमार आर्द्रक तुम्हारे से अत्यन्त प्रेम करता है।' वह महत्तम दोनो के विपुल और बहुमूल्य उपहार लेकर चला। वह राजगृह पहुंचा। द्वारपाल ने महाराजा को उसके आगमन की सूचना दी। राजाज्ञा से वह सभा मे गया। महाराजा श्रेणिक को देखकर, प्रणाम कर, महाराजा आर्द्रक द्वारा भेजे गए उपहार भेंट किए और सन्देश कह सुनाया। राजा श्रेणिक ने दूत का यथोचित सम्मान किया।

दूसरे दिन वह राजकुमार अभय के पास गया और अपने राजकुमार आर्द्रक द्वारा भेजे गए बहुमूल्य उपहार देते हुए स्नेहिल वचनो से उसे आप्लावित किया। अभयकुमार ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि-शक्ति के आधार पर यह जान लिया कि राजकुमार आर्द्रक भव्य है और निकट भविष्य मे ही मुक्ति जाने वाला है। यह मेरे साथ मित्रता करना चाहता है तो मेरा यह परम कर्त्तव्य है कि मैं उसकी मुक्तिगमन योग्यता को उजागर करने वाला उपहार भेजू। यह सोचकर अभयकुमार ने आदि-तीर्थंकर ऋषभ की प्रतिमा तैयार कराई। उसे एक बहुमूल्य मजूषा मे रखा। महत्तम को मजूषा तथा अन्यान्य बहुमूल्य उपहार देते हुए अभयकुमार ने कहा—'तुम्हारे राजकुमार से कहना कि इस मजूषा को एकान्त मे खोले। लोगो के समक्ष न खोले।'

महत्तम उपहार लेकर अपने आर्द्रक देश पहुचा। महाराजा आर्द्रक को सारे उपहार और महाराजा श्रेणिक का सन्देश दिया। दूसरे दिन राजकुमार आर्द्रक को राजकुमार अभय द्वारा प्रेषित उपहार दिए और मजूषा के विषय मे जो कहा था, वह कह सुनाया। राजकुमार आर्द्रक उस मजूषा को लेकर महलो के ऊपर गया। वहा से सारे व्यक्तियो को विसर्जित कर, एकान्त मे उस मजूषा को खोला। उसमे स्थित ऋषभदेव की प्रतिमा को देखा और सोचने लगा—'अरे, ऐसा रूप तो मैंने पहले कभी देखा है। चिन्तन चलता रहा। उसे जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध हुआ। उसने मन ही मन कहा—अभयकुमार ने मेरे ऊपर महान् उपकार किया है। मुझे धर्म का सही प्रति-

---

१. चूर्णि के अनुसार गाव का नाम 'प्रतिष्ठिक' था। (चूर्णि, पृ० ४१४ · पतिट्ठिकं णाम गामो।)

बोध दिया है। उसका मन वैराग्य से रग गया। उसने सोचा, मैं देव था। मेरे पास यथेप्सित भोग थे। फिर भी उनमे कभी तृप्ति नही हुई। देवता के भोगो के समक्ष मनुष्य के ये कामभोग तुच्छ और अल्पकालिक है। इनसे तृप्ति कैसे हो पाएगी ? अच्छा है कि मैं इनसे मुह मोड लू।'

अब राजकुमार आर्द्रक विरक्त हो गया। कामभोगो के प्रति उसका मन ही नही रहा। उसने सभी उपभोग छोड दिए। वह विरक्त जीवन विताने लगा।

राजा को यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ। परिचारको से इसका कारण पूछा। उन्होने कहा—'राजन्! जिस दिन से आर्य देश के राजकुमार अभय के उपहार प्राप्त हुए है उसी दिन से राजकुमार आर्द्रक विरक्ति का जीवन जी रहे हैं।' राजा ने सोचा, अब राजकुमार का क्या होगा ? कही यह घर से पलायन न कर जाए ? राजा को यह भय सताने लगा। राजा ने तब पाच सौ कुमारामात्य पुत्रो को राजकुमार के सरक्षण का भार सौंपते हुए कहा—'देखो, राजकुमार आर्द्रक का सरक्षण करना है। यदि यह कही पलायन कर गया तो मैं सबको मृत्युदण्ड दूगा।' वे सब राजकुमार की सेवा मे रहने लगे। कुछ दिन बीते, कुमार का मन घर से उद्‌विग्न हो चुका था। वह अभिनिष्क्रमण करना चाहता था। उसने सोचा और एक उपाय ढूढ निकाला। एक दिन वह अश्व पर घूमने का बहाना बनाकर पाच सौ साथियो के साथ घर मे चल पडा। बहुत दूर जाकर उसने अवसर देखा और अपने घोडे को लेकर दूसरी दिशा मे पलायन कर गया। जब पाच सौ अमात्य-पुत्रो को पता चला तो वे उसकी खोज मे निकले पर वह मिला नही।

वहा से पलायन कर वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उद्यत हुआ। एक मित्रदेव ने तब कहा—अभी प्रव्रज्या मत लो। कुछ उपसर्ग शेप है। राजकुमार आर्द्रक ने देवता की अवगणना कर प्रव्रज्या ले ली। एक बार वन विहार करते-करते वसन्तपुर नगर मे आया और साधु-प्रतिमा का पालन करते हुए कायोत्सर्ग मे स्थित हो गया। एक सेठ की पुत्री अपनी सहेलियो के साथ वहा उद्यान मे क्रीडा कर रही थी। बातो ही बातो मे मुनि को देखकर वह बोली—यह मेरा पति है। इतना कहते ही पास मे अदृश्य रूप से स्थित उस देव ने मन ही मन सोचा—लडकी ने अच्छा किया। देवता ने उसी समय साढे तेरह करोड स्वर्ण-मुद्राओ की वृष्टि की। राजा को इस वृष्टि का पता चला। वह उन स्वर्ण-मुद्राओ को हस्तगत करने आया। उस समय देव ने सर्परूप धारण कर उसे उन स्वर्ण-मुद्राओ पर अधिकार करने से रोकते हुए कहा—'राजन्! यह सारी सपत्ति इस सेठ की पुत्री की है। कोई दूसरा इस पर अधिकार करने की चेष्टा न करे। उस लडकी का पिता आया और सारी सपत्ति को सुरक्षित कर घर ले गया।

कायोत्सर्ग पूरा हुआ। आर्द्रककुमार ने सोचा—यह अनुकूल उपसर्ग उपस्थित हुआ है। अब मुझे यहा नही रहना चाहिए। वह वहा से तत्काल अन्यत्र चला गया।

एक बार उस श्रेष्ठी पुत्री के साथ विवाह करने के इच्छुक कुछ युवक आए। श्रेष्ठी पुत्री ने उन्हे देखकर माता-पिता से पूछा—'ये सब यहा क्यो आए हैं ? यहा आने का प्रयोजन क्या है ?'

माता-पिता ने कहा—'ये तेरे साथ विवाह की कामना से आए हैं।' पुत्री बोली—'पिताजी! कन्या का विवाह जीवन मे एक बार होता है, अनेक बार नही। मेरा उसके साथ विवाह हो चुका है जिसका धन आपने सुरक्षित किया है। वही मेरा पति है।' पिता ने पूछा—'क्या तुम उसको पहचानती हो ?' उसने कहा—'उनके पैरो की निशानी से मैं उन्हे पहचान लूगी।'

अब समस्या थी कि वह व्यक्ति कहा मिले ? सेठ ने एक उपाय किया। उसने भिक्षुओ को भिक्षा देना प्रारभ किया। नाना प्रकार के भिक्षु भिक्षा लेने आते। वह श्रेष्ठी-कन्या उनके पैरो को देखती। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए। भिक्षा देने का क्रम चलता रहा। एक दिन भवितव्यता के योग से भिक्षुक बना हुआ राजकुमार आर्द्रक उसी वसन्तपुर नगर मे आ गया। वह भिक्षा लेने उसी सेठ के घर पहुंचा। सेठ की लडकी ने उसे पदचिह्न से पहचान लिया। उसने पिता से कहा—यही मेरा पति है। पिता ने पुत्री को उस भिक्षु के साथ कर दिया। वह भिक्षुक के पीछे हो गई। भिक्षुक ने सोचा—ऐसे तो मेरा तिरस्कार होगा। उसे देवता का वचन स्मृत हो आया। कर्मो का उदय और नियति के चक्र को मान, भिक्षुक वेश को छोड़, वह उस श्रेष्ठी-कन्या के साथ रहने लगा। काल बीता। उसके एक पुत्र हुआ। वह बारह वर्ष का हो गया, तब एक दिन आर्द्रककुमार ने उस श्रेष्ठी-कन्या से कहा—'अब तुम दो हो गए हो। मैं अब पुन. प्रव्रजित होकर अपना कल्याण करना चाहता हू।' वह मौन रही।

एक दिन वह सूत बनाने के लिए कपास को कात रही थी। इतने मे उसका वह पुत्र आया और मा से बोला—'मा! तुम क्या करने लगी हो ? यह तुम्हे शोभा नही देता।' उसने कहा—'पुत्र! तुम ठीक कहते हो, किन्तु तुम्हारे पिता प्रव्रज्या लेना चाहते है। तुम भी छोटे हो। धन कमाना नही जानते। मैं अनाथ हो रही हू। इसलिए यह स्त्रीजनोचित कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है, जिससे कि मैं अपना और तुम्हारा पालन-पोषण कर सकू।' बालक प्रतिभा-सपन्न था। उसने अपनी मा के द्वारा काते गए सूत से पिता को बाधते हुए अव्यक्त वाणी मे बोला—'मेरे द्वारा बाधे जाने पर ये अब कहा जाएगे ?' आर्द्रक ने सोचा—जितने तन्तुओ से बालक ने

मुझे वाधा है, उतने ही वर्ष मुझे और गृहवास मे रहना है, आगे नही । उसने तन्तु गिने । वे वारह थे । वह वारह वर्षो तक घर मे रहा और फिर घर से अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो गया ।

उसने एकाकी विहार करते हुए राजगृह की ओर प्रस्थान किया । रास्ते मे एक भयानक जगल आया । उस जगल मे पाच सौ चोर रहते थे । ये वे ही व्यक्ति थे जिन्हे राजकुमार आर्द्रक के पिता ने आर्द्रक के सरक्षण के लिए नियुक्त किया था । जव आर्द्रक अपने घोडे पर पलायन कर गया था, तव ये पाच सौ राजपुत्र राजाज्ञा की अवहेलना हो जाने के कारण भयाक्रान्त हो घर न जाकर जंगल में चले गए और वहा लूट-खसौट करते हुए जीवन-यापन करने लगे ।

आर्द्रक ने उन्हे पहचान लिया । आर्द्रक वोला—'अरे ! तुम सव चोर कैसे हो गए ? चोरवृत्ति अपनाने का कारण क्या बना ?' उन्होने अपने भय की वात कही । मुनि आर्द्रक ने उन्हे प्रतिवोध दिया । वे सव प्रतिवुद्ध होकर मुनि वन गए ।

मुनि आर्द्रक उन्हे साथ ले महावीर के दर्शनार्थ राजगृह आया । नगर के प्रवेश-द्वार पर गोशालक, ब्राह्मण, हस्तितापस आदि विभिन्न दर्शनो के आचार्य मिले और सबने मुनि आर्द्रक को अपने दर्शन मे दीक्षित करने का प्रयत्न किया । वाद-विवाद हुआ । उन सवको पराजित कर मुनि आर्द्रक आगे वढा । इतने मे ही एक विशालकाय हाथी अपने वन्धनो को तोडकर, मुनि आर्द्रक के चरणो मे आ झुका । राजा ने सारा वृत्तान्त जाना । वह आया । मुनि आर्द्रक को वन्दना कर वोला—'भगवन् ! आपके दर्शनमात्र से यह हाथी अपने वन्धनो से कैसे मुक्त हो गया ? आपका प्रभाव महान् है ।' मुनि आर्द्रक वोले—'राजन् ! मनुष्यो द्वारा निर्मित साकलो द्वारा वन्धे हुए हाथी का वन्धनमुक्त होना, आश्चर्य की वात नही है । यह दुष्कर नही है । दुष्कर तो यह था कि कच्चे सूत की डोरी से वन्धे हुए मेरा वन्धनमुक्त होना । स्नेहततु को तोडना अत्यन्त दुष्कर होता है ।' राजा मुनि की स्तवना करता हुआ भगवान् महावीर के समवसरण मे चला गया ।[1]

मुनि आर्द्रक से सम्वन्धित होने के कारण प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' रखा गया है । इसमे आजीवक मत के आचार्य गोशालक, वौद्ध भिक्षु, वेदान्त दर्शन को मानने वाले ब्राह्मण, साख्य दर्शन के परिव्राजक और हस्तितापस—इन सभी के साथ जो वाद-प्रतिवाद हुआ उसका सकलन है । पाचो मतावलम्वियो ने मुनि आर्द्रक को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु किसी का दर्शन मुनि आर्द्रक को प्रभावित नही कर सका ।

प्रस्तुत अध्ययन मे ५५ श्लोक है । उनका दर्शनगत विभाग इस प्रकार है—

१-२५—गोशालक द्वारा महावीर पर लगाए गए आक्षेप और आर्द्रक का उत्तर ।
२६-४२—वौद्ध भिक्षुओ द्वारा अपने मत की स्थापना और आर्द्रक द्वारा उसका प्रतिवाद ।
४३-४५—ब्राह्मण धर्म की प्रतिपत्ति के विषय मे आर्द्रक का उत्तर ।
४६-५१—एकदडी परिव्राजको (साख्य) की स्थापना और आर्द्रक का प्रत्युत्तर ।
५२-५५—हस्तितापसो के सिद्धान्त का खडन ।

इन पाचो दार्शनिको के प्रश्नो का सकलन इस प्रकार है—

१. गोशालक

- महावीर अस्थिर विचार वाले हैं । वे कभी कुछ करते हैं, कहते हैं और कभी कुछ कहते हैं, करते हैं ।
- पहले वे एकान्तचारी थे, अव देवकृत समवसरण मे रहते है ।
- पहले वे मौन रहते थे, अव उपदेश देने की धुन मे है ।
- पहले वे शिष्य नही बनाते थे, अव शिष्यो की भरमार है ।
- पहले वे तपस्वी थे, अव वे नित्यभोजी हैं ।
- पहले वे रूखा-सूखा भोजन करते थे, अव सरस भोजन करते है । उनका जीवन विरोधाभासो से भरा पडा है ।
- हमारे मत मे एकान्तचारी तपस्वी शीतोदक, वीजकाय, आधाकर्म और स्त्रियो का सेवन करता हुआ भी पाप से लिप्त नही होता ।
- महावीर भीरू हैं, वे सार्वजनिक स्थलो मे वाद के डर से न [illegible] रो मे ठहरते हैं ।
- महावीर वणिक् की भाति है, जो गाव-गाव घूम कर लो [illegible] ।

१. जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा) भाग ११, पृष्ठ २ मे ऐसा [illegible] वादशाह कुरूप (ई० पू० ५५४-५३ [illegible] राजकुमार आर्द्रक पाच सौ व्यक्तियो के साथ महावीर को [illegible] मुनि वन गया ।

२. बौद्ध भिक्षु

- चित्तमूल ही धर्म है और चित्तमूल ही अधम है।
- खली की पिंडी को पुरुष समझकर पकाने वाला भी पाप से लिप्त नही होता।
- आदमी को खली की पिंडी मानकर पकाने वाला भी पाप से लिप्त नही होता।
- पाप का लेप होना या न होना कुशल या अकुशल मन पर आधारित है।
- पुरुष या बच्चे को शूल मे पिरो, 'यह खल की पिंडी है'—ऐसा सोच आग मे पकाए, वह मासाहार बुद्धो के लिए विहित है।
- जो दो हजार स्नातक भिक्षुओ को (ऐसा) आहार देता है वह महान् पुण्य स्कध को अर्जित करता है।

३. ब्राह्मण

- जो ब्राह्मणो को भोजन कराता है, वह महान् पुण्य का अर्जन करता है। वह महान् देव होता है।

४. एकदण्डी परिव्राजक

- श्रमण धर्म और साख्य दर्शन अनेक बातो मे समान हैं।
- हम भी पाच यमो को स्वीकार करते हैं।
- हम भी यावज्जीवन के लिए व्रत ग्रहण करते हैं।
- हमारा आचार समान है।
- हम भी युगमात्र भूमि को देखकर चलते है।
- शील भी हमारा समान है।
- हम भी केसरिका (रजोहरण) रखते हैं। आदि-आदि।

५. हस्तितापस

- एक विशालकाय हाथी को बाण से मारकर लबे समय तक ये जीवन निर्वाह करते हैं। इससे कदमूल फल के भोजन से मरने वाले असख्य जीव बच जाते हैं। हम एक जीव की हिंसा कर असख्य जीवो को प्राणदान देते हैं। यह हमारी करुणा है।

इन सब दार्शनिको को निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुसार आर्द्रक ने समाधान दिया। प्रश्नो और उत्तरों का सुन्दर संकलन प्रस्तुत अध्ययन मे है।

छट्ठं अज्झयणं : छठा अध्ययन

अद्दइज्जं : आर्द्रकीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, एगंतचारी समणे पुरासी । से भिक्खवो उवणेत्ता अणेगे आइक्खतिण्हं पुढो वित्थरेणं ॥	पुराकृत आर्द्र ! इद श्रृणुत, एकान्तचारी श्रमण· पुरा आसीत् । स भिक्षून् उपनीय अनेकान्, आचष्टे इदानी पृथक् विस्तरेण ॥	१. (गोशालक ने कहा—) आर्द्र ! श्रमण महावीर जो पहले करते थे, उसे सुनो । श्रमण महावीर पहले एकान्त मे रहते थे । अब वे अनेक भिक्षुओ को दीक्षित कर, उन्हे पृथग्-पृथग् विस्तार से समझाते रहते है ।
२. साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे । आइक्खमाणो बहुजण्णमत्थं ण संधयाई अवरेण पुव्वं ॥	साऽऽजीविका प्रस्थापिता अस्थिरेण, सभागत गणक भिक्षुमध्ये । आचक्षाण बहुजन्यमर्थं, न सदधाति अपरेण पूर्वम् ॥	२ वे अस्थिर चित्तवाले है । उन्होने यह आजीविका स्थापित की है । वे सभा मे बैठ, जन-समूह के साथ भिक्षुओ के बीच बहुजनहित-कारी अर्थ का आख्यान करते है । (उनका यह आचरण) पहले से मेल नही खाता ।
३. एगंतमेव अदुवा वि इण्हिं दोऽवण्णमण्णं ण समेंति जम्हा । पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च एगंतमेव पडिसंधयाइ ॥	एकान्तमेव अथवाऽपि इदानी, द्वावपि अन्योन्य न समेत यस्मात् । पूर्वं च इदानी च अनागतं च, एकान्तमेव प्रतिसदधाति ॥	३ क्योकि (पहले का) एकान्त अथवा आज का (सघयुक्त जीवन)—दोनो समान नही हो सकते । (आर्द्र ने कहा) श्रमण महावीर पहले भी एकान्त मे थे, आज भी एकान्त मे है और अनागत काल मे भी एकान्त मे रहेगे ।[१]
४. समेच्च लोगं तसथावराणं खेमंकरे समणे माहणे वा । आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगतयं सारयई तहच्चे ॥	समेत्य लोकं त्रसस्थावराणा, क्षेमंकर. श्रमणो ब्राह्मणो वा। आचक्षाणोऽपि सहस्रमध्ये, एकान्तकं सारयति तथार्च· ॥	४ श्रमण-माहन महावीर लोक को जानकर, त्रसस्थावर प्राणियो का क्षेम (अहिंसा) स्वय करते है ।[२] (दूसरे क्षेमकर बनें, इस दृष्टि से) हजारो लोगो के बीच वे अहिंसा का[३] आख्यान करते हुए भी अपनी शुक्ललेश्या के कारण[४] एकान्त ही अनुभव करते है ।
५. धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स । भासाय दोसे य विवज्जगस्स गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥	धर्मं कथयतस्तु नास्ति दोष , क्षान्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य । भाषाया दोषाणा च विवर्जकस्य, गुणाना च भाषाया निसेवकस्य ॥	५ क्षान्त[५], दान्त, जितेन्द्रिय, भाषा के दोषो का वर्जन करने वाले और भाषा के गुणो का सेवन करने वाले श्रमण महावीर धर्म कहते हैं[६], उसमे कोई दोष नही है ।
६. महव्वए पंच अणुव्वए य तहेव पंचासव संवरे य । विरइं इह स्सामणियम्मि पण्णे लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥	महाव्रतानि पच अणुव्रतानि च, तथैव पञ्चाश्रवान् सवराश्च । विरतिं इह श्रामण्ये प्राज्ञ लवावष्वस्की श्रमण इति ब्रवीमि[७] ॥	६ श्रमण परम्परा मे पाच महाव्रत, पाच अणु-व्रत, पाच आस्रव, पाच सवर, और विरति का (प्रतिपादन करते हुए भी) प्राज्ञ श्रमण महावीर कर्म से दूर है ।[८-९]

७. सीओदगं सेवउ बीयकायं
आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे,
तवस्सिणो णाभिसमेइ पावं ॥

शीतोदकं सेवता वीजकाय,
आधायकर्म तथा स्त्रिय. ।
एकान्तचारिण इह अस्मद्धर्मे
तपस्विन' नाभिसमेति पापम् ॥

७. (गोशालक ने कहा) शीतोदक, वीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रियो का भी सेवन करे, फिर भी हमारे धर्म मे एकान्तचारी तपस्वी पाप से लिप्त नही होता ।[10]

८. सीओदगं वा तह बीयकायं
आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एयाइं जाणे पडिसेवमाणा
अगारिणो अस्समणा भवंति ॥

शीतोदक वा तथा वीजकायं,
आधायकर्म तथा स्त्रियः ।
एतानि जानीया प्रतिसेवमाना.
अगारिण. अश्रमणा' भवन्ति ॥

८. (आर्द्र ने कहा) शीतोदक, वीजकाय, आधाकर्म तथा स्त्रिया—इनका प्रतिसेवन करने वाले गृहस्थ होते हैं, अश्रमण होते हैं—ऐसा जाने ।

९. सिया य बीयोदगइत्थियाओ
पडिसेवमाणा समणा भवंतु ।
अगारिणो वि समणा भवंतु
सेवंति उ ते वि तहप्पगारं ॥

स्याच्च वीजोदकस्त्रिय ,
प्रतिसेवमाना श्रमणा भवन्तु ।
अगारिणोऽपि श्रमणा भवन्तु,
सेवन्ते तु तेऽपि तथाप्रकारम् ॥

९ यदि बीज, शीतोदक, (आधाकर्म और) स्त्रियो का सेवन करने वाले भी श्रमण होते है तो गृहस्थ भी श्रमण हो जायेगे क्योकि वे भी उनका सेवन करते हैं ।

१०. जे यावि बीओदगभोइ भिक्खू
भिक्खं विहं जायइ जीवियट्ठी ।
ते णाइसंजोगमविप्पहाय
काओवगा णंतकरा भवंति ॥

ये चापि बीजोदकभोजिन भिक्षव.
भिक्षा 'विह' याचन्ते जीवितार्थिन ।
ते ज्ञातिसयोग अपि प्रहाय,
कायोपगा नान्तकरा भवन्ति ॥

१०. जो भिक्षु जीवन के अर्थी होकर निरालव[11] भिक्षा की याचना करते हैं, फिर भी बीज और शीतोदक का सेवन करते हैं। वे ज्ञाति-सयोग को छोडकर भी देहासक्त होते हैं। वे (कर्म या दु ख का) अन्त करनेवाले नही होते ।[12]

११. इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं
पावाइणो गरहसि सव्व एव ।
पावाइणो पुढो किट्टयंता
सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउं ॥

इमा वाचं तु त्व प्रादुष्कुर्वन्
प्रावादिन. गर्हसे सर्वानेव ।
प्रावादिन पृथक् कीर्त्तयन्त
स्वका स्वका दृष्टि कुर्वन्ति प्रादु. ॥

११ (गोशालक ने कहा) तुम यह वचन कह कर सभी प्रावादुको की गर्हा कर रहे हो। वे प्रावादुक अपने-अपने दर्शन का निरूपण करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि को प्रकट करते हैं ।[13]

१२. ते अण्णमण्णस्स उ गरहमाणा
अक्खंति ऊ समणा माहणा य ।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी
गरहामो दिट्ठि ण गरहामो किंचि ॥

ते अन्योऽन्यस्य तु गर्हमाणा
आख्यान्ति तु श्रमणा ब्राह्मणाश्च ।
स्वतश्च अस्ति अस्वतश्च नास्ति
गर्हामहे दृष्टि न गर्हामहे किञ्चित् ॥

१२ (आर्द्र ने कहा) वे श्रमण और ब्राह्मण परस्पर दूसरे प्रावादुको की गर्हा करते हुए अपने प्रवाद का आख्यान करते हैं। वे अपने प्रवाद से निर्वाण होना वतलाते है और दूसरो के प्रवाद से निर्वाण का निषेध करते है।[14] हम दृष्टि की गर्हा कर रहे हैं, किसी प्रावादुक की गर्हा नही कर रहे हैं ।

१३. ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो
सदिट्ठिमग्गं तु करेमो पाउं ।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं
अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥

न किञ्चिद् रूपेणाभिधारयाम.
स्वदृष्टिमार्ग तु कुर्म. प्रादु ।
मार्गोऽयं कीर्त्तित आर्यैं,
अनुत्तार सत्पुरुषै ऋजु. ॥

१३ हम रूप (वेपभूपा) के आधार पर किसी की अवहेलना नही करते ।[15] हम अपने दृष्टि-मार्ग को प्रकट करते है। यह ऋजु[16] और अनुत्तर मार्ग आर्य सत्पुरुपो के द्वारा निरूपित है ।

१४. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे
णो गरहइ वुसिमं किंचि लोए ॥

ऊर्ध्व अध तिर्यग् दिशासु
त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणा ।
भूताभिशंकया जुगुप्समान ,
नो गर्हते वृपिमान् किञ्चिद् लोके ॥

१४ ऊची, नीची और तिरछी दिशाओ मे जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके वध की आशका से जुगुप्सा करता हुआ सयमी पुरुप लोक मे[17] किसी की गर्हा नही करता ।

१५. आगंतगारे आरामगारे समणे उ भीते ण उवेइ वासं । दक्खा हु संती बहवे मणुस्सा ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥	आगन्त्रगारे आरामगारे, श्रमणस्तु भीतो न उपैति वासम् । दक्षा खलु सन्ति वहवो मनुष्या. ऊनातिरिक्ताश्च लपालपाश्च ॥	१५. (गोशालक ने कहा) श्रमण महावीर[१८] भीरु है, अत वे धर्मशालाओ[१९] और आरामगृहो मे निवास नही करते । (क्योकि) बहुत सारे साधारण या अतिरिक्त, वाचाल एव दक्ष मनुष्य वहा होते है ।
१६. मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता सुत्तेहि अत्थेहि य णिच्छयण्णू । पुच्छिसु मा णे अणगार अण्णे इति संकमाणो ण उवेइ तत्थ ॥	मेधाविन शिक्षिता बुद्धिमन्त, सूत्रेषु अर्थेषु च निश्चयज्ञा । प्राक्षु मा अस्मान् अनगारा अन्ये, इकि शकमानो न उपैति तत्र ॥	१६ (वहा वहुत सारे) मेघावी, शिक्षित, बुद्धिमान्, सूत्र और अर्थ के निश्चय को जानने वाले होते है । वे दूसरे लोग कुछ पूछ न ले, इस भय से श्रमण महावीर वहा नही जाते ।[२०]
१७. णाकामकिच्चा ण य बालकिच्चा रायाभियोगेण कुओ भएणं ? वियागरेज्जा पसिणं ण वा वि सकामकिच्चेणिह आरियाणं ॥	नाकामकृत्याद् न च वलकृत्याद्, राजाभियोगेन कुतो भयेन ? व्यागृणीयात् प्रश्न न वाऽपि, सकामकृत्येन इह आर्याणाम् ॥	१७ [आर्द्र ने कहा) श्रमण महावीर अकामकृत्य[२१]-व्यर्थ प्रयत्न नही करते । वे बलप्रयोग से[२२], राजा के अभियोग से[२३] प्रश्न का उत्तर नही देते[२४], फिर भय से प्रश्न का उत्तर देने की वात ही क्या ? कृत्य की सार्थकता हो[२५] तभी वे आर्यो के प्रश्न का उत्तर देते है अन्यथा नही देते । ।
१८. गंता व तत्था अदुवा अगंता वियागरेज्जा समियासुपण्णे । अणारिया दंसणओ परित्ता इति संकमाणो ण उवेइ तत्थ ॥	गत्वा वा तत्र अथवा अगत्वा, व्यागृणीयात् सम्यगाशुप्रज्ञः । अनार्या दर्शनत परीता, इति शकमानो न उपैति तत्र ॥	१८ (कृत्य की सार्थकता हो तो) वहा जाकर अथवा जहा ठहरे हो वहा भी आशुप्रज्ञ महावीर समदृष्टि से धर्म का व्याकरण करते है । अनार्य मनुष्यो का दर्शन विपरीत होता हे ।[२६] यह जानते हुए[२७] श्रमण महावीर वहा (धर्मशाला या आरामगृह मे) नही जाते ।[२८]
१९. पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी आयस्स हेउं पगरेइ संगं । तओवमे समणे णायपुत्ते इच्चेव मे होइ मई वियक्का ॥	पण्य यथा वणिक् उदयार्थी, आयस्य हेतु प्रकरोति संगम् । तदुपम' श्रमणः ज्ञातपुत्र, इत्येव मे भवति मति वितक ॥	१९ (गोशालक ने कहा—) जैसे लाभ चाहने वाला वणिक् वेचने की सामग्री लेकर आय के लिए लोगो का सग करता है—लोगो के पास जाता है । श्रमण ज्ञातपुत्र भी उस वणिक् के समान है—लाभ के अर्थी होकर लोगो का सग कर रहे हैं । ऐसी मेरी मति हे, ऐसा मेरा वितर्क है ।
२०. णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं चिच्चा ऽमइं ताइ य साह एवं । एतावता बंभवति त्ति वुत्ते तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥	नवं न कुर्याद् विधुनीयात् पुराण, त्यक्त्वा अमतिं तायी च स आह एवम् । एतावता ब्रह्मव्रती इति उक्त, तस्योदयार्थी श्रमण इति ब्रवीमि ॥	२० (आर्द्र ने कहा)—कोई नया कर्म न करे, पुराणा कर्म क्षीण करे[२९]—इस दृष्टि से त्रायी[३०] श्रमण महावीर (सयम और तप का) उपदेश करते हैं । वे अमति को छोडकर उपदेश करते है—अन्न-पान या पूजा-प्रतिष्ठा के लिए उपदेश नही करते । इसे (तप और सयम को) सुह्मव्रत[३१] कहा गया है । श्रमण महावीर उसके लाभार्थी है—ऐसा मैं कहता हू।
२१. समारभंते वणिया भूयगामं परिग्गहं चेव ममायमाणा । ते णाइसंजोगमविप्पहाय आयस्स हेउं पगरेंति संगं ॥	समारभन्ते वणिजो भूतग्राम, परिग्रह चैव ममायन्त' । ते ज्ञातिसयोग अविप्रहाय, आयस्य हेतु प्रकुर्वन्ति सगम् ॥	२१ वणिक् प्राणी-समूह की हिंसा करते हैं, परिग्रह पर ममत्व करते है । वे परिवार के साथ सबध रखते है और आर्थिक लाभ के लिए लोगो का सग करते है ।

२२. वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा
ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेहिं अज्झोववण्णा
अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥

वित्तैषिणो मैथुनसंप्रगाढाः,
ते भोजनार्थं वणिजो व्रजन्ति ।
वयं तु कामेषु अध्युपपन्नाः,
अनार्याः प्रेमरसेषु गृद्धाः ॥

२२. वे वणिक् मैथुन मे आसक्त हो (उसकी सपूर्ति के लिए) और भोजन (आजीविका) के लिए धन की एषणा करते हुए सर्वत्र जाते हैं।[१३] हम तो[१४] (मैथुन आदि से) विरक्त हैं। वे अनार्य वणिक् काम मे आसक्त और प्रेमरस मे गृद्ध है।[१५]

२३. आरंभगं चेव परिग्गहं च
अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी
चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥

आरम्भकं चैव परिग्रहं च,
अव्युत्सृज्य नि श्रिता. आत्मदण्डा. ।
तेषा च स उदयो यद् अवादीत्,
चतुरन्तानन्ताय दु खाय नेह ॥

२३ वे वणिक् आरभ[१६] और परिग्रह को न छोड-कर, उनमे लिप्त हो अपने आपको दडित करते है।[१७] उनके जो लाभ तुमने वताया वह चातुरन्त और अनन्त दु ख (या ससार) के लिए होता है, किन्तु दु ख से छुटकारा दिलाने वाला नही होता।

२५. णेगंति णच्चंति तओदए से
वयति ते दो वि गुणोदयम्मि ।
से उदए साइमणंतपत्ते
तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥

नैकान्तिक नात्यन्तिक तदुदय स,
व्रजत तौ द्वावपि अगुणोदये ।
तस्य उदय सादि-अनन्तप्राप्त ,
तमुदय साधयति तायी ज्ञाती ॥

२४ वणिक् के होने वाला लाभ[१८] ऐकान्तिक नही होता (कभी होता है, कभी नही भी होता), आत्यन्तिक नही होता (स्थायी नही होता)।[१९] ये दोनो (अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक) अगुणोदय की कोटि मे[२०] चले जाते है।[२१] श्रमण महावीर को होनेवाला लाभ सादि होने पर भी अनन्त है।[२२] त्रायी और ज्ञानी[२३] महावीर वैसे लाभ का ही प्रतिपादन करते हैं।[२४]

२५. अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी
धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता
अवोहिए ते पडिरूवमेयं ॥

अहिंसन् सर्वप्रजानुकंपी,
धर्मे स्थित कर्मविवेकहेतुम् ।
तमात्मदण्डै समाचरन्त ,
अवोधेस्ते प्रतीरूपमेतत् ॥

२५ अहिंसक,[२५] सव जीवों के अनुकपी, कर्म क्षीण करने के लिए धर्म मे स्थित श्रमण महावीर की आत्मा को दडित करने वाले उन वणिको के साथ तुलना करते हो, यह तुम्हारी अवोधि का ही प्रतिविम्व है।[२६-२७]

२६. पिण्णागपिंडीमवि विद्ध सूले
केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति ।
अलाउयं वा वि कुमारग त्ति
स लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥

पिण्याकपिण्डीमपि विद्धा शूले,
कश्चित् पचेत् पुरुषोऽयमिति ।
अलावुक वाऽपि कुमारक इति,
स लिप्यते प्राणिवधेन अस्माकम् ॥

२६ (बौद्ध भिक्षु ने कहा) कोई मनुष्य खली की पिण्डी को[२८] शूल मे पिरो 'यह पुरुष है'—ऐसा सोच उसे पकाता है तथा लोकी को भी 'यह कुमार है'—ऐसा सोच उसे पकाता है, वह हमारे मतानुसार प्राणीवध से लिप्त होता है।[२९]

२७. अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले
पिण्णागवुद्धीए णरं पएज्जा ।
कुमारग वा वि अलाउए त्ति
ण लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥

अथवाऽपि विद्ध्वा म्लेच्छ शूले,
पिण्याकवुद्ध्या नरं पचेत् ।
कुमारक वाऽपि अलावुक इति,
न लिप्यते प्राणिवधेन अस्माकम् ॥

२७ अथवा कोई म्लेच्छ मनुष्य को 'यह खली है'—ऐसा सोच उसे शूल मे पिरोकर पकाता है तथा कुमार को भी 'यह लोकी है'—ऐसा सोच उसे पकाता है, वह हमरे मतानुसार प्राणी-वध से लिप्त नही होता।

२८. पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा
सूलंमि केइ पए जायतेए ।
पिण्णागर्पिडि सइमारुहेत्ता
बुद्धाण तं कप्पइ पारणाए ॥

पुरुषं च विद्ध्वा कुमारकं वा,
शूले कश्चित् पचेत् जाततेजसि ।
पिण्याकपिण्डी स्मृति आरुह्य,
बुद्धाना तत् कल्पते पारणाय ॥

२८ पुरुष या बच्चे को कोई शूल मे पिरो 'यह खली की पिंडी है—ऐसा सोच आग मे पकाए, वह आहार बुद्धो के लिए योग्य है।[५०]

२९. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
ते पुण्णखंधं सुमहऽज्जणित्ता
भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥

स्नातकाना तु द्वे सहस्रे,
ये भोजयेयुर्नित्य भिक्षुकाणाम् ।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहदर्जयित्वा,
भवन्ति आरोप्या महासत्त्वा ॥

२९. जो दो हजार स्नातक[५१] भिक्षुओ को नित्य भोजन कराते हैं, वे महान् पुण्य-स्कन्ध[५२] को अर्जित कर महासत्त्व वाले 'आरोप्य देवता[५३] होते है।'

३०. अजोगरूवं इह संजयाणं
पावं तु पाणाण पसज्झ काउं ।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु
वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥

अयोग्यरूपं इह सयतानां,
पाप तु प्राणाना प्रसह्य कृत्वा ।
अबोध्यै द्वयोरपि तद् असाधु,
वदन्ति ये चापि प्रतिश्रृण्वन्ति ॥

३० (आर्द्र ने कहा)—[५४]'प्राणियो को बल-प्रयोग से (मार कर) पाप करना सयमी पुरुषो के लिए योग्य नही है।[५५] जो प्राणवध के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और जो उसे स्वीकार करते हैं—उन दोनो के लिए यह असाधु है और इससे उन्हे अबोधि होती है।[५६]

३१. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु
विण्णाय लिंगं तसथावराणं ।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे
वदे करेज्जा वा कुओ विहऽत्थि ॥

ऊर्ध्व अधश्च तिर्यग् दिशासु,
विज्ञाय लिंग त्रसस्थावराणाम् ।
भूताभिशकया जुगुप्समान
वदेत् कुर्याद् वा कुतोऽपि इह अस्ति ॥

३१. ऊची, नीची और तिरछी दिशाओ मे त्रस और स्थावर प्राणियो के लिंग (लक्षण) को[५७] जानकर उनके वध की आशका से जुगुप्सा करता हुआ बोले या करे। (उसे कोई दोष नही होता, किन्तु अज्ञान वश प्राणिवध करने वाले को कोई दोष नही होता) यह हमारे प्रवचन मे कहां से प्राप्त होगा ?

३२. पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि
अणारिए से पुरिसे तहा हु ।
को संभवो पिण्णगपिंडियाए
वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥

पुरुष इति विज्ञप्ति. न एवमस्ति,
अनार्य स पुरुषस्तथा खलु ।
क सभव पिण्याकपिण्ड्यां,
वागपि एपा उक्ता असत्या ॥

३२ (खली मे) पुरुष का ज्ञान होता है—ऐसा नही होता। जो (खली को पुरुष जानता है) वह अनार्य पुरुष है। यह कैसे सभव है कि खली की पिण्डी मे (पुरुष की बुद्धि उत्पन्न हो ?) अत पहले जो वचन कहा गया, वह असत्य है।[५८]

३३. वायाभिओगेण जमावहेज्जा
णो तारिसं वायमुदाहरेज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं
णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥

वागभियोगेन तद् आवहेत्,
नो तादृशी वाचमुदाहरेत् ।
अस्थानमेतद् वचन गुणानां,
नो दीक्षित ब्रूयात् सूदारमेतत् ॥

३३ जिस वचन के बोलने से हिंसा हो वैसा वचन नही बोलना चाहिए। (अज्ञानवश प्राणिवध करने वाले को कोई दोष नही होता) यह वचन गुणो के लिए अनुचित है। ऐसा स्थूल वचन[५९] दीक्षित पुरुष को नही बोलना चाहिए।

३४. लद्धे अहट्ठे अहो एव तुब्भे
जीवाणुभागे सुविचिंतिते य ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे
ओलोइए पाणितलट्ठिए वा ॥

लब्ध अथार्थ अहो एव युष्माभि',
जीवानुभाग सुविचिन्तितश्च ।
पूर्व समुद्र अपर च स्पृष्ट,
अवलोकित पाणितलस्थित इव ॥

३४ आश्चर्य है कि तुमने ही अर्थ को उपलब्ध किया है। तुमने ही जीवो के कर्म-विपाक का अच्छा चिन्तन किया है। ऐसा लगता है कि तुमने पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र को छूने वाले (लोक को) वैसे देख लिया है जैसे वह तुम्हारे हस्ततल मे स्थित हो।[६०]

३५. जीवाणुभागं सुविचिंतयंता
आहारिया अण्णविहीए सोहिं ।
ण वियागरे छण्णपओपजीवी
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥

जीवानुभाग सुविचिन्तयन्त,
अवधार्य अन्यविधिना शोधिम् ।
न व्यागृणीयाद् छन्नपदोपजीवी,
एप अनुधर्म. इह संयतानाम् ॥

३५ जीवो के कर्म-विपाक का भलीभाति चिन्तन करने वाले सयमी मुनि विशुद्धि की अन्य विधि का अवधारण करते है। 'अज्ञान अवस्था मे कर्म का वन्ध नही होता'—इस प्रकार के अस्पष्ट पदो के उपजीवी होकर[१२] वे न वोलें। यह संयमी मुनियो का अनुधर्म है।[१३]

३६. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ
णियच्छई गरहमिहेव लोए ॥

स्नातकाना तु द्वे सहस्रे,
यो भोजयेद् नित्य भिक्षुकाणाम् ।
असयतो लोहितपाणि स तु,
नियच्छति गर्हा इहैव लोके ॥

३६ जो दो हजार स्नातक भिक्षुओ को नित्य भोजन कराता है, वह रक्त से सने हाथ वाला असयती इस लोक मे भी गर्हा को प्राप्त होता है।

३७. थूलं उरब्भं इह मारियाणं
उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता
सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥

स्थूलं उरभ्रं इह मारयित्वा,
उद्दिष्टभक्तं च प्रकल्प्य ।
त लवणतैलेन उपस्कृत्य,
सपिप्पलीक प्रकुर्वन्ति मासम् ॥

३७. मोटे भेडे को मारकर भिक्षुओ के लिए उद्दिष्ट भक्त वना, उसे नमक, तेल से पका, मिरच डाल मास तैयार करते हैं।

३८. तं भुंजमाणा पिसियं पभूयं
णो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा
अणारिया वाल रसेसु गिद्धा ॥

त भुञ्जाना पिशितं प्रभूतं,
नो उपलिप्यामहे वय रजसा ।
इत्येवं आहु. अनार्यधर्माणः,
अनार्या. वाला रसेपु गृद्धा ॥

३८ अनार्यधर्मी, रस-लोलुप, वाल, अनार्य उस प्रचुर मांस को खाते हुए 'हम रज से लिप्त नही होते'—ऐसा कहते हैं।

३९. जे यावि भुंजंति तहप्पगारं
सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं ण एयं कुसला करेंति
वाया वि एसा वुइया उ मिच्छा

ये चापि भुञ्जते तथाप्रकार,
सेवन्ते ते पापमजानाना. ।
मनो न एतत् कुशला. कुर्वन्ति,
वागपि एपा उक्ता तु मिथ्या ।

३९. जो वैसा भोजन करते हैं, वे अज्ञानवश पाप का सेवन करते हैं। कुशल पुरुप ऐसा मन भी नही करते। ऐसा वचन वोलना भी मिथ्या है।

४०. सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए
सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो णायपुत्ता
उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥

सर्वेषां जीवाना दयार्थाय,
सावद्यदोप परिवर्जयन्त. ।
तच्छंकिन ऋषय ज्ञातपुत्रा,
उद्दिष्टभक्तं परिवर्जयन्ति ॥

४० ज्ञातपुत्रीय ऋषि सव जीवो की दया के लिए, सावद्य दोप का वर्जन करते हुए, दोप की शका से उद्दिष्टभक्त का परिवर्जन करते हैं।

४१. भूयाभिसकाए दुगुंछमाणा
सव्वेसि पाणाण णिहाय दंडं ।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥

भूताभिशकया जुगुप्समाना,
सर्वेपा प्राणाना निहाय[1] दण्डम् ।
तस्माद् न भुञ्जते तथाप्रकार,
एप अनुधर्म इह सयतानाम् ॥

४१. प्राणी-वध की आशंका से[१४] जुगुप्सा करते हुए, सव प्राणियो के प्रति किए जाने वाले दंड (उपताप) का त्याग करते हैं,[१५] इसलिए वे वैसा भोजन नही करते—यह सयत पुरुपो का अनुधर्म है।

४२. णिग्गंथधम्मम्मि इमा समाही
अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा ।
वुद्धे मुणी सीलगुणोववेए
इहच्चणं पाउणई सिलोगं ॥

निर्ग्रन्थधर्मे अय समाधि,
अस्मिन् सुस्थित्य अनिहश्चरेत् ।
वुद्धो मुनि शीलगुणोपेत.,
इहार्चन प्राप्नोति श्लोकम् ॥

४२ निर्ग्रन्थ धर्म मे[१६] यह समाधि[१७] है। इसमे स्थित होकर निस्नेहभाव से विचरण करे। जो मुनि वुद्ध और शीलगुण से युक्त होता है वह इस जगत् मे भी अर्चा और श्लाघा को प्राप्त होता है।[१८]

१. निधाय (?) ।

४३. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से
जे भोयए णितिए माहणाणं
ते पुण्णखंधं सुमहज्जणित्ता
भवंति देवा इइ वेयवाओ ॥

स्नातकानां तु द्वे सहस्रे,
ये भोजयेयु. नित्य ब्राह्मणानाम् ।
ते पुण्यस्कन्धं सुमहदर्जयित्वा,
भवन्ति देवा इति वेदवाद ॥

४३. (वेदवादी ने कहा) जो दो हजार स्नातक ब्राह्मणो को नित्य भोजन कराते हैं वे महान पुण्य-स्कध को अर्जित कर देव होते हैं—यह वेद का वचन है ।[69]

४४. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से
जे भोयए णितिए कुलालयाणं ।
से गच्छई लोलुवसंपगाढे
तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥

स्नातकानां तु द्वे सहस्रे,
यो भोजयेन्नित्य कुलालकानाम् ।
स गच्छति लोलुपसप्रगाढे,
तिव्राभितापी नरकाभिसेवी ॥

४४ (आर्द्र ने कहा) जो दो हजार स्नातक ब्राह्मणो को[70] नित्य भोजन कराता है, वह दु खपूर्ण (नरक मे) जाता है और वह तीव्र ताप को सहने वाला नरकसेवी होता है ।

४५. दयावरं धम्म दुगुंछमाणे
वहावहं धम्म पसंसमाणे ।
एगं पि जे भोययई असीलं
णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले ॥

दयावर धर्मं जुगुप्समान',
वधावधं धर्मं प्रशंसन् ।
एकमपि यो भोजयति अशील,
न्यक् दिशा गच्छति अन्तकाले ॥

४५ दया-प्रधान धर्म की जुगुप्सा और हिंसात्मक धर्म की प्रशसा करता हुआ जो एक दु शील को भी भोजन कराता है, वह जीवन के अन्त-काल मे नीचे अन्धकार रात्री को[71] प्राप्त होता है ।

४६. दुहओ वि धम्मम्मि समुट्ठियामो
अस्सि सुठिच्चा तह एस कालं ।
आयारसीले बुइएह णाणे
ण संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥

द्वावपि धर्मे समुत्थितौ स्व ,
अस्मिम् सुस्थित्य तथा एष्यत् कालम् ।
आचारशील उक्तमिह ज्ञान,
न सम्पराये विशेषोऽस्ति ॥

४६ (साख्य परिव्राजको ने कहा—आर्द्रकुमार ! तुम्हारा और हमारा धर्म समान है ।) हम दोनो धर्म मे समुत्थित हैं । इस धर्म मे हम स्थित हैं और भविष्य मे (यावज्जीवन) रहेगे । आचार, शील और ज्ञान भी हमारा समान हैं ।[72] तथा परलोक के विषय मे भी हमारा कोई मतभेद नही हैं ।

४७. अव्वत्तरूवं पुरिस महंतं
सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूएसु वि सव्वओ से
चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ॥

अव्यक्तरूप पुरुषं महान्तं,
सनातन अक्षयमव्यय च ।
सर्वेषु भूतेषु अपि सर्वत. स,
चन्द्र इव तारासु समस्तरूपः ॥

४७. "[73]अव्यक्तरूप, महान्[74] सनातन, अक्षय और अव्यय पुरुष[75] जो है, वह सब प्राणियो के साथ[76] सबध रखता है, जैसे ताराओ के साथ चन्द्रमा ।[77]

४८. एवं ण मिज्जंति ण संसरंति
ण माहणा खत्तिय-वेस-पेसा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य
णरा य सव्वे तह देवलोगा ॥

एवं न म्रियन्ते न संसरन्ति,
न ब्राह्मणा क्षत्रियवैश्यप्रेष्या ।
कीटाश्च पक्षिणश्च सरीसृपाश्च,
नराश्च सर्वे तथा देवलोका ॥

४८ (आर्द्रकुमार ने कहा)—इस प्रकार (पुरुष को सर्वव्यापी मानने पर) जीव न मरेंगे[78], न ससार-भ्रमण करेंगे[79], न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य होगे, न कीट, पक्षी और सर्प होगे, न मनुष्य होगे और न देवलोक ।[80]

४९. लोगं अयाणित्तिह केवलेणं
कर्हिति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासेंति अप्पाण परं च णट्ठा
संसार घोरम्मि अणोरपारे ॥

लोक अज्ञात्वा इह केवलेन,
कथयन्ति ये धर्म अजानानाः ।
नाशयन्ति आत्मानं परं च नष्टा ,
ससारे घोरे अनारपारे ॥

४९ केवलज्ञान से लोक को जाने विना अज्ञानी मनुष्य धर्म का कथन करते हैं, वे नष्ट पुरुष इस आर-पार-रहित घोर ससार मे स्वय नष्ट होते हैं तथा दूसरो को भी नष्ट करते हैं ।

५०. लोगं विजाणंतिह केवलेणं
पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कर्हिति जे उ
तारेंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥

लोक विजानन्ति इह केवलेन,
पुण्येन ज्ञानेन समाधियुक्ता ।
धर्म समस्त कथयन्ति ये तु,
तारयन्ति आत्मानं परं च तीर्णाः ॥

५० जो पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा समाधियुक्त हो लोक को जानते है, जो समस्त धर्म का कथन करते हैं वे तीर्ण पुरुष स्वय ससार से तरते है और दूसरो को तारते हैं ।

५१. जे गरहियं ठाणमिहावसंति
जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए
अहाउसो ! विप्परियासमेव ॥

ये गर्हित स्थानमिहावसन्ति,
ये चाऽपि लोके चरणोपेता. ।
उदाहृत तत् तु समं मत्या,
अथायुष्मन् ! विपर्यासमेव ॥

५१. कुछ लोग गर्हित स्थान में रहते हैं—गर्हित आचरण करते हैं और कुछ लोग चरित्र-सम्पन्न होते हैं। (आत्मा सर्वगत होने पर) ये दोनों बुद्धि से समान कहे जाएंगे। आयुष्मान् ! वास्तविकता इसके विपरीत है।

५२ संवच्छरेणावि य एगमेगं
बाणेण मारेउ महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए
वासं वयं वित्तिं पकप्पयामो ॥

संवत्सरेणाऽपि च एकमेकं,
बाणेन मारयित्वा महागजं तु ।
शेषाणां जीवाना दयार्थाय,
वर्ष वयं वृत्तिं प्रकल्पयाम ॥

५२. (हस्तितापस ने कहा) हम वर्ष में एक-एक बड़े हाथी को बाण से मारकर, शेष जीवों पर दया करने के लिए हम वर्षभर उसी से जीवन यापन करते हैं।

५३. संवच्छरेणावि य एगमेगं
पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा
सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥

संवत्सरेणाऽपि च एकमेकं,
प्राण घ्नन्त. अनिवृत्तदोषा. ।
शेषाणा जीवाना वधे लग्ना.,
स्याच्च स्तोकं गृहिणोऽपि तस्मात्॥

५३ (आर्द्रकुमार ने कहा) वर्ष में एक-एक प्राणी को मारते हुए तुम दोष मुक्त नहीं हो सकते। (यदि तुम इसे थोड़ा दोष मानते हो तो) शेष जीवों के वध में संलग्न गृहस्थ भी थोड़ा ही दोष करते हैं (सब जीवों को वे नहीं मारते)।

५४. संवच्छरेणावि य एगमेगं
पाणं हणंते समणव्वते ऊ ।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे
ण तारिसं केवलिणो भणंति ॥

संवत्सरेणाऽपि च एकमेक,
प्राणं घ्नन् श्रमणव्रतस्तु ।
आत्माहित. स पुरुष. अनार्य.,
न तादृशं केवलिनो भणन्ति ॥

५४. श्रमणव्रती कहलाने वाला भी वर्ष में एक-एक प्राणी को मारता है तो वह पुरुष अनार्य और आत्मा का अहित करनेवाला है। ऐसे हिंसा-युक्त धर्म का केवली प्रतिपादन नहीं करते।

५५. बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं
अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं
आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जासि ॥

बुद्धस्य आज्ञाया अयं समाधिः,
अस्मिन् सुस्थित्य त्रिविधेन तायी ।
तीर्त्वा समुद्रमिव महाभवौघ,
आदानवान् धर्मं उदाहरेत् ॥

५५. तीर्थंकर की आज्ञा (प्रवचन या शासन) में यह समाधि है। मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करने वाला ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न मुनि इस समाधि में स्थित हो, महाभव के प्रवाह को समुद्र की भांति तर कर, धर्म का प्रतिपादन करे।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ।

—ऐसा मैं कहता हूं।

अध्ययन ६ : टिप्पण

श्लोक १-३ :

१. (श्लोक १-३)

राजपुत्र आर्द्रक कुमार प्रत्येक वुद्ध था। वह स्वय प्रव्रजित हो गया। वह अपने देश से प्रस्थान कर राजगृह मे समवसृत भगवान् महावीर के पास जा रहा था। रास्ते मे एक भयानक अटवी आई। उसमे चोर रहते थे। ज्योही आर्द्रक उस मे पहुचा, पाच सौ चोरो की मडली वहा आ पहुची। आर्द्रक ने उन्हे देखा और पहचान लिया। ये वे पाच सौ राजकुमार थे जो आर्द्रक की सेवा मे पिता द्वारा नियुक्त किए गए थे। पर आर्द्रक के प्रव्रजित हो जाने पर, राजा के भय से घर न जाकर, अटवी मे ही चौर्यवृत्ति से जीवन-यापन करने लगे थे। आर्द्रकुमार ने उन्हे प्रतिवोध दिया। वे प्रतिवद्ध हुए और प्रव्रजित होकर आर्द्रक के साथ चल पडे। मुनि आर्द्रक अपनी मडली के साथ राजगृह मे आया। नगर प्रवेश करते ही गोशालक उसे मिला। गोलाशक ने कहा—आर्द्र! तुम जिस महावीर के पास जा रहे हो उनके आचरण और व्यवहार मे कितना द्वैध है। वे पहले एकान्तचारी थे। वे पहले आराम, उद्यान, शून्यागार आदि एकान्त स्थानो मे रहते थे। उन्होने मेरे साथ लाभ-अलाभ, सुख-दु ख का अनुभव किया था। वे भावत भी एकान्तचारी थे। सदा मौन रहते थे, ध्यान करते थे। यह एकान्तचर्या यावज्जीवन के लिए दुष्कर होती है, यह जानकर उन्होने मुझे छोड दिया और अव वे वहुत वडे साधु-साध्वी से परिवृत होकर, पूर्वाह्न और अपराह्न मे धर्म प्रवचन करते है। एक गाव से दूसरे गाव मे जाते है। उनका यह विहरण पूजा, गौरव और शिष्य-प्राप्ति के लिए हो रहा है। तुम विश्वास करो, मेरी वात मानो।[१]

तीसरे श्लोक के प्रथम दो चरणो मे गोशालक अपनी पूर्वकथित वार्ता का उपसहार करते हुए कहता है—

आर्द्रक! यदि एकान्तचारित्व ही श्रेयस्कर था तो जीवनपर्यन्त उसी का पालन करना चाहिए था। यदि महापरिवार से परिवृत होकर विहरण करने की उनकी स्थिति श्रेयस्कर है तो इसी को प्रारम्भ से ही मानना चाहिए था। ये दोनो—एकान्तचारिता और समूहचारिता छाया और धूप की भाति परस्पर विरोधी है। ये एक साथ श्रेयस्कर नही होती।

यदि मौन रहना ही धर्म था तो फिर आज धर्मदेशना का प्रपच क्यो? यदि धर्मदेशना ही धर्म था तो फिर पहले मौन क्यो रहे? फिर वारह वर्षो से अधिक समय तक क्यो कष्ट सहे?

इन सव व्यवहारो से प्रतीत होता है कि महावीर अपने विचारो मे दृढ नही है, निश्चल नही है। कभी कुछ करते है और कभी कुछ। उनका पहले के आचरण मे और वर्तमान के आचरण मे कोई तालमेल नही है। वे पूर्वापरव्याहतवादी और पूर्वापरव्याहतकारी है—पहले कुछ कहते थे, आज कुछ कहते है, पहले कुछ करते थे और आज कुछ करते है।

इसी श्लोक के अन्तिम दो चरण मे आर्द्रक ने भगवान् महावीर की चर्या—एकान्तचारिता और मौनवृत्तित्व तथा समूहचारिता और धर्म-प्रवचनदान को सिद्ध करते हुए कहा—भगवान् महावीर साधिक साढे वारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे तव तक घातिकर्म चतुष्टय को क्षीण करने के प्रयत्न मे लगे रहे। इसलिए यह आवश्यक था कि वे एकान्त मे रहे, जहा तपस्या, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि निर्विघ्न रूप से हो सके। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् तपस्या और मौन कृतकृत्य हो गए। अव वे महान् परिवार से परिवृत रहते हैं, धर्म-देशना देते है, क्योकि अभी वे तीर्थंकर नामकर्म का वेदन कर रहे है। चार अघाती कर्म अभी शेष है। उनकी शुभ प्रकृतियो का वेदन करने से ही उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। इसलिए उनके पूर्व और अपर आचरण-व्यवहार और भाषण मे कोई विरोध नही है, विपर्यास नही है।

आज वे धर्म-प्रवचन करते हुए भी मौन है और महान् परिवार से परिवृत होकर भी एकान्तचारी हैं।[२]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४१६।

२. वही, पृष्ठ ४१८,४१६।

श्लोक ४ :

२. क्षेम (अहिंसा) स्वयं करते हैं (क्षेमंकरे)

चूर्णिकार के अनुसार 'क्षेम' का अर्थ है—अवध, अहिंसा।[1] वृत्तिकार ने क्षेम के दो अर्थ किए हैं—शांति, रक्षा।[2] प्रश्न-व्याकरण मे अहिंसा का एक विशेषण है—सव्वभूयखेमकरी।[3]

३. आख्यान करते हुए भी……अनुभव करते हैं (आइक्खमाणो……सारयई)

आर्द्रककुमार ने कहा—भगवान् अकेले रहे तब भी एकान्तचारी रहे और आज वे हजारो व्यक्तियो मे घिरे रहते हैं तो भी एकान्त की ही साधना करते है। ये हजारों व्यक्तियों को एकत्व-प्रव्रज्या प्राप्त कराते हैं—समूह मे भी अकेला रहना सिखलाते हैं। अकेला वह होता है जो राग-द्वेष से रहित होता है। वे इस दृष्टि से अकेले हैं। उनकी आत्मा रागद्वेष के कलक मे मुक्त है, इसलिए वे लोगों के बीच रहते हुए भी अकेले हैं। इसलिए कहा है—

कामक्रोधावनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?
कामक्रोधौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ?[4]

यदि तूने काम और क्रोध को नही जीता है तो अरण्य मे जाकर क्या करेगा ? यदि तूने काम और क्रोध को जीत लिया है तो अरण्य में जाकर क्या करेगा ?

टीका मे यह श्लोक कुछ शब्दान्तर से प्राप्त है।[5]

४. शुक्ल लेश्या के कारण (तहच्च)

अर्चा का एक अर्थ है—लेश्या और दूसरा अर्थ है—शरीर।[6]

तथार्च—शुक्ल लेश्या से सपन्न।

तथार्च—निर्भूषित शरीर से युक्त।

श्लोक ५ :

५. क्षान्त (खंतस्स)

प्रस्तुत श्लोक मे धर्मकथा के अधिकारी की पाच कसौटिया बतलाई गई है। पहली कसौटी है—क्षमाशीलता। धर्मकथी दुर्विदग्ध बुद्धिवालो को भी धर्म समझाता है। वे उसे स्वीकार नही करते फिर भी वह अपनी क्षमाशीलता के कारण उनके प्रति रोष नहीं करता, अपना संतुलन बनाए रखता है। यह सतुलन धर्म का पहला गुण है।

दूसरी कसौटी है—कषाय का उपशात होना, मानसिक चंचलता पर विजय पा लेना। जिसका मन अधिक चंचल होता है वह अपने प्रतिपाद्य विषय पर स्थिर नही रह पाता। इसी प्रकार आवेशशील मनुष्य सत्य के साथ न्याय नहीं कर सकता। इस दृष्टि से धर्मकथी का दांत होना नितान्त अपेक्षित है।

तीसरी कसौटी है—जितेन्द्रियता। जिसका इन्द्रियो पर नियन्त्रण नही होता वह यथार्थ का प्रतिपादन नही कर सकता। अपनी इन्द्रिय-लोलुपता के कारण वह सत्य को स्वार्थ मे बदल देता है। इसलिए धर्मकथी का इन्द्रियजयी होना अत्यन्त आवश्यक है।

चौथी कसौटी है—भाषा के दोषो का वर्जन। कर्कश बोलना, रूक्ष वचन बोलना, आक्रोशपूर्ण वचन बोलना—ये सब भाषा के दोष हैं। वही धर्मकथी सफल हो सकता है जो मृदु, मनोरम और निरवद्य भाषा का प्रयोग करता है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४१८ : खेमं सयं करेति, अवधमित्यर्थ.।
२. वृत्ति, पत्र १४१ . क्षेमं शान्तिः रक्षा तत्करणशील. क्षेमंकरः।
३. प्रश्नव्याकरण १।
४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४१८,४१९।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४१।
५. वृत्ति, पत्र १४१।
६. चूर्णि, पृष्ठ ४१९ : अर्चा नाम लेश्या, सा य सुक्कलेसो…… "अथवा अच्चंति सरीरं।

पाचवीं कसौटी है—भाषा गुणज्ञता । हित, परिमित, देशकालानुरूप वचन का प्रयोग करना—यह भाषा की गुणज्ञता है ।[1]

वृत्तिकार ने क्षान्ति से क्रोध का निरसन, दांत से मान का निरसन और जितेन्द्रिय से लोभ का निरसन माना है। उनका कहना है कि लोभ के निरसन के साथ-साथ माया का निरसन स्वत' हो जाता है, क्योंकि माया का मूल है लोभ ।[2]

भाषा के दोष और गुणों का विस्तार से वर्णन दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन 'वाक्यशुद्धि' में हुआ है। मुनि के लिए कौन सी भाषा सदोष होती है और कौन सी निर्दोष—इसका विशद विवेचन वहा प्राप्त है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार —असत्य, असत्यामृषा (मिश्र भाषा), कर्कश भाषा, असभ्य भाषा, कटु, निष्ठुर और सावद्य भाषा का प्रयोग करना भाषा के दोष हैं ।[3]

६. धर्म कहते है (धम्मं कहंतस्स)

भगवान् अकेले है, कृतार्थ है तो फिर धर्मोपदेश करने का क्या प्रयोजन है ?

आर्द्रक ने कहा—भगवान् धर्म-प्रवचन करते है। वह निर्दोष है। उसके चार कारण है—

१. वे वीतराग अवस्था को प्राप्त है।
२ उनका ज्ञान पूर्ण है, अनावृत है।
३ उनकी प्रवृत्ति एकान्तत परहित के लिए होती है।
४. उनका सारा वर्तन स्वकार्य-निरपेक्ष होता है।

जो व्यक्ति राग-द्वेष से ग्रस्त है, अपूर्ण ज्ञानवाला है, जो अपना हित ही साधना चाहता है और जो स्वार्थ से प्रेरित है—जिसकी सारी प्रवृत्ति स्व-सापेक्ष होती है, उसको धर्म-प्रवचन करने का अधिकार नही है। उसका धर्म-प्रवचन सदोष हो सकता है।

श्लोक ६ :

७. (त्ति बेमि)

इसका वाच्यार्थ है—भगवान् महावीर स्वय महाव्रतो से उपपन्न, इन्द्रिय-नो इन्द्रिय गुप्त, विरत, कर्मबन्ध से रहित है और वे इन्ही धर्मों की देशाना देते हैं तथा लोगो को इन्ही धर्मों को स्वीकार करने की प्रेरणा देते है। वे 'यथावादी तथाकारी' हैं। वे जिसका पालन करते हैं उसी का उपदेश देते हैं। वे जैसा कहते हैं, वैसा करते है और जैसा करते है, वैसा कहते हैं ।[4]

कर्म से दूर हैं (लवावसक्की)

लव का अर्थ है—कर्म। जो कर्मबन्ध से अवसर्पण करता है, दूर रहता है वह लवावष्वस्की होता है। भगवान् महावीर लवावष्वस्की थे। उनके वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति से कर्म का बन्ध नही होता था ।[5]

देखें—सूत्रकृताग (प्रथम) २।४२, १२।४ के टिप्पण

८. (श्लोक ६)

भगवान् महावीर ने धर्म-देशना के द्वारा जिन धर्म-तत्त्वो का प्रतिपादन किया उनका प्रस्तुत गाथा मे सकलन किया गया है। वे ये हैं—

मुनि के लिए पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

गृहस्थ के लिए पाच अणुव्रत—अहिंसा अणुव्रत, सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, स्वदार-सतोष और इच्छा परिमाण।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पाच आश्रव है। इनके द्वारा कर्म परमाणुओ का आकर्षण होता है। आश्रव निरोध के लिए भगवान् ने अहिंसा, सत्य आदि पाच सवरो का प्रतिपादन किया। ये पाच सवर ही पाच महाव्रत कहलाते है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४१६ ।
२. वृत्ति, पत्र १४१ ।
३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४१६ ' कक्कडुगणिट्ठुर सावज्जा य भासा॰दोसा ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४१ : भाषाया दोषा-असत्यासत्यामृषाकर्कशासभ्यशब्दोच्चारणादय ।
४. वृत्ति, पत्र १४१।
५. चूर्णि, पृष्ठ ४१६ लवं कम्मं ततोऽवसक्कति लवावसक्की, नो वाचिकेण कर्मणा मानसेण वा युज्यत इत्यर्थः ।

पाच आश्रव और पाच सवर—यह जैनदर्शन की प्राचीन परम्परा है। महाव्रत और अणुव्रत—यह उत्तरकालीन (महावीरकालीन) व्यवस्था प्रतीत होती है।

विरति अर्थात् निवृत्ति। जो इन्द्रियो का सवर करता है, उसके इन्द्रिय-विषयो से विरति हो जाती है। इसका दूसरा अर्थ है—असयम से निवृत्ति। अविरति और विरति के आधार पर ही बाल, बाल-पडित और पडित—इन तीनो भागो मे मनुष्यो को विभक्त किया गया है।[1]

श्लोक ७ :

१०. (श्लोक ७)

चूर्णिकार ने इस श्लोक को बहुत विस्तार से समझाया है। गोशालक ने कहा—आर्द्रक! जो हम सजीव जल, स्त्री आदि का उपभोग करते हैं, उसका कारण सुनो। जब हम आतप और गर्मी से परितप्त होते है तब सजीव जल से स्नान करते है। शरीर के पोषण और परिपालन के लिए हम कन्द, मूल आदि खाते हैं, हमारे लिए बना भोजन लेते हैं। जो भोजन बनाता है वह पाप से लिप्त होता है, हम नही होते। दूसरे के किए कर्म से कोई दूसरा नही बन्धता। हम आधाकर्म भोजन की अनुज्ञा अपनी प्राणरक्षा के लिए देते है, प्राणो पर अनुग्रह करते हैं। इसी प्रकार हमारे लिए खरीदा हुआ भोजन भी हम लेते है। हम स्त्रियो का सेवन करते हैं। इससे हमारी और उनकी मन समाधि होती है। जैसे मल-मूत्र का विसर्जन निसर्गत होता है, वैसे ही वीर्य और रज का निसर्गत विसर्जन कर मानसिक समाधि पैदा करते हैं। इस प्रसग मे सूत्रकृताग १।३।७०-७२ द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अन्यान्य क्रियाओ का सेवन भी हम स्वस्थचित्त से और पर-अनुग्रहबुद्धि से करते हैं। कहा है—सुखानि दत्वा सुखानि........'हम दूसरो को सुख देते है और सुख पाते हैं। यह श्लोक 'सात सातेण विज्जति' (सूयगडो १।३।६६) इसकी स्मृति दिलाता है।

यदि तुम मानते हो कि सजीव जल, स्त्री आदि के सेवन से कर्म बन्धता है तो देखो, हमारे आजीवक धर्म मे भिक्षु के लिए आतापना, मौन, स्थान, आसन, अनशन, अस्नान आदि करने का विधान है। इन घोर व्रतो के पालन से वे कर्म क्षीण हो जाते हैं। यदि शीतोदक आदि से उपचित कर्म हम इन घोर व्रतो से क्षीण नही कर पाते तो अनेक हजारो जन्मो मे सचित कर्मो का नाश कैसे कर पाएगे? इसलिए आर्द्रक! **'अप्पेण बहु मेसेज्जा'**—वह काम श्रेयस्कर होता है जिसमे अल्प हानि और बहुत लाभ होता है। यहा **'मा अप्पेण बहुं विलुपहा'** सूत्र स्मरणीय है। सजीव जल के उपभोग आदि मे अल्पदोष है, लाभ बहुत है। आओ आर्द्रक! हमारे सघ मे सम्मिलित हो जाओ।[2]

वृत्तिकार के अनुसार . गोशालक बोला—'आर्द्रक जैसे तुमने कहा कि महावीर परार्थ-प्रवृत्त हैं, इसलिए अशोकवृक्ष, देवदुन्दुभि आदि प्रातिहार्यो का उपभोग करना सदोष नही है तथा शिष्यो का परिवार बढाना और धर्म-प्रवचन करना भी दोष नही है। इसी प्रकार हम अपने सिद्धान्त के अनुसार सजीव जल आदि का सेवन करते है, स्त्री का उपभोग करते है, यह सब स्व और पर उपकार के लिए है, इसलिए हमारे धर्म मे प्रवृत्त एकान्तचारी और तपस्वी भिक्षुओ के लिए पापकर्म का समागम नही होता। हम मानते हैं कि सजीव जल आदि के सेवन तथा अन्यान्य प्रवृत्तियो से कुछ कर्म-बन्ध होता है, किन्तु धर्म के आधारभूत शरीर की परिपालना करते हुए हमारे प्रचुर कर्मबन्ध नही होता, क्योकि हम एकान्त मे रहते है, विविध प्रकार की तपस्याए करते हैं।[3]

स्थानाग ४।३५० मे आजीवक श्रमणो के चार प्रकार के तप माने हे—उग्रतप, घोरतप, रसनिर्यूहण और जिह्वेन्द्रियप्रतिसलीनता।[4] प्रस्तुत श्लोक की चूर्णि मे आतापन, मौन, स्थान, अनशन, अस्नान आदि को घोर क्रिया माना है।[5]

श्लोक १० :

११. निरालंब (विह)

'विह' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—निरालंब।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस शब्द का कोई अर्थ नही किया है। वृत्तिकार ने 'भिक्खविह जायइ'—का अर्थ भिक्षा के लिए

---

१. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध २।७५।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४२०।

३. वृत्ति, पत्र १४२।

४ ठाणं ४।३५०, टिप्पण पृष्ठ ५१२।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४२० : आतावणमोणत्याणासणअनसनास्नानकादीहि घोराणि।

घूमता है, किया है ।[1]

१२. अन्त करने वाले नही होते (णंतकरा भवंति)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'अनन्तकर किया है । जो सावद्य का प्रतिसेवन करते हैं वे कर्मो को, ससार को तथा जन्म-मरण और दु खो को अनन्त करते हैं, उन्हे बढाते है । हमने इसका अर्थ 'न अन्तकरा:'—अन्त न करने वाले किया है ।[2]

श्लोक ११ :

१३. (श्लोक ११)

आर्द्रक का प्रतिवाद सुन गोशालक तिलमिला उठा । वह प्रतिवाद का उत्तर नही दे पाया । तब वह दूसरे अन्यतीर्थिको को अपने साथ जोडकर बोला—'आर्द्रक ! तुम जो कहते हो कि सजीव जल, आधाकर्म, स्त्री आदि का सेवन करने वाला अश्रमण होता है और वह ससार को अनन्त करता है तो देखो, शाक्य सभी सजीव जल का उपभोग करते हैं, आधाकर्म का सेवन करते है तथा प्रेष्य, गोप और सुवर्ण की स्त्रियो के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन भी करते है । साख्य मतावलवी कहते है—'प्राप्तानामुपभोग' जो प्राप्त हो जाए, उसका उपभोग करो । वे भी सभी प्रकार का उपभोग करते है । इन सब अन्य मतावलवियो की तुम गर्हा करते हो, अपने अह का प्रदर्शन करते हो । 'यह अहकार कल्याण मे बाधक है ।[3]

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक मे अतिम दो चरण—'पावाइणो..........करेंति पाउ—आर्द्रकुमार के उत्तर के द्योतक है ।[4] वृत्तिकार ने इस मत को विकल्प के रूप मे स्वीकार किया है ।[5]

श्लोक १२ :

१४. (सतो य अत्थि ......किंचि)

स्व का अर्थ है—आत्मीय वचन । अपने वचन से श्रेय या निर्वाण होता है, पर वचन से श्रेय या निर्वाण नही होता, इस प्रकार एकान्तवादी तीर्थिक अहकारपूर्वक अपने पक्ष की सिद्धि चाहते हैं और पर-पक्ष की असिद्धि । हम अनेकान्तदृष्टि के आधार पर पर-पक्ष की समीक्षा कर रहे है, किसी पूर्वाग्रह के आधार पर नही ।

आर्द्रकुमार ने आगे कहा—हम किसी व्यक्ति विशेष या मताधिष्ठाता की गर्हा नही करते । हम अपनी दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं और दूसरो की एकान्तदृष्टि की आलोचना—गर्हा करते है । हम नही कहते, तुम पापदृष्टि हो, मिथ्यादृष्टि हो, मूढ हो, मूर्ख हो, अज्ञानकार हो ।[6]

दूसरे सारे दार्शनिक परस्पर खडन-मडन मे लगे हुए है । हम यथार्थ तत्त्व का निरूपण करते है । इस निरूपण का लक्ष्य किसी की गर्हा करना नही है, सत्य का आविर्भावन है । सत्य को अभिव्यक्ति देना परापवाद नही हो सकता । कहा भी है—

नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान्, सम्यक् यथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान् ।
कुज्ञानश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान्, सम्यग् विचारयत कोऽत्र परापवादः ?'

—व्यक्ति अपनी आखो से देखता हुआ पथ पर चलता है । वह बिल, काटे, जीव, सर्प आदि का सम्यक् परिहार करता हुआ आनन्दपूर्वक चलता जाता है । इसी प्रकार धर्म-मार्ग मे रहे हुए मिथ्या तत्त्वो और विचारणाओ का प्रतिपादन करना परापवाद कैसे हो सकता है ?[7]

---

१. वृत्ति, पत्र १४२ : भिक्षां चाटन्ति ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२१ अनंतं कुर्वन्तीत्यनन्तकरा कर्मणा संसारस्य भवस्य दु खानामेवेत्यर्थ ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४२ . संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४२१ ।

४ वही, पृष्ठ ४२१ ।.......आर्द्रक आह—पात्रादिनोऽपि.......।

५. वृत्ति, पत्र १४३ ।

६. चूर्णि पृष्ठ ४२१ ।

७. वृत्ति पत्र १४३ ।

श्लोक १३ :

१५. हम रूप के आधार पर........नहीं करते (रूवेणऽभिधारयामो)

आर्द्रक ने कहा—गोशालक ! हम किसी की, उसके लिंग या देश के आधार पर निंदा नही करते । लोक-व्यवहार मे ऐसा देखा जाता है कि किसी अपराध मे रुष्ट होकर स्वामी अपने सेवक या अन्य व्यक्ति को काना, कुब्ज, कोढी आदि कह देता है । जाति आदि से उसकी गर्हा करते हुए कह देता है—तुम चडाल हो, चडालकर्म करते हो । हम ऐसा नही कहते । हम नही कहते, दुष्ट त्रिदडक ! दुष्ट परिव्राजक ! यह तुम्हारा शासन, सघ या प्रवचन दुर्दृष्ट है । उस मूर्ख कपिल ने क्या देख कर कहा कि अकर्त्ता पुरुष 'घट करता हूं'—इस प्रकार अभिसधि करता है । कुभ का निर्माण न करनेवाला कुभकार कैसे हो सकता है ? जो कुभ का निर्माण करता है वही कुभकार होता है । जिसकी दृष्टि मे आत्मा अकर्त्ता और निर्लेप है, उसके लिए घट के निर्माण मे मृत्पिंड, दंड आदि उपादान क्रिया भी सगत नही होती । आत्मा जब निर्लेप है तो उसे पवित्र करने की क्या आवश्यकता है ? शुद्ध आत्मा को केवलज्ञान क्यो नही उत्पन्न हो जाता ?

इसी प्रकार हम शाक्य मत के प्रति भी आक्रोश प्रगट नही करते । हम केवल अपनी दृष्टि का प्रकाशन करते है ।[1]

१६. ऋजु (अंजू)

चूर्णिकार ने पूर्वापर अव्याहत ज्ञान या मार्ग को ऋजु कहा है । उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि शाक्य मुनि को ज्ञान की उपलब्धि हुई, पर वे नही जान पाए कि आर्द्रकुमार जीवित है या मृत ? यह ज्ञान पूर्वापर व्याहत है । एक ओर विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति और एक ओर अज्ञात अवस्था ।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ स्पष्ट, ऋजु (अवक्र) किया है ।[3]

चूर्णिकार ने प्रश्न उठाया है कि ऐसा निष्ठुर वचन क्यो नही कहना चाहिए जो स्पष्ट हो ? जैसे तुम मूर्ख हो, तुम्हारी दृष्टि मिथ्या है, आदि-आदि ।

इसके समाधान मे चूर्णिकार एक मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रगट करते हैं कि निष्ठुर वचन से व्यक्ति के मन मे दु ख हो सकता है और उस मानसिक दु ख या आघात से उसके हृदयरोग आदि अनेक रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं ।[4]

आज भी माना जाता है कि मानसिक आघात से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं । हार्ट-ट्रबल (हृदयरोग) उसमे मुख्य है ।

श्लोक १४ :

१७. लोक में (लोए)

इसके दो अर्थ है—१ ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्—तीनो लोक मे । २. अन्यतीर्थिक लोगो मे ।[5]

श्लोक १५ :

१८. श्रमण महावीर (समणे)

यह शब्द तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त है ।[6]

१९. धर्मशालाओ (आगंतगारे)

जहा लोग आ-आकर ठहरते हैं, वे सभास्थल, प्रपा आदि स्थान आगतागार कहलाते हैं ।[7] यह चूर्णिकार का अर्थ है ।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२१,४२२ ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४२२ ।

३ वृत्ति, पत्र १४४ अंजू—व्यक्तः निर्दोषत्वात्प्रकट ऋजुर्वा वक्रैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४२२-४२३ स्यादेकं किं निष्ठुरं स्पष्टं नाभिधीयते, त्वं मूर्खो वा कुदृष्टिर्वेति ? तदुच्यते, मा भूत्तस्य दु खं, स्यात्किं वा निष्ठुरमुच्यमानस्य मनोदु खाच्छरीरमपि स्याद् हृदयरोगादि ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४२३ . सव्वलोएत्ति त्रैलोक्ये पासंडलोके वा ।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२३ : समणो सो चेव जो भंतित्ति तित्थगरो ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४४ ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ४२३ आगत्य आगत्य यस्मिन्नरास्तिष्ठन्ति तदिदं सभा प्रपेत्यादि ।

वृत्तिकार ने कार्पटिक आदि भिक्षुओं के निवास-स्थल को आगतागार माना है।[1]

निशीथचूर्णि मे इसके तीन अर्थ प्राप्त हैं[2]—

१ यात्रियो के ठहरने का स्थान।

२. ग्राम परिषद् (ग्राम सभागार)

३ गाव के बाहर यात्रियो के ठहरने का स्थान।

सूत्र १५-१६ :

२०. (श्लोक १५-१६)

गोशालक ने आर्द्रकुमार से कहा—मैं जानता हू कि तुम्हारे तीर्थंकर महावीर इन सार्वजनिक सभा-स्थलो और उद्यानागारो मे आकर क्यो नही रहते ? महावीर जानते हैं कि वहां अनेक शास्त्रो के विशारद दक्ष साख्य आदि दार्शनिक मिल सकते है। वे कुछ न्यून या जाति आदि से उच्च भी हो सकते है। उनसे पराजित होने पर महावीर के यश मे धब्बा लग सकता है। वहा कुछ प्रवरवक्ता भी आ सकते हैं, जिनके सामने टिक पाना कठिन होता है। कुछ ऐसे मौनव्रतिक भी वहा आते है, जिन्हे योगज विभूतिया प्राप्त हैं। उस विभूति के प्रभाव से प्रतिवादी अपने विषय का भी प्रतिपादन नही कर सकते। वहा मेधावी व्यक्तियो का भी आवागमन होता है जो ग्रहण और धारण करने मे समर्थ होते हैं। साख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन, बौद्ध दर्शन, आजीविक दर्शन तथा अन्यान्य दर्शनो के प्रखर विद्वान् तथा व्याकरण आदि शास्त्रो के पारगामी विद्वान् वहा एकत्रित होते हैं।

चूर्णिकार ने यहा जो वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिको का कथन किया है, वह उल्लेखनीय है।

औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि से उपपेत, सूत्र और अर्थ के ज्ञाता अनेक व्यक्ति समय-समय पर इन सार्वजनिक स्थलो मे आकर ठहरते है। आर्द्रक ! तुम्हारे भगवान् महावीर भय खाते हैं कि ऐसे विद्वान् पुरुष या अन्य अनगार मुझे कोई प्रश्न न पूछ ले। प्रश्न पूछने पर उसका सम्यक् उत्तर न दे पाने से महाजन के बीच लज्जित और पराजित होना पड़े, इस प्रकार भयभीत होकर महावीर इन सभास्थलो मे आकर नही ठहरते।[3]

'आर्द्रक ! देखो, पडितजन शून्यघरो, जीर्ण खडहरो और उद्यानशालाओ मे नही ठहरते। महावीर मे भय है, इसलिए न वे सर्वज्ञ हैं और न वीतराग। वे दूर-दूर रहते हैं। सभी ग्राम और नगरो मे नही जाते। कुछेक नगरो मे जाते हैं। यह उनका विषम व्यवहार है। वे बादल की तरह सर्वत्र समकारी नही हैं।[4]

इसीलिए वे म्लेच्छ देशो मे जाते हैं और वहा कभी धर्मदेशना नही देते। आर्यदेशो मे भी सर्वत्र विहरण नही करते, कुछ एक स्थलो पर ही जाते है। इससे भी उनकी विषमदृष्टि और रागद्वेषवर्तिता अभिलक्षित होती है।[5]

सूत्र १७ :

२१. अकामकृत्य (अकामकिच्चा)

चूर्णि के अनुसार अकामकृत्य हेतु है। इसका अर्थ होगा—अनिच्छा से करणीय कार्य।[6] वृत्ति मे अकामकृत्य भगवान् महावीर के विशेषण के रूप मे व्याख्यात है।[7]

२२. बलप्रयोग से (बालकिच्चा)

चूर्णिकार ने बतलाया है कि छद-रचना की दृष्टि से 'बल' के स्थान पर 'बाल' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए 'बाल-

---

१. वृत्ति, पत्र १४४ आगन्तुकानां—कार्पटिकादीनामगारमागन्तागारं।

२. निशीथचूर्णि भाग २, पृष्ठ २००।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२३।

(ख) वृत्ति, पत्र १४५।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४२३, ४२४।

५. वृत्ति. पत्र १४५।

६ चूर्णि, पृष्ठ ४२४ : कमु इच्छायां करणीयं कृत्य अकामं कृत्यं करोति अकामकिच्चं।

७. वृत्ति, पत्र १४५ भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति।

कृत्य' का अर्थ है—बलप्रयोग से करणीय कार्य ।[1]

वृत्तिकार ने 'बालकृत्य' का अर्थ 'बाल' शब्द के आधार पर ही किया है—जो बालक की भांति, बिना सोचे समझे कार्य करता है, वह बालकृत्य कहलाता है ।[2] भगवान् महावीर बालकृत्य भी नही है । वे कोई भी प्रवृत्ति अनालोचित नही करते । वे दूसरो के कहने पर या किसी के प्रलोभन से धर्मदेशना नही देते, किन्तु जब वे देखते हैं कि उनके प्रवचन से भव्य प्राणियो का उपकार होने वाला है, तब वे प्रवचन करते है अन्यथा मौन रह जाते हैं ।

२३. राजा के अभियोग से…… (रायाभियोगेण कुओ भएणं)

आर्द्रकुमार ने गोशालक के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा—महावीर किसी के दवाव मे आकर प्रश्नोत्तर या चर्चा मे नही जाते । वे सदा सार्थक प्रयत्न करते है । अनिच्छा, बल-प्रयोग, राजाभियोग और भय—ये उसी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं जो स्वतन्त्र चेतना वाला नही होता । भगवान् महावीर इन परतन्त्रता के दोषो से मुक्त हैं, इसलिए उन पर भय का आरोप लगाना उचित नही है ।[3]

२४. प्रश्न का उत्तर नहीं देते (वियागरेज्जा पसिणं ण वा वि)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जब महावीर उपकार होने की संभावना को जान लेते हैं, तब किसी के द्वारा, कभी भी पूछे गए प्रश्न का उत्तर दे देते है । उपकार होने की सभावना न होने पर वे उत्तर नही देते ।

इसका वैकल्पिक अर्थ यह भी है कि अनुत्तर विमानवासी देवो और मन पर्यवज्ञानी मुनियो के प्रश्नो का द्रव्य मन से ही समाधान कर देते हैं, इसलिए भगवान् वहा वाणी से कुछ नही कहते ।[4]

चूर्णिकार के अनुसार भगवान् महावीर पूछने पर उत्तर देते भी हैं और नही भी देते । बिना पूछे भी वे कभी-कभी उत्तर दे देते है । इसका कारण है—करुणावृत्ति ।[5] एक बार बिना पूछे भी भगवान् ने गौतम से कहा—चिरससट्ठोऽसि मे गोतमा ![6]… ……

२५. कृत्य की सार्थकता हो (सकामकिच्च)

आर्द्रक ने गोशालक से कहा—'तुम यह कहते हो कि महावीर यदि वीतराग है तो फिर वे धर्मकथा क्यो करते है ? देखो, भगवान् स्वकामकृत्य—अपनी इच्छा से धर्मकथा मे प्रवृत्ति करते है । तीर्थंकर नामकर्म का उदय है, धर्मकथा कर वे उसका क्षय करना चाहते है ।[7]

श्लोक १८ :

२६. अनार्य मनुष्यो का दर्शन विपरीत होता है (अणारिया दंसणओ परित्ता)

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—अनार्य परित्तदर्शन—अदीर्घदर्शन वाले होते हैं । वे केवल इहलोकदर्शी होते हैं, परलोक को नही मानते । न वे दीर्घससार—चतुर्विध गत्यात्मक ससार को ही देखते हैं और न उनमे होने वाले अपायो को ही जानते है । वे केवल कामवासना की तृप्ति और उदर-पोषण मात्र को ही जानते है ।[8]

वृत्तिकार ने परित्तदर्शन का अर्थ— दर्शन से भ्रष्ट या प्रभ्रष्ट दर्शन वाले किया है । वे क्षेत्र से, भाषा से और क्रिया से अनार्य

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२४ न बालकिच्चंति न बलात्करणाद्, ह्रस्वदीर्घते वि बंधानुलोम्यात्, बलकिच्चेति वक्तव्ये बकारस्य दीर्घत्वे कृते णाम बालकिच्चा भवति ।

२. वृत्ति, पत्र १४५ . बालस्येव कृत्यं यस्य स बालकृत्यो…… …बालवदनालोचितकारी ।

३ वृत्ति, पत्र १४५ ।

४ वृत्ति, पत्र १४७ केनचित् क्वचित्सशयकृतं प्रश्नं व्यागृणीयाद् यदि तस्योपकारो भवति, उपकारमन्तरेण 'न च,—नैव व्यागृणीयाद् यदिवाऽनुत्तरसुराणां मन पर्यायज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तन्निर्णयसंभवादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४२४ . पुच्छं नितमित प्रश्न पुट्ठो अपुट्ठो वा, जेण अपुट्ठे करुणाइंपि अत्थि ।

६. भगवती ।

७. वृत्ति, पत्र १४५ ।

८. चूर्णि, पृष्ठ ४२४ : अणारिया जे देसा सगजवनादी दृष्टिर्दर्शनं परित्ता इति परित्तदर्शना अदीर्घदर्शना, न दीर्घसंसारदर्शिनस्तदपायदर्शिनो वा, इहलोकमेवैकं पश्यन्ति को जाणति परलोगो ? शिश्नोदरपरायणाः ।

होते हैं। उनमे सम्यक् दर्शन की प्राप्ति का अवकाश ही नही रहता। उन्होने इसका वैकल्पिक अर्थ—वर्तमानप्रेक्षी किया है। वे अनार्य दीर्घदर्शनी नही होते।[1]

२७. जानते हुए (संकमाणो)

चूर्णिकार ने शका शब्द को ज्ञानार्थक मानकर उसके दो अर्थ—ज्ञान और सदेह—किए हैं।[2]

वृत्तिकार ने केवल 'शका' अर्थ ही किया है।[3]

२८. (श्लोक १८)

आर्द्रक ने कहा—गोशालक! जब महावीर यह जान लेते हैं कि अमुक स्थान पर प्रवचन करने से लोग प्रतिबुद्ध होगे, वे वहा जाकर प्रवचन करते है। जो स्थान पर आकर सुनना चाहते है, भगवान् उनको भी धर्म-देशना देते हैं। जब वे जान लेते हैं कि अमुक स्थान पर कोई प्रतिबुद्ध होने वाला नही है, तो वे वहा जाते ही नही, जाकर धर्म-प्रवचन नही करते। स्थान पर आने वाले लोग यदि ग्रहणशील नही हैं, तो वे मौन रहते हैं, प्रवचन नही करते।

गोशालक! तुम कहते हो कि महावीर सर्वज्ञ है तो फिर अनार्य देशो मे जाकर धर्म-प्रवचन क्यो नही करते? सुनो शक, यवन आदि जो अनार्य देश हैं, उनके निवासी परीतदर्शन—वर्तमानप्रेक्षी हैं। वे दीर्घदृष्टि नही है।

अनार्य देशो से भी अधिक आर्य देश मे ऐसे अनेक गाव-नगर हैं जहा महावीर नही जाते। वे वहा जाकर धर्म-देशना नही देते। भगवान् जानते हैं कि वे ग्राम-नगर भी अनार्यतुल्य ही हैं। वहा भी कोई प्रतिबुद्ध होने वाला नही है। इसलिए वहा नही जाते। वहा न जाने का कारण तुम्हारा भय नही है। देखो, महावीर देव, असुर और सभी प्रकार के मनुष्यो की सभा मे प्रवचन करते हैं, उनके प्रश्नो का समाधान देते हैं। तुम्हारे जैसे परतीर्थिक तीर्थंकर (मताधिष्ठाता) भी उनके उत्तर नही दे सकते तो भला, उन परतीर्थिक तीर्थंकरो के शिष्य तो उत्तर दे ही कैसे सकते है? वे शिष्य आत्मक्लिष्ट और अहकार से ग्रस्त हैं। वे प्रावादुक भगवान् के समक्ष आ ही नही सकते। महावीर के सामने आने मे भी वे असमर्थ है, वाद-विवाद करना तो दूर की बात है। वाद-विवाद के बिना जय-पराजय का प्रश्न ही नही उठता।[4]

श्लोक २० :

२९. कोई नया कम नहीं करे, पुराने कर्म क्षीण करे (णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं)

आर्द्रकुमार ने कहा—भगवान् लाभार्थी हैं, इसमे कोई सन्देह नही है। यह उनका लाभ व्यावसायिक नही है, पारमार्थिक है। पारमार्थिक लाभ के दो अग होते हैं—नया कर्मबधन न करना और पूर्व अर्जित कर्म का निर्जरण करना—सयम और तप का अनुशीलन करना।

चूर्णिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि धर्मकथा के प्रसग मे तप और सयम का प्रस्ताव ही कहा आता है, जिसके आधार पर कहा जाए 'णव ण कुज्जा विहुणे पुराण'? इसके उत्तर मे चूर्णिकार स्वय कहते है—भगवान् ज्ञान सीखते (सिखाते) हैं, ज्ञान का ही परावर्तन (गुणन) करते है और ज्ञान से ही सारे कृत्य करते है। ज्ञानी के नया कर्म-बध नही होता। महावीर ज्ञान-परिणत हैं, इसलिए वे सवृत हैं। यही सवर है। फिर भी स्वाध्याय पाच प्रकार का होता है। उसका अतिम प्रकार है धर्मकथा। धर्मकथा मे भी उत्कृष्ट सवर होता है। इसीलिए कहा है—'णव ण कुज्जा विहुणे पुराणं।'[5]

---

१. वृत्ति, पत्र १४५ : अनार्या क्षेत्रभाषाकर्मभिर्बहिष्कृता दर्शनतोऽपि परि—समन्ताविता—गता प्रभ्रष्टा इति यावत्।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४२४, ४२५ : इति शङ्कमान इत्यर्थ, शकाशब्दो ज्ञानार्थ एव तदुभये मन्तव्यः।

३. वृत्ति, पत्र १४५।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२४, ४२५।
 (ख) वृत्ति, पत्र १४५।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४२५ : स्याद् धर्मकथायां कः प्रस्तावः संजमस्य तपसो वा यद् ब्रवीषि 'णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं? तदुच्यते—णाणं सिक्खति णाणं गुणेति णाणेण कुणइ किच्चाइं! णाणी णवं ण बंधेति० किंच—सो य खलु णाणपरिणतो, तेण संवुतो, संवर एव संवरस्तयावि अन्नतरो धम्मकथावसाणो पंचविधो सज्झाओ, इच्चेवं धम्मकथाएवि संवरट्ठाणं उत्तरोऽस्ति तेनोच्यते—'णवं ण कुज्जा विहुए'''''।

३० त्रायी (ताई)

इसका विभक्त्यन्तरूप होगा—ताई। वृत्तिकार ने उसको द्विरूप—त्रायी और तायी मानकर अर्थ किया है। उसका तादृग् रूप भी बनता है। त्रायी का अर्थ है परित्राणशील और तायी का अर्थ है—मोक्ष गमनशील[1] और तादृग् का अर्थ है—अपने जैसा।

३१. अमति को (अमईं)

चूर्णिकार के अनुसार जो मति अशुद्ध है वह अमति कहलाती है। इसका तात्पर्यार्थ है कि भगवान् अन्न-पान या पूजा-प्रतिष्ठा के लिए उपदेश नही करते। वे स्वय तीर्ण हैं और दूसरो को भी तारने के लिए ही उपदेश करते हैं।[2]

वृत्तिकार ने 'अमई' का अर्थ विमति किया है। जो विमति का त्याग करता है, वही मोक्षगामी होता है।[3]

३२. ब्रह्मव्रत (बंभवति)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए है—ब्रह्मपद, ब्रह्मव्रत। उनके अनुसार ब्रह्म का अर्थ है—चारित्र, तप और सयम। जो तपोयोग और सयमयोग मे लीन होता है वह ब्रह्मवर्ती है।[4] वृत्तिकार के अनुसार ब्रह्मव्रत का अर्थ है—मोक्षव्रत।[5]

श्लोक २२ :

३३. (वित्तेसिणो ··· वयंति)

प्रस्तुत श्लोक मे धनार्जन के दो मुख्य कारणो का निर्देश किया गया है—(१) मैथुन के लिए (२) भोजन के लिए।[6]

३४. हम तो (वयं तु)

चूर्णिकार ने इसके आगे विरक्त पद का अध्याहार किया है।[7] आर्द्रकुमार का कहना है—हम तो स्त्रीकाम से विरक्त हैं और जिह्वेन्द्रिय पर हमें विजय प्राप्त है।[8] वृत्तिकार ने इस वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार किया है—हम तो उन वणिको को ऐसा कहते हैं।[9]

३५. प्रेमरस में गृद्ध (पेमरसेसु गिद्धा)

चूर्णिकार ने 'रसेसु गिद्धा' शब्द से समस्त इन्द्रिय-विषयो मे गृद्ध माना है तथा इसका वैकल्पिक अर्थ सुख किया है। इसकी पुष्टि मे गीता का श्लोक उद्धृत किया है।[10]

श्लोक २३ :

३६. आरंभ (आरंभगं)

चूर्णिकार ने बैल, शकट आदि का प्रयोग तथा पचन-पाचन और छेदन रूप प्रवृत्ति को आरंभ माना है। ये सारे हिंसा के द्वार हैं।[11] वृत्तिकार ने समस्त सावद्य प्रवृत्ति को 'आरभ' माना है।[12]

---

१. वृत्ति, पत्र १४६।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४२५ : असोभणमति अमति, अण्णहेतु वा पूजापरियारहेतु वा ण कथेति, तीर्णोवि परान् तारेतीति।

३. वृत्ति, पृष्ठ १४६ अमति—विमति······ 'विमतिपरित्यागेन मोक्षगमनशीलो भवति।

४ चूर्णि, पृष्ठ ४२६ एतावतो बंभचेरं, एतदेव तद् ब्रह्मण पदं ब्रह्मपदं वा, ब्रह्मव्रतं वा। किमित चेत् ब्रह्मेति चरित दुविधं तवचरणं संजमजोगो तं उवेत उदइओ लाभओ संजमस्स तवस्स वा।

५. वृत्ति, पत्र १४६ : ब्रह्मणो—मोक्षस्य व्रत ब्रह्मव्रतमित्येतदुक्तम्।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ वित्तं किमर्थमेषमाणा दिशो व्रजन्ति ? उच्यते, मैथुनार्थं भोजनार्थं वेति।

७. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ वयं तु तु विशेषणे विरक्ता अन्यतीर्थेभ्य·।

८ वही, पृष्ठ ४२६ : विरक्ताः स्त्रीकामेभ्यो जितजिह्वेन्द्रियाश्च।

९. वृत्ति, पत्र १४७ तांस्तु वणिजो वयमेव ब्रूमो।

१०. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ रसेसु अज्झोववण्णा, जहा रसेसु तहा सेसेसुवि विसएसु सद्दातिसु अथवा रस इति सुखस्य आख्या।····· "विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिन।

११. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ · आरम्भो, उक्षसकटभरावीणा पचनपाचनच्छेदनादीनां च हिंसाद्वाराणां।

१२. वृत्ति, पत्र १४७ : आरम्भं—सावद्यानुष्ठानम्।

३७. अपने आपको दंडित करते है (आयदंडा)

चूर्णिकार ने आत्मा का अर्थ जीव किया है। इसके अनुसार आत्मदड का अर्थ होता है—वध, वध, परितापन और भयभीत करने के द्वारा जीवो को दडित करने वाला। इसका वैकल्पिक अर्थ है—जीवो को वध आदि का दु ख देने से स्वय अपनी ही आत्मा को दडित करने वाला।[1]

श्लोक २४ :

३८. लाभ (उदय)

उदय का अर्थ है लाभ।[2] अध्यात्म की भाषा मे उदय का अर्थ है—निर्जरण अर्थात् कर्मों का क्षीण होना।[3] उदय समृद्धि और सुख का सूचक है। भगवती मे कहा है—जे निज्जिण्णे से सुहे—जो निर्जीर्ण है, वह सुख है।

३९. ऐकान्तिक नहीं होता, आत्यन्तिक नहीं होता (णेगंति णच्चंति)

आर्द्रकुमार ने कहा—उन वणिको को होने वाला लाभ न ऐकान्तिक है और न आत्यन्तिक है। वह ऐकातिक इसलिए नही है कि व्यापार करने वाले को कभी लाभ होता है तो कभी हानि भी होती है। वह आत्यन्तिक भी नही है क्योकि वह लाभ आता है और क्षीण हो जाता है। उस धन को चोर चुरा ले जाते हैं, अग्नि आदि से भी वणिक् की सपत्ति नष्ट हो जाती है। वह सर्वकालभावी नही है। इसलिए वस्तुत वह उदय नही है, अनुदय ही है।[4]

४०. अगुणोदय की कोटि में (गुणोदयम्मि)

यहा 'अकार' लुप्त माना गया है। 'अगुणोदये' अर्थात् अलाभ की स्थिति।[5]

४१. चले जाते हैं (वयंति)

चूर्णि और टीका मे इसका अर्थ 'वदति' मानकर किया है। हमने 'व्रज' धातु के आधार पर चले जाते हैं, यह अर्थ किया है।[6]

४२. सादि होने पर भी अनन्त है (साइमणंतपत्ते)

धर्मदेशना आदि से होने वाला लाभ सादि है और अनन्त है। उससे निश्चित रूप से निर्जरा की प्राप्ति होती है और वह कभी क्षीण नही होती।[7]

४३. ज्ञानी (णाई)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—ज्ञानी अर्थात् कुलीन।[8] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—क्षत्रिय अथवा ज्ञानवान्।[9]

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : आत्मन इति जीवान् दण्डयति बन्धवधपरितावणोद्दवणादीहिं तद्दु खोत्पादनाद्वा आत्मान दण्डयंति संसारे।
२ (क) चूर्णि पृष्ठ ४२७ '········उदए·······लाभ इत्यर्थ ।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७।
३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : णिज्जरा उदयो।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७ उदयो लाभो धर्मदेशना वाप्तनिर्जरालक्षण ।
४ चूर्णि, पृष्ठ ४२७।
५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : अणुदए·······न लाभ इत्यर्थ ।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७ . विगतगुणोदयो भवत ।
६ (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : वदंतित्ति।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७ वदन्ति।
७. वृत्ति, पत्र १४७ : धर्मदेशनावाप्तनिर्जरालक्षणः स च सादिरनन्तश्च।
८. चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : णातीति ज्ञाति कुली।
९ वृत्ति, पत्र १४७ : ज्ञाताः क्षत्रियाः, ज्ञातं वा वस्तुजातं विद्यते यस्य स ज्ञाती।

४४. प्रतिपादन करते हैं (साहयइ)

इसके दो अर्थ हैं—कथन करना, श्लाघा करना।[1]

श्लोक २५ :

४५. अहिंसक (अहिंसयं)

चूर्णि और वृत्ति मे इसका संस्कृत प्रतिरूप 'अहिंसक' किया है।[2] हमने इसका सस्कृत रूप 'अहिंमन्' कर अहिंसक अर्थ किया है।

४६. (श्लोक २५)

वृत्तिकार ने प्रस्तुत विषय को दूसरे सदर्भ मे उपस्थित किया है। गोशालक ने आर्द्रकुमार से कहा—'आर्द्रकुमार! महावीर देवताओ द्वारा रचित समवसरण, पद्मावली, मुक्तामाला, सिंहासन आदि का उपभोग करते हैं। इसलिए उन्हे आधाकर्म दोष लगता है। उपभोग करने का तात्पर्य है कि उन क्रियाओं का अनुमोदन करना। ऐसी स्थिति मे महावीर अहिंसक कैसे रह सकते हैं?'

आर्द्रक बोला—'गोशालक! यह सही है कि महावीर समवसरण आदि का उपभोग करते हैं, फिर भी अहिंसक हैं, क्योकि उन क्रियाओं के प्रति भगवान् की कोई आशसा या कोई प्रतिबन्ध नही है। वे तृण, मणि, मुक्ता, पत्थर और स्वर्ण के प्रति समभाव रखते हैं। इसी समताभाव से वे उन सबका उपभोग करते हैं। उनके मन मे एक ही चिन्तन रहता है कि भव्य देवो की भी धर्म के प्रति प्रवृत्ति हो। उनके तथा स्वय के लाभ के लिए वे प्रवृत्ति करते हैं। अत वे पूर्ण अहिंसक है। भगवान् अहिंसक हैं, जीवानुकम्पी है, धर्म मे स्थित हैं, कर्मक्षय करने के लिए उत्थित हैं। इनकी तुलना तुम वणिक् से कर रहे हो। यह तुम्हारा आत्मघाती प्रयत्न है। यह तुम्हारा दोहरा अज्ञान है। पहला अज्ञान यह है कि तुम स्वय कुमार्ग पर चल रहे हो और दूसरा अज्ञान यह है कि तुम जगत्वद्य, समस्त अतिशयो के निधान महावीर की दूसरो से तुलना कर रहे हो।'

आर्द्रकुमार का उत्तर सुनकर गोशालक मौन हो गया।[3]

४७. (श्लोक २१-२५)

इक्कीसवें से चौवीसवें श्लोक तक आर्द्रकुमार ने पाच तथ्य प्रस्तुत कर वणिक्—व्यापारी से भगवान् महावीर के कार्य की पृथकता का प्रतिपादन किया है। उनका समुच्चय रूप इस प्रकार बनता है—

वणिक्-व्यापार	भगवान् महावीर का कार्य-कलाप
१. समारंभ	१. अनारंभ
२. परिग्रह का ममत्व	२ परिग्रह का अममत्व
३. कामासक्ति	३ काम-विजय
४. आत्मदंड	४. आत्मरमण
५ अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक उदय	५ ऐकान्तिक और आत्यन्तिक उदय।

पच्चीसवें श्लोक मे अन्य तीन तथ्यो के द्वारा पुन पृथकता का प्रतिपादन किया गया है—

वणिक्	भगवान् महावीर
१. हिंसक	१. अहिंसक
२. अनुकम्पा-शून्य	२. सर्वजीव-अनुकम्पी
३. धन के लिए उत्थित	३. कर्ममुक्ति के लिए धर्म मे अभ्युत्थित।[4]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२७ : साहयति—आख्याति सिलाहति वा प्रशंसतीत्यर्थ.।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२७।
(ख) वृत्ति, पत्र १४७।

३. वृत्ति, पत्र १४७।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३२७ तदेनं वणिग्भ्य भगवंतं सुमहद्भिर्विशेषैर्विशिष्टं संतं यत्नै समाणीकरोषि तं पुनरयुक्तं, कतरैर्विशेषयन्ति णणु जे समारंभादिभि पंचभिर्विशेषैराख्याताः इमे चान्ये विशेषाः, तद्यथा—अहिंसकं (त) वृत्तौ अहिंसको भगवान् ते हिंसक., सव्वसत्ताणुकंपी च भगवं ते णिरणुकंपा, दसविधे धम्मे ठ्ठितो भगवं, ते तु वणिज्जा, किमत्थं धम्मे स्थित इति चेत् कम्मविमोक्खणट्ठाए, पुन. कर्म्मविमोक्षार्थं अभ्युत्थिता, धनार्थं तूत्थिता.।

श्लोक २६-२८ :

४८. खली को पिण्डी को (पिण्णागपिंडीमवि)

चूर्णिकार इसकी व्याख्या मे कहते है—कोई व्यक्ति गर्भस्थ बालक या उत्पन्न बालक की हत्या यह सोचकर कर देता है कि यह बालक कुछ ही समय पश्चात् मेरा दुश्मन बन जाएगा।

एक स्त्री के इकलौता पुत्र था। वह बहुत छोटा था। वैर का बदला लेने के लिए एक शत्रु उसका हनन करना चाहता था। मा को पता लग गया। उसने खलपिण्डी को बालक का आकार देकर मच पर रखा। उस पर एक कपडा डाल दिया और उसे मद प्रकाश वाले एक कोने मे रख दिया। एक रात वह व्यक्ति (शत्रु) वहा आया। उसके मन मे तीव्र वैर की आग जल रही थी। उसने अत्यन्त रोष मे आकर उस खलपिंडी को बालक समझकर एक शूल मे पिरो दिया। मन मे प्रसन्न होते हुए उसने सोचा, सभव है शूल मे पिरो देने पर भी उसके प्राण न निकले हो। इस चिंतन से उसने शूल मे पिरोए हुए को अग्नि मे डाल दिया।[1]

वृत्तिकार ने यहा दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—म्लेच्छ देश मे कभी परस्पर दो वर्गो मे कलह हो गया। एक म्लेच्छ किसी की हत्या कर भागा। उसको पकडने के लिए दूसरे म्लेच्छो ने उसका पीछा किया। उसने भागते-भागते देखा कि एक स्थान पर खल-पिण्ड पडा है। उसने उस पर कपडा ढंक दिया। पीछा करने वाले म्लेच्छ उसको ढूढते हुए वहा आए और उन्होने उस खलपिण्ड को पुरुष मानकर उठा लिया।[2]

४९. (श्लोक २६-२८)

गोशालक को निरस्त कर मुनि आर्द्रकुमार भगवान् महावीर के दर्शन करने आगे निकल पडा। बौद्ध भिक्षुओं ने यह देख लिया। उन्होने जान लिया कि आर्द्रककुमार ने गोशालक को निरुत्तर कर उसको तिरस्कृत कर दिया है। वे दो कारणो से बहुत प्रसन्न हुए। पहला कारण यह था कि जब गोशालक और आर्द्रककुमार का वाद-विवाद हो रहा था, तब वे भिक्षु वहा उपस्थित थे। उन्होने सोचा—हमारे सामने गोशालक का निग्रह हुआ है। यह हमारे लिए शुभ है। प्रसन्नता का दूसरा कारण यह था कि उन भिक्षुओ ने सोचा—बहुत बडे परिवार से परिवृत राजकुमार आर्द्रक अब हमारे सघ मे मिल जाएगा, हमारे सघ की उपसपदा स्वीकार कर लेगा। हम इसे बौद्ध सिद्धान्त मे दीक्षित कर देंगे। इस आशय से प्रेरित होकर वे बहुत सारे भिक्षु एकत्रित हुए और गुणशील उद्यान मे समवसृत भगवान् महावीर के पास जाते हुए आर्द्रककुमार के मार्ग पर आकर खडे हो गए। आर्द्रककुमार के आते ही वे बोले—'ओह! महाश्रव आर्द्रक राजपुत्र! स्वागत है। कहा से आ रहे हो? कहा जाना है?'

आर्द्रक बोला—'मैं आर्द्र देश से आया हूं और भगवान् महावीर के पास जा रहा हूं।'

'वहा क्यो जा रहे हो?'

'मैं उनके सघ की उपसपदा स्वीकार करूंगा।'[3]

यह सुनकर वे बौद्ध भिक्षु बोले—आर्द्रक! तुम हमारे सिद्धान्त पहले सुनो, फिर सुनकर (मनन कर) उन्हे स्वीकार करो। हमारे सिद्धान्त विद्वद्भोग्य हैं, पडित-वेदनीय हैं, सूक्ष्म हैं।[4] तुमने वणिक् दृष्टान्त को दूषित बताकर बाहरी अनुष्ठानो की निरर्थकता प्रतिपादित की है। यह अच्छा किया। वास्तव मे बाह्य अनुष्ठान अत्यन्त निरर्थक ही होते हैं। आन्तरिक अनुष्ठान (अध्यवसाय) ही संसार और मोक्ष के प्रधान कारण हैं, अग हैं। हमारे सिद्धान्त मे यही प्रतिपादित है।[5] हमारे धर्म के अनुसार धर्म का मूल है चित्त। अतः उसी का नियमन करना चाहिए। शरीर बेचारा अचेतन है, काष्ठभूत है। उसको तपाने से, कष्ट देने से लाभ ही क्या है? कहा भी है[6]—

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२८।

२. वृत्ति, पत्र १४८।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४२७, ४२८।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४२८ इदमपि तावदस्स सिद्धान्तं श्रृणु, श्रुत्वा च संप्रतिपद्यस्व, पण्डितवेदनीयो ह्यस्मत्सिद्धान्त सूक्ष्मश्च।

५ वृत्ति, पत्र १४८ : यदेतद् वणिग्-दृष्टान्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं तच्छोभनं कृतं भवता यतोऽति फल्गुप्रायं बाह्यमनुष्ठानं, आन्तरमेव ह्यनुष्ठानं संसारमोक्षयो प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिद्धान्ते चैतदेव व्यावर्ण्यते।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४२८ चित्तमूलत्वाद्धर्म्मस्य, तदेव च नियंतव्यं, किं कायेन काष्ठभूतेन वृथा तापितेन? आह हि—'मनपुव्वंगमा'।

मन पुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो णं दुक्ख अन्वेति चक्कं व वहतो पदम् ॥ (धम्मपद १।१)

इस प्रकार धर्म का मूल भी चित्त है और अधर्म का मूल भी चित्त है। तुम पूछोगे कि धर्म का मूल चित्त कैसे है ? सुनो………… ।

- ० कोई व्यक्ति अजीव पदार्थ को सजीव मानकर दुष्ट चित्त से उसका हनन करता है, वह प्राणिवधजनित पाप से लिप्त होता है ।
- ० कोई व्यक्ति सजीव प्राणी को अजीव पदार्थ मानकर उसको पकाता है, वह प्राणिवधजनित पाप से लिप्त नही होता, क्योकि वह कुशलचित्त है, दुष्टचित्त नही है । '
- ० कोई व्यक्ति अपने भोजन के लिए पुरुष को या कुमार को शूल मे पिरोकर अग्नि मे पकाता है और उसे खलपिंडी मानता है, वह मास हमारे भोजन मे विहित है, हम भिक्षु वह मांस ले सकते हैं। क्योकि हमारे मत मे अजीव मास से प्राणातिपात होना नही माना है ।[1]

हमारे मत के अनुसार प्रवृत्ति कैसी भी क्यो न हो, जब तक मन मे उसकी सकल्पना नही होती, उससे कर्म उपचित नही होता । हम मानते हैं कि चार प्रकार से कर्म का उपचय नही होता—

१. अविज्ञानोपचित कर्म
२. परिज्ञानोपचित कर्म
३. ईर्यापथिक कर्म
४. स्वप्नान्तिक कर्म ।[2]

यह इन तीन श्लोको (२६ से २८) का प्रतिपाद्य है ।

श्लोक २८ :

५०. (श्लोक २८)

बौद्ध भिक्षुओ ने कहा—दूसरे द्वारा घात किए हुए प्राणी का मांस हम लेते हैं। हम हिंसा के भागी नही होते। मांस-ग्रहण मे हमारी अनभिसंधी है । त्रिकरण शुद्ध मास खाने मे हमे कोई दोष नही लगता । बुद्ध स्वय उसे लेते हैं तो भला शिष्यो के लिए तो कहना ही क्या ?[3]

बौद्ध साहित्य मे मास के संबन्ध मे निम्न प्रकार का निर्देश मिलता है । भिक्षुओ को सबोधित करते हुए बुद्ध ने कहा—जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मास को नही खाना चाहिए । जो खाए उसे दुष्कर का दोष लगता है । भिक्षुओ ! अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशकित—इन तीन कोटि से परिशुद्ध मास खाने की मैं अनुज्ञा देता हूं ।[4]

जो भिक्षु रुग्ण है, जिसको आहार अप्राप्त है, या दुर्भिक्ष है, उसके लिए सुगधित मास पकाकर देता है तो वह भी ग्राह्य है—

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२८ : इत्येवं चित्तमूलो धर्म्मः, अधर्मोऽपि चित्तमूल एव स्यात, कथं स धर्मश्चित्तमूलः ?………अपचेतनकृतप्राणातिपाते नास्ति ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२९ सर्वावस्थासु अचित्त त्तं कर्म्मयायं न गच्छति, अविज्ञातोपचितं ईर्यापथिकं स्वप्नान्तिकं चेत्यस्माकं कर्म्मचयं न गच्छति ।
(ख) वृत्ति, पत्र १४८ : वृत्तिकार ने कर्मचय न होने का एक कारण 'परिज्ञानोपचित' माना है । संभव है चूर्णिकार के उद्धरण में यह छूट गया ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४२८, ४२९ : ण लिप्पति पावबंधेण अम्हं, एवं तावदस्माकं अपचेतनकृतप्राणातिपाते नास्ति, यद्यपि च भवानन्यो वा कश्चिन्मन्यते अनपाये अपायदेशी यथा भवंतो मांसासिन इति तत्रापि अनभिसंधित्वादेवास्माकं त्रिकरण-शुद्धं मांसं भक्षयतां नास्ति दोष । बुद्धस्सवि ताव कप्पति किमुत ये तच्छिष्या. ?

४. विनयपिटक, महावग्ग, भैषज्य खन्धक ६।४-८ ।

चूर्णिकार के इस अभिमत की उक्त बौद्ध निर्देश के साथ संगति नही है। उन्होने किस आधार पर यह लिखा वह अन्वेषणीय है।[1]

श्लोक २६ :

५१. स्नातक (सिणायगाणं)

प्रस्तुत अध्ययन मे 'स्नातक' शब्द का प्रयोग चार बार (श्लोक २६, ३६, ४३, ४४ मे) हुआ है। उनतीस और छतीसवें श्लोक मे बौद्ध भिक्षुओ के प्रसग मे तथा तयालीस और चवांलीसवें श्लोक मे ब्राह्मणो के प्रसग मे यह शब्द प्रयुक्त है।

चूर्णिकार ने बौद्ध भिक्षुओ के प्रसग मे इसका अर्थ बारह धुतागो का पालन करने वाला शुद्ध भिक्षु किया है।[2] ब्राह्मणो के प्रसंग मे इसका अर्थ है—यज्ञ आदि षट्कर्म के उपासक अथवा वेदो के पारगामी तथा प्रवक्ता।[3]

वृत्तिकार ने बौद्ध भिक्षु के प्रसग मे स्नातक का अर्थ बोधिसत्वतुल्य[4] और ब्राह्मणो के प्रसग मे इसका अर्थ—षट् कर्म मे अभिरत, वेदो के अध्यापक, शौचाचार को मानने वाले तथा नित्य स्नान करने वाले ब्रह्मचारी—किया है।[5]

५२. पुण्य-स्कन्ध (पुण्णखध)

बौद्धमत मे पाच स्कन्ध माने जाते हैं—विज्ञान, वेदना, सज्ञा, संस्कार और रूप।[6] सचेतन और अचेतन परमाणुओ के प्रचय को स्कंध कहा जाता है। ये पांच स्कध दु ख-आर्यसत्य कहलाते हैं। पुण्य-पाप आदि धर्म समुदाय को सस्कार स्कध कहा जाता है।

चूर्णिकार ने सस्कार स्कध के तीन प्रकार बतलाए है—पुण्य, अपुण्य, स्मृतिज।[7]

५३. आरोप्यदेवता (आरोप्प)

चूर्णिकार ने यहा जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह बौद्ध परपरा का है। उसके अनुसार 'आरोप्य' सर्वोत्तम देवगति है। वहा के देव प्राय: निष्पाप होते हैं। उनके कल्मष प्राय. क्षीण हुए होते हैं। उनके चार प्रकार हैं :[8]—

१. आकाशोपक
२. विज्ञानोपक
२. अकिंचणीक
४. णोषण्णि-णोदाता (?)—यह विभाग भ्रामक है। इसके स्थान पर 'णोसण्णी-णो असण्णी' होना चाहिए था।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ : एतं गिलाणभिक्खुस्स छिन्नभत्तस्स दुब्भिक्खादिसु जायतेए पद्दतु पिंडीयमिति पओलितं सुगंधं सुहं खाइस्संति सती बुद्धि. तस्यां कल्पति, 'बुद्धाणं' ति निस्यमात्मनि गुरुषु च बहुवचनं।

२ (क) चूर्णि पृष्ठ ४२८ : द्वादशसु धूतगुणेसु युक्ता।
(ख) वही, पृष्ठ ४३४ : सिणातगा सुद्धा द्वादशधूतगुणचारिणोभिक्षवः।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४३७ : स्नातकाः शुद्धात्मान यज्ञादिषु षट्कर्माभिरता· अथवा स्नातकादि इति वेदपारका. प्रवक्तार।

४. (क) वृत्ति, पत्र १४६ : स्नातकाः—बोधिसत्वाः।
(ख) वही, पत्र १५० : स्नातकानां बोधिसत्वकल्पानां।

५. वृत्ति, पत्र १५२ : षट्कर्माभिरता वेदाध्यापका शौचाचारपरतया नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिण स्नातका।

६. षड्दर्शनसमुच्चय, श्लोक ५ :
दु खं संसारिण. स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥

७. चूर्णि, पृष्ठ ४२६ : स त्रिविध· पुण्यः अपुण्य· सतिजा इति।

८. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२६ : ते हि प्रक्षीणकल्मषप्राया· चतु प्रकारा आरो देवा·, ते भवत्याकाशोपकाः विज्ञानोपका अकिंचणीकाः णोसण्णिणोदातार., सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छंतीत्यर्थं.।
(ख) वृत्ति, १४६।
(ग) पाली-इंग्लिश डिक्शनरी (P.T S.) में आकाश शब्द के अन्तर्गत ये चार नाम इस प्रकार हैं—
१ आकासानञ्चउपक
२. विञ्ञाणानञ्चउपक
३. आकिञ्चञ्ञउपक
४. नेवसञ्ञानासञ्ञउपक

श्लोक ३० :

५४. (श्लोक ३०)

बौद्ध भिक्षुओ ने कहा—आर्द्रककुमार ! बुद्ध ने दानमूल और शीलमूल धर्म का प्रतिपादन किया है। तुम हमारे साथ आओ, बौद्ध सिद्धान्त को स्वीकार कर हमारे सघ मे सम्मिलित हो जाओ। 'आर्द्रक ने उनकी बात पर ध्यान ही नही दिया। उसने कहा—शाक्य भिक्षुओ ! तुम जो कहते हो कि अकुशल चित्त वाला प्राणवध न करने पर भी प्राणातिपात पाप से बधता है और कुशलचित्त वाला प्राणवध करने पर भी प्राणातिपात पाप से नही बंधता, यह अयोग्य है, अनुचित है।[1]

५५. योग्य नहीं है (अजोगरूवं)

चूर्णिकार ने रूप का अर्थ स्वभाव किया है। इसको समझाने के लिए वे कहते हैं—जैसे कोई व्यक्ति किसी पर रुष्ट होते हुए अपने अन्तर्गत भावो को प्रगट करता है तब उसकी भृकुटि तन जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं और वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को तीखी दृष्टि से देखने लग जाता है—यह सारा क्रोधी व्यक्ति का रूप है, स्वभाव है।[2]

अयोग्य रूप का अर्थ है—क्रूर स्वभाव।[3]

आर्द्रक ने उन बौद्ध भिक्षुओ को सबोधित कर कहा—भिक्षुओ ! हिंसा के समर्थन मे जो तुमने तर्क दिए हैं, इससे तुम्हारा क्रूर स्वभाव परिलक्षित होता है। मुनि या भिक्षु अहिंसा के पालन के लिए अभिनिष्क्रमण करता है। वह तीन गुप्तियो से गुप्त, पाच समितियो से समित, सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला होता है। वैसे भिक्षु की भावशुद्धि फलवान् होती है। इसके विपरीत जो मुनि या भिक्षु अज्ञान से आहत है, जिसकी अन्तरात्मा महामोह से व्याप्त है, जो खली और पुरुष मे भेद करने मे असमर्थ है, वैसे व्यक्ति के भावशुद्धि कैसे हो सकती है ! इसलिए तुम्हारा यह सिद्धान्त कि खली की बुद्धि से पुरुष को अग्नि मे पकाना भी पापकारी प्रवृत्ति नही है, अत्यन्त अयोग्य है।

तुम प्रव्रजित हो। तुमने सिर मुडाया है। तुम भगवा वस्त्र पहनते हो। तुम तीन चीवर रखते हो और अपने आपको संयत साधु मानते हो। तुम्हारे लिए हिंसा का समर्थन करना उचित नही है।[4]

५६. उन दोनों के ······प्राप्त होती है (अबोहिय दोण्ह वि तं असाहु)

आर्द्रक ने कहा—भिक्षुओ ! तुम्हारा हिंसा समर्थित सिद्धान्त दोनो—कहने वाले और सुनने वाले—के लिए अहितकर है, अज्ञान को बढाने वाला है।

भिक्षुओ ! अबोधि का अर्थ है—अज्ञान। अज्ञान के कारण यदि प्राणवध से पापकर्म का बन्ध नही होता है तो यह सिद्ध होता है कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। फिर तुम्हारा यह कहना—अविद्याप्रत्ययाः सस्कारा"—भी उचित नही होगा। और फिर तुम्हारी दृष्टि से ससार के सभी प्राणी सम्यग्दृष्टि वाले हो जाएगे। तब विरत और अविरत—यह विशेषण ही समाप्त हो जाएगा। कौन विरत और कौन अविरत—यह भेद नही रहेगा ! सर्वत्र निर्दयता का ही बोलबाला रहेगा। आज बहुत कठिनाई से किसी व्यक्ति को अहिंसक बनाया जाता है। तुम्हारे कहने के अनुसार तो कुशलचित्त से प्राणवध करने वाला भी अहिंसक हो जाएगा। ऐसी स्थिति मे सारा ससार अहिंसक कहलाएगा।[5]

यह सिद्धान्त मानने वाले तुम और तुमको सुनने वाले उपासक—दोनो हिंसक ही होंगे। जिनको हिंसा करने मे अनुताप होता है वे भी तुम्हारे वचनो को स्वीकार कर हिंसा मे विश्वस्त—अभ्यस्त हो जाएंगे।

यदि यह मान लिया जाए कि अज्ञान से दोष नही होता तो वैदिको का कल्याण बुद्धि से हिंसा करना भी निर्दोष बन जाएगा और इसी प्रकार ससारमोचक सम्प्रदाय का सिद्धान्त—दुःख से तडपते प्राणी को मार डालना चाहिए—भी सम्मत हो जाएगा।

तुम्हारा भी यही सिद्धान्त है कि प्राणवध का सकल्प (मन) किए बिना जो प्राणवध होता है उससे प्राणातिपात पाप का बध

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ४२९, ४३०।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४३० इह न योग्यमयोग्यं, रूपमिति स्वभावेत्युच्यते, यथा कश्चित्केनचित् रोषतः प्रत्यपकारचिकीर्षुरन्तर्गतं भावमाविः-कुर्वन् भृकुटिं करोति रूक्षा खारां वा दृष्टिं निपातयति।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४३० अयोग्यरूपं क्रूरस्वभावमित्यर्थः।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४३०।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४३०।

नही होता।[1]

वृत्तिकार ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भिक्षुओ! अज्ञान से आवृत मूढ व्यक्ति की भावशुद्धि फलवान् नही होती। यदि वह फलवान् होती है तब तो "ससारमोचक" सप्रदाय वालो के भी कर्मो का क्षय हो जाएगा। यदि तुम केवल भावशुद्धि को ही स्वीकार करते हो तो फिर सिरमुडन, पिंडपात, चैत्यपूजा आदि सारे अनुष्ठान अर्थहीन हो जाएगे।[2]

श्लोक ३१ :

५७. लक्षण को (लिंगं)

लिग का अर्थ है—लक्षण। जो आन्तरिक अर्थ का गमक होता है, उसे लिग कहते है। वही वस्तु का व्यावर्तक लिंग होता है। लिंग अनेक प्रकार का है। जीव का लक्षण है—उपयोग। यह उसका सासिद्धिक लिंग है। जैसे अग्नि का सासिद्धिक लिंग है—उष्णता। उपयोग का अर्थ है—स्पर्श आदि इन्द्रियो मे सुख-दु ख का सवेदन। यह सभी प्राणियो का समान लिग है। सभी प्राणियो को सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय है।[3]

वृत्तिकार के अनुसार जीव का लिंग है—चलन, स्पदन, अकुर की उत्पत्ति, छेदन करने से कुम्हलाना आदि।[4]

श्लोक ३२ :

५८. (श्लोक ३२)

आर्द्रककुमार का तर्क है कि पिण्याकपिंडी को पुरुष समझने की बात सभव नही लगती। पुरुष सचेतन है। उसमे हलन-चलन आदि की क्रिया होती है। तब पुरुष को पिण्याकपिंडी कैसे समझा जा सकेगा! यदि तुम कहो कि गहरी नींद मे सोए हुए मनुष्य मे हलन-चलन की क्रिया नही होती, इसलिए वह सभव है, तो वस्त्र से आच्छादित यह वस्तु पुरुष है या पिण्याकपिंडी—इन दोनो सभावनाओ को जानने वाला नि शक होकर प्रहार कैसे करेगा? जिसमे अहिंसा का विवेक है, वह ऐसा कभी नही कर सकता। इसी प्रकार पुरुष को पिण्याकपिंडी समझने की बात भी बुद्धि से परे है। उसमे भी विमर्श जरूरी होता है। क्या यह पुरुष है अथवा पिण्याकपिंडी? क्या यह कुमार है या तुम्बा? इसलिए कुशलचित्त और अकुशलचित्त कोई भी हो, वह इन दोनो सभावनाओ पर विचार किए बिना नि शकतया प्रहार करता है, उसे हिंसक न मानना तथा उसके कर्मबध को न स्वीकारना मिथ्यावाद है।[5]

श्लोक ३३ :

५९. ऐसा स्थूल वचन (सुरालमेयं)

चूर्णिकार ने सु+उराल शब्द मानकर उदार का अर्थ स्थूल[6] और वृत्तिकार ने निस्सार और निरुपपत्तिक किया है।[7] 'सु' के साथ 'उ' की सधि होने पर 'सूराल' बन जाता है, किन्तु छन्द की दृष्टि से उसका ह्रस्व प्रयोग किया है।

श्लोक ३४ :

६०. (श्लोक ३४)

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक का आशय इस प्रकार स्पष्ट किया है—'बौद्ध भिक्षुओ! आश्चर्य है कि तुम्हे कोई अपूर्व अर्थ—

---

१. चूर्णि पृष्ठ ४३१।

२. वृत्ति, पत्र १४९।

३. चूर्णि पृष्ठ ४३१ : उवयोगो लिग लक्षणमित्यर्थ आह हि—निमित्त हेतुरपदेश यथा अग्नावौष्णय सासिद्धिकलिंगमेवमात्मना त्रसाना स्थावराणां च सासिद्धिकलिंग, येन ज्ञायते आत्मनाऽऽत्मेति, स चोपयोग. स्पर्शादिष्विन्द्रियेषु सुखदु खयोरुपलब्धि-रित्यर्थ, तच्च सर्वप्राणभृता समानं लिङ्ग, सुख प्रियमप्रिय दु खं।

४. वृत्ति, पत्र १४९ : जीवलिङ्ग—चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छेदम्लानादिकम्।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४३१, ४३२।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४९।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४३२ : सूरालमेतत्स्थूलं।

७. वृत्ति, पत्र १५० सु-उदारं—सुष्ठु परिस्थूर नि.सारं निरुपपत्तिकं।

सिद्धान्त मिला है कि अज्ञान श्रेय है । यदि अज्ञान श्रेय है तो तुम ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न क्यो करते हो ? यह अर्थ तुम्हें कहां से मिला कि नही जानने वाला कर्म से मुक्त रहता है, अचिन्तित अवस्था मे कर्म का चय नही होता ।[1]

वृत्तिकार ने इस श्लोक की व्याख्या कुछ विस्तार से की है—

आर्द्रक ने अपनी युक्तियो से बौद्ध भिक्षुओ को पराजित कर उनका उपहास करते हुए कहा—ओह ! तुमने ही यथावस्थित तत्त्व को प्राप्त किया है । तुमने ही जीवो के कर्म-विपाक का चिन्तन किया है । इस प्रकार के विज्ञान से ही तुम्हारा यश समुद्रो पार गया है । लगता है इसी विज्ञानरूपी आलोक से तुमने इस लोक को हस्तामलक की भांति देख लिया है । धन्य है तुम्हारे विज्ञान के अतिशय को ! जिसके आधार पर तुम खलीपिण्ड और पुरुष मे तथा अलाबुफल और कुमार मे कोई अन्तर नही कर पाते ।[2]

श्लोक ३५ :

६१. विशुद्धि की अन्य विधि का अवधारण करते हैं (आहारिया अण्णविहीए सोहिं)

चूर्णिकार ने शोधि का अर्थ मोक्ष किया है ।[3] आर्द्रकुमार बोला—'भिक्षुओ ! तुम मानते हो कि अज्ञात अवस्था मे कर्म का बंध नही होता ।' हमारा सिद्धान्त इससे भिन्न है । हम मानते है कि प्रमत्त अवस्था मे कर्म का बन्ध होता है, अप्रमत्त कर्म से मुक्त होता है । शोधि का मार्ग है—अप्रमाद ।[4]

वृत्तिकार ने इस पद का भिन्न अर्थ किया है । उनके अनुसार जैन शासन मे संयमी मुनियो ने अन्न-विधि मे शुद्धि का स्वीकार किया है । वे बयालीस दोष रहित शुद्ध आहार का सेवन करते हैं, किन्तु भिक्षुओ ! वे तुम्हारी तरह मांसाहार को निर्दोष नही मानते ।[5]

६२. अस्पष्ट पदों के उपजीवी होकर (छण्णपओपजीवी)

इसमे तीन पद हैं—छन्न, पद, उपजीवी । छन्न का अर्थ है—अप्रकाश, अस्पष्टता, पद का अर्थ है—प्रवृत्ति और उपजीवी का का अर्थ है—उनके सहारे जीवन यापन करना । इसका तात्पर्य है, माया प्रधान साधन से आजीविका चलाने वाला ।

चूर्णिकार ने छन्न, अप्रकाश, अदर्शन और अनुपलब्धि को एकार्थक माना है ।[6] इन्होंने 'छण्णपओपजीवी' का पाठान्तर 'छणणपदोपजीवी' माना है । 'छणण' का अर्थ है हिंसा । इसका तात्पर्य है, जिस वचन से हिंसा का समर्थन हो ऐसा वचन न बोले । अज्ञान अवस्था मे कर्मबन्ध नही होता—इस प्रकार के वचन से श्रोताओं मे निर्दयता आदि दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिए ऐसा वचन बोलना चाहिए जिससे हिंसा को समर्थन न मिले ।[7]

६३. अनुधर्म (अणुधम्मो)

प्रस्तुत तथा इकतालीसवें श्लोक मे 'अनुधर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है । चूर्णिकार ने इसका अर्थ तीर्थंकर द्वारा आचीर्ण धर्म किया है ।[8] जिस प्रकार लौकिक क्षेत्र मे अनुराज—राजा जैसा आचरण करता है वैसा आचरण जनमान्य होता है । कहा भी है—'यद्यदाचरति श्रेष्ठ, तत् तदेवेतरो जन ।' लोकोत्तर क्षेत्र मे भी अनुधर्म सम्मत होता है । तीर्थंकर और गणधरो ने उद्दिष्ट आहार का वर्जन किया, इसलिए उनके अनुवर्ती शिष्य भी उसका वर्जन करते हैं । यह उनका अनुधर्म है ।[9]

'अनु' का दूसरा अर्थ सूक्ष्म भी किया है । इसका तात्पयार्थ यह है कि भगवान् महावीर ने सूक्ष्म धर्म का प्रतिपादन किया । उसमे किंचित् अतिचार सेवन भी दोष हो जाता है । जैसे शिरीष का फूल थोडे से ताप से कुम्हला जाता है, वैसे ही थोडे से दोष-सेवन

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४३२ ।

२. वृत्ति, पत्र १५० ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४३३ सोहि मोक्षः इत्यर्थं ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४३३ . नापि सचितित कर्म्म बद्धयत इति सिद्धान्त , किं तर्हि ? अस्माकं प्रमत्तस्य कर्म्म बध्यते अप्रमत्तस्य मुच्यते, अप्रमत्तः शुद्धयत इत्यर्थ' ।

५. वृत्ति, पत्र १५० ।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४३३ ' छद अपवारणे छज्जते तस्य छन्नं छन्नमप्रकाशमदर्शनमनुपलब्धिरित्यनर्थान्तरं, पदं चेष्टितं छन्नपदेन उवजीवनधर्मा छन्नपदोपजीवि ।

७. चूर्णि, पृष्ठ ४३३ ।

८. चूर्णि, पष्ठ ४३४ : अनु पश्चाद्भावेऽनुधर्म्मस्तीर्थकराचीर्णोऽयमुपचर्यते इति अनुधर्मस्तीर्थकरानुधर्म्मिणः साधव इहेति ।

९ चूर्णि, 'पृष्ठ ४३५, ४३६ . एसोऽणुधम्मो, जहा लोए''' ''''तच्छिष्याः अपि परिहरंति ।

से श्रामण्य अशुद्ध हो जाता है ।[1]

वृत्तिकार के अनुसार अहिंसा मुनियो का अनुधर्म है । इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर ने पहले इस अहिंसा धर्म का पालन किया और फिर मुनियो के लिए उसे आवश्यक बतलाया ।[2]

इस प्रसग मे वृत्तिकार ने बौद्ध भिक्षुओ के एक तर्क को निरस्त किया है । उनका तर्क है—"चावल आदि धान्यकण भी प्राणी के अग के सदृश होने के कारण मासतुल्य हैं ।' यह तर्क उचित नही है । क्योकि प्राणी का अग होने पर भी कुछ मास होता है और कुछ मास नही होता । जैसे दूध और रुधिर दोनो प्राणी के अंग हैं, फिर भी दूध भक्ष्य है और रुधिर अभक्ष्य । स्त्रीत्व के समान होने पर भी भार्या गम्य होती है, किन्तु बहिन गम्य नही होती । चावल एकेन्द्रिय प्राणी का अंग है, इतने मात्र से वह मास की कोटि का नही होता । इस प्रसग मे वृत्तिकार ने असिद्ध, अनैकान्तिक और विरुद्ध हेत्वाभासो के द्वारा इसमे दोष बतलाए हैं ।[3]

वर्तमान दृष्टि से विचार करें तो एकेन्द्रिय जीव मे केवल रस धातु की निष्पत्ति होती है । उसमे रक्त नही होता । रक्तधातु के बिना मास धातु निष्पन्न नही होती । रक्त और मास की निष्पत्ति द्वीन्द्रिय जीवो से आरम्भ होती है । इसलिए मास और अन्न की तुलना सगत नही है ।

देखें—सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, पृष्ठ १००, टिप्पण २२ तथा पृष्ठ १०६, टिप्पण ६१ ।

श्लोक १४ :

६४ प्राणीवध की आशंका से (भूताभिसकाए)

शका के अनेक अर्थ हैं—शका, भय, ज्ञान, अज्ञान । यहा शका शब्द भय के अर्थ मे प्रयुक्त है । यह भय मृत्यु का ही भय है ।[4]

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दीक्षित व्यक्ति प्राणियो के वध मे भय देखते है । उनको इहलोक और परलोक—दोनों का भय रहता है । वे मानते है—'जो खलु जीव उद्दवेति एस खलु परभवे तेहिं वा अण्णेहिं वा जीवेहिं उद्दविज्जति'—जो इहलोक मे जीवो को मारता है वह परलोक मे उन्ही जीवो के द्वारा या अन्य जीवो के द्वारा मारा जाता है ।[5]

६५. त्याग करते हैं (निहाय)

यही शब्द ७/१० मे भी प्रयुक्त हुआ है । वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसग मे 'निधाय' शब्द देकर उसका अर्थ—त्याग करके—किया है[6] और सातवें अध्ययन मे 'निहाय' (विहाय-पाठान्तर) देकर यही अर्थ किया है ।[7] चूर्णिकार ने 'णिधाय' के 'धा' को ह्रस्व मानकर इसका अर्थ—निक्षिप्य—छोडकर किया है ।[8]

श्लोक ४२ :

६६. निर्ग्रन्थ धर्म में (णिग्गथधम्मम्मि)

चूर्णिकार ने इस स्थान पर "णिग्गथधम्मा" पाठ मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—निर्ग्रन्थ का ही धर्म जिनका धर्म है, वे निर्ग्रन्थधर्मा कहलाते है । अथवा निर्ग्रन्थ का अर्थ है—भगवान् महावीर । वे सभी ग्रन्थो (ग्रन्थियो) से अतीत आत्मा है । चेतन-भूत निर्ग्रन्थ (महावीर) की आत्मा के तुल्य जिनकी आत्मा है, वे निर्ग्रन्थधर्मा कहलाते है । वे सब महावीर के सहधर्मी है ।[9]

६७. समाधि (समाही)

सम+अधि=समाधि । इसका अर्थ है मन का समाधान, एकाग्रता । मानसिक द्वन्द्व के अभाव मे समाधि इस जीवन मे भी

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४३६ : अथवा अणु सूक्ष्म इत्यर्थ , सूक्ष्मो धर्मो भगवता प्रतीत स्तोकेनाप्यतिचारेण बाध्यते शिरीषपुष्पमिव तदनुतापेन ।

२. वृत्ति, पत्र १५० : अनु—पश्चाद्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थंकरानुष्ठानादनन्तरं भवति ।

३ वृत्ति, पत्र १५० ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४३५ . सका भये ज्ञाने अज्ञाने च पूर्वोक्ता, इह तु भए द्रष्टव्या, तच्च मरणभयमेव ।

५. वही, पृष्ठ ४३५ ।

६ वृत्ति, पत्र १५२ : निधाय—परित्यज्य ।

७. वही, पत्र १६५ निहाय—परित्यज्य ।

८. चूर्णि, पृष्ठ ४५३ णिधय त्ति धकारस्य ह्रस्वत्वे कृते निधय भवति, निक्षिप्येत्यर्थं ।

९. चूर्णि, पृष्ठ ४३६ ।

उपलब्ध हो सकती है। परम समाधि का अर्थ है मोक्ष।[1]

६८. वह इस जगत् में……प्राप्त होता है (इहच्चणं पाउणई सिलोगं)

शीलसपन्न व्यक्ति इस जीवन मे भी श्लाघा को प्राप्त होता है। लोग कहते है—'यह है श्रमण; यह है श्रमण', 'देखो, यह है श्रमण'। वह परलोक मे सिद्ध, बुद्ध मुक्त हो जाता है।[2]

श्लोक ४३ :

६९. (श्लोक ४३)

आर्द्रक ने बौद्ध भिक्षुओ के सिद्धान्त और चर्या का खडन कर उनको निरुत्तर कर दिया। यह देखकर कुछेक ब्राह्मण आकर बोले—'आर्द्रककुमार! तुमने अच्छा किया। ये गोशालक के मतानुयायी और बौद्ध भिक्षु—दोनो वेदबाह्य है, वेदो को नही मानते। तुमने इनको निरस्त कर सुन्दर काम किया है। देखो, यह अर्हत् मत (महावीर का मत) भी वेद-बाह्य है। तुम्हारे लिए उचित नही है कि तुम इसकी शरण लो। तुम क्षत्रिय हो। क्षत्रिय का धर्म है कि वे सर्वोत्तम जाति मे उत्पन्न ब्राह्मण की ही उपासना करें, शुद्रो की नही। इसलिए यज्ञ-याग की विधि से ब्राह्मणो की सेवा करना ही युक्तियुक्त है।'[3]

'आर्द्रक राजपुत्र! जाओ मत, ठहरो। हमारे वेद सिद्धान्त को सुनो। सृष्टि के प्रारभ मे विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। वह अनेक केसर वाला था। उसमे ब्रह्मा का जन्म हुआ। ब्रह्मा ने इस सृष्टि की रचना की। ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मणो की सृष्टि की। ब्रह्मा ने फिर शूद्रो को उत्पन्न किया। उनका काम है ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनो वर्गो की परिचर्या करना। फिर ब्रह्मा ने क्षत्रियो की सृष्टि की। वे केवल एक ब्राह्मण वर्ग की ही परिचर्या करते है। इसी परिचर्या से वे श्रेयस् प्राप्त करते हैं। इसलिए जगत् ब्रह्मोत्तर है। तीनो वर्णो मे ब्राह्मण ही पूज्यतम है। इसलिए द्रव्य उपधान, क्षेत्र उपधान, काल उपधान और भाव उपधान से शुद्ध दान देकर उनकी पूजा करनी चाहिए। जैसे—

- द्रव्य उपधान शुद्ध—गाय, हिरण्य, सुवर्ण, धन-धान्य आदि देना।
- क्षेत्र उपधान शुद्ध—अपने घर पर आए हुए, आराम पूर्वक बैठे हुए को दान देना। अथवा पुष्कर आदि प्रसिद्ध क्षेत्र मे दान देना।
- काल उपधान शुद्ध—पूर्णिमा, अमावस्या तथा सभी पर्व-तिथियो मे दान देना।
- भाव उपधान शुद्ध—लोक प्रत्युपकार की भावना से नई-नई वस्तुए देना।[4]

ब्राह्मणो ने आगे कहा—'आर्द्रक! हम ब्राह्मण अपने आप मे पात्रता हासिल कर दान-पात्र बनते हैं। हम दूसरो के अनुग्रह के लिए ही दान लेते है, इसलिए देने वाले और लेने वाले—दोनो का कल्याण होता है। जो ऐसे ब्राह्मणो को एक दिन या दो दिन भोजन कराता है, एक-दो को भोजन कराता है या हजारो को भोजन कराता है, अकेला भोजन कराता है या अनेक व्यक्ति मिलकर भोजन कराते हैं, ब्राह्मणो से जाप कराते हैं, दक्षिणा देते है या उनसे पौंडरीक आदि यज्ञ करवाते है वे ब्राह्मणो की पूजा करने वाले महान् पुण्य का सचय करते है और मर कर ब्रह्म, इन्द्र, प्रजापति, विष्णु, लक्ष्य (?) आदि स्वर्ग मे देव होते हैं। यह वेदो का प्रतिपादन है। वेद ही उत्कृष्ट प्रमाणभूत है। वर्तमान मे तीन वेद ही प्रमाण माने जाते हैं। तुम अपने राज्य मे जाओ। जब तुम्हारा राज्याभिषेक हो, उस समय अपनी इच्छानुसार तुम स्नातक ब्राह्मणो को गाय, हिरण्य, सुवर्ण आदि का दान देना। हमारे शास्त्रो मे कहा है—जो-जो पदार्थ ब्राह्मणो को इहभव मे दिए जाते हैं, उन पदार्थो का उपभोग दानकर्ता इस जन्म मे भी करता है और वे पदार्थ उसे परजन्म मे भी प्राप्त होते है। तुम सब यज्ञ करना और ब्राह्मणो को भूमीदान और स्वर्णदान देना, तब तुम्हे श्रेयस् प्राप्त होगा। जिन-जिन धर्म-साधनो की हमने चर्चा की है, उनका प्रयोग यदि अभ्युदयिक धर्म के लिए किया जाता है तो उनका फल अपवर्ग-प्राप्ति नही होता। जब अपवर्ग-प्राप्ति के लिए उन धर्म-साधनो का उपयोग किया जाता है, तब वे अपवर्ग-प्राप्ति के हेतु बनते है। वैदिक धर्म स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्ति का साधन है। तुम उसे स्वीकार करो। तुम व्यर्थ ही तपोयुक्त सयम का आचरण करने जा रहे हो।'[5]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४३६ समाअधि समाधि मनः समाधानमित्यर्थ अथवा मणस्स हि इहेव समाधी भवति, द्वन्द्वाभावात् परमसमाधी य मोक्षो।

२ चूर्णि, पृष्ठ ४३६।

३. वृत्ति, पत्र १५२।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४३६, ४३७।

५. वही, पृष्ठ ४३७, ४३८।

श्लोक ४४ :

७०. ब्राह्मणों को (कुलालयाणं)

कुलाल का अर्थ है—मार्जार। हिंसा का समर्थन करने वाले को लक्षणा की दृष्टि से मार्जारतुल्य कहा गया है।[1]

श्लोक ४५ :

७१. नीचे अन्धकारपूर्ण रात्रि को (णिहोणिसं)

चूर्णिकार ने णिह का अर्थ 'न्यक्' किया है। निश का अर्थ है अन्धकार। इसका तात्पर्यार्थ है—दुरुत्तर नरक।[2]

श्लोक ४६ :

७२ (श्लोक ४६)

आर्द्रककुमार ब्राह्मणो के सिद्धान्तो का निराकरण कर भगवान् के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। इतने मे ही त्रिदडी परिव्राजक (साख्य) आकर बोले—आर्द्रककुमार ! तुमने बहुत अच्छा किया। ये ब्राह्मण गृहस्थ है। सभी प्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्तियो मे ये प्रवृत्त रहते है। ये इन्द्रियो के विषयो का आसक्ति से आसेवन करते है। इनका निरसन तो होना ही चाहिए। आर्द्रक ! अब तुम हमारा सिद्धान्त सुनो, और सुनकर उसे स्वीकार करो। तुम्हारा और हमारा सिद्धान्त मिलता-जुलता है।

१ हम मानते है कि न कुछ नया उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट होता है। केवल अभिव्यक्ति होती है। हम सत्कार्यवादी हैं। तुम्हारा अर्हत् दर्शन भी सत्कार्यवादी है। उसमे द्रव्यार्थिक दृष्टि से सभी पदार्थों को नित्य माना गया है।
२ पुरुष का स्वरूप है चेतनामय। अर्हत् दर्शन मे भी आत्मा का स्वरूप है चेतनामय।
३ हम अहिंसा आदि पाच यमो को मानते हैं। तुम्हारे दर्शन मे भी पाच महाव्रत स्वीकृत हैं।
४. हम भी इन्द्रियो के आधार पर पाच प्रकार का नियम मानते है और तुम्हारे धर्म मे भी यही है।
५ जैसे तुम यम-नियम लक्षण वाले अपने धर्म मे स्थित हो, वैसे ही हम भी यम-नियम लक्षण वाले अपने धर्म मे स्थित है।
६ जैसे तुम यावज्जीवन के लिए व्रतो का आचरण करते हो, वैसे ही हम भी यावज्जीवन के लिए व्रती बनते हैं।
७ जैसे तुम यम-नियम धर्मो का पालन न माया या दभ के लिए और न लोकप्रतीति के लिए करते हो वैसे ही हम भी आत्मा के लिए सब कुछ करते हैं।
८ तुम्हारा आचरण और हमारा आचरण समान है। जैसे तुम युगमात्र भूमि को देख-देख कर चलते हो, वैसे ही हम युगमात्र भूमि को देखकर चलते है।

- जैसे प्रमार्जन के लिए तुम रजोहरण रखते हो वैसे ही हम केशरिका रखते है।
- जैसे तुम्हारी वाग्गुप्ति या भाषा समिति है वैसे ही हमारे 'मौन' रहने और जोर से न बोलने की परपरा है।

९ शील भी हमारा समान है—भद्रता, मृदुस्वभावता, अनाक्रोश, अमत्सरभाव—ये सब समान हैं।
१० अर्हत् दर्शन मे श्रुतज्ञान और केवलज्ञान को मोक्ष का अगभूत कहा गया है। हम भी यही मानते है।
११ अर्हत् दर्शन मानता है कि आत्मा अपने-अपने कर्मो के कारण ससार मे परिभ्रमण करता है। हमारी भी यही मान्यता है।
१२ जैसे अर्हत् दर्शन असत् कार्यवादी नहीं है, वैसे हम भी असत्कार्यवादी नही है।
१३ जैसे तुम्हारे उत्पाद और विनाश की मान्यता है, वैसे ही हमारे आविर्भाव और तिरोभाव की मान्यता है।
१४ हम आत्मा को अव्यक्त, महान्, सनातन, अक्षय, अव्यय, प्रत्येक शरीर मे समानरूप से स्थित मानते है, वैसे ही अर्हत् दर्शन मे भी आत्मा का यही स्वरूप प्रतिपादित है।

इसलिए आर्द्रकुमार ! इन समानताओ को तुम ध्यान मे लो। तुम हमारे धर्म को स्वीकार करो।[3]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४३८।
२ चूर्णि, पृष्ठ ४३९ अणिधो णिधं णाम अध अंधकारं, दुरुत्तरं नरकमिति वाक्यशेष ।
३. चूर्णि, पृष्ठ ४४०, ४४१।

श्लोक ४७ :

७३. (श्लोक ४७)

सांख्य परिव्राजको ने जैन दर्शन के साथ अपनी समानताओ का वर्णन कर कहा—'आर्द्रकुमार ! हमारे दर्शन की एक विशेषता है, उसे तुम ध्यान से सुनो। वह विशेषता है—परमात्मवाद। संसारी आत्माए सब कारणात्माए हैं। एक है परमात्मा जो सभी कारण-आत्माओ से भिन्न है, विशेष है।[1] चूर्णिकार ने अनेक परमात्माओ का उल्लेख किया है।[2]

एकात्मवाद के आधार पर वृत्तिकार ने इसे वेदान्त दर्शन का अभिमत वतलाया है।[3] किंतु वास्तव मे यह चिन्तनीय है। सांख्य दर्शन की अपेक्षा वेदान्त दर्शन बहुत अर्वाचीन है। साख्य दर्शन की दो धाराए रही हैं। उनमे एक ईश्वरवादी धारा है और दूसरी है अनीश्वरवादी धारा। ईश्वरवादी धारा मे एकेश्वरवाद सम्मत रहा है। पातंजलयोगदर्शन मे इसकी स्पष्ट प्रकल्पना है। उसके अनुसार ईश्वर सदैव मुक्त है, अनादि-सिद्ध है।[4]

प्राचीनकाल मे श्रमण परम्परा मे भी कुछ श्रमण संप्रदाय ईश्वरवादी थे। साख्य एक श्रमण सप्रदाय था और उसका एक भाग ईश्वरवादी भी था। इस दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या वेदान्त दर्शन से संबद्ध नही होनी चाहिए। किंतु इसका सम्बन्ध साख्य दर्शन से है और इसका सबसे बडा प्रमाण है 'पुरुष' शब्द का प्रयोग। वेदान्त ब्रह्मवादी है, पुरुषवादी नही है।

७४. महान् (महंतं)

इसके भी दो अर्थ हैं—सर्वव्यापी और प्रकृति।[5]

७५. पुरुष (पुरिसं)

सांख्य मत मे पाच तन्मात्र, बुद्धि, मन और अहंकार को 'पुर' माना है।[6] जो इसमे रहता है, वह पुरुष है।

पुर का दूसरा अर्थ है—शरीर। जो शरीर मे रहता है, वह पुरुष।[7] साख्य मे पुरुष शब्द आत्मा का वाचक है।

७६. सब प्राणियों के साथ (सव्वेसु भूएसु……)

प्रश्न होता है कि सभी प्राणियो मे एक ही आत्मा कैसे है ?

चूर्णिकार इसे स्पष्ट करते हुए साख्य दार्शनिको का मत बताते हैं—जैसे हिमपटल से युक्त अत्यन्त तेजस्वी सूर्य के चारो ओर से रश्मिया निकलती हैं, फिर उस सूर्य-बिम्ब मे ही प्रलीन हो जाती हैं और उसे कोई बाधा नही पहुंचाती, वैसे ही कूटस्थ आत्मा से आत्माए निकलती हैं, अपने-अपने कर्मों के अनुसार कर्मों का निवर्तन कर, सुख-दु ख का अनुभव कर, पुन. उसी आत्मा मे लीन हो जाती हैं।[8]

चूर्णिकार का कथन है यह तथ्य साख्य और वैदिक—दोनो के लिए समान है। साख्य अनेक परमात्माओ को मानते है और वैदिक एक ही परमात्मा को मानते हैं। वे एकेश्वरवादी हैं और साख्य अनेकेश्वरवादी।[9]

---

१ चूर्णि, पृष्ठ ४४१ परमात्मा कारणात्मस्यो विशिष्यते।

२. वही, पृष्ठ ४४१,४४२।

३. वृत्ति, पत्र १५५ : वेदान्ताद्यात्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्य।

४. पातजल योगदर्शन, १/२४-२६।

५. चूर्णि पृष्ठ ४४१ : महन्त इति सर्वगत. सर्वथा वा प्रकृत्या गतः।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४४१ : पंच तन्मात्राणि बुद्धिमनोऽहङ्कार इति पुरं।

७. वही, पृष्ठ ४४१ : अथवा से शरीरं पुरं तस्मिन् पुरे शयत इति पुरुषः।

८ चूर्णि, पृष्ठ ४४१ : यथा हिमहम(पट)लाविप्रमुक्तत्वात् भूरितेजसाऽऽदित्यबिम्बाद् रश्मयः सर्वतो निस्सरंते, निःसृत्य च तमेव पुनः प्रविशन्ति, न च तस्याबाधां कुर्वन्ति, एवं सर्वात्मन त्रिकालावस्थिता. कूटस्थान् निस्सरंति, निसृत्य च तानि स्वकर्मविहितानि शरीरानि निवर्तयित्वा सुखदुःखादि चानुभूय पुनः पुनस्तमेव परमात्मानं प्रविशन्ति।

९. चूर्णि, पृष्ठ ४४८ . एतच्च सूत्र साख्यवैदिकयोस्तुल्यं व्याख्यायते नैक परमात्मानो वेदिकानां तु एक·।

७७. जैसे ताराओं के साथ चन्द्रमा (चंदो व ताराहिं समत्तरूवे)

आत्मा की निरशता प्रतिपादित करने के लिए सांख्य कहते हैं कि जैसे चंद्रमा समस्त ताराओ से सपूर्ण रूप से सवध करता है, वैसे ही यह कूटस्थ आत्मा भी प्रत्येक शरीर के साथ संपूर्ण रूप से सवध करता है।

वृत्तिकार ४७ वें श्लोक का ऊहापोह करते हैं कि इस श्लोक की व्याख्या वेदान्त के आत्मा-अद्वैतवाद के अनुसार करनी चाहिए। वे एक ही आत्मा को मानते है। वह आत्मा आकाश की भाति सर्वव्यापी, सनातन, अनन्त, अक्षय और अव्यय है। वह सभी चेतन-अचेतन भूतो मे सर्वात्मना स्थित है। जैसे सभी ताराओ के साथ एक ही चद्रमा संबंध करता है, वैसे ही सभी आत्माओ के साथ यह विश्वव्यापी एक ही आत्मा सवध स्थापित करती है।[1]

श्लोक ४८ :

७८. मरेंगे (मिज्जंति)

चूर्णिकार ने 'मिज्जति' का अर्थ—मरना[2] और वृत्तिकार ने परिच्छेद करना, प्रमाण करना, किया है।[3]

चूर्णिकार ने अपने अर्थ की सार्थकता को 'सर्वगत' के साथ जोडा है। मृत्यु उसी की होती है जो सर्वगत नही होता, अ-सर्वगत होता है। जैसे—देवदत्त अपने घर को छोडकर अन्यत्र गया है, ऐसा व्यपदेश होता है, किन्तु सर्वगत के लिए शरीर, प्राण आदि के त्याग का व्यपदेश नही होता।[4] वृत्तिकार के अनुसार आत्मा को सर्वव्यापी और अविकारी मानने पर नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि भेद नही किए जा सकते।[5]

७९. संसार-भ्रमण करेंगे (संसरंति)

असर्वगत के लिए ससार घटित होता है, सर्वगत के लिए नही। क्योकि उसके लिए कुछ भी अप्राप्त नही है। यदि आत्मा को सर्वगत माना जाए तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन सबकी सगति नही बैठती।[6]

८०. (श्लोक ४८)

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या चूर्णिकार ने आत्मा की सर्व व्यापकता के सिद्धान्त को सामने रखकर की है।[7] वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या आत्मा की कूटस्थनित्यता के सिद्धान्त को सामने रखकर की है।[8]

श्लोक ५१ :

८१. स्थान (ठाणं)

यहा स्थान शब्द आचरण के अर्थ मे प्रयुक्त है। स्थान, वृत्त, कर्म—ये एकार्थक हैं।[9] वृत्तिकार ने भी स्थान का अर्थ कर्म, अनुष्ठान किया है।[10]

---

१. वृत्ति, पत्र १५५।
२. चूर्णि, पृष्ठ ४४२: मृङ् प्राणत्यागे।
३. वृत्ति पत्र १५५: मीयेरन्''''''परिच्छिद्येरन्।
४. चूर्णि, पृष्ठ ४४२: असर्वगतस्य हि प्राणत्यागो युज्यते, यथा—देवदत्त स्वगृहं त्यक्त्वा अन्यत्र गच्छति, न चैवं सर्वगतस्य शरीरादि-प्राणत्यागो युज्यते।
५. वृत्ति, पत्र १५५।
६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४४२।
 (ख) वृत्ति, पत्र १५५।
७. चूर्णि, पृष्ठ ४४२।
८. वृत्ति, पत्र १५५।
९. चूर्णि, पृष्ठ ४४३ स्थानं वृत्त कर्मेत्यनर्थान्तरं।
१०. वृत्ति पत्र १५६: स्थान—पदं कर्मानुष्ठानरूपम्।

८२. चारित्र (चरण)

चरण, वृत्त और मर्यादा एकार्यक हैं ।[1]

श्लोक ५२ :

८३. (श्लोक ५२)

आर्द्रककुमार ने सांख्य परिव्राजको को निरुत्तर कर भगवान् महावीर के पास जाने लिए कदम बढाए । इतने मे ही 'हस्तितापस' वहा आए और उसे घेर कर बैठ गए । उनके दाढी-मूछ के बाल बहुत बढे हुए थे । नख भी प्रलंब हो गए थे । उनका सिर जटा-मुकुट से दीप्त था । उनके हाथ मे धनुष्य-बाण थे । उन्होने एक साथ कहा—आर्द्रककुमार ! थोडे ठहरो, हमारी चर्या, जो सिद्धान्तानुमोदित है, उसे सुनो । तुम्हे वह रुचिकर लगेगी । राजकुमार कुछ ठहरा । वे हस्तितापस पाच सौ की सख्या मे थे । उनमे से एक वृद्धतम हस्तितापस आर्द्रककुमार को सबोधित कर बोला—आर्द्रककुमार ! हम द्वादशाग्र, अभ्युदयकामी, मुमुक्षु और हस्तितापस हैं । हम परम कारुणिक हैं । वन मे निवास करने से मूल, कन्द, फल, फूल आदि अनेक जीवो की घात करने पर भोजन होता है । यह महान् दोष है, यह जानकर सवत्सर (चूर्णि के अनुसार एक वर्ष और वृत्ति के अनुसार एक वर्ष अथवा छह माह) एक बार विषलिप्त बाण से हाथी के मर्मस्थान को बाधकर उसे मारते हैं । उस विशालकाय हाथी के मास का आहार कर हम अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । उसके मास खडो को पकाकर खाते हैं । ज्ञानी को सदा अल्प या बहुत्व की चिन्ता करनी चाहिए । जो ये दूसरे वन-तापस हैं वे कन्द, मूल, फल आदि खाते हैं और अनेक वनस्पतिकायिक जीवो तथा उनके आश्रय मे रहने वाले अनेक त्रस जीवो की हत्या करते हैं । दूसरे अन्य तापस भिक्षा से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । वे भी इधर-उधर घूमते हुए अनेक प्राणियो की घात करते हैं । हम एक वर्ष भर मे या छह महीनो मे एक बार एक विशालकाय हाथी को बाणो से मारकर, वर्ष तक उसके मास से जीवन यापन करते हैं । हमारे एक जीव की घात होती है, शेष सारे जीव बच जाते हैं । उनकी रक्षा हो जाती है । हम थोडे जीव की हत्या कर, बहुत जीवो की रक्षा करते है । यह हमारा मत है ।

जो यह अल्प पाप होता है उसको हम आतापना, उपवास, जाप, ब्रह्मचर्य का पालन कर क्षीण कर देते है, जैसे तुम अर्हत् धर्म को मानने वाले पाप का शोधन प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि से करते हो । हमारा यह हस्तितापस धर्म स्मृतियो मे विहित है । आओ, तुम इसे स्वीकार करो ।[2]

श्लोक ५४ :

८४. (श्लोक ५४)

हस्तितापसो को परास्त कर आर्द्रककुमार भगवान् की दिशा की ओर चला । वहा सर्वलक्षण सपन्न, अभी-अभी पकडा हुआ एक विशाल हाथी आलान खभे से साकलो पर बधा हुआ था । हाथी के कानो मे ये शब्द पड़े—"अहो ! यह आर्द्रक राजकुमार अपने सभी बन्धनो को तोडकर तीर्थंकर महावीर के पास जा रहा है । इसने सभी तीर्थिको को परास्त कर दिया है । लोग इसकी स्तुति कर रहे हैं । इसकी पूजा, अर्चा कर रहे है । वदना कर रहे हैं, यह कितना निरपेक्ष है । सभी शत्रुओ पर इसने विजय प्राप्त कर ली है । धन्य है यह !" हाथी का विवेक जागा । उसने मन ही मन सकल्प किया—यदि मैं इस महात्मा के प्रभाव से बन्धनमुक्त हो जाऊ तो मैं इसे वदना-नमस्कार कर अपने वन मे चला जाऊगा । वहा अपने यूथ की हथिनियो, कलभो के साथ स्वच्छन्दता से विहरण करूगा । उसने यह सोचा । सकल्प बलवान् बना और देखते-देखते उसके लोहबधन तड-तडकर टूट गए । बन्धन टूटते ही वह हाथी सूड को ऊचा कर आर्द्रकऋषि की ओर दौडा । हाथी को देख लोग भयाक्रान्त होकर इधर-उधर भागने लगे । वे चिल्ला उठे, अहो ! यह दुष्ट हाथी आर्द्रक राज-कुमार को मार देगा । वे अत्यन्त भयभीत थे । हाथी आर्द्रकऋषि के निकट गया । भक्तिभाव से अपना सिर झुकाया । अपने कानो को निश्चल कर तीन प्रदक्षिणा की और दोनो दातो को धरती तल पर टिकाकर अपनी सूड से आर्द्रक का चरण स्पर्श किया । हाथी ने मन ही मन कहा—आर्द्रक राजर्षि ! आपका कल्याण हो । आप अपने मनोरथो को पूरा करें, बन्ध से मुक्त हो जाए । ऐसी भावना कर वह हाथी अपने वन की ओर चला गया ।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४४३ . चरणं वृत्तं मर्यादेत्यनर्थान्तरं ।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४४४ ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५६ ।

इस महान् प्रभाव से सारी जनता चमत्कृत हो गई और आर्द्रक तपस्वी के प्रति उनकी भक्ति उमड पड़ी। उसी समय महाराजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर को वंदना करने उस रास्ते से जा रहा था। उसने अपने मन्त्रियो से पूछा। उन्होने आर्द्रकुमार के प्रभाव की बात बतलाई। राजा श्रेणिक आर्द्रककुमार के पास गया, वदना नमस्कार कर बोला—अहो ! आपका तप दुष्कर है। उसका महान् प्रभाव है। आपके तप प्रभाव से ही वनहस्ती के लोहबन्धन छिन्न-भिन्न हो गए। वे तीक्ष्ण शस्त्रो से भी दुच्छेंद्य थे। इसलिए आपका तप अतीव दुष्कर है।

आर्द्रक बोला—राजन् ! हाथी का बन्धन-मुक्त हो जाना कोई बडी बात नही है। स्नेह के बन्धन को तोडना अत्यन्त दुष्कर है।

आर्द्रक आगे बढा। भगवान् महावीर के पास जाकर उसने अपने पाच सौ शिष्यो को, उनके चरणो मे समर्पित कर डाला। भगवान् ने उनको प्रव्रजित किया और आर्द्रक के शिष्यरूप मे पुन' उसे ही सौप दिया।[1]

श्लोक ५५ :

८५. तीर्थंकर की आज्ञा (बुद्धस्स आणाए)

चूर्णिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि आर्द्रककुमार ने अभी तक महावीर को देखा नही तो फिर उसे उनके समाधि-मार्ग की अवगति कैसे हुई ? इसलिए कैसे कहा जा सकता है कि आर्द्रक महावीर की आज्ञा मे चल रहा है। उनके मार्ग का अनुगमन कर रहा है, उनके सघ (आज्ञा) का बुद्ध है ?

इसके समाधान मे कहा गया—महावीर ने महान् अध्ययनो का उपदेश किया। भविष्य की बात को महावीर ने जान ली कि आर्द्रक उनके समीप आएगा और अन्यतीर्थियो को परास्त कर विहरण करेगा और उनको अमुक अमुक उत्तर देगा। भगवान् ने यह सब कहा और गणधरो ने उसे सकलित कर लिया। अथवा आर्द्रक प्रत्येकबुद्ध था। उसने यह सब पहले ही जान लिया और अन्यतीर्थिको को उत्तर दे डाला।[2]

८६. समाधि है (समाहिं)

आर्द्रककुमार ने अन्यतीर्थिको के आक्षेपो का उत्तर दिया, यह एक समाधि है। समाधि तीन प्रकार की होती है—ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि और चारित्रसमाधि। यहा मुख्यतया दर्शनसमाधि का प्रकरण है। मिथ्यादृष्टिकोण का निरसन करने से सम्यग् दृष्टिकोण का स्थिरीकरण होता है और सम्यक्त्व के स्थिर होने पर ज्ञान और चारित्र भी उपलब्ध हो जाते है। आर्द्रककुमार इस त्रिविध समाधि मे सुस्थित था।[3]

८७. महाभव के प्रवाह को (महाभवोघं)

भव—जन्म-मरण के तीन कारण हैं—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अचरित्र। ये तीनो महा-भवौघ हैं। जो व्यक्ति मिथ्यादर्शन के समुद्र को तर जाता है वह सम्यक्त्व मे स्थित हो जाता है। जो अज्ञान के समुद्र को तर जाता है वह ज्ञान मे (प्रकाश मे) स्थित हो जाता है। जो अचरित्र के समुद्र को सवर रूपी नाव मे आरूढ होकर तर जाता है, वह पूर्ण सवर को पा लेता है।[4]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४४५-४४७ इत्येवं तांस्तापसान् प्रतिहत्य भगवत्समवसरणमेव प्रति प्रतिष्ठते····भगवानपि एतान् प्रव्राज्य तस्यैव तान् शिष्याननुज्ञातवान्।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७, १५८।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४४७ : अज्जवि सो ताव भट्टारगं ण पेच्छति तो कहं तस्स आणाए बुद्धो ? उच्यते ननूपदिष्टानि महाध्ययनानि अनागत चेव तेण भट्टारकेण णातं जहा आर्द्रको नाम तस्समीपं एंतो अण्णउत्थिए हंतु विहरिस्सति, वुत्तो य समाणो एताणि एरिसाणि उत्तराणि दाहितित्ति तेण भगवता भासितं, गणधरेहिं तु सुत्तीकतं........अथवा प्रत्येकबुद्धो सो तेण पुव्वं एते अत्था आगमिता, तेण तेसिं अण्णउत्थियाणं तमुत्तरं देइ।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४४७ . तेण तेसिं अण्णउत्थियाणं तमुत्तरं देइ इच्चेवमेसा भगवतो पुव्वतित्थगराणं च समाधी वुत्तो एत्तो तिविधो दंसणादि तत्थ विसेसेण दंसणसमाधिणा अधिगारो वुच्चति जेण मिच्छद्दिट्ठीसु पडिहतेसु संमत्त थिरीहोति, सति य संमत्ते णाणचरित्ताइपि होंति, अस्सिं समाधौ त्रिविधेऽपि सुट्ठु स्थित्वा वा।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४४७ यश्च महाभवौघ' महंतो वा भवौघो यथा मिथ्यादर्शनोघन्तरित्ता संमत्ते ट्ठाति एवं अन्नाणोघं भवकारणतिकाऊण तं तरति, अचरित्तोघं संवरणावारूढो तरिअ।

८८. समुद्र (समुद्दं)

चूर्णिकार ने तीन सौ तिरेसठ मिथ्यावादियों के समूह को समुद्र माना है। मिथ्यादर्शन अन्यान्य मिथ्यादर्शनों को उत्पन्न करता है। इसलिए यह समुद्र जैसा दुस्तीर्ण है।[1]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४४७ . इच्चेतानि तिण्णि तिसट्ठाणि कुप्पावयणाणि य सताणि मिच्छादंसणसमुद्दं तरित्ता, मिच्छादंसणसमुद्दओहमिति जलं, मिच्छादंसणे हि तस्मिन् मिथ्यादर्शनसमुद्भवो भवतीति कारणे कार्यवदुपचारो।

सत्तमं अज्झयणं

णालंदइज्जं

सातवां अध्ययन

नालंदीय

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'नालदीय' है। राजगृह नगर के उत्तर-पूर्व मे नालदा नाम का उपनगर था। वहा गणधर गौतम और पार्श्वापत्यीय श्रमण उदक के मध्य वार्तालाप हुआ था। नालदा मे होने के कारण इस अध्ययन का नामकरण 'नालदीय' रखा गया।[1]

सूत्रकृताग आगम मे स्वसमय और परसमय के विपय मे अनेक चर्चाए हैं। इसमे साधुओ के आचार और अनाचार के विपय मे ऊहापोह है। प्रस्तुत अध्ययन मे श्रावक-विधि, श्रावक-धर्म का प्रतिपादन है। इससे पूर्व के अध्ययन मे अन्य तीर्थिको के साथ हुए वाद-प्रतिवाद का सकलन था। प्रस्तुत अध्ययन मे अपनी ही परंपरा का ऊहापोह है।

नालदा के समीप मनोरथ नाम का उद्यान था।[2] एक वार गणधर गौतम अपने अनेक शिष्यो के साथ वहा ठहरे हुए थे। उस समय तीर्थंकर पार्श्व की परपरा मे दीक्षित श्रमण उदक कुछ जिज्ञासा का समाधान लेने वहा आया। वह पेढाल का पुत्र और मेदार्य गोत्र वाला था। उसने आकर गौतम से श्रावक के विपय का प्रश्न पूछते हुए कहा—आर्य गौतम! आपके श्रमण श्रावको को स्थूल प्राणातिपात आदि के विषय मे अणुव्रत दिलाते हैं। वे उस अणुव्रत को स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा अन्य सूक्ष्म या वादर प्राणियो का उपघात होता है। उस हिंसा का अनुमतिजनित कर्मवध साधु को क्यो नही होता? स्थूल प्राणातिपात अणुव्रत स्वीकार करनेवाले वे श्रावक पर्यायान्तरगत (स्थूल जीव सूक्ष्म जीवो की योनि मे उत्पन्न हो जाते है।) जीवो के वध से व्रतभगजनित कर्मवन्ध से क्यो नही वधते? जैसे कोई व्यक्ति यह अणुव्रत ग्रहण करता है कि मैं अमुक नागरिको का वध नही करूगा और यदि वह नागरिक अन्यत्र चला जाता है और अन्य नगरी का नागरिक वन जाता है, तो क्या उसका वध करने से व्रतभग नही होता?' तव गौतम ने उदक को 'गृहपति-चोरग्रहण-विमोक्षण' का उदाहरण दिया और श्रावक विपयक प्रश्न से उसकी तुलना की। उस उदाहरण का सक्षेप इस प्रकार है—

राजा ने एक वणिक् के छहो पुत्रो को आज्ञाभग के अपराध मे मृत्युदड दे दिया। पिता ने राजा से कहा—'मेरी सारी संपत्ति लेकर आप मेरे छहो पुत्रो को मुक्त कर दें।' राजा ने प्रार्थना स्वीकार नही की। तब वह वणिक् हताश होकर पाच, चार, तीन, दो पुत्रो की मुक्ति के लिए प्रार्थना करता रहा। राजा ने नही माना। अन्त मे उसने कहा—'कुल-परपरा के सर्वक्षय को रोकने के लिए एक पुत्र को जीवनदान दे।' राजा ने ज्येष्ठ पुत्र को जीवनदान देकर मुक्त कर दिया।[3]

साधु श्रावक को अखिल प्राणातिपात विरति करने का उपदेश देते है, जैसे वणिक् ने छहो पुत्रो की मुक्ति के लिए राजा से प्रार्थना की थी। जव श्रावक सर्वप्राणातिपातविरति करने मे अपने आपको असमर्थ पाता है तव उसे उसकी शक्ति के अनुरूप व्रत-ग्रहण कराया जाता है। जव राजा ने छह, पाच, चार, तीन, दो पुत्रो को मुक्त करने की वात नही मानी, तव उसे कम से कम एक पुत्र को मुक्त करने के लिए कहा। जैसे उस वणिक् के मन मे मृत्युदड को पाने वाले शेप पाच पुत्रो के वध की तनिक भी अनुमति नही थी, वैसे ही यथाशक्ति व्रत-ग्रहण करने पर शेप प्राणिवध की अनुमति साधु की कैसे हो सकती है? इससे यह अनुमतिजन्य पाप कर्म-वन्ध की वात व्यर्थ हो जाती है।[4]

पार्श्वापत्यीय उदक पेढालपुत्र ने गौतमस्वामी के समक्ष कुछ प्रश्न और रखे। गौतमस्वामी ने उनका उत्तर दिया। उसका सार-सक्षेप इस प्रकार है—

प्रश्न १. गौतम! निर्ग्रन्थ प्रवचन के श्रमण उपसपदा के लिए उपस्थित गृहस्थ को यह प्रत्याख्यान कराते है कि अभियोगो (वलप्रयोगो) को छोडकर त्रस प्राणियो की हिंसा करने का त्याग है। इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वाले और प्रत्याख्यान करने वाले—दोनो के दुष्प्रत्याख्यान होता है। वे अपनी-अपनी प्रतिज्ञा का भग करते हैं।

इसका कारण यह है—अपने-अपने कर्मो के अनुसार त्रस प्राणी स्थावर वन जाते हैं और स्थावर प्राणी त्रस

---

१ (क) चूर्णि पृष्ठ, ४४६ : णालंदाया भवं णालंदइज्ज।
(ख) वृत्ति पत्र, १६० नालन्दायां भव नालन्दीय नालन्दासमीपोद्यानकथनेन वा निर्वृत्तं नालन्दीयम्।
२ वृत्ति पत्र, १६० नालन्दाया. समीपे मनोरथाख्ये उद्याने।
३. वृत्ति पत्र, १६९।
४. वृत्ति पत्र, १७०।

योनि मे उत्पन्न हो जाते है। जिसने त्रस प्राणियो के वध का प्रत्याख्यान किया है, क्या वह स्थावरकाय की हिंसा करता हुआ, उस स्थावरकाय मे उत्पन्न त्रस की हिंसा नही करता ? क्या यह व्रतभंग नही है ? सुप्रत्याख्यान की भाषा यह होनी चाहिए—मैं त्रसभूत प्राणी की हिंसा नही करूंगा।

उत्तर—'उदक ! यह भाषा यथार्थ नही है, अनुताप करनेवाली है। जैसे कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं ब्राह्मण का वध नही करूंगा। वह किसी वर्णान्तर मे चला जाता है या मरकर तिर्यञ्च मे उत्पन्न हो जाता है, तो क्या उस वर्णान्तर या तिर्यञ्च के वध से उसका वध होना माना जाएगा ? क्योंकि प्रतिज्ञा करते समय उसने 'ब्राह्मणभूत' नही कहा था। कोई प्रतिज्ञा करता है—'मैं सिंह को नही मारूंगा', तो क्या वह अन्य प्राणियो की हिंसा करता हुआ 'सिंह' की हिंसा करता है, क्योंकि सिंह मरकर अन्य योनियो मे उत्पन्न हो चुका है। इसलिए तुम्हारा कथन यथार्थ नही है। त्रसकाय से मुक्त जीव स्थावरकाय मे और स्थावरकाय से मुक्त जीव त्रसकाय मे उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय मे उत्पन्न उन स्थावर जीवों का यह स्थान (त्रसकाय) अघात्य है, क्योंकि उस व्यक्ति ने स्थूल प्राणातिपात की निवृत्ति की है। उस निवृत्ति से त्रसस्थान अघात्य है और स्थावरस्थान घात्य है, क्योंकि स्थावर की हिंसा से वह निवृत्त नही है। इस अभिप्राय से कोई भी व्यक्ति व्रत का पालन नही कर सकता।

दूसरी बात है कि यह 'भूत' शब्द व्यामोह उत्पन्न करता है। 'भूत' शब्द उपमा के अर्थ मे तथा सादृश्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। यदि सादृश्य अर्थ मे है तब तो त्रसभूत कहो या त्रस—दोनो एकार्थक है।

प्रश्न २ 'गौतम ! तुम त्रस प्राणियो को ही त्रस कहते हो या अन्य प्राणियो को त्रस कहते हो ?'

उत्तर—'उदक ! जिन्हे तुम त्रसभूत कहते हो, उन्ही को हम त्रस कहते हैं। वर्तमान मे जो त्रस प्राणी का आयुष्य भोग रहे हैं वे ही त्रस हैं।'

प्रश्न ३ 'गौतम ! मेरी यह स्थापना है कि ऐसा कोई भी पर्याय नही जिसमें श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। क्योंकि त्रसकाय के सभी जीव स्थावरकाय मे और स्थावरकाय के सभी जीव त्रसकाय में उत्पन्न हो सकते हैं।'

उत्तर—'उदक ! यह तुम्हारी मान्यता यथार्थ नही है। हम ऐसा नही मानते। यह न कभी हुआ, न है और न होगा कि सभी स्थावर त्रस हो जाए या सभी त्रस स्थावर हो जाए ! क्योंकि स्थावर अनन्त हैं और त्रस असंख्य हैं। एक तथ्य यह भी है कि सब त्रस भी स्थावर न हुए है, न हैं और न होंगे। यह सही है कि काल की अपेक्षा से त्रस स्थावर मे उत्पन्न होंगे पर दूसरे अनेक प्राणी त्रस मे आकर उत्पन्न होते रहेंगे। अत. त्रसशून्य संसार की कल्पना नही हो सकती।'

'तुम्हारी मान्यता से ही तुम्हारे पक्ष का खडन हो जाता है—यदि मान लें कि सभी स्थावर त्रस रूप मे उत्पन्न हो जाते हैं तब श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सर्व प्राणी विषयक होगा। किन्तु ऐसे भी त्रस बहुत हैं, जिनकी घात मनुष्य कर ही नही सकता। जैसे—देव, नारकीय जीव, वैक्रियलब्धि से कृत वैक्रिय शरीर, तथा तेतीस सागर की आयुष्य वाले जीव, ये बहुत हैं। इनकी दृष्टि से श्रमणोपासक के सुप्रत्याख्यान होगा। तुम्हारी मान्यता के अनुसार यह तथ्य स्वय फलित होता है।'

प्रश्न ४ 'गौतम ! कोई श्रमणोपासक त्रस जीवो को मारने का प्रत्याख्यान करता है। वे त्रस जीव स्थावरकाय मे उत्पन्न हो जाते हैं तो क्या उस स्थावरकाय की हिंसा करते हुए उस श्रमणोपासक का व्रतभग नही होता ?'

उत्तर—उदक ! इस तथ्य को समझाने के लिए ये तीन दृष्टान्त पर्याप्त है—

१. कोई व्यक्ति मुनि की हत्या न करने का व्रत लेता है—'मैं यावज्जीवन मुनि की हत्या नही करूंगा।' कोई मुनि पाच-दस वर्ष तक श्रामण्य का पालन कर पुन गृहवास मे लौट आता है, वह गृहस्थ बन जाता है। जिसने मुनि-हत्या न करने का व्रत लिया, उसके श्रमण अवस्था से लौटकर पुनः घर आए पुरुष का वध करने पर प्रत्याख्यान का भग नही होता।

२ कोई गृहस्थ विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है। अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करता है। फिर किसी कारणवश वह पुन' गृहवास मे आ जाता है। पहले वह गृहस्थ था, तब हिंसा का परित्याग नही था। जब मुनि बना तब हिंसा का परित्याग कर दिया। अब पुन. गृहस्थ बन गया। उसके अब हिंसा का परित्याग नही है। इस प्रकार उसकी तीनो अवस्थाओ मे प्रत्याख्यान के तीन प्रकार हो गए।

३ कोई परिव्राजक निर्ग्रन्थ प्रवचन मे अनुरक्त होकर श्रमण वनता है । वह कुछ वर्प निर्ग्रन्थो के साथ रहता है, फिर पुन परिव्राजक वन जाता है । यह वही व्यक्ति है जिसके साथ श्रमण अवस्था मे भोजन आदि का सम्वन्ध था । यह वही व्यक्ति है जिसके साथ अव अश्रमण अवस्था मे भोजन आदि का सम्वन्ध नही है । वह पहले अश्रमण था, बाद मे श्रमण हुआ और फिर अश्रमण है । श्रमण निर्ग्रन्थ अश्रमण के साथ भोजन आदि का सम्वन्ध नही रखते ।

इसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवो का पर्यायान्तर होता है । पहले दृप्टान्त मे हन्तव्य विपयभूत यति और गृहस्थ का पर्याय-भेद प्रदर्शित है । दूसरे दृप्टान्त मे प्रत्याख्यान करनेवाले के आधार पर पर्याय-भेद प्रदर्शित हे । तीसरे मे सम्वन्ध-असम्बन्ध के आधार पर पर्याय-भेद दिखाया है । इन तीनो से देशविरति की निर्दोपता प्रस्थापित होती है ।'[१]

इस प्रकार गौतम स्वामी ने उदक पेढालपुत्र को श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के विपय का (सूत्र २०-२८) प्रतिपादन किया और फिर प्रत्याख्यान नौ विकल्पो से होता है, यह उनतीसवे सूत्र मे विस्तार से समझाया ।

गणधर गौतम और पार्श्व की परपरा के श्रमण उदक की यह चर्चा लम्वे समय तक चली । उदक का मन समाहित हुआ, पर वह चर्चा समाप्त होते ही, बिना कृतज्ञता ज्ञापित किए, उठकर जाने लगा । तब गौतम वोले—'उदक ! विना कुछ कहे ही चले जा रहे हो ?' उदक ने मुडकर कहा—'गौतम ! मैं समझ नही सका, तुम क्या कहना चाहते हो ? तब गौतम ने कहा—'उदक ! लौकिक परपरा मे भी व्यक्ति अपने शिक्षागुरु के प्रति नत होता है, उनका विनय करता है, उनकी गुणगाथा करता है और यह मानता है कि इन्ही से मुझे परमार्थ का यह रहस्य प्राप्त हुआ है । यह सच है कि पूजनीय व्यक्ति अपनी पूजा-प्रतिप्ठा नही चाहता, कुछ भी नही चाहता, पर व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार उसके उपकार को वहुमान दे । तुमने इस चर्चा से यथार्थ को जाना है । कृतज्ञता ज्ञापित किए विना यो ही चले जा रहे हो, क्या यह उचित है ?

उदक को अपने प्रमाद की जानकारी हुई । वह बोला—'गौतम ! तुम्हारे से मैंने परमार्थ का अवबोध प्राप्त किया है । अज्ञात और अश्रुत होने के कारण मेरी जानकारी यथार्थ नही थी । अब मैं उस तत्त्व के प्रति श्रद्धा करता हू और चाहता हू कि चातुर्याम धर्म से पचयाम धर्म को स्वीकार करू—पार्श्व की परपरा से अभिनिष्क्रमण कर महावीर की परम्परा मे सम्मिलित हो जाऊ, अप्रतिक्रमण धर्म से सप्रतिक्रमण धर्म मे आ जाऊ ।'

गौतम उदक को साथ ले भगवान् महावीर के पास आए । उदक ने भगवान् को वदना की और पचयाम धर्म मे प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की । भगवान् महावीर ने उसे प्रतिक्रमणयुक्त पाच महाव्रतो की दीक्षा दे अपने श्रमण-सघ मे सम्मिलित कर लिया ।[२]

---

१. वृत्ति पत्र, १७३-१७७ ।

२. प्रस्तुत अध्ययन सूत्र ३२-३८ ।

सत्तमं अज्झयणं : सातवां अध्ययन

णालंदइज्जं : नालंदीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णाम णयरे होत्था—रिद्धत्थिमियसमिद्धे जाव पडिरूवे ॥	तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगर आसीत्—ऋद्धस्तिमितसमृद्ध यावत् प्रतिरूपम् ।	१ उम काल उस समय मे राजगृह नामका नगर था—ऐश्वर्यशाली, शान्त और समृद्ध यावत् असाधारण ।
२. तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं णालंदा णामं बाहिरिया होत्था अणेगभवणसयसण्णिविट्ठा पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा ॥	तस्य राजगृहस्य नगरस्य बहि उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे, अत्र नालन्दा नाम वाहिरिका आसीत्—अनेकभवनशतसन्निविष्टा प्रासादिका दर्शनीया अभिरूपा प्रतिरूपा ।	२ उस राजगृह नगर के वाहर ईशानकोण मे नालंदा नामकी वाहिरिका (उपनगर) थी। उसमे अनेक सैकडो भवन निर्मित थे। वह मन को आल्हादित करने वाली, दर्शनीय, सुन्दर और असाधारण थी।
३. तत्थ णं णालंदाए बाहिरियाए लेवे णामं गाहावई होत्था—अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिण्ण-विपुल-भवण-सयणासण-जाणवाहणाइण्णे बहुधण-बहुजायरूवरजए आओग-पओग-संपउत्ते विच्छड्डिय-पउर-भत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ॥	तत्र नालन्दाया वाहिरिकाया लेपो नाम गृहपति आसीत्—आढ्य. दीप्त वित्त विस्तीर्णविपुलभवन-शयनासनयानवाहनाकीर्ण वहुधन-वहुजातरूपरजत आयोग-प्रयोगसप्रयुक्त विच्छर्दितप्रचुर-भक्तपान वहुदासीदासगोमहिप-गवेलकप्रभूत वहुजनस्य अपरिभूत चापि आसीत् ।	३ उस नालन्दा नामकी वाहिरिका मे लेप नामका गृहपति[1] था। वह आढ्य, प्रसन्न और प्रसिद्ध[2] था। वह विस्तीर्ण और विपुल भवन, शयन, आसन, यान और वाहन से आकीर्ण[3], वहुत धन और वहुत सोने-चादी वाला था। वह अर्थ के आयोग-प्रयोग (लेनदेन) मे[4] सप्रयुक्त और भक्तपान का प्रचुरमात्रा मे वितरण करने वाला था। वह अनेक दासी, दास, गाय, भैस और भेडो वाला तथा वहुत जनो के द्वारा अपराजेय था।
४. से णं लेवे णामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था—अभिगय जीवाजीवे उवलद्धपुण्णपावे आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिय-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसले असहेज्जे देवासुर - णाग - सुवण्ण - जक्ख-रक्खस - किण्णर- किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाईर्एहि देवगणेहिं णिग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जे, इणमो णिग्गंथिए पावयणे णिस्संकिए णिक्कंखिए	स लेपो नाम गृहपति श्रमणोपासकश्चापि आसीत्—अभिगत-जीवाजीव उपलब्धपुण्यपाप. आस्रव - सवर - वेदना - निर्जरा-क्रिया-अधिकरण - वन्ध - मोक्ष-कुशल असहाय्य देवासुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किंपुरुष-गरुड-गन्धर्व-महोरगादिकै देवगणै नैर्ग्रन्थात् प्रवचनात् अनतिक्रमणीय, अस्मिन् नैर्ग्रन्थिके प्रवचने नि शकित नि काक्षित	४ वह लेप गृहपति श्रमणोपासक भी था। वह जीव-अजीव को जानने वाला, पुण्य-पाप के मर्म को समझने वाला, आस्रव सवर-वेदना-निर्जरा-क्रिया-अधिकरण-वध और मोक्ष के विपय मे कुशल, सत्य के प्रति स्वय निश्चल, देव-असुर-नाग-सुपर्ण-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किंपुरुष-गरुड-गन्धर्व-महोरग आदि देवगणो के द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अविचलनीय, इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे शका रहित, काक्षा रहित, विचिकित्सा रहित, यथार्थ को सुननेवाला, ग्रहण करने वाला, उस विपय मे प्रश्न करने

णिव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगयट्ठे अट्ठिमिजपेम्माणुराग-रत्ते अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे ऊसियफलिहे अवंगुय-दुवारे चियत्तंनेउर-परगरदारप्प-वेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपाले-माणे समणे णिग्गंथे फासुएसणि-ज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल - पायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढ-फलग-सेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहा-परिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

निर्विचिकित्सः लब्धार्थः गृहीतार्थः पृष्टार्थः विनिश्चितार्थः अभिगतार्थः अस्थिमज्जा-प्रेमानुरागरक्तः इदं आयुष्मन् ! नैर्ग्रन्थं प्रवचनं अर्थः इदं परमार्थः शेषः अनर्थः. उच्छ्रितपरिघः अप्रावृतद्वारः त्यक्तान्तःपुरपरगृह-द्वारप्रवेशः चतुर्दश्यष्टम्युद्दिष्ट-पौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यक् अनुपालयन् श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्रासुकैषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-प्रतिग्रह-कंबल - पादप्रोञ्छनेन औषध-भैषज्येन पीठ - फलक - शय्या-संस्तारकेन प्रतिलाभयन् बहुभिः शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवासैः यथापरिगृहीतैः तपःकर्मभिः आत्मानं भावयन् विहरति ।

वाला, उसका विनिश्चय करने वाला, उसे जानने वाला, (निर्ग्रन्थ प्रवचन के) प्रेमानुराग से अनुरक्त अस्थि-मज्जा वाला, आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन यथार्थ है, यह परमार्थ है, शेष अनर्थ है, (ऐसा मानने वाला), आगल को ऊंचा और दरवाजे को खुला रखने वाला, अन्तःपुर और दूसरों के घर में बिना किसी रुकावट के प्रवेश करने वाला, चतुर्दशी-अष्टमी-अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करने वाला, श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, औषध-भैषज्य, पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक का दान देने वाला, बहुत शीलव्रत-गुण-विरमण-प्रत्याख्यान और पौषधोपवास के द्वारा तथा यथापरिगृहीत तपःकर्म के द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ रहता था।

५. तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स णालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुर-त्थिमे दिसिभाए, एत्थ णं सेसदविया णाम उदगसाला होत्था —अणेगखंभसयसण्णिविट्ठा पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा ॥

तस्य लेपस्य गृहपतेः नालन्दायां बाहिरिकायाः उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे अत्र शेषद्रव्या (शेप-द्रविका) नाम उदकशाला आसीत्—अनेक स्तम्भशतसन्नि-विष्टा प्रासादीया दर्शनीया अभि-रूपा प्रतिरूपा ।

५. उस लेप गृहपति के नालंदा बाहिरिका के ईशानकोण में 'शेषद्रव्या'[१] नामकी उदकशाला थी। वह अनेक सैकड़ों खंभों पर निर्मित, मन को आल्हादित करने वाली, दर्शनीय, सुंदर और असाधारण थी।

६. तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए एत्थ णं हत्थिजामे णाम वणसंडे होत्था—किण्हे वण्णओ वणसंडस्स ॥

तस्याः शेषद्रव्यायाः उदक-शालायाः उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे, अत्र हस्तियामो नाम वनषण्ड आसीत्—कृष्णः वर्णकः वन-षण्डस्य ।

६. उस 'शेषद्रव्या' उदकशाला के ईशानकोण में 'हस्तियाम' नामका वनषण्ड[२] था। वह कृष्ण और कृष्ण आभावाला था। वनषण्ड का पूरा वर्णन यहां वक्तव्य है।

७. तंसि च णं गिहपदेसंसि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि ॥

तस्मिन् च गृहप्रदेशे भगवान् गौतमो विहरति, भगवान् च अध आरामे ।

७. उस 'शेषद्रव्या' उदकशाला के किसी एक गृह-प्रदेश में भगवान् गौतम विहार कर रहे थे। भगवान् महावीर उस वनषण्ड के आरामगृह में विहार कर रहे थे।[३]

८. अहे णं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेदज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं

अथ उदकः पेढालपुत्रः भगवान् पार्श्वापत्यीयः निर्ग्रन्थः मेतार्यः गोत्रेण यत्रैव भगवान् गौतमः तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य

८. मेतार्यगोत्री, पार्श्वापत्यीय[४] भगवान् निर्ग्रन्थ पेढालपुत्र उदक[५] जहां भगवान् गौतम थे वहां

गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा ! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो ! अहासुय अहादरिसियमेव वियागरेहि ॥

भगवन्त गौतम एव अवादीत्—आयुष्मन् ! गौतम ! अस्ति खलु मे कश्चित् प्रदेश प्रष्टव्य त च मे आयुष्मन् ! यथाश्रुत यथादर्शित एव व्यागृणीहि ।

आए, आकर इस प्रकार बोले—आयुष्मन् ! गौतम ! मुझे कुछ प्रश्न[१०] पूछने हैं। आयुष्मन् ! आपने जैसा सुना है, जैसा भगवान् ने आपको दर्शन दिया है, वैसा मुझे उत्तर दें।

९. सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—अवियाइ आउसो ! सोच्चा णिसम्म जाणिस्सामो ॥

सवाद भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र एव अवादीत्—अपि च आयुष्मन् ! श्रुत्वा निशम्य ज्ञास्याम ।

९ वाद के स्वर मे[११] भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् ! (आपके प्रश्नो को) सुनकर[१२], अवधारण कर जानेंगे।

१०. सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा ! अत्थि खलु कम्मारपुत्तिया णाम समणा णिग्गंथा तुम्हागं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपण्णं एवं पच्चक्खावेंति—णण्णत्थ अभिजोगेणं, गाहावइ-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।

सवाद उदक पेढालपुत्र भगवन्त गौतम एव अवादीत्—आयुष्मन् ! गौतम ! सन्ति खलु कम्मारपुत्रिका नाम श्रमणा निर्ग्रन्था. युष्माक प्रवचन प्रवदन्त गृहपति श्रमणोपासक उपसपन्न एव प्रत्याख्यापयन्ति—नान्यत्र अभियोगेन, गृहपति-चोरग्रहण-विमोक्षणतया त्रसेषु प्राणेषु निहाय[१] दण्डम् ।

१० वाद के स्वर मे पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् ! गौतम ! कम्मारपुत्रिक[१३] नामके श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं। वे तुम्हारे प्रवचन का निरूपण करते हुए, उपसपदा के लिए आए हुए गृहपति श्रमणोपासक को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते है—अभियोग[१४] को छोडकर गृहपति के चोर को पकड़ने और छोडने के न्याय से[१५] त्रस प्राणियो की हिंसा करने का प्रत्याख्यान है।[१६]

एवं ण्हं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ। एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियं भवइ। एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अइयरंति सयं पइण्णं ।

एव प्रत्याख्यायता दुष्प्रत्याख्यात भवति। एव प्रत्याख्यापयता दुष्प्रत्याख्यापित भवति। एव ते पर प्रत्याख्यापयन्त अतिचरन्ति स्वका प्रतिज्ञाम् ।

इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वालो के दुष्प्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार जो प्रत्याख्यान कराते है उनका यह दुष्प्रत्याख्यान कराना होता हे। इस प्रकार वे प्रत्याख्यान कराने वाले अपनी प्रतिज्ञा का उल्लघन करते है।

कस्स णं तं हेउं ।

कस्य तद् हेतो ?

इसका कारण क्या है ?

संसारिया खलु पाणा—थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं ।

सासारिका खलु प्राणा—स्थावरा अपि प्राणा. त्रसतया प्रत्यायान्ति। त्रसा अपि प्राणा स्थावरतया प्रत्यायान्ति। स्थावरकायात् विप्रमुच्यमाना त्रसकाये उपपद्यन्ते। त्रसकायात् विप्रमुच्यमाना स्थावरकाये उपपद्यन्ते। तेषा च स्थावरकाये उपपन्नाना स्थानमेतद् घात्यम् ।

प्राणी सासारिक ससरणशील होते है—स्थावर-प्राणी भी त्रसरूप मे उत्पन्न होत हे। त्रसप्राणी भी स्थावररूप मे उत्पन्न हात हे। स्थावरकाय से मुक्त होते हुए जीव त्रसकाय मे उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय से मुक्त होते हुए जीव स्थावरकाय मे उत्पन्न होते हैं। स्थावरकाय मे उत्पन्न उन त्रसजीवो का यह स्थान (स्थावरकाय) घात्य है—इसमे घात करना सभव हो जाता हे।

एवं ण्हं पच्चक्खताणं सुपच्चक्खायं भवइ।

एव प्रत्याख्यायता सुप्रत्याख्यात भवति।

इस प्रकार (निम्न निर्दिष्ट प्रकार से) प्रत्याख्यान करने वालो के सुप्रत्याख्यान होता है।

१. निधाय (?)

एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवइ।

एवं प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यापितं भवति।

इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने वालों के सुप्रत्याख्यान कराना होता है।

एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णाइयरंति सयं पइण्णं—णण्णत्थ अभिजोगेणं, गाहावइ-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहाय दंडं। एवं सइ भासाए परिकम्मे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति। अयं पि णो उवएसे किं णो णेयाउए भवइ? अवियाइं आउसो! गोयमा! तुब्भं पि एयं एवं रोयइ?

एवं ते परं प्रत्याख्यापयन्त: नातिचरन्ति स्वका प्रतिज्ञाम्—नान्यत्र अभियोगेन, गृहपति-चोरग्रहण-विमोक्षणतया त्रसभूतेषु प्राणेषु निहाय दण्डम्। एवं सति भाषाया: परिकर्मे विद्यमाने ये एते क्रोधाद् वा लोभाद् वा परं प्रत्याख्यापयन्ति। अयमपि न: उपदेश: किं नो नैर्यात्रिको भवति? अपि च आयुष्मन्! गौतम! तुभ्यमपि एतद् एवं रोचते?

इस प्रकार दूसरे को प्रत्याख्यान कराने वाले अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं करते—अभियोग को छोड़कर 'गृहपति के चोर को पकड़ने और छोड़ने' के न्याय से त्रसभूत प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान है। इस प्रकार भाषा का परिकर्म होने पर जो वे क्रोध से अथवा लोभ से दूसरों को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं (वे सम्यग् प्रत्याख्यान नहीं कराते)। यह हमारा उपदेश भी क्या नैर्यातृक (निर्वाह-योग्य) नहीं होता? और आयुष्मन्! गौतम! क्या यह कथन आपको भी इस प्रकार रुचिकर लगता है?

११. सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो! उदगा! णो खलु अम्हं एयं एवं रोयइ। जेते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति णो खलु ते समणा वा णिग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा। जेहिं वि अण्णेहिं पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणि वि ते अब्भाइक्खंति।

सवादं भगवान् गौतम: उदकं पेढालपुत्रं एवं अवादीत्—आयुष्मन्! उदक! नो खलु अस्मभ्यं एतद् एवं रोचते। ये एते श्रमणा: वा ब्राह्मणा: वा एवं आचक्षते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति नो खलु ते श्रमणा: वा निर्ग्रन्था: वा भाषां भाषन्ते, अनुतापितां खलु ते भाषा भाषन्ते, अभ्याचक्षते खलु ते श्रमणान् श्रमणोपासकान् वा। येष्वपि अन्येषु प्राणेषु भूतेषु जीवेषु सत्त्वेषु संयच्छन्ति तान्यपि ते अभ्याचक्षते।

११. वाद के स्वर में भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक को इस प्रकार कहा—आयुष्मन्! उदक! हमें यह वचन इस प्रकार रुचिकर नहीं लगता। जो ये श्रमण अथवा माहण (निर्ग्रन्थ) इस प्रकार आख्यान करते हैं, इस प्रकार भाषण करते हैं, इस प्रकार प्रज्ञापन करते हैं, इस प्रकार प्ररूपण करते हैं, वे श्रमण अथवा निर्ग्रन्थ (यथार्थ) भाषा का भाषण नहीं करते, वे अनुताप करने वाली भाषा बोलते हैं। वे श्रमणों और श्रमणोपासकों का अभ्याख्यान करते हैं। जिन प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के प्रति संयम करते हैं, उनका भी वे अभ्याख्यान करते हैं।

कस्स णं तं हेउं?

कस्य तद् हेतो:?

इसका क्या कारण है?

संसारिया खलु पाणा—तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति। थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं॥

सांसारिका: खलु प्राणा:—त्रसा अपि प्राणा: स्थावरतया प्रत्यायान्ति। स्थावरा: अपि प्राणा त्रसतया प्रत्यायान्ति। त्रसकायाद् विप्रमुच्यमाना: स्थावरकाये उपपद्यन्ते। स्थावरकायाद् विप्रमुच्यमाना: त्रसकाये उपपद्यन्ते। तेषां च त्रसकाये उपपन्नाना स्थानमेतद् अघात्यम्।

प्राणी सांसारिक हैं—त्रसप्राणी भी स्थावररूप में उत्पन्न होते हैं। स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय से मुक्त होते हुए जीव स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं। स्थावरकाय से मुक्त होते हुए जीव त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय में उत्पन्न उन स्थावर जीवों का यह स्थान (त्रसकाय) अघात्य है—इसमें घात करना संभव नहीं होता।

१२. सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु आउसंतो ! गोयमा ! तुब्भे वयह तसपाणा तसा आउ अण्णहा ?

सवाद उदक पेढालपुत्र भगवन्त गौतमं एवं अवादीत्—कतरान् खलु आयुष्मन् ! गौतम ! यूय वदथ त्रसप्राणा त्रसा उत अन्यथा ?

वाद के स्वर मे पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् ! गौतम ! तुम किन्हे त्रस कहते हो ? त्रस प्राणियो को ही त्रस कहते हो अथवा दूसरे प्राणियो को त्रस कहते हो ?

१३. सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो ! उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूया पाणा तसा ते वयं वदामो तसा पाणा तसा । जे वयं वयामो तसा पाणा तसा ते तुब्भे वदह तसभूया पाणा तसा । एए संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा ।

सवाद भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र एवं अवादीत्—आयुष्मन् ! उदक ! यान् यूयं वदथ त्रसभूता प्राणा त्रसा यान् वय वदाम त्रसा प्राणा त्रसा । यान् वयं वदाम त्रसा प्राणा. त्रसा तान् यूयं वदथ त्रसभूता प्राणा. त्रसा । एते स्त द्वे स्थाने तुल्ये एकार्थे ।

१३ वाद के स्वर मे भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् ! उदक ! जिन त्रसभूत प्राणियो को तुम त्रस[१७] कहते हो, उन्ही त्रस प्राणियो को हम त्रस कहते हैं। हम जिन त्रस प्राणियो को त्रस कहते है, उन्ही त्रसभूत प्राणियो को तुम त्रस कहते हो। ये दोनो स्थान (कथन) तुल्य हैं, एकार्थक है ।

किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ—तसभूया पाणा तसा ? इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ—तसा पाणा तसा ? तओ एगमाउसो ! पलिकोसह, एक्कं अभिणंदह । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

किमायुष्मन् ! इद भवता सुप्रणीततरक भवति—त्रसभूता प्राणा त्रसा ? इद भवता दुष्प्रणीततरक भवति—त्रसा प्राणा त्रसा ? तत एक आयुष्मन् ! परिक्रोशथ, एक अभिनन्दथ । अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति ।

आयुष्मन् ! त्रसभूत प्राणी त्रस है—यह कथन तुम्हे क्यो अच्छा लगता है ? त्रस प्राणी त्रस है—यह कथन तुम्हे क्यो बुरा लगता है ? आयुष्मन् ! (तुम्हे एक स्थान अच्छा लगता है और एक बुरा) इसीलिए तुम एक की निन्दा करते हो और एक का अभिनन्दन करते हो । यह तुम्हारा (त्रसभूत प्राणी को त्रस कहने का) उपदेश भी नैर्यातृक (निर्वाहियोग्य) नही है ।

भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए । वयं णं अणुपुव्वेणं गोत्तस्स लिस्सिस्सामो । ते एवं संखसावेंति—णण्णत्थ अभिजोगेणं गाहावइ-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए तसेंहि पाणेंहि णिहाय दंडं । तं पि तेसिं कुसलमेव भवइ ।।

भगवाश्च उदाहु—सन्त्येकके मनुष्या भवन्ति, तेषा च एव उक्तपूर्व भवति—नो खलु वयं सशक्नुम मुण्डा भूत्वा अगाराद् अनगारता प्रव्रजितुम् । वय अनुपूर्वेण गोत्रस्य श्लेपयिष्याम । ते एव सख्या श्रावयन्ति—नान्यत्र अभियोगेन गृहपति-चोरग्रहण-विमोक्षणतया त्रसेपु प्राणेपु निहाय दण्डम् । तदपि तेषा कुशलमेव भवति ।

भगवान् गौतम ने पुन कहा—कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो इस प्रकार कहते है—हम मुड होकर गृहस्थ से अनगार के रूप मे प्रव्रजित होने के लिए समर्थ नही हैं। हम क्रमश सयम[१८] का आश्लेप करेगे । वे इस प्रकार सख्या का कथन करते है—"अभियोग को छोडकर 'गृहपति के चोर को पकडने और छोडने' के न्याय से त्रस प्राणियो की हिंसा का त्याग करते हैं। यह भी उनके कुशल के लिए ही होता है ।

१४. तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेण कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगय भवइ । तसाउय च णं पलिक्खीणं भवइ, तसकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता

त्रसा अपि उच्यन्ते त्रसा त्रससभारकृतेन कर्मणा, नाम च अभ्युपगत भवति । त्रसायुष्क च परिक्षीण भवति, त्रसकायस्थितिका. ते तत. आयुष्क विप्रजहति, ते ततः आयुष्क

१४ त्रस प्राणी भी त्रससभारकृत नामकर्म[२०] से ही त्रस कहलाते हैं । (इसीलिए) उनका त्रस नाम स्वीकृत होता है। जब उनकी त्रस-आयु क्षीण हो जाती है, तब वे त्रसकायस्थितिक प्राणी उस आयुष्य को छोड देते हैं। वे वहा के आयुष्य को छोडकर पुन स्थावर के रूप

थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगयं भवइ। थावराउयं च णं पलिक्खीणं भवइ, थावरकायट्ठिइया ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो पारलोइयत्ताए पच्चायंति।

विप्रहाय स्थावरतया प्रत्यायान्ति। स्थावरा अपि उच्यन्ते स्थावरा स्थावरसंभारकृतेन कर्मणा, नाम च अभ्युपगत भवति। स्थावरायुष्कं च परिक्षीणं भवति, स्थावरकायस्थितिका. ते तत· आयुष्क विप्रजहति, ते तत. आयुष्क विप्रहाय भूयः पारलौकिकतया प्रत्यायान्ति।

मे उत्पन्न होते हैं। स्थावर प्राणी भी स्थावर सभारकृत नामकर्म से ही स्थावर कहलाते हैं। (उमीलिए) उनका स्थावर नाम स्वीकृत होता है। जब उनकी स्थावर-आयु क्षीण हो जाती है तब वे स्थावरकायस्थितिक प्राणी उस आयुष्य को छोड देते हैं। वे वहां के आयुष्य को छोडकर पुन. त्रसरूप मे[11] उत्पन्न होते है।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया॥

ते प्राणाः अपि उच्यन्ते, ते त्रसा. अपि उच्यन्ते, ते महाकाया:, ते चिरस्थितिका.।

वे प्राण भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं।[12]

१५. सवायं उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयम एवं वयासी—आउसंतो! गोयमा! णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते।

सवाद उदक· पेढालपुत्र. भगवन्त गौतम एव अवादीत्—आयुष्मन्! गौतम! नास्ति स कश्चित् पर्याय. यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त.।

१५. वाद के स्वर मे पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—आयुष्मन्! गौतम! ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक को 'एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके।'

कस्स णं तं हेउं?

कस्य तद् हेतो?

इसका क्या कारण है?

संसारिया खलु पाणा—थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाण ठाणमेयं घत्तं॥

सासारिका खलु प्राणा—स्थावरा अपि प्राणा· त्रसतया प्रत्यायान्ति। त्रसा अपि प्राणाः स्थावरतया प्रत्यायान्ति। स्थावरकायाद् विप्रमुच्यमाना सर्वे त्रसकाये उपपद्यन्ते। त्रसकायाद् विप्रमुच्यमाना सर्वे स्थावरकाये उपपद्यन्ते। तेषा च स्थावरकाये उपपन्नाना स्थानमेतद् घात्यम्।

प्राणी सासारिक होते हैं—स्थावर प्राणी भी त्रसरूप मे उत्पन्न होते हैं। त्रसप्राणी भी स्थावर रूप मे उत्पन्न होते हैं। स्थावरकाय से मुक्त होते हुए सभी जीव त्रसकाय मे उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय से मुक्त होते हुए सभी जीव स्थावरकाय मे उत्पन्न होते हैं। स्थावरकाय मे उत्पन्न उन त्रस जीवो का यह स्थान (स्थावरकाय) घात्य है—इसमे घात करना सभव हो जाता है।

१६. सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—णो खलु आउसो! अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवाएणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते भवइ।

सवाद भगवान् गौतम. उदकं पेढालपुत्र एव अवादीत्—नो खलु आयुष्मन्! अस्माकं वक्तव्यकेन युष्माक चैव अनुप्रवादेन अस्ति स पर्याय· य. श्रमणोपासकस्य सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तो भवति।

१६ वाद के स्वर मे भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक से इस प्रकार कहा—आयुष्मन्! हमारे वक्तव्य के अनुसार नही किंतु तुम्हारे अनुप्रवाद के अनुसार ही ऐसा कोई पर्याय है जिसमे श्रमणोपासक के सब प्राण, सब भूत, सब जीव, और सब सत्त्वो की हिंसा का परित्याग हो सकता है।

कस्स णं तं हेउं?

कस्य तद् हेतोः?

इसका क्या कारण है?

संसारिया खलु पाणा—तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति। तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति। थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं।

सासारिका खलु प्राणा— त्रसा अपि प्राणा स्थावरतया प्रत्यायान्ति। स्थावरा अपि प्राणा त्रसतया प्रत्यायान्ति। त्रसकायाद् विप्रमुच्यमाना सर्वे स्थावरकाये उपपद्यन्ते। स्थावरकायाद् विप्रमुच्यमाना सर्वे त्रसकाये उपपद्यन्ते। तेषा च त्रसकाये उपपन्नाना स्थानमेतद् अघात्यम्।

प्राणी सासारिक होते हैं—
त्रस प्राणी भी स्थावर रूप मे उत्पन्न होते हैं। स्थावरप्राणी भी त्रसरूप मे उत्पन्न होते हैं। त्रसकाय से मुक्त होते हुए सभी जीव स्थावरकाय मे उत्पन्न होते है। स्थावरकाय से मुक्त होते हुए सभी जीव त्रसरूप मे उत्पन्न होते है। त्रसकाय मे उत्पन्न उन स्थावर जीवो का यह स्थान (त्रसकाय) अघात्य है—इसमे घात करना सभव नही होता।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया ते चिरस्थितिका। ते वहुतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति। ते अल्पतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यात भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूय वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कोऽपि पर्याय: यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त। अयमपि भवता उपदेश नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राण भी कहलाते है। वे त्रस भी कहलाते है। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थिति वाले होते है। वे प्राणी वहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही है, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान न हो सके। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत) उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—'ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके।' यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक (निर्वाहियोग्य) नही होता।

१७. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो! णियंठा! इह खलु संतेगइया मणुस्सा भवंति। तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता, एएसिं णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते। जे इमे अगारमावसंति, एएसिं णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते।

भगवाश्च उदाह निर्ग्रन्था खलु प्रष्टव्या— आयुष्मन्तो! निर्ग्रन्था! इह खलु सन्त्येकके मनुष्या भवन्ति। तेषा च एव उक्तपूर्व भवति। ये इमे मुण्डा भूत्वा अगाराद् अनगारिता प्रव्रज्य, एतेषा आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्त। ये इमे अगारमावसन्ति, एतेषा आमरणान्त दण्डो नो निक्षिप्त।

१७ भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थ को पूछना चाहता हू—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थो! कुछ मनुष्य इस प्रकार के होते है। उनके इस प्रकार का सकल्प होता है—जो ये मुड होकर गृहस्थ से अनगार के रूप मे प्रव्रजित हुए है, उनकी हिंसा करने का यावज्जीवन परित्याग है। जो ये गृहस्थ हैं, उनकी हिंसा करने का यावज्जीवन परित्याग नही हे।

केई च णं समणे जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूईज्जित्ता अगारं वएज्जा?

कश्चित् च श्रमण. यावद् वर्पाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पञ्च) षड्दशमानि (षड्दश) अल्पतर वा भूयस्तर वा देशं द्रुत्वा अगार व्रजेत्?

कोई श्रमण चार-पाच या छह-दस वर्षों तक, थोडे या अधिक देशो मे विहरण कर, क्या पुन घर मे जाता है?

हंता वएज्जा।

हन्त व्रजेत्।

हा, जाता है।

तस्स णं तमगारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवइ ?

तस्य तं अगारस्थं घ्नतः तत् प्रत्याख्यानं भग्नं भवति ?

(जिसने श्रमण को न मारने का व्रत लिया था) उस मनुष्य के श्रमण अवस्था से लौट कर पुन: घर आए हुए पुरुष का वध करने पर क्या प्रत्याख्यान नही टूटता ?

णेति।

नेति।

'नही।'

एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे णो णिक्खित्ते। तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवइ। सेवमायाणह णियंठा! सेवमायाणियव्वं॥

एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेपु प्राणेपु दण्डो निक्षिप्तः, स्थावरेपु प्राणेपु दण्डो नो निक्षिप्त.। तस्य त स्थावरकायं घ्नत तत् प्रत्याख्यान नो भग्न भवति। तदेव आजानीत निर्ग्रन्था'! तदेवं आज्ञातव्यम्।

इसी प्रकार श्रमणोपासक ने भी त्रस प्राणियो के वध का प्रत्याख्यान किया, स्थावर प्राणियो के वध का प्रत्याख्यान नही किया। स्थावरकाय के वध करने पर उस श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही टूटता। निर्ग्रन्थो! इसको इसी प्रकार जानो, इसको इसी प्रकार जानना चाहिए।

१८. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो! णियंठा! इह खलु गाहावइणो वा गाहावइपुत्ता वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मस्सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?

भगवाश्च उदाह निर्ग्रन्था खलु प्रष्टव्या.— आयुष्मन्तो! निर्ग्रन्था! इह खलु गृहपतय. वा गृहपतिपुत्रा. वा तथाप्रकारेपु कुलेषु आगम्य धर्मश्रवणप्रत्यय उपसक्रमेयु ?

१८ भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थो से पूछना चाहता हूं कि—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थो! इस ससार मे गृहपति अथवा गृहपतिपुत्र, वैसे (उत्तम) कुलो मे जन्म लेकर, धर्म सुनने के लिए उपसक्रमण करते है ?

हंता उवसंकमेज्जा।

हन्त उपसंक्रमेयु।

हा, उपसंक्रमण करते है।

तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ?

तेपा च तथाप्रकाराणा धर्म. आचक्षितव्य. ?

क्या वैसे व्यक्तियो को धर्म कहना चाहिए ?

हंता आइक्खियव्वे।

हन्त आचक्षितव्य.।

'हा, कहना चाहिए।'

किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहं असंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थ ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

किं ते तथाप्रकारं धर्मं श्रुत्वा निशम्य एवं वदेयु—इदमेव नैर्ग्रन्थ प्रवचनं सत्य अनुत्तर कैवलिक प्रतिपूर्णं नैर्यात्रिक सशुद्ध शल्यकर्त्तन सिद्धिमार्ग मुक्तिमार्ग. निर्याणमार्ग. निर्वाणमार्ग अवितथ असदिग्ध सर्वदु खप्रहाणमार्ग। अत्र स्थिता. जीवा सिद्ध्यन्ति बुद्ध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदु खानामन्तं कुर्वन्ति।

क्या वे वैसे धर्म को सुनकर, अवधारण कर ऐसा कह सकते है—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य, अनुत्तर, कैवलिक, प्रतिपूर्ण, पार पहुचानेवाले, शुद्ध, शल्यो को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्याण का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, अवितथ, असदिग्ध, और सब दु खो के क्षय का मार्ग है। इस (निर्ग्रन्थ प्रवचन) मे स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत होते है तथा सब दु खो का अन्त करते हैं।

इमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठेत्ता पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?

अस्य आज्ञया तथा गच्छाम तथा तिष्ठाम तथा निपीदाम तथा त्वग्वर्तयाम तथा भुञ्जमहे तथा भापामहे तथा अभ्युत्तिष्ठाम तथा उत्थया उत्थाय प्राणाना भूताना जीवाना सत्वाना संयमेन सयच्छाम इति वदेयु. ?

हम इस प्रवचन की आज्ञा के अनुसार चलते है, ठहरते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, खाते हैं, बोलते हैं, अभ्युत्थित होते हैं, सम्यग् उत्थान से उत्थित होकर प्राण, भूत, जीव, और सत्त्वो के प्रति सयम से सयत होते हैं—क्या वे ऐसा कह सकते हैं ?

हंता वएज्जा।	हन्त वदेयुः।	'हा, कह सकते हैं।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते प्रव्राजयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को प्रव्रजित किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है ?'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते मुण्डापयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को मुडित किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते शिक्षापयितुम् ?	क्या वैसे व्यक्तियो को शिक्षित (सामायिक चारित्र सपन्न) किया जा सकता है ?
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते उपस्थापयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को (सयम मे) उपस्थापित (छेदोपस्थापनीय चारित्र सपन्न) किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?	तेषा च तथाप्रकाराणा सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्त ?	'क्या वैसे व्यक्तियो ने सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया है ?'
हंता णिक्खित्ते।	हन्त निक्षिप्त.।	'हा, हिंसा का परित्याग किया है।'
ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ?	ते एतद् रूपेण विहारेण विहरन्त यावद् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पच) षड्दशमानि (षड्दश) वा अल्पतर वा भूयस्तरं वा देश द्रुत्वा अगार व्रजेयु ?	वे इस प्रकार के विहार से विहरण करते हुए यावत् चार-पाच या छह-दस वर्षो तक, थोड़े या अधिक देशो मे विहरण कर, क्या पुन घर मे जाते है ?
हंता वएज्जा।	हन्त व्रजेयु.।	हा, जाते है।
तस्स णं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?	तस्य सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्तः ?	क्या उन्होने सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया है ?
णेति।	नेति।	नही।
से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते। से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्व सत्तेहिं दंडे णिक्खित्त। से जे से जीवे जस्स इयाणिं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्त भवइ। परेणं अस्संजए, आरेणं संजए,	अथ य एष जीव यस्य परेण सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्त.। अथ य एष जीव यस्य आरेण सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्त। अथ य एष जीव यस्य इदानी सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तो भवति। परेण असयत, आरेण सयत, इदानी	यह जीव वही है जिसने गृहस्थ अवस्था मे सब प्राण, सब भूत, सब जीव, सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग नही किया था। यह जीव वही है जिसने साधु अवस्था मे सब प्राण, सब भूत, सब जीव, सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया था। यह जीव वही है जिसके अब (पुन गृहस्थ अवस्था मे) सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग नही है। वह पहले असयमी था, बाद मे सयमी हुआ और अब

तस्स णं तमगारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवइ ?

तस्य तं अगारस्थं घ्नतः तत् प्रत्याख्यानं भग्नं भवति ?

(जिसने श्रमण को न मारने का व्रत लिया था) उस मनुष्य के श्रमण अवस्था से लौट कर पुनः घर आए हुए पुरुष का वध करने पर क्या प्रत्याख्यान नहीं टूटता ?

णेति।

नेति।

'नहीं।'

एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे णो णिक्खित्ते। तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवइ। सेवमायाणह णियंठा! सेवमायाणियव्वं ॥

एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेषु प्राणेषु दण्डो निक्षिप्तः, स्थावरेषु प्राणेषु दण्डो नो निक्षिप्तः। तस्य तं स्थावरकायं घ्नतः तत् प्रत्याख्यानं नो भग्नं भवति। तदेवं आजानीत निर्ग्रन्थाः! तदेवं आज्ञातव्यम्।

इसी प्रकार श्रमणोपासक ने भी त्रस प्राणियों के वध का प्रत्याख्यान किया, स्थावर प्राणियों के वध का प्रत्याख्यान नहीं किया। स्थावरकाय के वध करने पर उस श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं टूटता। निर्ग्रन्थो! उसको इसी प्रकार जानो, इसको इसी प्रकार जानना चाहिए।

१८. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो! णियंठा! इह खलु गाहावइणो वा गाहावइपुत्ता वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मस्सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?

भगवांश्च उदाह निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः— आयुष्मन्तो! निर्ग्रन्थाः! इह खलु गृहपतयः वा गृहपतिपुत्रा वा तथाप्रकारेषु कुलेषु आगम्य धर्मश्रवणप्रत्ययं उपसंक्रमेयुः ?

१८. भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थों से पूछना चाहता हूं कि—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थो! इस संसार में गृहपति अथवा गृहपतिपुत्र, वैसे (उत्तम) कुलों में जन्म लेकर, धर्म सुनने के लिए उपसंक्रमण करते हैं ?

हंता उवसंकमेज्जा।

हन्त उपसंक्रमेयुः।

हां, उपसंक्रमण करते हैं।

तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ?

तेषां च तथाप्रकाराणां धर्मः आचक्षितव्यः ?

क्या वैसे व्यक्तियों को धर्म कहना चाहिए ?

हंता आइक्खियव्वे।

हन्त आचक्षितव्यः।

'हां, कहना चाहिए।'

किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहं असंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थ ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

किं ते तथाप्रकारं धर्मं श्रुत्वा निशम्य एवं वदेयुः—इदमेव नैर्ग्रन्थं प्रवचनं सत्यं अनुत्तरं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैर्यात्रिकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गं मुक्तिमार्गं निर्याणमार्गं निर्वाणमार्गं अवितथं असंदिग्धं सर्वदुःखप्रहाणमार्गं। अत्र स्थिताः जीवाः सिद्ध्यन्ति बुद्ध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति।

क्या वे वैसे धर्म को सुनकर, अवधारण कर ऐसा कह सकते हैं—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य, अनुत्तर, कैवलिक, प्रतिपूर्ण, पार पहुंचानेवाले, शुद्ध, शल्यों को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्याण का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, अवितथ, असंदिग्ध, और सब दुःखों के क्षय का मार्ग है। इस (निर्ग्रन्थ प्रवचन) में स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत होते हैं तथा सब दुःखों का अन्त करते हैं।

इमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठेत्ता पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?

अस्य आज्ञया तथा गच्छाम तथा तिष्ठाम तथा निषीदाम तथा त्वग्वर्तयाम तथा भुञ्जमहे तथा भाषामहे तथा अभ्युत्तिष्ठाम तथा उत्थया उत्थाय प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां संयमेन संयच्छाम इति वदेयुः ?

हम इस प्रवचन की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, ठहरते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, खाते हैं, बोलते हैं, अभ्युत्थित होते हैं, सम्यग् उत्थान से उत्थित होकर प्राण, भूत, जीव, और सत्त्वों के प्रति संयम से संयत होते हैं—क्या वे ऐसा कह सकते हैं ?

हंता वएज्जा।	हन्त वदेयु.।	'हा, कह सकते हैं।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते प्रव्राजयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को प्रव्रजित किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है ?'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते मुण्डापयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को मुडित किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते शिक्षापयितुम् ?	क्या वैसे व्यक्तियो को शिक्षित (सामायिक चारित्र सपन्न) किया जा सकता है ?
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ?	किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते उपस्थापयितुम् ?	'क्या वैसे व्यक्तियो को (सयम मे) उपस्थापित (छेदोपस्थापनीय चारित्र सपन्न) किया जा सकता है ?'
हंता कप्पंति।	हन्त कल्प्यन्ते।	'हा, किया जा सकता है।'
तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?	तेषा च तथाप्रकाराणा सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्त. ?	'क्या वैसे व्यक्तियो ने सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया है ?'
हंता णिक्खित्ते।	हन्त निक्षिप्त।	'हा, हिंसा का परित्याग किया है।'
ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ?	ते एतद् रूपेण विहारेण विहरन्त यावद् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पच) षड्दशमानि (षड्दश) वा अल्पतरं वा भूयस्तर वा देश द्रुत्वा अगारं व्रजेयु.?	वे इस प्रकार के विहार से विहरण करते हुए यावत् चार-पाच या छह-दस वर्षों तक, थोडे या अधिक देशो मे विहरण कर, क्या पुन घर मे जाते है ?
हंता वएज्जा।	हन्त व्रजेयु।	हा, जाते है।
तस्स णं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?	तस्य सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्त. ?	क्या उन्होने सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया है ?
णेत्ति।	नेति।	नही।
से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते। से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्व सत्तेहिं दंडे णिक्खित्त। से जे से जीवे जस्स इयाणि सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्त भवइ। परेणं अस्संजए, आरेणं संजए,	अथ य एष जीव यस्य परेण सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्त.। अथ य एष जीव यस्य आरेण सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो निक्षिप्त। अथ य एष जीव. यस्य इदानी सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तो भवति। परेण असयत, आरेण संयत., इदानी	यह जीव वही है जिसने गृहस्थ अवस्था मे सब प्राण, सब भूत, सब जीव, सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग नही किया था। यह जीव वही है जिसने साधु अवस्था मे सब प्राण, सब भूत, सब जीव, सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग किया था। यह जीव वही है जिसके अब (पुन गृहस्थ अवस्था मे) सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग नही है। वह पहले असयमी था, बाद मे सयमी हुआ और अब

इयाणि अस्संजए। अस्संजयस्स णं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ। सेवमायाणह णियंठा ! सेवमायाणियव्वं ॥

असंयतः। असंयतस्य सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेषु दण्डो नो निक्षिप्तो भवति। तदेवं आजानीत निर्ग्रन्थाः ! तदेवं आज्ञातव्यम् ॥

असंयमी है। असंयत व्यक्ति के सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वों के प्रति हिंसा का परित्याग नहीं होता। निर्ग्रन्थो ! इसको इसी प्रकार जानो। इसको इसी प्रकार जानना चाहिए।

१९. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! णियंठा! इह खलु परिव्वायया वा परिव्वाइयाओ वा अण्णयरेहिंतो तित्थायतणेहिंतो आगम्म धम्मस्सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?

भगवांश्च उदाह निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः— आयुष्मन्तः ! निर्ग्रन्थाः ! इह खलु परिव्राजकाः वा परिव्राजिकाः वा अन्यतरेभ्यः तीर्थायतनेभ्यः आगम्य धर्मश्रवण-प्रत्ययं उपसंक्रमेयुः ?

१९. भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थों से पूछना चाहता हूं—आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो ! क्या परिव्राजक या परिव्राजिकाएं[1] किन्हीं अन्य तीर्थायतनों[2] से आकर धर्म सुनने के लिए उपसंक्रमण करती हैं ?

हंता उवसंकमेज्जा।

हन्त उपसंक्रमेयुः।

हां, उपसंक्रमण करती हैं।

किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ?

किं तेषां तथाप्रकाराणां धर्मः आचक्षितव्यः ?

क्या वैसे व्यक्तियों को धर्म कहना चाहिए ?

हंता आइक्खियव्वे।

हन्त आचक्षितव्यः।

हां, कहना चाहिए।

किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहं असंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थ ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

किं ते तथाप्रकारं धर्मं श्रुत्वा निशम्य एवं वदेयुः—इदमेव नैर्ग्रन्थ्यं प्रवचनं सत्यं अनुत्तरं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैर्यातृकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गः मुक्तिमार्गः निर्याणमार्गः निर्वाणमार्गः अवितथं असंदिग्धं सर्वदुःखप्रहाण-मार्गः। अत्र स्थिताः जीवाः सिध्यन्ति बुध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति।

क्या वे वैसे धर्म को सुनकर, अवधारण कर ऐसा कह सकते हैं—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य, अनुत्तर, कैवलिक, प्रतिपूर्ण, पार पहुंचाने वाला, शुद्ध, शल्यों को काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्याण का मार्ग, निर्वाण का मार्ग, अवितथ, असंदिग्ध, और सब दुःखों के क्षय का मार्ग है। इस (निर्ग्रन्थ प्रवचन) में स्थित जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत होते हैं तथा सब दुःखों का अन्त करते हैं।

इमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठेत्ता पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?

अस्य आज्ञया तथा गच्छामः तथा तिष्ठामः तथा निषीदामः तथा त्वग्वर्तयामः तथा भुञ्ज्महे तथा भाषामहे तथा अभ्युत्तिष्ठामः तथा उत्थया उत्थाय प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां संयमेन संयच्छाम इति वदेयुः ?

हम इस प्रवचन की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, ठहरते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, खाते हैं, बोलते हैं अभ्युत्थित होते हैं, सम्यग् उत्थान से उत्थित होकर प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के प्रति संयम से संयत होते हैं—
क्या वे ऐसा कह सकते हैं ?

हंत वएज्जा।

हन्त वदेयुः।

हां, कह सकते हैं।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावेत्तए ?

किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते प्रव्राजयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियों को प्रव्रजित किया जा सकता है ?

हंता कप्पंति।

हन्त कल्प्यन्ते।

हां, किया जा सकता है।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ?

किं ते तथाप्रकाराः कल्प्यन्ते मुण्डापयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियों को मुंडित किया जा सकता है ?

हंता कप्पंति ।

हन्त कल्प्यन्ते ।

हा, किया जा सकता है ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ?

किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते शिक्षापयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियो को शिक्षित किया जा सकता है ?

हंता कप्पंति ।

हन्त कल्प्यन्ते ।

हा, किया जा सकता है ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ?

किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते उपस्थापयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियो को (सयम मे) उपस्थापित किया जा सकता है ?

हंता कप्पंति ।

हन्त कल्प्यन्ते ।

हा, किया जा सकता है ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ?

किं ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते संभोजयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियो के साथ सहभोजन आदि का सबध किया जा सकता है ?

हंता कप्पंति ।

हन्त कल्प्यन्ते ।

हा, किया जा सकता है ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ?

ते एतद् रूपेण विहारेण विहरन्त यावद् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पच) पड्दशमानि (षड्दश) वा अल्पतरं वा भूयस्तरं वा देशं द्रुत्वा अगार व्रजेयु ?

वे इस प्रकार के विहार से विहरण करते हुए यावत् चार-पाच या छह-दस वर्षो तक, थोडे या अधिक देशो मे विहरण कर, पुन घर मे जाते है ?

हंता वएज्जा ।

हन्त व्रजेयु ।

हा, जाते है ।

ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए ?

ते तथाप्रकारा कल्प्यन्ते सभोजयितुम् ?

क्या वैसे व्यक्तियो के साथ सहभोजन आदि का सवध किया जा सकता है ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

नो अयमर्थ समर्थ. ।

नही, यह अर्थ समर्थन योग्य नही है ।

से जे से जीवे जे परेणं णो कप्पंति संभुंजित्तए । से जे से जीवे जे आरेणं कप्पंति संभुंजित्तए । से जे से जीवे जे इयाणिं णो कप्पंति संभुंजित्तए । परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इयाणिं अस्समणे । अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं णिग्गंथाणं संभुंजित्तए । सेवमायाणह णियंठा ! सेवमायाणियव्वं ॥

अथ य एप जीव य परेण नो कल्प्यते सभोजयितुम् । अथ य एप जीव य आरेण कल्प्यते सभोजयितुम् । अथ य एष जीव य इदानी नो कल्प्यते सभोजयितुम् । परेण अश्रमण, आरेण श्रमण, इदानी अश्रमण । अश्रमणेन सार्ध नो कल्प्यते श्रमणाना निर्ग्रन्थाना सभोक्तुम् । तदेव आजानीत निर्ग्रन्था: ! तदेव आज्ञातव्यम् ।

यह वही जीव है जिसके साथ अश्रमण अवस्था मे भोजन आदि का सम्बन्ध नही किया जा सकता था । यह वही जीव है जिसके साथ साधु अवस्था मे भोजन आदि का सम्बन्ध किया जा सकता है । यह वही जीव है जिसके साथ अब भोजन आदि का सम्बन्ध नही किया जा सकता । वह पहले अश्रमण था, बाद मे श्रमण हुआ और अब अश्रमण है । श्रमण निर्ग्रन्थ अश्रमण के साथ भोजन आदि का सबध नही रख सकते । निर्ग्रन्थो ! इसको इसी प्रकार जानो । इसको इसी प्रकार जानना चाहिए ।

२०. भगवं च णं उदाहु—णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो! णियंठा! इह खलु संतेगइया समणोवासगा भवंति । तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठ-

भगवाश्च उदाह—निर्ग्रन्था. खलु प्रष्टव्या — आयुष्मन्त ! निर्ग्रन्था ! इह खलु सन्त्येकके श्रमणोपासका भवन्ति । तेषा च एव उक्तपूर्व भवति—नो खलु वय सशक्नुम मुण्डा भूत्वा अगाराद् अनगारिता प्रव्रजितु,

२० भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थो से पूछना चाहता हू—आयुष्मन् ! निर्ग्रन्थो ! इस ससार मे कुछ श्रमणोपासक होते हैं ।[३५] उनके इस प्रकार का सकल्प होता है—हम मुड होकर गृहस्थ से अनगार के रूप मे प्रव्रजित होने मे असमर्थ है । हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण

मुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो। थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिण्णादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो दुविहं तिविहेणं। मा खलु ममट्ठाए किंचि वि करेह वा कारवेह वा तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो। ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तह कालगया किं वत्तव्वं सिया ?

वयं चतुर्दशी-अष्टमी-उद्दिष्ट-पौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यक् अनुपालयन्तः विहरिष्याम। स्थूलकं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्याम, एवं स्थूलकं मृषावादं, स्थूलकं अदत्तादानं, स्थूलकं मैथुनं, स्थूलकं परिग्रहं प्रत्याख्यास्याम, इच्छापरिमाणं करिष्याम द्विविधं त्रिविधेन। मा खलु ममार्थं किञ्चिदपि कुरुत वा कारयत वा तत्रापि प्रत्याख्यास्यामः। ते अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा आसन्दीपीठिकातः प्रत्यवरुह्य ते तथा कालगताः किं वक्तव्यं स्यात् ?

पौषध[11] का सम्यक् अनुपालन करते हुए विहरण करेंगे। हम दो करण, तीन योग से स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करेंगे। इसी प्रकार स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूल मैथुन और स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान करेंगे। हम इच्छा-परिमाण व्रत स्वीकार करेंगे। हमारे लिए कुछ मत करो, कुछ मत कराओ—इसका भी हम प्रत्याख्यान करेंगे। वे (श्रमणोपासक पौषध की अवस्था में) बिना खाए, बिना पीए, बिना स्नान किए, आसंदी और पीठिका से नीचे उतर, वे वहां कालगत होते हैं तो क्या कहना चाहिए ?

सम्मं कालगय त्ति वत्तव्वं सिया।

सम्यक् कालगता इति वक्तव्यं स्यात्।

वे सम्यग् कालगत हुए हैं—यह कहना चाहिए।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः, ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायात् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवतां उपदेशः नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राण भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नहीं हैं,[12] जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशान्त, (संयम में) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नहीं है जिसमें श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नहीं होता।

२१. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो! णियंठा! इह खलु संतेगइया समणोवासगा भवंति। तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं

भगवांश्च उदाह निर्ग्रन्थाः खलु प्रष्टव्याः—आयुष्मन्तः! निर्ग्रन्थाः! इह खलु सन्त्येकके श्रमणोपासकाः भवन्ति। तेषां च एवं उक्तपूर्वं भवति—नो खलु वयं सशक्नुमः मुण्डाः भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजितुम्, नो खलु वयं सशक्नुमः चतुर्दशी-अष्टमी-उद्दिष्ट-पौर्णमासीषु प्रतिपूर्णं पौषधं सम्यक्

२१. भगवान् (गौतम) ने कहा—मैं निर्ग्रन्थों को पूछना चाहता हूं—आयुष्मन्! निर्ग्रन्थो! कुछ श्रमणोपासक इस प्रकार के होते हैं। उनके इस प्रकार का संकल्प होता है—हम मुंड होकर गृहस्थ से अनगार के रूप में प्रव्रजित होने में असमर्थ हैं। हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यग् अनुपालन कर विहरण करने में असमर्थ

अणुपालेमाणा विहरित्तए। वयं णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-झूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो। सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं सव्वं मुसावायं सव्वं अदिण्णादाणं सव्वं मेहुणं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं मा खलु ममट्ठाए किंचि वि करेह वा कारवेह वा करंतं समणुजाणेह वा तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो। ते णं अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तह कालगया किं वत्तव्वं सिया?

अनुपालयन्तः विहर्तुम्। वयं अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-जोषणाजुष्टा' प्रत्याख्यातभक्तपानाः कालं अनवकांक्षमाणाः विहरिष्याम.। सर्वं प्राणातिपातं प्रत्याख्यास्यामः। एवं सर्वं मृषावादं, सर्वं अदत्तादानं, सर्वं मैथुनं, सर्वं परिग्रहं प्रत्याख्यास्यामः त्रिविधं त्रिविधेन मा खलु ममार्थं किंचिदपि कुरुत वा कारयत वा कुर्वन्तं समनुजानीत वा *तत्राऽपि प्रत्याख्यास्यामः*। ते अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा आसन्दीपीठिकातः प्रत्यवरुह्य ते तथा कालगताः किं वक्तव्यं स्यात्?

हैं। हम अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना की आराधना मे सलग्न होकर, भक्तपान का प्रत्याख्यान कर, काल की आकांक्षा न करते हुए विहरण करेंगे। हम तीन करण तीन योग से प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करेंगे। इसी प्रकार हम सब मृषावाद, सब अदत्तादान, सब मैथुन और सब परिग्रह का प्रत्याख्यान करेंगे। हमारे लिए कुछ मत करो, कुछ मत कराओ, करने वाले का अनुमोदन मत करो—इसका भी हम प्रत्याख्यान करेंगे। वे (श्रमणोपासक) बिना खाए, बिना पीए, बिना स्नान किए, आसदी और पीठिका से नीचे उत्तर, वे वहा कालगत होते हैं, तो (काल के विषय मे) क्या कहना होगा?

सम्मं कालगय त्ति वत्तव्वं सिया।

सम्यक् कालगता इति वक्तव्यं स्यात्।

वे सम्यग् कालगत हुए हैं—यही कहना होगा।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः, ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति। ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायात् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय. यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवता उपदेशः नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राण भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशान्त, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही होता।

२२. भगव च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया अधम्माणुया अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदाचारा अधम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति,

भगवाश्च उदाह—सन्त्येकके मनुष्याः भवन्ति, तद् यथा—महेच्छाः महारम्भाः महापरिग्रहा अधार्मिका. अधर्मानुगाः अधर्मिष्ठा. अधर्माख्यायिनः अधर्मप्राय.जीविन. अधर्मप्रलोकिनः अधर्मप्ररञ्जनाः अधर्मशील-समुदाचारा. अधर्मेण चैव वर्त्ति

२२. भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ मनुष्य होते हैं, जैसे—महान् इच्छा वाले, महाआरभी, महापरिग्रही, अधार्मिक, अधर्म का अनुगमन करने वाले, अधर्मिष्ठ, अधर्मवादी, अधर्मप्राय जीवन जीने वाले, अधर्म को देखने वाले, अधर्म मे अनुरक्त, अधर्मशील और आचारवाले, अधर्म के द्वारा आजीविका करते हुए रहते है।

'हण' 'छिद' 'भिद' विगत्तगा लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कंचण-वंचण-माया णियडि-कूड- कवड- साइसंपओग - बहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडिया- णंदा असाहू । सव्वाओ पाणाइ- वायाओ अप्पडिविरया जावज्जी- वाए, सव्वाओ मुसावायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ अप्पडि- विरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ अप्पडिविरया जावज्जी- वाए, सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, विप्पज- हित्ता भुज्जो सगमादाए दोग्गइ- गामिणो भवंति ।

कल्पमानाः विहरन्ति, जहि छिन्धि भिन्धि विकर्त्तकाः लोहित- पाणयः चण्डाः रुद्राः क्षुद्राः साहसिकाः 'उक्कंचण'-वंचन- माया-निकृति-कूट- कपट- साचि - संप्रयोगबहुलाः दुःशीलाः दुर्व्रताः दुष्प्रत्यानन्दाः असाधवः । सर्व- स्मात् प्राणातिपाताद् अप्रति- विरताः यावज्जीवं, सर्वस्माद् मृषावादाद् अप्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्माद् अदत्ता- दानाद् अप्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्माद् मैथुनाद् अप्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्मात् परिग्रहाद् अप्रतिविरताः यावज्जीवं, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः, ते ततः आयुष्कं विप्रजहति, विप्रहाय भूयः स्वकमादाय दुर्गतिगामिनो भवन्ति ।

'मारो, छेदो, काटो (यह कह) चमडी को उधेडने वाले, रक्त से सने हाथ वाले, चण्ड, रुद्र, क्षुद्र, साहसिक (बिना विचारे काम करने वाले), ठगी, वचना, माया, वक्रवृत्ति, कूट (झूठा तोल-माप), कपट, साचि-प्रयोग (असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देने) का बहुत प्रयोग करने वाले, दुःशील, दुर्व्रत, दुष्प्रत्यानन्द (उपकारी का भी प्रत्युपकार न करने वाले) असाधु, यावज्जीवन सर्व प्राणातिपात से अविरत, यावज्जीवन सर्व मृषावाद से अविरत, यावज्जीवन सर्व अदत्ता- दान से अविरत, यावज्जीवन सर्व मैथुन से अविरत और यावज्जीवन सर्व परिग्रह से अविरत। श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे वहा के आयुष्य को छोड देते हैं। आयुष्य को छोड़कर, अपने प्रचुर कर्म को लेकर पुनः दुर्गतिगामी होते हैं ।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठि- इया । ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविर- यस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः ते चिरस्थितिकाः । ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति । ते अल्प- तरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपास- कस्य अप्रत्याख्यातं भवति । तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ— नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः । अयमपि भवतां उपदेशः नो नैर्यातृको भवति ।

वे प्राण भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है, वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्या- नही होता । महान् त्रसकाय (के घात) से उपशान्त, (संयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—'ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एकप्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके।' यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही होता।

२३. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा— अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्म- समुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं

भगवांश्च उदाह—सन्त्येकके मनुष्या भवन्ति, तद् यथा— अनारम्भाः अपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुगाः धर्मिष्ठाः धर्माख्यायिनः धर्मप्रलोकिनः धर्मप्ररञ्जनाः धर्म- समुदाचाराः धर्मेण चैव वृत्तिं

२३. भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ मनुष्य होते हैं, जैसे—अनारंभी, अपरिग्रही, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्म को देखने वाले, धर्म मे अनुरक्त, धर्मयुक्त शील और आचार वाले, धर्म के द्वारा आजी-

कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू । सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तओ भुज्जो सगमायाए सोग्गइगामिणो भवंति ।

कल्पमानाः विहरन्ति, सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः । सर्वस्मात् प्राणातिपातात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्माद् मृषावादात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, सर्वस्माद् अदत्तादानात् प्रतिविरता यावज्जीवं, सर्वस्माद् मैथुनात् प्रतिविरता यावज्जीवं, सर्वस्मात् परिग्रहात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः, ते ततः आयुष्कं विप्रजहति, विप्रहाय ते ततः भूयः स्वकमादाय सुगतिगामिनो भवन्ति ।

विका करते हुए रहते हैं । वे सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द (उपकारी का उपकार करने वाले) और सुसाधु होते है । वे यावज्जीवन सर्व प्राणातिपात से विरत, यावज्जीवन सर्व मृषावाद से विरत, यावज्जीवन सर्व अदत्तादान से विरत, यावज्जीवन सर्व मैथुन से विरत और यावज्जीवन सर्व परिग्रह से विरत । श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे वहा से आयुष्य को छोड देते हैं । वे आयुष्य को छोडकर अपने प्रचुर कर्म को लेकर पुन सुगतिगामी होते हैं ।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया । ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया, ते चिरस्थितिकाः । ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति । ते अल्पतरकाः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति । तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ नास्ति स कश्चित् पर्याय यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः । अयमपि भवतां उपदेशो नो नैर्यातृको भवति ।

वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं, वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं । वे प्राणी वहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता । महान् त्रसकाय (के घात) से उपशांत, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके । यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है ।

२४. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाई धम्मप्पलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू । एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया । एगच्चाओ मुसावायाओ

भगवांश्च उदाह—सन्त्येकके मनुष्या भवन्ति, तद् यथा—अल्पेच्छा अल्पारम्भा अल्पपरिग्रहाः धार्मिकाः धर्मानुगा धर्मिष्ठा धर्मख्यायिन धर्मप्रलोकिन धर्मप्ररञ्जना. धर्मसमुदाचाराः धर्मेण चैव वृत्तिं कल्पमाना. विहरन्ति, सुशीला सुव्रता सुप्रत्यानन्दा सुसाधव. । एकस्मात् प्राणातिपातात् प्रतिविरता यावज्जीवं, एकस्माद् अप्रतिविरता. । एकस्माद् मृषावादात् प्रतिविरताः

२४ भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ मनुष्य होते हैं, जैसे—अल्प इच्छा वाले, अल्प आरंभवाले, अल्प परिग्रहवाले, धार्मिक, धर्म का अनुगमन करने वाले, धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्म को देखने वाले, धर्म मे अनुरक्त, धर्मयुक्त शील और आचारवाले, धर्म के द्वारा आजीविका करते हुए रहते हैं । वे सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द (उपकारी का उपकार करने वाले) सुसाधु होते है । वे यावज्जीवन कुछ प्राणाति-

पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया। जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गइगामिणो भवंति।

यावज्जीव, एकस्माद् अप्रतिविरता। एकस्माद् अदत्तादानात् प्रतिविरता यावज्जीवं, एकस्माद् अप्रतिविरताः। एकस्माद् मैथुनात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्माद् अप्रतिविरताः। एकस्मात् परिग्रहात् प्रतिविरताः यावज्जीवं, एकस्माद् अप्रतिविरताः। येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्त, ते ततः आयुष्कं विप्रजहति, विप्रहाय ते ततः भूयः स्वकमादाय सुगतिगामिनो भवन्ति।

पात से विरत और कुछ से अविरत, यावज्जीवन कुछ मृषावाद से विरत और कुछ से अविरत, यावज्जीवन कुछ अदत्तादान से विरत और कुछ से अविरत, यावज्जीवन कुछ मैथुन से विरत और कुछ से अविरत तथा यावज्जीवन कुछ परिग्रह से विरत और कुछ से अविरत होते हैं। श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे वहां से आयुष्य को छोड देते हैं। वे आयुष्य को छोड़कर अपने प्रचुर कर्म को लेकर सुगतिगामी होते हैं।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः, ते चरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवतां उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थिति वाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशांत, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा मे) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

२५. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईरहस्सिया—जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ—णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति—अहं णं हंतव्वो अण्णे हंतव्वा, अहं

भगवांश्च उदाह—सन्त्येकके मनुष्याः भवन्ति, तद् यथा—आरण्यकाः आवसथिकाः ग्रामान्तिकाः क्वचिद्राहस्यिकाः—येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तो भवति—नो बहुसंयताः नो बहुप्रतिविरताः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु आत्मना सत्यामृषा एव वियुञ्जन्ति—अहं न हन्तव्यः

२५. भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ मनुष्य होते हैं, जैसे—आरण्यक,[२८] (अरण्यवासी तपस्वी), आवसथिक (पाथशाला में रहने वाले), ग्राम के समीप रहने वाले, रहस्यमय साधना मे संलग्न, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे (आरण्यक आदि) बहुसयमी नही हैं, जो सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो के प्रति बहुप्रतिविरत नही हैं, वे स्वयं सत्यमृपा वचन का प्रयोग इस प्रकार करते

ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेतव्वो अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अण्णे उद्दवेयव्वा।

अन्ये हन्तव्या, अह न आज्ञापयितव्य. अन्ये आज्ञापयितव्या, अह न परिग्रहीतव्य अन्ये परिग्रहीतव्या', अह न परितापयितव्य अन्ये परितापयितव्या, अहं न उद्द्रावयितव्य. अन्ये उद्द्रावयितव्या.।

है—मैं वध्य नही हू, दूसरे वध्य है, मैं आज्ञापनीय नही हूं, दूसरे आज्ञापनीय हैं, मैं दास होने योग्य नही हू, दूसरे दास होने योग्य हैं, मैं परितापनीय नही हूं, दूसरे परितापनीय है, मैं मारे जाने योग्य नही हू, दूसरे मारे जाने योग्य है।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति। तओ वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति।

एवमेव ते स्त्रीकामेषु मूर्च्छिता. गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्ना यावद् वर्षाणि चतुष्पञ्चमानि (चतुष्पच) षड्दशमानि (षड्दश) अल्पतरं वा भूयस्तरं वा भुक्त्वा भोगभोगान् कालमासे काल कृत्वा अन्यतराणि आसुरिकाणि किल्विषिकानि स्थानानि उपपत्तारो भवन्ति। ततोऽपि विप्रमुच्यमाना भूय. एडमूकत्वेन तमोरूपत्वेन प्रत्यायान्ति।

इसी प्रकार वे स्त्रीकामो मे मूर्च्छित, गृद्ध, ग्रथित और आसक्त होकर चार-पाच या छह-दस वर्षो तक कम या अधिक भोगो को भोग, कालमास मे मरकर, पापपूर्ण किल्विषिक स्थानो मे उत्पन्न होते है। वे वहा से मरकर पुन. मेमने की भाति मूगे, अन्ध और बधिर के रूप मे पुन जन्म लेते है।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया., ते चिरस्थितिका.। ते बहुतरका. प्राणा. येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति। ते अल्पतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यात भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूय वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय. यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त। अयमपि भवता उपदेश: नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते है। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही है, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

२६. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा दीहाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ। ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति।

भगवाश्च उदाहु—सन्त्येकके प्राणा दीर्घायुष्का, येपु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्त दण्डो निक्षिप्तो भवति। ते पूर्वमेव काल कुर्वन्ति, कृत्वा पारलौकिकतया प्रत्यायान्ति।

२६ भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ प्राणी दीर्घायुवाले होते है। श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है वे पहले ही काल कर जाते है, काल कर वे परलोक मे उत्पन्न हो जाते हैं।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरि-

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया., ते

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले, चिरकाल

ट्ठिइया, ते दीहाउया । ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

चिरस्थितिका:, ते दीर्घायुष्का: । ते बहुतरका: प्राणा: येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति । ते अल्पतरका: प्राणा: येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यात भवति । तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूय वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त । अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति ।

की स्थितिवाले और दीर्घ आयुष्यवाले होते हैं । वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता । महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा मे) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके । यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है ।

२७. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा समाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ । ते सममेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते समाउया । ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं ण तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

भगवाश्च उदाहु—सन्त्येकके प्राणा समायुष्का., येषु श्रमणोपासकस्य आदानश. आमरणान्त दण्डो निक्षिप्तो भवति । ते सममेव कालं कुर्वन्ति, कृत्वा पारलौकिकतया प्रत्यायान्ति ।

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया:, ते समायुष्का: । ते बहुतरका. प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति । ते अल्पतरका: प्राणा: येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति । तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूय वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय: यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त । अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति ।

२७ भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ प्राणी समान आयुवाले होते हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है । वे साथ-साथ काल कर जाते है, काल कर वे परलोक मे उत्पन्न हो जाते है ।

वे प्राणी भी कहलाते हैं । वे त्रस भी कहलाते हैं । वे महान् शरीरवाले और समान आयु वाले होते हैं । वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होताहै । वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता । महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिऐ तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके । यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है ।

२८. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ । ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते अप्पा-

भगवाश्च उदाहु—सन्त्येकके प्राणा अल्पायुष्का येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्त दण्डो निक्षिप्तो भवति । ते पूर्वमेव कालं कुर्वन्ति, कृत्वा पारलौकिकतया प्रत्यायान्ति ।

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया., ते

२८ भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ प्राणी अल्प आयुष्य वाले होते है, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है । वे पहले ही काल कर जाते हैं, काल करके वे परलोक मे उत्पन्न हो जाते है ।

वे प्राणी भी कहलाते है । वे त्रस भी कहलाते है । वे महान् शरीर वाले और अल्प आयुष्य

उया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ॥

अल्पायुष्का। ते बहुतरका प्राणा. येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूय वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त। अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

वाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (संयम मे) उपस्थित, हिंसा से प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

२९. भगवं च णं उदाहु—संतेगइया समणोवासगा भवंति। तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए। णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया कालं अणवकंखमाणा विहरित्तए। वयं ण सामाइयं देसावगासियं—पुरत्था पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं एतावताव सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, पाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि।

भगवाश्च उदाहु—सन्त्येकके श्रमणोपासका. भवन्ति। तेषा च एव उक्तपूर्व भवति नो खलु वय संशक्नुम. मुण्डा भूत्वा अगाराद् अनगारिता प्रव्रजितुम्। नो खलु वयं सशक्नुम चतुर्दशी-अष्टमी - उद्दिष्ट - पौर्णमासीषु प्रतिपूर्ण पौषध अनुपालयितुम्। नो खलु वय सशक्नुम. अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना-जोपणा-जुष्टा प्रत्याख्यातभक्तपाना काल अनवकाक्षमाणा विहर्तुम्। वय सामायिक देशावकाशिक—पुरस्तात् प्राचीन, प्रतीचीन, दक्षिण, उदीचीन एतावत् तावत् सर्वप्राणेषु सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु सर्वसत्त्वेपु दण्डो निक्षिप्त., प्राणभूतजीवसत्त्वेषु क्षेमकरोऽहमस्मि।

२९ भगवान् (गौतम) ने कहा—कुछ श्रमणोपासक होते हैं। उनके इस प्रकार का सकल्प होता है—हम मुड होकर गृहस्थ से अनगार के रूप मे प्रव्रजित होने मे असमर्थ है। हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यग् अनुपालन कर विहरण करने मे असमर्थ है। हम अपश्चिम-मारणान्तिक-सलेखना की आराधना मे सलग्न होकर, भक्तपान का प्रत्याख्यान कर, काल की आकाक्षा न करते हुए, विहरण करने मे असमर्थ है। हम सामायिक और देशावकाशिक व्रत[१९] का (अनुपालन करते हुए विहरण करेगे।) (वह श्रमणोपासक) प्रात काल (ऐसा प्रत्याख्यान करता है)—मैं पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा मे अमुक क्षेत्र की मर्यादा के बाहर सब प्राण, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो के प्रति हिंसा का परित्याग करता हू। मैं प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो का क्षेम करने वाला हूं।

१. तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

तत्र आरेण ये त्रसा प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्त दण्डो निक्षिप्त, ते तत आयु विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आरेण चैव ये त्रसा प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्त दण्डो निक्षिप्त, तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति।

१. सीमा के अन्तर्गत जो त्रसप्राणी है, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है। वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड देते हैं। वे आयुष्य को छोडकर उसी क्षेत्र मे जो त्रसप्राणी है, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते वहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

ते प्राणाः अपि उच्यन्ते, ते त्रसा. अपि उच्यन्ते, ते महाकाया., ते चिरस्थितिकाः। ते वहुतरका. प्राणाः येपु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरका प्राणा. येपु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय. यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त.। अयमपि भवता उपदेश. नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते है। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) मे उपशात, (संयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नहीं है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

२. तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते।

तत्र आरेण ये त्रसाः प्राणा., येपु श्रमणोपासकस्य आदानश. आमरणान्त दण्डो निक्षिप्त., ते ततः आयुः विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आरेण चैव ये स्थावरा. प्राणाः, येपु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डः अनिक्षिप्त. अनर्थाय दण्डः निक्षिप्तः, तेपु प्रत्यायान्ति। तेपु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डः अनिक्षिप्त. अनर्थाय दण्ड. निक्षिप्त.।

२. सीमा के अन्तर्गत जो त्रस प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है। वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड़ देते हैं। वे आयुष्य को छोड़कर उसी क्षेत्र मे जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान होता है।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते वहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ, उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते।। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा अपि उच्यन्ते, ते महाकाया., ते चिरस्थितिका। ते वहुतरकाः प्राणाः येपु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरका. प्राणा. येपु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवता उपदेशः नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीरवाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (संयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नही है, जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

३. तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो

तत्र आरेण ये त्रसाः प्राणाः, येपु श्रमणोपासकस्य आदानश.

३ सीमा के अन्तर्गत जो त्रस प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन

आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तसा थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

आमरणान्त दण्डो निक्षिप्त', ते तत. आयु. विप्रजहति, विप्रहाय तत्र परेण चैव ये त्रसा स्थावरा. प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्त दण्डो निक्षिप्त, तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति।

पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड देते है। वे आयुष्य को छोडकर सीमा के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते है। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा. अपि उच्यन्ते, ते महाकाया, ते चिरस्थितिका। ते बहुतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यात भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त.। अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते है। वे त्रस भी कहलाते है। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते है। वे प्राणी बहुत है, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही है, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

४. तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

तत्र आरेण ये स्थावरा प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डो अनिक्षिप्त अनर्थाय दण्डो निक्षिप्त, ते तत आयु विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आरेण चैव ये त्रसा प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्त', तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति।

४. सीमा के अन्तर्गत जो स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड देते है। वे प्राणी आयुष्य को छोडकर सीमा के अन्तर्गत जो त्रस प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवन पर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते है। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविर-

ते प्राणा. अपि उच्यन्ते, ते त्रसा. अपि उच्यन्ते, ते महाकाया, ते चिरस्थितिका। ते बहुतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरका. प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यात भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य

वे प्राणी भी कहलाते है। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते है। वे प्राणी बहुत है जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही है, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत

जस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडं णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त'। अयमपि भवतां उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

५. तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स 'अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते।

तत्र आरेण ये स्थावरा. प्राणा., येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्ड. अनिक्षिप्त. अनर्थाय दण्डो निक्षिप्त, ते तत. आयु' विप्रजहति, विप्रहाय ते तत्र आरेण चैव ये स्थावरा प्राणा, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्ड: अनिक्षिप्त अनर्थाय दण्डो निक्षिप्त', तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्ड' अनिक्षिप्त अनर्थाय दण्ड निक्षिप्त.।

५. सीमा के अन्तर्गत जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड देते हैं। वे प्राणी आयुष्य को छोडकर सीमा के अन्तर्गत जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, उसमे पुन. उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान होता है।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

ते प्राणा अपि उच्यन्ते, ते त्रसा. अपि उच्यन्ते, ते महाकाया, ते चिरस्थितिका। ते बहुतरका प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति। ते अल्पतरका प्राणा. येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्याय यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्त। अयमपि भवता उपदेश नो नैर्यातृको भवति।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नही हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नही होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते है—ऐसा कोई भी पर्याय नही है, जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

६. तत्थ परेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तसा थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

तत्र परेण ये स्थावरा प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्ड. अनिक्षिप्त अनर्थाय दण्डो निक्षिप्त, ते तत आयु. विप्रजहति, विप्रहाय तत्र परेण चैव ये त्रसा स्थावरा. प्राणा., येषु श्रमणोपासकस्य आदानश आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्त., तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यात भवति।

६ सीमा के बाहर जो स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अप्रत्याख्यान और अनर्थ-हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी वहा से आयुष्य को छोड देते हैं। वे प्राणी आयुष्य को छोडकर सीमा के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी है, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते. तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्ठिइया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

ततः आयुः विप्रजहति, विप्रहाय तत्र आरेण ये स्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य अर्थाय दण्डः अनिक्षिप्तः, अनर्थाय दण्डो निक्षिप्तः, तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति।

ते प्राणाः अपि उच्यन्ते, ते त्रसाः अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः, ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

त्याग किया है, वे प्राणी वहां से आयुष्य को छोड देते हैं। वे आयुष्य को छोड़कर सीमा के अन्तर्गत जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनकी अर्थ-हिंसा का अपरित्याग और अनर्थ-हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुन उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नहीं हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (संयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नहीं है, जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नहीं है।

९. तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परि-

तत्र परेण ये त्रसस्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः, ते ततः आयुः विप्रजहति, विप्रहाय ते तत्र परेण चैव ये त्रसस्थावराः प्राणाः, येषु श्रमणोपासकस्य आदानशः आमरणान्तं दण्डो निक्षिप्तः, तेषु प्रत्यायान्ति। तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति।

ते प्राणाः अपि उच्यन्ते, ते त्रसाः अपि उच्यन्ते, ते महाकायाः, ते चिरस्थितिकाः। ते बहुतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यातं भवति। ते अल्पतरकाः प्राणाः येषु श्रमणोपासकस्य अप्रत्याख्यातं भवति। तस्य महतस्त्रसकायाद् उपशान्तस्य उपस्थितस्य प्रतिविरतस्य यद् यूयं वा अन्यो वा एवं वदथ—नास्ति

९. सीमा से बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, वे प्राणी वहां से आयुष्य को छोड देते हैं। वे आयुष्य को छोड़कर सीमा के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने व्रत स्वीकार करने से लेकर जीवनपर्यन्त जिनकी हिंसा का परित्याग किया है, उनमे पुनः उत्पन्न होते हैं। उनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है।

वे प्राणी भी कहलाते हैं। वे त्रस भी कहलाते हैं। वे महान् शरीर वाले और चिरकाल की स्थितिवाले होते हैं। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमे श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी नहीं हैं, जिनमे श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। महान् त्रसकाय (के घात) से उपशात, (सयम मे) उपस्थित, (हिंसा से) प्रतिविरत उस श्रमणोपासक के लिए तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा

याए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।

३०. भगवं च णं उदाहु—ण एयं भूयं ण एयं भव्वं ण एयं भविस्सं जण्णं—तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, थावरा पाणा भविस्संति। थावरा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, तसा पाणा भविस्संति। अवोच्छिण्णेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते। अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ॥

भगवाश्च उदाह—नैतद् भूतं, नैतद् भव्य, नैतद् भविष्यं यत्—त्रसा प्राणा व्यवच्छेत्स्यन्ति, स्थावरा प्राणा भविष्यन्ति। स्थावरा प्राणा व्यवच्छेत्स्यन्ति, त्रसा प्राणा भविष्यन्ति। अव्यवच्छिन्नेषु त्रसस्थावरेषु प्राणेषु यद् यूय वा अन्यो वा एव वदथ—नास्ति स कश्चित् पर्यायः यस्मिन् श्रमणोपासकस्य एकप्राणे अपि दण्डो निक्षिप्तः। अयमपि भवता उपदेशो नो नैर्यातृको भवति।

३०. भगवान् (गौतम) ने कहा—न ऐसा हुआ, न होता है, और न होगा कि त्रस प्राणी व्युच्छिन्न हो कर सब स्थावर प्राणी हो जाएगे। स्थावरप्राणी व्युच्छिन्न होकर सब त्रस प्राणी हो जाएगे। त्रस और स्थावर प्राणियो के व्युच्छिन्न न होने पर तुम या दूसरे इस प्रकार कहते हैं—ऐसा कोई भी पर्याय नही है, जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की भी हिंसा का परित्याग हो सके। यह भी तुम्हारा उपदेश नैर्यातृक नही है।[१०]

३१. भगवं च णं उदाहु—आउसंतो! उदगा! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासइ मित्ति मण्णइ आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए [उट्ठिए ?], से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ।

भगवाश्च उदाह—आयुष्मन्! उदक! य खलु श्रमण वा ब्राह्मण वा परिभाषते मामिति मन्यते आगम्य ज्ञानं, आगम्य दर्शन, आगम्य चरित्र पापाना कर्मणा अकरणतया (उत्थित), स खलु परलोकपरिमन्थतया तिष्ठति।

३१ भगवान् (गौतम) ने कहा—आयुष्मन्! उदक! जो पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर, दर्शन को प्राप्त कर, चारित्र को प्राप्त कर, पापकारी कर्मों को न करने के लिए उत्थित होकर, यदि श्रमण अथवा ब्राह्मण को 'ये मेरा परिभव करने वाले हैं'—ऐसा मानता है, वह परलोक का परिमन्थ (सद्गति का विघात) करने वाला होता है।

जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्ति मण्णइ आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए [उट्ठिए ?], से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ ॥

यः खलु श्रमण वा ब्राह्मण वा नो परिभाषते मामिति मन्यते आगम्य ज्ञान, आगम्य दर्शन, आगम्य चरित्रं पापाना कर्मणा अकरणतया (उत्थितः) स खलु परलोकविशुद्ध्या तिष्ठति।

जो पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर, दर्शन को प्राप्त कर, चारित्र को प्राप्त कर, पापकारी कर्मों को न करने के लिए उत्थित होकर, यदि श्रमण अथवा ब्राह्मण को 'ये मेरा परिभव करने वाले नही हैं'—ऐसा मानता है, वह परलोक की विशुद्धि करने वाला है।

३२. तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगव गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए ॥

तत स उदक पेढालपुत्र भगवन्तं गौतम अनाद्रियमाणो यामेव दिश प्रादुर्भूतः तामेव दिश प्राधारयत् गमनाय।

३२ तब पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम को आदर नही देते हुए, जिस दिशा से आया था उसी दिशा मे जाने का संकल्प किया।

३३. भगवं च णं उदाहु—आउसंतो! उदगा! जे खलु तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म अप्पणो चेव

भगवाश्च उदाह—आयुष्मन्! उदक! ये खलु तथारूपस्य श्रमणस्य वा ब्राह्मणस्य वा अन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचन श्रुत्वा

३३. भगवान् (गौतम) ने कहा—आयुष्मन्! उदक! जो व्यक्ति तथारूप श्रमण अथवा ब्राह्मण के पास एक भी आर्य, धार्मिक और सुवचन सुनकर, उसका अवधारण कर, अपनी सूक्ष्मबुद्धि से (यह जानकर कि इसने मुझे)

सुहुमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सो वि ताव तं आढाइ परिजाणेइ वंदइ णमंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ ॥

निशम्य आत्मन. चैव सूक्ष्मया प्रतिलेखया अनुत्तर योगक्षेमपद लम्भितः सन् सोऽपि तावत् त आद्रियते परिजानाति वंदते नमस्यति सत्करोति समन्यते कल्याण मगलं दैवत चैत्य पर्युपास्ते ।

अनुत्तर योगक्षेमपद की प्राप्ति कराई है, वह भी उसका आदर करता है, उपकार मानता है, वदना करता है, नमस्कार करता है, सत्कार करता है, सम्मान करता है। उसे कल्याणकारी, मगल, देवता और चैत्य मानकर उसकी पर्युपासना करता है।

३४. तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—एएसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अण्णाणयाए अस्सवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अणिज्जूढाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहियं णो पत्तियं णो रोइयं ।

एएसि णं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहीए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुयाणं मुयाणं विण्णायाणं णिज्जूढाणं वोगडाणं वोच्छिण्णाणं णिसिट्ठाणं णिवूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवामेयं जहा णं तुब्भे वदह ॥

ततः स उदक पेढालपुत्र. भगवन्तं गौतम एवं अवादीत्—एतेषा भदन्त ! पदाना पूर्वं अज्ञानेन अश्रवणेन अबोधिना अनभिगमेन अदृष्टाना अश्रुताना अस्मृतानां अविज्ञाताना अनिर्यूढाना अव्याकृताना अव्यवच्छिन्नाना अनिसृष्टाना अनिर्व्यूढाना अनुपधारिताना एनमर्थं नो श्रद्धित नो प्रतीत नो रोचितम् ।

एतेषा भदन्त ! पदाना इदानी ज्ञानेन श्रवणेन बोधिना अभिगमेन दृष्टाना श्रुताना स्मृताना विज्ञाताना निर्यूढाना व्याकृताना व्यवच्छिन्नाना निसृष्टाना निर्व्यूढाना उपधारिताना एनमर्थं श्रद्धे प्रत्येमि रोचे एवमेतद् यथा यूय वदथ ।

३४ तब उस पेढालपुत्र उदक ने भगवान् (गौतम) से इस प्रकार कहा—भंते ! अज्ञान के कारण, न सुनने के कारण, अबोधि के कारण, न जानने के कारण, ये पद मेरे लिए अदृष्ट, अश्रुत, अस्मृत, अविज्ञात, अनिर्यूढ, अव्याकृत, अव्यवच्छिन्न, अनि सृष्ट, अनिर्व्यूढ अनुपधारित थे। इनके अर्थ पर मैंने श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं की थी।

भदन्त ! अब ज्ञान, श्रवण, बोधि और अभिगम के द्वारा ये पद दृष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञात, निर्यूढ, व्याकृत, व्यवच्छिन्न, नि सृष्ट, निर्व्यूढ और उपधारित हो गए हैं। मैं इनके अर्थ पर श्रद्धा करता हू, प्रतीति करता हू और रुचि करता हूं। ये ऐसे ही हैं, जैसा आप कहते हैं।

३५. तए णं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वयासी—सद्दहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वयामो ॥

तदा भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्रं एव अवादीत्—श्रद्धस्व आर्य ! प्रत्येहि आर्य ! रोचस्व आर्य ! एवमेतद् यथा वयं वदामः ।

३५. तब भगवान् गौतम ने पेढालपुत्र उदक को इस इस प्रकार कहा—श्रद्धा करो आर्य !, प्रतीति करो आर्य !, रुचि करो आर्य !, यह ऐसा ही है जैसा हम कह रहे हैं।

३६. तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥

ततः स उदक पेढालपुत्र. भगवन्त गौतमं एवं अवादीत्—इच्छामि भदन्त ! युष्माक अन्तिके चातुर्यामाद् धर्मात् पचमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमण सप्रतिक्रमण धर्मं उपसपद्य विहर्तुम् ।

३६ तब पेढालपुत्र उदक ने भगवान् गौतम को इस प्रकार कहा—भदन्त ! मैं आपके पास चातुर्याम धर्म से पचमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमण धर्म को अगीकार कर, विहरण करना चाहता हू।

३७. तए णं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं

तत भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र गहीत्वा यत्रैव श्रमणो भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति। तत. स उदक पेढालपुत्र. श्रमण

३७. तब भगवान् गौतम पेढालपुत्र उदक को लेकर जहा श्रमण भगवान् महावीर थे वहा आते हैं। तब वह पेढालपुत्र उदक भगवान् महावीर को तीन बार दाए से बाए प्रदक्षिणा करता

महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

भगवन्तं महावीरं त्रिकृत्वस् आदक्षिण-प्रदक्षिणा करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवं अवादीत्—इच्छामि भदन्त ! युष्माकं अन्तिके चातुर्यामाद् धर्मात् पचमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्मं उपसंपद्य विहर्तुम्।

है। दाए से वाए प्रदक्षिणा कर वन्दना-नमस्कार करता है। वदना-नमस्कार कर उसने कहा—भदन्त ! मैं आपके पास चातुर्याम धर्म से पचमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमण धर्म को अगीकार कर विहरण करना चाहता हू।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि॥

यथासुखं देवानुप्रिय ! मा प्रतिबंध कुरु।

(भगवान् ने कहा) देवानुप्रिय ! जैसा सुख हो वैसा करो। विलम्ब मत करो।

३८. तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

—त्ति बेमि॥

तत स उदक पेढालपुत्र. श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके चातुर्यामाद् धर्मात् पचमहाव्रतिक सप्रतिक्रमणं धर्मं उपसंपद्य विहरति।

—इति ब्रवीमि॥

३८. तव पेढालपुत्र उदक श्रमण भगवान् महावीर के पास चातुर्याम धर्म से पचमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमण धर्म को अगीकार कर विहरण करने लगा।

—ऐसा मैं कहता हू॥

अध्ययन ७ : टिप्पण

सूत्र ३ :

१. गृहपति (गाहावई)

गृहपति का अर्थ है—घर का स्वामी।[1] घर मे जिसकी आज्ञा का वर्तन होता है, उसको गृहपति कहा जाता है। वह कुटुंबिक कहलाता है।[2]

चूर्णिकार ने इससे आगे गृहपति की परिभाषा करते हुए कहा है—जब तक व्यक्ति व्रतो को ग्रहण नही करता तब तक वह 'गृहपति' कहलाता है। व्रत ग्रहण के पश्चात् वह श्रावक या उपासक कहलाता है।[3]

२. प्रसन्न और प्रसिद्ध (दित्ते वित्ते)

चूर्णिकार[4] ने "दित्तचित्ते" पाठ मानकर उसका अर्थ—सतुष्ट, पर्याप्त धन वाला—किया है। वृत्तिकार[5] ने दीप्त का अर्थ तेजस्वी और 'वित्त' का अर्थ प्रख्यात किया है।

३. (विच्छिण्णं-विपुल-भवण-सयाणसण-जाणवाहणाइण्णे)

इस वाक्याश मे दो विशेषण प्रयुक्त हैं—विस्तीर्ण और विपुल। विस्तीर्ण—यह विशेषण भवन, शयनासन के लिए है और विपुल—यह विशेषण यान-वाहन के लिए है।[6]

४. आयोग प्रयोग में (आओग-पओग····)

चूर्णि मे आयोग का अर्थ है—व्यापार या व्याज का व्यापार।[7]

वृत्तिकार ने अर्थार्जन के हेतुभूत साधनो को 'आयोग' माना है। जैसे—यानपात्र, उष्ट्रमडलिका आदि। प्रयोग का अर्थ है—प्रवृत्ति।[8]

सूत्र : ५

५. शेषद्रव्या (सेसदविया)

गृहपति लेप के 'शेषद्रव्या' नाम की उदकशाला थी। चूर्णिकार ने इसे नया घर माना है और इसे समस्त गृहोपयोगी काष्ठ, ईंट, लोह आदि से निर्मित बताया है। उन्होंने मतान्तर का उल्लेख करते हुए बताया है कि गृहोपयोगी द्रव्य जो बच जाते हैं, उनसे इसका निर्माण हुआ है। इसलिए इसे 'शेषद्रव्या' (बचे हुए द्रव्य से बनी हुई) कहा गया है। वृत्तिकार ने इसी मत को स्वीकार किया है।[9]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४४९ : गृहस्य पतिः गृहपतिः।

२. वृत्ति, पत्र १६१ : गृहपतिः कुटुम्बिक.।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४५४ सो हि गाहावतित्ति यावन्न व्रतानि तावद् गृहपतीत्युच्यते, गृहीतानुव्रतस्तु श्रावकः उपासको वा।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४४९-४५० : दीप्तचित्तो नाम तुष्ट' पर्याप्तधनवान्।

५. वृत्ति, पत्र १६१ : दीप्तः—तेजस्वी वित्त —सर्वजनविख्यातः।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४५०।

७. चूर्णि, पृष्ठ ४५० आयोगो वृद्धिकाप्रयोगः (व्यापार) इत्यर्थः।

८. वृत्ति, पत्र १६१ आयोगा —अर्थोपाया यानपात्रोष्ट्रमण्डलिकादय तथा प्रयोजनं प्रयोगः—प्रायोगिकत्वं।

९ (क) चूर्णि, पृष्ठ ४५१ : सेसदविया णाम तस्य णवग घर, तथा ज सेस गृहोपयोज्यं काष्ठेष्टकालोहादि, तेण कृता, केचिद् ब्रुवते—गृहोपयोज्यात् द्रव्यात् यच्छेषं तेन कृता।

(ख) वृत्ति, पत्र १६३।

चूर्णि मे पाचवें, छठे सूत्र का व्यत्यय है। चूर्णिकार ने पहले हस्तियाम वनपण्ड का और फिर 'शेषद्रव्या' उदकशाला का वर्णन किया है।[1]

सूत्र ६ :

६. वनषण्ड (वणसंडे)

वनषण्ड के पूरे विवरण के लिए देखें—औपपातिक सूत्र ४-७।

सूत्र ७ :

७. (सूत्र ७)

इस सूत्र की व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार एकमत नहीं हैं। चूर्णि के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार है—[2]

उस 'शेषद्रव्या' नामक उदकशाला मे अनेक गृहप्रदेश थे। जैसे—कोष्ठ, सभामडप, जलगृह आदि। उनसे से किसी एक मे गणधर गौतम रहते थे। उस शेषद्रव्या उदकशाला मे पहले कुछ जन रहते थे, पर अब वह उपयोग मे नही आ रही थी, इसलिए जन-शून्य थी। इसलिए भगवान् गौतम वहा ठहरे।

भगवान् महावीर आराम (हस्तियाम वनषण्ड) के अधो-गृह मे स्थित थे। उनके साथ वाले शेष साधु देवकुल और सभाओ मे स्थित थे।

वृत्ति के अनुसार व्याख्या इस प्रकार है—[3]

हस्तियाम नामक वनषण्ड के गृहप्रदेश मे भगवान् महावीर के गणधर गौतम रहते थे। कुछ समय पश्चात् वे उस आराम मे अपने साधुओ के साथ स्थित हुए।

चूर्णिकार ने भगवान् गौतम की अवस्थिति शेषद्रव्या उदकशाला के गृहप्रदेश मे और भगवान् महावीर की अवस्थिति हस्तियाम नामक वनषण्ड मे बतलाई है। वृत्तिकार ने काल के व्यवधान से गणधर गौतम की स्थिति दोनो मे बतलाई है। वे भगवान् महावीर का कभी उल्लेख नही करते। सूत्र का पाठ देखते हुए लगता है कि सूत्रपाठ का पूर्वभाग गौतम से सबधित है (तंसि च गिहपदेसंसि भगव गोयमे विहरई) और उत्तर भाग भगवान् महावीर से सम्बन्धित है। (भगव च ण अहे आरामसि)।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "विहरई" शब्द की व्याख्या चूर्णिकार ने बहुत सुन्दर की है। उन्होने प्रश्न उपस्थित किया है कि गौतम उस प्रदेश मे स्थित थे फिर "विहरति" क्रिया का प्रयोग क्यो ? वे विहरण या चक्रमण तो नही कर रहे थे ? इसके समाधान मे उन्होंने लिखा है, यहा चक्रमण लक्षण वाला विहार लक्षित नही है। किन्तु यहा विहार का अर्थ विशेषमुद्रा या साधना मे रहना है। भगवान् गौतम वहा ऊर्ध्वजानू (घुटनो को ऊचा कर), अध शिरा (शिर को नीचा रख) ध्यान-कोष्ठ मे विहार किया करते थे। चूर्णि-कार ने शाब्दिक व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ किया है कि वे विशेषरूप से कर्मरज का हरण कर रहे थे।[4]

सूत्र ८ :

८. पार्श्वापत्यीय (पासावच्चिज्जे)

इसका शाब्दिक अर्थ है—पार्श्व का अपत्य। वास्तव मे उदक तीर्थंकर पार्श्व से दीक्षित नही था। किन्तु परम्परा से वह पार्श्वनाथ के शिष्य का शिष्य था। पार्श्वापत्य का अर्थ है—पार्श्व की परम्परा मे प्रव्रजित, पार्श्व के शिष्य का शिष्य।[5]

९. पेढालपुत्र उदक (उदए पेढालपुत्ते)

पेढालपुत्र उदक भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा मे दीक्षित था। एक बार वह किसी शून्य देवमदिर या सभास्थल मे स्थित

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४५०,४५१।
२ चूर्णि, पृष्ठ ४५१।
३. वृत्ति, पत्र १६३।
४. चूर्णि, पृष्ठ ४५१ : भगवं गोतमे विहरति, कथं विट्ठो कथ विहरति ? उच्यते ण चंक्रमणादिलक्षणो विहारो गृहीत किन्तु उद्धंजाणु-अधोसिरझाणकोट्ठोवगते, विसेसेण वा कम्मंरजो हरतीति विहरति।
५. चूर्णि, पृष्ठ ४४६ : पासस्स अवच्चं पासावच्चं, ना सौ पार्श्वस्वामिना प्रव्राजितः, किन्तु पारम्पर्येण पार्श्वापत्यस्यापत्यं पासा-वच्चिज्जं।

था। उसके मन मे कुछ प्रश्न उभरे। वह उनका समाधान भगवान् महावीर से प्राप्त करना चाहता था। किन्तु वह उनको साक्षात् नहीं जानता था। भगवान् उस समय लेप गृहपति के हस्तियाम उद्यान मे थे। साथ में अनेक साधु थे। उदक ने सोचा—पता नहीं, कौन वर्धमान स्वामी हैं ? यहा हैं या नही हैं ? उन्हे पहचान पाना कठिन है। इस सदेह से वह सीधे गौतम गणधर के पास आया।[1]

नियुंक्तिकार ने श्रमण उदक द्वारा पूछे गए प्रश्न और गौतम द्वारा दिए गए समाधान का उल्लेख किया है।[2]

१०. प्रश्न (पदेसे)

इसका अर्थ है—प्रवचन (निर्ग्रन्थ प्रवचन) सबंधी प्रश्न।[3]

सूत्र ९ :

११. वाद के स्वर में (सवायं)

चूर्णिकार ने प्रस्तुत सूत्र मे इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. जो हिंसा, असत्य, उपघात आदि से रहित वाणी होती है उसे 'सवाद'—शोभन वाक् कहते हैं।

२. उस वाणी को 'सवाद' कहा जाता है जिसका पूरा निर्वाह हो सके।

दशवें सूत्र की व्याख्या में उन्होने इस शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—जो केवल तत्त्व की जानकारी के लिए पूछा जाता है, मिथ्याभिमान, पूजा या दुर्गति से नहीं पूछा जाता, वह 'सवाद' कहलाता है।[5]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ—वादसहित और सद्वाणी किए हैं।[6]

१२. सुनकर (सोच्चा····)

गणधर गौतम ने कहा—प्रश्न सुनकर मैं तुम्हें उत्तर दूंगा और यदि उत्तर न दे सका तो भगवान् से पूछूगा।[7]

सूत्र १० :

१३. कम्मारपुत्रिक (कम्मारपुत्तिया)

चूर्णिकार के अनुसार कर्मकार—यह संज्ञावाची नाम है अथवा शिल्पी (लोहार जाति) का वाचक है। कर्मकार के पुत्र या पौत्र कर्मारपुत्र कहलाते हैं।[8]

वृत्तिकार ने 'कुमारपुत्तिया' पाठ मानकर, इसका अर्थ कुमारपुत्र (नाम के निर्ग्रन्थ) किया है।[9] संभव है यह लिपिदोष के कारण 'कम्मार' के स्थान पर 'कुमार' हो गया हो।

१४. अभियोग (अभिजोगेणं)

इसका अर्थ है—परतंत्रता। वह पाच प्रकार का है[10]—

१. राजाभियोग—राजपरतंत्रता। जैसे राजाभियोग के कारण नागनत्तु को संग्राम करना पड़ा, इसी प्रकार राजाज्ञा से युद्धस्थल मे शत्रुओ को मारना, हिंस्र पशुओ का वध करना आदि—राजाभियोग से की जाने वाली प्रवृत्तियां हैं।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४५१।

२. निर्युक्ति गाथा २०५; वृत्ति पत्र १६३।

३. चूर्णि, पृष्ठ ४ १ : प्रदिश्यते इति प्रदेशः प्रवचनस्य प्रश्न इत्यर्थः।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४५१ : सवायं शोभनवाक् सवाय शोभना तु 'अलियमुवघातजणणं' इत्यादि अथवा निर्वहणसामर्थ्यात् शोभनवाक्।

५ चूर्णि, पृष्ठ ४५१ : सवायंति न मिथ्याहिमानात् पूयाविमत्या केवलं तत्त्वोपलंभात्।

६ वृत्ति, पत्र १६३ : सह वादेन सवादं····सद्वाचं वा—शोभनभारतीकं।

७. चूर्णि, पृष्ठ ४५१ : यदि श्रुत्वा ज्ञास्याम. ततो वक्ष्यामः न चेत् ज्ञास्यामो भगवंतं प्रक्ष्याम इत्यर्थः।

८. चूर्णि, पृष्ठ ४५१-४५२ कम्माउत्तिया णाम कर्म्म करोतीति कर्म्मकारः संज्ञया शिल्पी वा कर्म्मकारस्य पुत्राः कर्म्मकारपुत्राः, कर्म्मकारपुत्राणामपत्यानि कर्म्मकारीयपुत्रा।

९. वृत्ति, पत्र १६५ : कुमारपुत्राः नाम निर्ग्रन्थाः।

१०. उपासक दशा १।४५, वृत्ति पृष्ठ २३।

२. गणाभियोग—गण का अर्थ है—समुदाय। जैसे—मल्लगण आदि। उनकी परतंत्रता से प्रवृत्ति करना।

३ बलाभियोग—राजा और गण के अतिरिक्त अन्य बलशाली व्यक्ति की परवशता से प्रवृत्ति करना।

४. देवताभियोग—देवता की परतत्रता से प्रेरित होकर कार्य करना।

५ गुरुनिग्रह—माता, पिता, गुरुजन आदि की परतत्रता से प्रवृत्ति करना।

उपासकदशा (१।४५) मे अन्यतीर्थिको के व्यवहार के प्रसग मे "रायाभिओगेण" पाठ है। सूत्रकृताग की चूर्णि और वृत्ति मे "रायभिओगेण" पाठ है।[1] किन्तु प्रथम व्रत मे ऐसा पाठ अभी उपलब्ध नही है।

१५. गृहपति के……न्याय से (गाहावई-चोरग्गहण-विमोक्खणयाए)

एक गृहपति के छह पुत्र थे। उन्हे प्रचुर पैत्रिक संपत्ति प्राप्त थी। फिर भी कर्म की मूर्छा से मूर्च्छित होकर उन्होने राजकीय कोष से कुछ धन चुरा लिया। चोरी का पता लग गया। वे पकडे गए। कथा का प्रारभिक अश एक परपरा मे इस प्रकार है।

दूसरी परपरा का प्रारभिक अश इससे भिन्न है[2]—

रत्नपुर नगर मे रत्नशेखर नामका राजा था। उसकी पटरानी का नाम रत्नमाला था। एक बार राजा ने प्रसन्न होकर सभी रानियो को एक दिवसीय 'कौमुदिप्रचार'[3] की अनुज्ञा दी। यह जानकर रत्नपुर के नागरिकों ने भी अपनी स्त्रियो को उसी प्रकार से क्रीडा करने की अनुमति दी। राजा ने नगर मे ढिंढोरा पिटवाया कि कौमुदी महोत्सव के चालू होने पर, उस दिन सूर्यास्त के बाद यदि कोई व्यक्ति नगर मे रह जाएगा तो उसे विना किसी पूर्व सूचना के फासी पर चढा दिया जाएगा।

उस नगर मे एक धनाढ्य वणिक् रहता था। उसके छह पुत्र थे। कौमुदि महोत्सव का दिन आया। वे छहो पुत्र उस दिन व्यापार मे अति व्यस्त हो गए। उन्हे सूर्यास्त का पता ही नही लगा। सूर्यास्त के होते ही नगर के द्वार बद हो गए। वे छहो पुत्र नगर के वाहर नही जा सके। वे भयभीत होकर नगर के बीच कही छुप गए। कौमुदी महोत्सव की रात पूरी हुई। राजा ने आरक्षको को बुलाकर पूछा—तुम सही-सही वताओ कि कौमुदी की रात मे नगर मे कोई पुरुष रहा या नही? आरक्षको को छह वणिक् पुत्रो की वात ज्ञात हो गई थी। उन्होने सव वता दिया। राजा कुपित हो गया। उसने आज्ञा-भग के अपराध मे छहो पुत्रो के वध की आज्ञा दे दी। पिता ने पुत्रो के वध की वात सुनी। वह किंकर्त्तव्यविमूढ होकर राजा के पास आया। उसने गद्गद् स्वर मे प्रार्थना करते हुए राजा से कहा—राजन्! मेरे कुल का विनाश न करें। मेरे द्वारा उपार्जित सारा धन आप ले लें। मेरे छहो पुत्रो को छोड दें। राजा ने उसकी प्रार्थना पर कोई विचार नही किया। सेठ ने जाना कि राजा छहो पुत्रो को छोडने को राजी नही है। तव उसने कहा—राजन्! पाच पुत्रो को तो छोड दें। राजा फिर भी मौन रहा। पिता ने फिर चार, फिर तीन, फिर दो पुत्रो को मुक्त करने की प्रार्थना की। राजा फिर भी टस से मस नही हुआ। तव पिता ने पौरमहत्तर को साथ लेकर राजा से प्रार्थना की—देव! अकारण ही मेरे कुल का क्षय हो रहा है। आप वचा सकते हैं। आप एक पुत्र को जीवन-दान देकर मुझे कृतार्थ करें। यह कहकर पिता पौरमहत्तर के साथ राजा के चरणो मे गिर पडा। राजा के मन मे अनुकपा जागी और उसने ज्येष्ठ पुत्र को जीवनदान देकर मुक्त कर दिया।[4]

चूर्णि मे कथा का सक्षिप्त रूप उपलब्ध है।[5]

इस दृष्टान्त की दार्ष्टान्तिक योजना इस प्रकार है—साधु ने श्रमणोपासक से कहा—तुम छह जीवनिकाय (सव जीवो) की हिंसा का परित्याग करो। किन्तु श्रमणोपासक अपनी अशक्ति के कारण वैसा नही कर सकता। इस स्थिति मे साधु कहता है—'तुम कम से कम त्रसकाय की हिंसा का परित्याग करो। इस प्रकार परित्याग कराने मे शेप जीवो की हिंसा का अनुमोदन नही होता। जैसे वणिक् के द्वारा अपने छहो पुत्रो को छोडने की प्रार्थना करने पर भी राजा ने उन्हे छोडना नही चाहा। अन्त मे एक पुत्र को छोडने की स्वीकृति दी। वणिक् ने उसे कृतज्ञभाव से स्वीकार किया। इस स्वीकृति का अर्थ यह नही होता कि शेप पाच पुत्रो को मारने मे उसकी अनुमति थी। इस 'चोर-ग्रहण-विमोक्षण' न्याय से साधु द्वारा भी शेप जीवनिकाओ का वध भी अनुज्ञात नही होता।

चूर्णिकार ने यहा एक प्रश्न उपस्थित किया है कि वणिक् के पुत्र अपने घर मे ठहरे हुए थे। फिर वे चोर कैसे? इसका

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४५२।
   (ख) वृत्ति, पत्र १६६।

२. वृत्ति, पत्र १६६।

३. कौमुदी प्रचार—स्त्रियो का इच्छानुसार घूमना-फिरना।
   चूर्णिकार ने इसे महिलाचार कहा है। (चूर्णि, पृष्ठ ४५२—'वत्ते महिलाचारे')।

४. वृत्ति, पत्र १६६, १७०।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४५२, ४५३।

उत्तर है कि राजा द्वारा नगरनिवास अनुज्ञात नही था और राजाज्ञा का अतिक्रमण भी एक प्रकार की चोरी है। इसलिए उन वणिक्-पुत्रो को चोर कहा गया है।

उन्होने वैकल्पिकरूप मे लिखा है—राजा ने वणिक्पुत्रो को आयोग मे आयुक्तरूप मे नियुक्त किया। उन्होंने उस कार्य मे धन का घोटाला किया। इसलिए वे चोर हो गए। शेष कथाभाग पूर्ववत् है।[1]

१६. प्रत्याख्यान है (णिहाय)

देखें—६।४१ का टिप्पण।

सूत्र १३ :

१७. त्रसभूत प्राणियों को त्रस (तसभूया पाणा तसा)

उदक पेढालपुत्र का तर्क है कि त्रसप्राणी की हिंसा का परित्याग कराया जाता है, इसमे 'त्रस' शब्द का प्रयोग समीचीन नहीं है। इसके स्थान पर 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए। उनका यह वक्तव्य दसवें सूत्र मे है। प्रस्तुत सूत्र मे भगवान् गौतम त्रसभूत और त्रस—इन दोनो शब्दो की एकार्थकता का प्रतिपादन करते हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'भूत' शब्द पर विस्तार से विमर्श किया है। 'भूत' शब्द का औपम्य और तादर्थ्य—इन दो अर्थो मे प्रयोग होता है।[2] यह अन्त.पुर देवलोकभूत (देवलोक सदृश) है। यहा भूत शब्द का प्रयोग उपमा के अर्थ मे हुआ है। यह नगर देवलोकभूत है। इसका अर्थ है कि वह नगर देवलोक नही है, देवलोक जैसा है। 'त्रसभूत' का अर्थ भी यह होगा कि वह 'त्रस' जैसा है, किन्तु त्रस नही है। उदक पेढालपुत्र के अनुसार त्रस-सदृश जीवो की हिंसा का परित्याग होगा। किन्तु त्रस जीवो की हिंसा का परित्याग नही होगा।[3]

तादर्थ्य मे भूत शब्द का प्रयोग व्यर्थ है। जैसे—शीतीभूत उदक शीत कहलाता है। वैसे ही त्रसीभूत जीव त्रस कहलाता है। इस प्रकार ये दोनो (त्रसीभूत और त्रस) एकार्थक हो जाते है। तब त्रस शब्द के प्रयोग पर आपत्ति क्यो होनी चाहिए।[4]

१८. संयम का (गोत्तस्स)

चूर्णिकार ने इसको गुप् रक्षणे धातु से व्युत्पन्न कर इसका अर्थ सयम किया है[5]। वृत्तिकार ने इसका अर्थ साधुत्व किया है।[6]

१९. क्रमशः... ...कथन करते हैं (अणुपुव्वेणं........सखसावेंति)

गृहस्थ श्रमणोपासक बनने के बाद क्रमश. व्रत का विकास करता है। यह 'अणुपुव्वेण' इस पद के द्वारा सूचित किया गया है। 'सखसावेंति' (सख्या श्रावयन्ति) उसी पद का प्रत्यावर्तन है। चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'सख ठावेंति' पाठ की व्याख्या की है। तात्पर्य दोनो का अभिन्न है। चूर्णिकार के शब्दो मे कोई एक अणुव्रत स्वीकार करता है, कोई दो यावत् कोई पाच अणुव्रत स्वीकार करता है। इस प्रकार उत्तरगुणो की स्वीकृति मे भी सख्या का मतभेद होता है। यह सयम के क्रमिक विकास की प्रक्रिया बतलाई गई है।[7]

सूत्र १४ :

२०. त्रसप्राणी भी त्रससंभारकृत नामकर्म से (तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा)

सज्ञा दो प्रकार की होती है—गौणी और पारिभाषिकी। इन्द्रगोपक यह पारिभाषिक सज्ञा है। भास्कर—यह गौणी (गुण-

१. चूर्णि, पृष्ठ ४५३।
२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४५७ . भूतसद्दो पुण औपम्ये तदर्थे च वर्त्तते।
 (ख) वृत्ति, पत्र १६८।
३. चूर्णि, पृष्ठ ४२५।
४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४५६।
 (ख) वृत्ति, पत्र १६७।
५. चूर्णि, पृष्ठ ४५८ · गुपू रक्षणे तस्या गोत्रं भवति उक्तं हि णं मन्तपदेण गोत्तं संयममित्यर्थः।
६. वृत्ति, पत्र १६८ · गा त्रायत इति गोत्रं—साधुत्वं।
७. चूर्णि, पृष्ठ ४५८।

निष्पन्न) सज्ञा है। त्रस यह पारिभाषिक नही है, किन्तु गुण-निष्पन्न सज्ञा है।[1]

सभार का अर्थ है—कर्म का अवश्यभावी विपाक का वेदन। जो आयुष्य त्रसत्व के रूप मे वधा हैं, जब वह उदय-प्राप्त होता है तब त्रससभारकृत कर्म के कारण उन प्राणियों को त्रस कहा जाता है।[2]

सभार का एक अर्थ गुरु या प्रचुर भी है।

देखें—२।५६ के सभारकृत का टिप्पण।

२१. त्रसरूप में (पारलोइयत्ताए)

स्थावर लोक का परलोक या पारलोक है त्रसलोक। जब प्राणी के स्थावरकाय की स्थिति का अभाव हो जाता है तब वह त्रस के रूप मे उत्पन्न होता है यही पारलौकिक का तात्पर्यार्थ है।[3]

२२. (ते पाणा वि ......ते चिरट्ठिइया)

त्रस के चार अन्वर्थ नाम यहा निर्दिष्ट हैं—

१ प्राण—जो जीव त्रससभारकृत कर्म से उत्पन्न होते हैं, उनकी सामान्य संज्ञा है—'प्राण'।

२ त्रस—वे भय का प्रदर्शन करते है और चलते हैं, इसलिए उनका नाम है—'त्रस'।

३ महाकाय—उनका शरीर विक्रिया के द्वारा एक लाख योजन तक का हो सकता है। इसलिए वे 'महाकाय है।

४ चिरस्थितिक—वे उत्कृष्टत तेतीस सागर प्रमाण दीर्घ आयुष्य वाले होते है, इसलिए वे 'चिरस्थितिक' कहलाते है।[4]

सूत्र १६ :

२३. परिव्राजिकाएं (परिव्वाइयाओ)

अन्य दार्शनिक शाखाओं मे भी स्त्रियों को प्रव्रजित करने की परपरा थी। चरक आदि परिव्राजक अपने मत मे स्त्रियों को दीक्षित करते थे। वे चारिका कहलाती थीं। बौद्ध मत मे प्रव्रजित स्त्रिया भिक्षुणी कहलाती थीं।[5]

२४. तीर्थायतन (तित्थायतणेहिंतो)

तीर्थायतन का अर्थ है—मठ आदि अन्यतीर्थिकों का आवास-स्थल।[6]

सूत्र २० :

२५. श्रमणोपासक होते हैं (समणोवासगा भवंति)

श्रमणोपासक को लक्ष्य कर २०-२१ ये दो सूत्र उपलब्ध है। बीसवें सूत्र मे श्रमणोपासक के साभिग्रह प्रत्याख्यान का प्रतिपादन है। प्राणातिपात आदि से पूर्व 'स्थूल' शब्द का प्रयोग उसका सूचक है। इक्कीसवें सूत्र मे निरभिग्रह प्रत्याख्यान का पतिपादन है। प्राणातिपात आदि से पूर्व 'सर्व' शब्द का प्रयोग उसका सूचक है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४५८ . तसत्ति सज्ञा सा दुविधा गोण परिभाषिकी च विभाषितव्या। तसत्ति न पारिभाषिकी इन्द्रगोपवत्, गोणि भास्करवत्।

२. वृत्ति, पत्र १७० : संभारो नामावश्यतया कर्मणो विपाकानुभवे वेदनम्। तच्च इह त्रसनाम प्रत्येकनामेत्यादिक नामकर्माभ्युपगतं भवतिः त्रसत्वेन यत् परिवद्धमायुष्क तद् यदोदयप्राप्तं भवति तदा त्रससभारकृतेन कर्मणा त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते।

३. वृत्ति, पत्र १७१ ।

४. (क) चूर्णि' पृष्ठ ४५६ ते तसा ते पाणावि अपि पदार्थादिषु पाणावि भूता जाव सत्तावि एव ताण चत्तारि णामाणि अविशिष्टानि तसेसु वट्टति, इदं तु विशिष्ट तसा वच्चुति, महाकायिति, प्रधानेनाहिगत तीर्थकरवैक्रियाऽऽहारकशरीराणि प्रतीत्य बहुत्वं वैक्रियं प्रतीत्य योजनशतसहस्र' चिरट्ठितीयं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

(ख) वृत्ति पत्र १७१।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४६१ इह खलु परियागा चरगादय परियाइयाओ तेसिं चेव तयास्वं प्रव्रजिता स्त्रिय चरिका भिक्षुणीत्यादि।

६. चूर्णि, पृष्ठ ४६१ : अण्णउत्थियाइं तित्थायतणाइं।

२६. प्रतिपूर्ण पौषध (पडिपुण्णं पोसहं)

पौषध दो प्रकार का होता है—प्रतिपूर्ण पौषध (सर्व पौषध) और देश पौषध। जिसमे आहार, शरीर-सस्कार, अब्रह्मचर्य और आरभ—इन चारो का परित्याग किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। जिसमे आहार-पानी का परित्याग होता है, वह 'आहार पोषध' है, स्नान का परित्याग होता है वह 'शरीर-सस्कार पौषध', अब्रह्मचर्य का त्याग होता है वह 'ब्रह्मचर्य पौषध' और जिसमे आरभ का त्याग होता है वह 'अनारभ पौषध' कहलाता है। इस प्रकार देश पौषध चार प्रकार का होता है। जो प्रतिपूर्ण पौषध करता है, वह नियमत सामायिकयुक्त होता है, इसलिए वह प्राणातिपात विरमण आदि पाच अणुव्रतो का ग्रहण करता है। चूर्णि की भाषा मे यह सामायिक का स्वरूप है।[1]

२७. (ते बहुतरगा पाणा……अप्पतरगा पाणा)

वे त्रसप्राणी बहुत है जिन्हे उद्दिष्ट कर श्रमणोपासक त्रस जीवो की हिंसा का प्रत्याख्यान करता है, इस दृष्टि से उसका प्रत्याख्यान सु-प्रत्याख्यान है। यहा 'बहुतरक' शब्द समग्र के अर्थ मे है और 'अल्पतरक' शब्द अभाव के अर्थ मे है। कोई भी त्रस प्राणी बचा नही है जो प्रत्याख्यान काल मे त्रस है या उसके पश्चात् स्थावरकाय से मरकर त्रसकाय मे उत्पन्न होता है। जो भी वर्तमान पर्याय मे त्रस है उन सबको मारने का प्रत्याख्यान है। इसलिए उस श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सु-प्रत्याख्यान है।[2]

सूत्र २५ :

२८. आरण्यक……(आरण्णिया……)

देखें २।१४ का टिप्पण।

सूत्र २६ :

२९. देशावकाशिक व्रत का (देसावगासियं)

दिग्विरति व्रत के अनुसार जो नियम किया गया है, उसका प्रतिदिन सक्षेपीकरण करना, उस मर्यादा का अल्पीकरण करना, देशावकाशिक व्रत है।

जैसे किसी ने सौ योजन की मर्यादा की। अब वह प्रतिदिन योजन, कोश, नगर, गृह आदि की मर्यादा करता है कि आज मैं अमुक दिशा मे इतनी दूर से अधिक नही जाऊगा। अमुक चार नगरो या दस गृहो से अधिक का उपभोग नही करूगा, आदि-आदि।[3]

सूत्र ३० :

३०. (सूत्र ३०)

गौतम ने उदक से कहा—ऐसा न कभी हुआ है, न कभी होगा और न है कि त्रस जाति सर्वथा उच्छिन्न होकर स्थावर जाति मे परिवर्तित हो जाए या स्थावर जाति सर्वथा उच्छिन्न होकर त्रस जाति मे परिवर्तित हो जाए। वे जीव परस्पर सक्रमण करते है। त्रस प्राणी स्थावर बन जाते है और स्थावर प्राणी त्रस बन जाते है। किन्तु वे सब के सब स्थावर या त्रस नही हो जाते। ऐसा कभी नही होता है कि प्रत्याख्यान करने वाले एक व्यक्ति को छोडकर शेष सारे त्रस जगत् के प्राणियो का सर्वथा अभाव हो जाए। यदि ऐसा होता है तब तो कहा जा सकता है कि ऐसा कोई भी पर्याय नही है जिसमे श्रमणोपासक के एक प्राणी की हिंसा का परित्याग हो सके।

दूसरी बात यह है कि स्थावर जीव अनन्त है और त्रस जीव असख्य हैं। अनन्त का असख्य मे समावेश कभी नही हो सकता। इसलिए सारे स्थावरजीव त्रस हो जाएगे, यह अयथार्थ कल्पना है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४६१ सो चतुर्विध पोसहितो णियमा सामाइयकडो चेव होति · अभोज्जत्ति अपेयत्ति आहारपोसहो गहितो असिणाइंतित्ति सरीरसक्कारपोसहो ……नागार्जुनीयास्तु सामाइयकडेऽहिकाउ सर्वपाणातिवातं पच्चक्खाइ-क्खिस्सामो तद्दिवसं।

२. वृत्ति, पत्र, १७३।

३. वृत्ति पत्र १८२ · देशेऽवकाशो देशावकाशः तत्र भवं देशावकाशिकं, इदमुक्तं भवति—पूर्वगृहीतस्य दिग्व्रतस्य योजनशतादिकस्य यत्प्रतिदिनं संक्षिप्ततरं योजनगव्यूति-पत्तनगृहमर्यादादिकं परिमाणं विधत्ते तद्देशावकाशिकमित्युच्यते।

परिशिष्ट

परिशिष्ट : १

टिप्पण-अनुक्रम

परिशिष्ट : २

पदानुक्रम

परिशिष्ट : ३

सूक्त, सुभाषित, उपमा आदि

णो हव्वाए णो पाराए	१।६
दुक्खं णातिवट्टंति सउणी पंजरं जहा	१।३५
अण्णस्स दुक्खं अण्णो णो परियाइयइ	१।५१
अण्णेण कतं अण्णो णो पडिसवेदेइ	१।५१
अण्णे खलु णातिसंजोगा, अण्णो अहमंसि	१।५१
जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं	१।५४
एत्थ वि सिया एत्थ वि णो सिया	१।६०
अयगोले इ वा सेल गोले इ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति ।	२।५६
रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए, मूले छिण्णे अग्गे गरुए, जओ णिण्णं, जओ विसमं, जओ दुग्गं तओ पवडति ।	२।६१
कंसपाई व मुक्कतोया	२।६४
संखो इव णिरंजणा	२।६४
जीव इव अप्पडिहयगई	२।६४
गगणतलं पिव णिरालंवणा	२।६४
वायुरिव अप्पडिवद्धा	२।६४
सारदसलिलं व सुद्धहियया	२।६४
पुक्खरपत्तं व णिरुवलेवा	२।६४
कुम्मो इव गुत्तिंदिया	२।६४
विहग इव विप्पमुक्का	२।६४
खग्गविसाणं व एगजाया	२।६४
भारुंडपक्खी व अप्पमत्ता	२।६४
कुंजरो इव सोंडीरा	२।६४
वसभो इव जायथामा	२।६४
सीहो इव दुद्धरिसा	२।६४
मंदरो इव अप्पकंपा	२।६४
सागरो इव गंभीरा	२।६४
चंदो इव सोमलेसा	२।६४
सूरो इव दित्ततेया	२।६४
जच्चकणगं व जायरूवा	२।६४
वसुंधरा इव सव्वफासविसहा	२।६४
सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलंता	२।६४
संतिमग्गं च बूहए	५।३२
काओवगा णंतकरा भवंति	६।१०
पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी	६।१९
णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं	६।२०
चंदो व ताराहिं समत्तरूवे	६।४७
णासेंति अप्पाण परं च णट्ठा	६।४९

परिशिष्ट : ४

विशेषनाम-वर्गानुक्रम

(प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कंध का संयुक्त)

शब्द वर्ग प्रमाण

शब्द वर्ग प्रमाण